श्रीमद् कुन्द कुन्ददेव कृत नियमसार

नियम देशना

भाग-३

देशनाकार

श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

नियमसार

पर

नियमदेशना

भाग-3

(गाथा 134 से 187)

(प्रवचनांश विदिशा वर्ष 2004)

देशनाकार

आचार्य विशुद्धसागर

प्रकाशक :

श्रमण संस्कृति सेवासमिति

❖ मूलकृति - श्रीमद् भगवत कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'नियमसार'

❖ प्रस्तुत कृति - **''नियमदेशना'' (भाग-3)**

❖ देशनाकार - **प.पू. श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज**

❖ संकलन - **मुनि विश्ववीरसागर, डॉ. विद्यानन्द जैन, विदिशा**

❖ संपादक - 1. डॉ. श्रेयांस कुमार जैन
अध्यक्ष, अखिल भारतीय दि. जैन शास्त्रि परिषद्
बड़ौत (उ.प्र.) मो. 9837043221
2. डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर
3. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ

❖ प्रस्तुति - इंजी. दिनेश जैन, भिलाई
इंजी. जिनेन्द्र जैन, पद्मनाभ नगर, भोपाल

❖ संस्करण - द्वितीय, मई 2016

❖ पुण्यार्जक -
- श्रीमती शीला-इन्दरमल जी जैन, अलवर (राजस्थान)
- अनिल कासलीवाल, अनिल बुक डिपो, भिलाई
- आजाद कुमार-रवि देवी जैन, इन्दौर (मध्य प्रदेश)

❖ न्यौछावर - रु. 200/- (पुनर्प्रकाशनार्थ)

❖ प्राप्ति स्थान -
- श्री आजादकुमार जैन, इंदौर, मो. 09425321151
- श्री मनीष जैन मोना, इंदौर, मो. 09826210189
- महावीर पाटनी, भिलाई, मो. 08959990000
- नेमीचंद जैन बड़कुल, इन्दौर मो. 09425053171
- श्री नंदीश्वर जिनालय, लालघाटी, भोपाल, मो. 09425374897
- मनोज झांझरी, जयपुर, मो. 09829063426
- नमोस्तु शासन संघ, मुंबई, मो. 09892297204

❖ मुद्रक - विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स
45, सेक्टर-एफ, औद्योगिक क्षेत्र, गोविन्दपुरा, भोपाल
फोन : 0755-2601952, 9425005624

शुभाशीष

श्रमण संस्कृति में श्रमणों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिन्होंने मनोयोग से जिनेन्द्र वाणी को अक्षुण्य बनाये रखा है।

श्रमणाचार्य की परम्परा में प. पू. श्रमणाचार्य श्री कुंद कुंद देव ने आगम, सिद्धान्त और अध्यात्म का अमृत रस प्रदान किया है। कहीं उनकी स्वतंत्र अध्यात्म शैली रही है, तो कहीं आगम शैली रही है, तो कहीं सिान्त शैली रही है फिर भी सभी में उनकी अध्यात्म विधा ही प्रधान रही है, पर सभी में अपूर्व ही सामंजस्य रहा है।

आज उन्हीं कृति 'नियमसार' पर श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर जी द्वारा उपदिष्ट प्रवचनों को 'नियम देशना' के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। मेरा उन्हें व उनके इस कार्य के लिए शुभाशीष।

ओम नमः
2/2/2/2539
जयपुर

प्राक्-प्रमेय

श्रुत की आराधना ही अभक्षण-ज्ञानोपयोग है, जो सातिशय-पुण्य तीर्थंकर-प्रकृति के आस्त्रव में एक महत्वपूर्ण आधारशिला रखता है। वैसे भारतीय तत्व-मनीषा में सभी दर्शनों ने श्रुतका अपने-अपने ज्ञान के अनुसार कथन किया है, परन्तु जैनदर्शन अपनी सर्वोत्तम आध्यात्म-विधा के लिए विश्वगुरुता को प्राप्त है। सच यह है कि जिनागम एक ऐसा दर्पण है जिसमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान तथा ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक के सारे पदार्थ प्रत्यक्ष स्पष्ट दिखाई देते हैं। अखिल विश्व के प्राणीमात्र को तत्वों का सच्चा ज्ञान कराती जिनवाणी जसवंत हो।

आचार्य श्री कुंद कुंद देव प्रमुख ग्रंथ श्री 'नियमसार' जी आध्यात्म से सराबोर कराता हुआ, शाश्वत सत्यं-शिवं-सुन्दरं सुखधाम के दर्शन कराता है। इस नियमसार ग्रंथ मुख्य रूप से श्रमणों के आचार का वर्णन किया गया है। आचार्य श्री ने प्राकृत भाषामय 187 गाथाओं के माध्यम से मोक्षाभिलाषी साधकों के लिए पाथेय-प्रदान किया है। समयसार ग्रंथ को पढ़ने के पहले यदि नियमसार का अध्ययन किया जाये, तो समय को बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। मुनिश्रेष्ठ पद्मप्रभमलधारी देव ने इन गाथाओं पर अलंकारों से अलंकृत 'तात्पर्य वृत्ति' नाम की 311 कलशों से युक्त संस्कृत टीका लिखकर मुमुक्षु जीवों पर लोकोत्तर उपकार किया है। आध्यात्मिक, भवभीरू, आगमवेत्ता, महान्, संयम-साधक,रत्नत्रय रूपी इन दोनों चैतन्य-तीर्थों को मेरा त्रययोग, त्रयभक्ति सहित अनन्तशः नमोऽस्तु! वंदना!

इतिहास-प्रसिद्ध धर्मनगरी-भेलसा (विदिशा) में ग्रीष्मकाल की तपती दोपहरी में त्रय-श्रमणों (मुनि विशुद्धसागर जी, मूनि विश्व वीरसागर व मुनि विजय सागर जी) का मंगल प्रवेश होने पर मुमुक्षु श्रावकों के विनम्र आग्रह पर ग्रंथ नियतसार की वाचना वीर निमार्ण

संवत् 2030 ईस्वी सन् 2004 के फरवरी के पावन दिवस से प्रारंभ हुई, जो शीतकाल के मध्य तक (लगभग नौ महिने) अविरल चलती रही। श्रमण परम्परा के समुज्वल नक्षत्र, रत्नत्रय की साक्षात् पूर्ति, श्रमणाचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने प्राचीन जैन बड़ा मंदिर (किले अंदर) विदिशा में धर्मवत्सल विद्वानों और संयमी श्रावकों को अपनी अमृतमयी वाणी जो टीकात्मक प्रवचन दिये, वे अपने आप में अनुपम, अनूठे हैं। उन प्रवचनों को मैंने संकलित कर ''निमदेशना'' के रूप में सुधि-पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है। इसे ग्रंथरूप प्रदान करने के

पीछे मात्र यही मनोभावना है कि सुधिजनों को जीवन निमार्ण के विचारमोती प्राप्त हों और भव्यजन अपने विवेक से उपादेय विचारों को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करन अपना जीवन सफल बनायें।

आचार्य श्री कुंद कुंद देव ने नियमसार में आध्यात्मिक-दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है तथा मुनिवर पद्मप्रभलधारी देव ने इसको 12 अधिकारों में निबद्ध किया है। प्रथम के चार अधिकारों (जीव अधिकार, अजीव अधिकार, शुद्धभाव अधिकार, व्यवहार चारित्र अधिकार) में व्यवहार-रत्नत्रय के स्वरूप का विस्तृत दिग्दर्शन कराया है और इन्हीं चार-अधिकारों के अन्तर्गत हुये प्रवचनों को 'नियम देशना' भाग 1 में संकलित किया गया है।

प्रथम जीवाधिकार में कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले तीर्थंकर महावीर को नमस्कार कर छह द्रव्यों से सम्यत्त्वके विषयभूत जीव तत्त्व का निरूपण किया है। इस अधिकार में 1 से 19 तक गाथाएँ हैं।

द्वितीय अजीवाधिकार में अजीव तत्त्व का विवेचन करते हुये पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों के स्वरूप का तथा उनके भेद प्रभेदका विस्तृत निरूपण किया गया है। इस अधिकार में क्र. 20 से 38 गाथाएँ हैं।

तृतीय शुद्धभावाधिकार में सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसमें शुद्ध नय की अपेक्षा से जीव को शुद्ध, सिद्ध सदृश बतलाते हुये गाथा 46 में महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है। यह गाथा आचार्य कुंद कुंद देव प्रणीत अन्य ग्रंथों समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, षट्प्राभृत आदि में भी आई है। इस अधिकार में क्र. 37 से 55 तक गाथाएँ हैं।

चतुर्थ व्यवहार चारित्र अधिकार में व्यवहार नयाश्रित चारित्र के अन्तर्गत पाँच महाव्रत पाँच समिति और तीन गुप्ति का विस्तृत निरूपण किया गया है। अनंतर पाँच गाथाओं में पाँच परमेष्ठी के लक्षणों का विवेचन किया गया। इस अधिकार में क्र. 56 से 76 तक गाथाएँ हैं।

तीर्थंकर भगवंत के श्रीमुख से प्रवाहित श्रीवाणीरूप गंगा को गणधररूपी कुंड ने धारण किया, जिसे आचायों ने निबद्ध किया। निरंतर ज्ञानाराधना एवं संयमसाधना में लीन आचार्य भगवंतों की अनुकम्पा से इस विषमकाल में पतितपावनी जिनवाणी की शीतलधारा प्राप्त हो रही, यह हमारा भाग्योदय है। ऐसे ही श्री कुंद कुंद देव की आचार्य परम्परा में दैदीप्यमान रत्न श्रमण शिरोमणि गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज, जिनकी धर्मतरु छाया का सम्बल पाकर यह जीवन पुष्प खिला, उनकी अनुकम्पा से यह रत्नत्रय ज्योति प्रज्ज्वलित हुई और 'नियमदेशना' का संग्रहण/ सम्पादन कार्य करने में समर्थ्य हो सके। आचार्य श्री के चरण कमल में कोटिशः नमोऽस्तु।

नियमदेशना भाग-1 के प्रकाशन संकलन में पंडित जी विदिशा, इंजी, दिनेश जैन भिलाई, श्री नरेन्द्र जैन ज्वैलर्स विदिशा एवं श्री नीरज जैन छीपीटोला आगरा ने सराहनीय सहयोग प्रदान किया उनके लिए आशीर्वाद है। वे सभी आगे भी इसी तरह जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में सहयोग करते रहें ताकि आचार्यों की लुप्त होती वाणी धरोहर के रूप में सुरक्षित बनी रहे।

इस ग्रंथ के सम्पादन एवं प्रूफ देखने में यद्यपि सावधानी बरती गई है, फिर भी अशुद्धियों का रह जाना असंभव नहीं है, सुधिजन उन्हें सूचित करते हुए सुधारकर ही ग्रहण करें। सब सुखी रहें, सबका कल्याण हो, इस मंगल भावना के साथ-

इति अलम् शुभम् भूयात्

वर्षायोग, आगरा — श्रमण मुनि विश्ववीरसागर

धन्यतेरस (कार्तिक कृष्ण-13)

वीर निर्वाण संवत् 2038

संपादकीय

डॉ. श्रेयांस कुमार जैन
अध्यक्ष – अखिल भारतीय दि. जैन शास्त्रि परिषद्

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने नियमसार ग्रन्थ की रचना केवली, श्रुतकेवली के द्वारा कथित विषय वस्तु के आधार पर की है जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा भी है–

णमिऊण जिणं वीरं अणंत परणाण दंसण सहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलि सुदकेवली भणिदं॥

अनन्तवर ज्ञानदर्शन स्वभाव वाले जिनवीर को नमस्कार करके केवली, श्रुतकेवली के द्वारा कहे गये नियमसार ग्रन्थ को कहूँगा।

यहां आचार्य कुन्दकुन्द ने पूर्ण विनय प्रगट करके केवली श्रुतकेवली प्रणीत तत्व की प्ररूपणा का संकल्प लिया हैं, नियम से तात्पर्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र से है। इन्हीं रत्नत्रय के सार महत्व का प्रतिपादन किया जायेगा जो केवली श्रुतकेवली द्वारा कथित है। आचार्य श्री विशुद्धसागरजी महाराजजी ने इस नियमदेशना में केवली श्रुतकेवली के भाव को स्पष्ट करते हुये समझाया है– जो सम्पूर्ण रुप से प्रत्यक्ष केवल ज्ञान को धारण करने वाले होते हैं वह केवली हैं। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य श्रुत को धारण करने वाले श्रुतकेवली कहलाते हैं। इस केवली श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित समस्त भव्य जीव समुदाय के लिये हितकर नियमसार नामके परमागम को मैं कहूंगा। इस प्रकार विशिष्ट इष्ट देवता के स्तवन के उपरान्त श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रतिज्ञा की है।

आचार्य प्रवर ने अपने ग्रन्थ की प्रमाणिकता के लिए श्रुतकेवली और केवली भगवन्त को नमस्कार किया है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने अपने चिन्तनमात्र को आगम नहीं स्वीकार किया किन्तु जिनश्रुत केवली वाणी को ही आगम स्वीकृत किया है। अर्थात् जिनेंद्र की वाणी से प्रगट हुआ तत्त्वबोध और उसके आधारपर ही उसे प्रमाणिक माना है। तत्त्वार्थ के प्रतिपादन हेतु शौरसेनी भाषा का आश्रय लिया। इनकी अनेक रचनाओं में समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय को समाज ने विशेष महत्त्व प्रदान किया फिर भी वर्ण्य और प्रौढ़ताको को देखकर नियमसारका महत्व परमागम के समान है और महत्ता भी प्राभृतत्रयी जैसी है।

अध्यात्म विन्दुओं को समझनपे के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। मोक्षमार्ग में नियम से

करणीय ज्ञानदर्शनचारित्र की आराधना पर ग्रन्थ में विशेष बल दिया गया है। इनसे विपरीत आचरण को हेय बतलाया गया है। जैसा कि आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराजजी ने नियमदेशना में कहा है कि यहाँ पर शुद्धरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र उन्मार्ग हैं, कुमार्ग है भव को बढ़ाने वाले हैं। भवनाश का हेतु तो शुद्ध रत्नत्रय धर्म ही है। यहाँ शुद्धरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कह रहे हैं और मुक्ति उसका फल है। वीतराग सर्वज्ञदेवके शासन में पूर्वाचार्यों ने इस प्रकरण में दो प्रकार का कथन किया है। परम निरपेक्ष रूप निज परमार्थ तत्त्व का सम्यकश्रद्धान, उसी परमार्थ तत्त्व का सम्यक् परिज्ञान, उसी परमार्थ तत्त्व का सम्यक् अनुष्ठान रूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मोक्ष का उपाय है और शुद्ध रत्न का फल आत्मस्वरूप की उपलब्धि है।

नियमदेशना अनूठी है क्योंकि इसके माध्यम से देशनाकार ने लोक के प्रत्येक प्राणी को संस्कार, सदाचार और विशुद्ध चारित्र की प्रेरणा दी है। धर्म और धर्मात्मा के महत्व को पदे पदे स्पष्ट किया है। रत्नत्रय का स्वरुप और उसके फल को विस्तार से समझाया है। इस देशना में आचार्य विशुद्धसागरजी की कोशिश रही है कि ये येन केन प्रकारेण संसार वीध्सयों में भटके हुए प्राणियों को सत्मार्ग पर लगाया जाय। विशेष रूप से धनांध लोगों को धन की मूर्च्छा से हटाकर धर्म के दिव्य प्रकाश से प्रकाशित किया जाए। वे कहते हैं कि आचरण निर्मल होगा तो हे ज्ञानी। विभूति अपने आप सामने खड़ी हो जायेगी। इसलिये धर्म धन का नहीं धर्म भावना का है। अच्छा सोचने के लिए कौन सा खर्च चाहिये पड़ेगा। एक व्यक्ति किसी के प्रति अच्छा विचार करता है तो उसे अच्छा ही फल मिलता है। इस प्रकार इस नियमदेशना में उत्तम कार्यों की ही प्रेरणा दी है।

विषय स्पष्टता की दृष्टि से नियमदेशना अप्रतिम है। जैसे कोई व्यक्ति कहता है कि धन संपत्ति या वस्तुओं का संग्रह है और कर रहा हूँ फिर भी मेरी उसमें मूर्च्छा नहीं है अतः मैं दोषी नहीं हूँ। उसे समझते हुए कहा है कि भो ज्ञानी। जहाँ जहाँ परिग्रह होगा वहाँ नियम से मूर्च्छा होगी परन्तु जहाँ पर द्रव्य नहीं है, वहाँ मूर्च्छा हो भी सकती है, और नहीं भी हो सकती हैं। परन्तु यदि आपने परद्रव्य को स्वीकार किया है तब द्रव्य सम्बन्धी मूर्च्छा आपको नियम से होगी। मूर्च्छा द्रव्य के प्रति ही होती है। जब परद्रव्य नहीं है तो मूर्च्छा किसकी ? इसलिये परद्रव्य छोड़ना चाहिए। परद्रव्य के अभाव में मूर्च्छा नहीं हो सकती हैं क्योंकि मूर्च्छा महत्वही ममत्व है और ममत्व तो परपदार्थ में ही होता है। इस प्रकार से समझाकर साधु के स्वरुप को प्रतिपादित किया है जो वर्तमान में प्रासंगिक भी है। क्योंकि वर्तमान में साधुसंधों में भी परिग्रह चल रहा है। एकल विहारी बनकर मोटरगाड़ी रखना और उसमें पूरी गृहस्थी साथ लेकर चलना प्रचलन सा होता जा रहा है।

नियमसार पर प्रस्तुत नियमदेशना में देवमूढ़ता को बताते हुए आज के मनुष्यों की बुद्धि पर तरस खाते हुए आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज कहते हैं कि भो ज्ञानी। आज प्राणी मूसल, घिनौची,

कुआँ, चक्की, पत्थर, नदी, तालाब, बावड़ी, सरोवर, खेत खलिहान यहाँ तक घूरे (कूड़ा घर) की भी आरती उतारते हैं, आराधना कर लेते हैं। परमात्मा के नाम पर देवमूढ़ता में जीने वाले जीवों की संख्या कोटिकोटि है। सामान्य लोक में प्रसिद्ध पुरुषों को ही लोग परमात्मा के रूप में देखते हैं। यह प्रज्ञा की न्यूनता की चरम सीमा है। लोक में पूजे जाने वाले परमात्मा के नाम से परमार्थ के कारण भूत तो है ही नहीं परन्तु संसार के सुख के कारण भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव भय से स्नेह से रण आदि से परमार्थगुणों से शून्य व्यक्ति की कभी आराधना नहीं करता। सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण ही जिनसूत्र और उसके धारक होते हैं। जैसा कि कहा गया है।

सम्मस्स णिमित्तं जिण जाणऊ पुरिसा।
अंतर हेऊ मणिदा दंसणमोहस्स खय पहुदी॥ नियमसार॥53॥

अर्थात् जिनसूत्र और उसके जानने वाले पुरुष सम्यक्त्व के निमित्त है और दर्शन मोहनीय का क्षय, उपशम आदि अंतरंग हेतु कहे गये हैं।

इस ग्रन्थ में निश्चयतप, व्यवहार तप आवश्यक में निश्चय आवश्यक, व्यवहार आवश्यक, पिश्चय भक्ति, व्यवहार भक्ति, द्वैत भक्ति, अद्वैत भक्ति का व्याख्यान महत्वपूर्ण है। द्वादश अधिकारों में 187 गाथाओं में निबद्ध है। ग्रन्थगत अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं। 1 जीवाधिकार, 2 अजीवाधिकार, 3 शुद्धभावाधिकार, 4 व्यवहारचारित्राधिकार, 5 परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार, 6 निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार, 7 परमलोचनाधिकार, 8 शुद्धनिश्चयप्रायश्चिताधिकार, 9 परमसमाधिअधिकार, 10 परम भक्ति अधिकार, 11 निश्चय परमावयकाधिकार, 12 शुद्धोपयोगगाधिकार। इन अधिकारों में ध्यान, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि छह आवश्यकों का विस्तार से वर्णन हैं। जिसका क्रमबार संक्षिप्त निरूपण प्रकार है।

1) जीवाधिकार -

19 गाथाओं मे निबद्ध यह अधिकार ज्ञेय विशेष जीव के स्वरुप पर सम्यक् प्रकाश डालता है। मंगलाचरण में भगवान महावीर को प्रणाम कर गाथा उत्तरार्ध्द या प्रतिज्ञा सूत्र में नियमसार को केवली-श्रुतकेवली प्रणीत कहा है। समय प्राभृत को आ0 कुन्दकुन्द ने श्रुतकेवली प्रणीत निरुपित किया है। इसका सहस्य खोज का विषय है। नियमसार के विषय को उठाते हुए आ0 प्रवर न मार्ग और मार्ग के फल के रुप में रत्नत्रय और मोक्ष को निरुपित किया है। साथ ही मोक्ष के उपाय नियम से कर्तव्यरूप रत्नत्रय को नियम शब्द से व्याख्यायित किया है। इसके अनन्तर व्यवहार सम्यक्दर्शन का स्वरुप उसके विषयभूत आप्त/परमात्मा आगम एवं गुरु का वर्णन है। तत्वार्थों का नाम निर्देश करने के पश्चयत् जीव का लक्षण उपयोग, स्वभावज्ञान, स्वभाव दर्शन, विभाव ज्ञान विभाव दर्शन, स्वभाव पर्यायों का विवरण तथा जीव की मनुष्यादि विभाव पर्यायों आत्मा के कर्तृव्य और भोक्तृवका वर्णन किया है। अन्त में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों से जीव का सविशेष उल्लेख है।

2) अजीवाधिकार –

नामानुसार ही अधिकार में 18 गाथा सूत्रों के द्वारा द्रव्य के भेदों–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकश एवं काल का विवेचन है। पुद्गल द्रव्य के भेद, स्कन्ध के छः भेद, कारण और कार्य परमाणु का लक्षण स्वभाव–विभाव पर्यायों का सम्यक् निरुपण है। इसके अनन्तर धर्म, अधर्म, आकाश, द्रव्यों की परिभाषा, व्यवहार एवं निश्चय काल का स्वरुप, धर्मादि चार द्रव्यों की शुद्ध लक्षण रूपता का उल्लेख है। अस्तिकाय का लक्षण, द्रव्यों की प्रदेश संख्या, तथा द्रव्यों के मूर्तिक–अमूर्तिक, चेतन, अेचतन विभाग निरुपित है।

3) शुद्धभावाधिकार –

(सम्यग्ज्ञानाधिकार) इस अधिकार में भी 18 गाथायें है। इसमें आ0 कुन्दकुन्द ने शुद्धभाव का मूल कारण हेयोपादेय तत्वों का वर्णन करने के पश्चात् निर्विकल्प आत्मतत्त्व का स्वरुप छ गाथाओं में विस्तार से किया है। जीव का शुद्ध स्वरुप, परद्रव्य की हेयता, स्वद्रव्य की उपादेयतस, समयक् दर्शन–ज्ञान के लक्षण उनकी उत्पत्ति के कारणों का उल्लेख किया है। गाथा संख्या 52 दृष्टव्य है।

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥52॥

4) व्यवहार चारित्राधिकार –

21 गाथाओं में निबद्ध यह अधिकार श्रमण के व्यवहार चारित्र का कथन करता है। इसमें पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियों का स्वरुप विशद रूप से विवेचित किया गया है। गुप्तियों का वर्णन निश्चय नय की दृष्टि से, परमेष्ठियों का स्वरुप सम्यक् रीत्या वर्णित है अन्त में व्यवहार चारित्र का समारोह एवं उससे साध्य निश्चय चारित्र कथन करने की प्रतिज्ञा है।

5) परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार –

इस अधिकार में 18 गाथायें है। शुद्धयाश्रित, स्वावलम्बित निश्चय प्रतिक्रमण का इनमें वर्णन है। यहाँ यह उल्लेख है कि आत्मध्यानस्थ मुनि को परमार्थ प्रतिक्रमण होता है। निषेध परक दृष्टि को प्रधान कर साधु को स्वयं को निरंतर पर–नारकादि विभाव पर्यायों से रहित स्वीकार करना चाहिए। निश्चय प्रतिक्रमण ध्यान स्वरुप होने से शब्द जाल से परे हैं। व्यवहार प्रतिक्रमण का स्वरुप जिनवाणी से जानकर उसका पालन भी साधनरूप से अवश्य करणीय है, उसी के निश्चय प्रतिक्रमण की पात्रता आती है।

6) निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार -

12 गाथाओं में ग्रथित यह अध्याय प्रत्याख्यन के पात्र, आत्मा ध्यान की विधि, ज्ञानी जी की भावना (एकत्व आदि रूप), आत्मगत दोषों से मुक्ति का उपाय, निश्चय प्रत्याख्यान नियमाक अधिकारी श्रमण आदि विषयों का सागोपांग वर्णन करता है।

7) परमालोचना अधिकार -

छः गाथाओं के द्वारा इस अधिकार में एलाचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि आत्मध निश्चय परमालोचना है, यह महामुनियों के ही संभव है। इसमें आलोचना के चार रुप-आलुंछन, अविकृतिकरण तथा भावशुद्धि का स्वरुप वर्णित किया गया है।

8) शुद्ध निश्चय प्रायश्चिताधिकार -

इस अध्याय का विस्तार मात्र 9 गाथाओं में के द्वारा इसमें निर्टिष्ट किया गया है कि ध्यानी महामुनि ही निश्चय प्रायश्चित का पात्र है। निश्चय प्रायश्चित स्वरुप कषायों पर विजय प्राप्ति का उपाय, पात्रता, तपश्चरण से ही कर्मक्षय- कारणत्व का निरुपण प्रस्तुत अधिकार में है। साथ ही तप और प्रायश्चित की एकार्थता का कारण एवं ध्यान की सर्वस्वता का निरुपण है। कायोत्सर्ग का अधिकरण भी इसमें वर्णित है।

9) परम समाधि अधिकार -

इसमें 12 गाथाओं में महामुनि की ध्यान परम समाधिरुपता का निरूपण है। इयमें अनेक सूत्रों द्वारा स्थायी समाधि का वर्णन किया है। पूर्ण समता, ध्यान तथा स्थाई सामायिक एकार्थवाची रूप में वर्णित है। इसमें गाथा नं. 125 से 133 तक अनुष्टुप छन्द हैं।

10) परम भक्ति अधिकार -

6 गाथा सूत्रों में आ. कुन्दकुन्द ने इस अधिकार में यह स्पष्ट किया है कि भक्ति के बिना श्रावक या श्रमण किसी को भी सिद्धि नहीं है। निश्चय भक्ति मुनि को ही होती है। इसमें योग भक्ति और योग का लक्षण प्रकट किया है।

11) निश्चय परमावश्यक अधिकार -

इस अधिकार के अन्तर्गत 18 गाथायें विशिष्ट पद्धति से आवश्यक पर प्रकाश डालती है। आवश्यक शब्द की निरुक्ति, आवश्यक का पात्र कौन नहीं, आवश्यकता का पात्र, शुद्ध निश्चय आवश्यक प्राप्ति का उपाय आवश्यक करने को प्रेरणा आदि विषय इसमें समाविष्ट हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा के लक्षण, प्रतिक्रमणादि क्रियाओं की सार्थकता, विवाद की वर्जनीयता, सहज तत्त्वाराधना

की विधि आदि का भी इसमें प्रकटीकरण किया गया है। यह भी स्पष्ट किया है कि समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग का यथार्थ पालन करने वाला ही यथार्थ श्रमण है।

12) शुद्धोपयोगाधिकार –

21 गाथाओं से समन्वित इस अधिकार में शुद्धोपयोग का लक्षण, उससे साध्यरूप निर्वाणपद का वर्णन किया गया है। इसमें दार्शनिक पद्धति के दर्शन होते हैं। प्रथम गाथा बहुत ही महत्वपूर्ण है। दृष्टव्य है –

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलीणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥159॥

केवलज्ञानी परमात्मा व्यवहार नय से सर्वज्ञ और सर्वदृष्टा हैं एवं निश्चयनय से वे अपनी आत्मा को ही जानते व देखते हैं। यहाँ यह प्रकट होता है कि सर्वज्ञता ही आत्माज्ञता है और आत्मज्ञता ही सर्वज्ञता है। यथार्थतः केवली आत्मा से तन्मय होकर जानते हैं। तन्मयता ही निश्चयनय का विषय है। उसी प्रकार यथार्थतः केवली समस्त विश्व को अतन्मय होकर जानते हैं। अतन्मयता अध्यात्म शैली में व्यवहार नय का विषय है। इसका स्पटीकरण यह है कि जब केवली अपनी आत्मा को देखते जानते हैं उस समय उनकी आत्मा मं समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है या उनका ज्ञान विश्वाकार परिणत होता है।

इस अधिकार में केवलज्ञान केवलदर्शन की युगपतता, ज्ञानदर्शन के स्वरुप की दार्शनिक समीक्षा, प्रत्यक्ष परोक्षज्ञानों का स्वरुप, ज्ञानदर्शन के स्वपर प्रकाशक पने की सिद्धि, केवलज्ञानी के बन्धाभाव, कर्मक्षयसे मोक्षप्राप्ति, शुद्धोपयोग युक्त कारण परमतत्त्व, निर्वाणस्थान, सिद्धि व सिद्धका स्वरुप, निर्वाण और सिद्ध की एकता एवं मुक्तजीव के लोकाकाश तक ही गमन का कारण आदि का विवेचन है, अंतिम पांच गाथाओं में उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थकार ने लघुता प्रदर्शन एवं धर्मदेषी जनों से सावधान रहने का संकेतकर ग्रन्थ को सम्पूर्ण किया है।

उक्त विवेचन के संदर्भ में आचार्य श्री चिशुद्धसागर महाराजजी ने स्पष्ट किया है कि आचार्य भगवान् ने सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को सार कहा हैं। इससे विपरीत जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र है वे असार हैं। कुछ विद्वानों के मत में विपरीत से तात्पर्य भेदरत्नत्रय से है क्योंकि व्यवहारसविकल्पक होता है।

व्यवहार निश्चयपरक व्याख्यानपूर्वक अपूर्व प्रस्तुति सम्पन्न नियमसार के रचनाकार आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का कालत्रयी व्यक्तित्व रहा है। उनके समय की धार्मिक औश्र सामाजिक स्थिति को समझने के लिए उनके काल जानकारी आवश्यक है।

आचार्य कुन्दकुन्द के काल निर्धारण सम्बन्धी अनेक दृष्टि में रखकर डॉ. जयोति प्रसाद जैन ने सारांश रूप में लिखा है – ''साहित्यिक एवं शिलालेखीय अनुश्रुतियों में कुन्दकुन्द का उल्लेख सदैव उमास्वामी और समन्तभद्र के पूर्व हुआ है। उमास्वामी प्रणीत तत्वार्थसूत्र के सप्रसिद्ध टीकाकार देवनन्दि पूज्यपाद (लगभग 500 ई.) समन्तभद्र का तो नामोल्लेख करते ही हैं और उनके उद्धरण भी देते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रथों से भी उद्वरण देते उद्धाहरण देते है। आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती जैनाचार्यों एवं ग्रन्थकारों की निर्णीत तिथियाँ यह प्राय सुनिश्चित कर देती है कि स्वयं कुन्दकुन्द स्वामी प्रथमशती ईसा के मध्य से पूर्व ही हुए होंगे। प्रो. ए. चक्रवर्ती ने कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसा की प्रथम शती निर्धारित किया है। डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने विभिन्न मतों तथा प्राप्त सघन श्रोतों की विशद समीक्षा करके प्रायः उसी समय का समर्थन किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे ? इस विषय में इतिहासकारों ने उल्लेख नहीं किया है, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने बोधपाहुड में स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य कहा है। और अगली गाथा में उन्होंने भद्रबाहु को अपना गमक गुरु बताया है। लगता है कि भद्रबाहु को गमक गुरु इसलिये कहा कि वे अंतिम श्रुत केवली थे, उन्हें ग्यारह अंग और चौदहपूर्व का ज्ञान था। उन्हें भगवान की वाणी का, पूर्णरूप उनके द्वारा उनके द्वारा बताये हुए मार्ग ज्ञान था, जिसे आचार्य कुन्दकुन्द ने पूरी तरह ग्रहण किया और अपने ग्रन्थों मे उसी मार्ग का प्रतिपादन किया।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है यह प्रसिद्धि है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा 84 पाहुडों का सृजन किया गया था। उनमें से समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, बारसाणुपेक्खा, दंसणपाहुड, श्रुतभक्ति,चारित्र पाहुड, सूत्रपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिंगपाहुड, सील पाहुड, सिद्धभक्ति, चारित्र भक्ति, योग भक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाण भक्ति, पंचगुरु भक्ति, थोस्सामि धुदि ये कृतियाँ वर्तमान में उपलब्ध हैं। इनका स्वाध्याय करके श्रावक और श्रमण आत्महित साध रहे हैं। इतिहास कारों ने यह उल्लेख किया है कि षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों पर कोई विद्वान आचार्च कुन्दकुन्द देव की कृतियां मानते हैं। किन्तु ये कृतियां इनकी है, इस विषय में प्रामाणित तथ्य नहीं मिलते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने तीर्थंकर की वाणी को मुख्यात दी है, उन्होंने 'केवली पण्णतो घम्मो सरणं पव्वज्जामि' अर्थात् केवली प्रणीत धर्म की शरण को स्वीकार करता हूँ। यदि ग्रन्थ में केवलीप्रणीत धर्म वर्णित है तो वह वंदनीय है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है- श्रुत की अर्चना, पूजा-वंदना और नमस्कार करने से सब दुःखों और कर्मों का क्षय होता है। तथा बोधिलाभ, सुगतिगमन, समाधिमरण और जिनगुण संपत्ति भी प्राप्त होती है। अतः मैं अरिहन्त के द्वारा कहे गए, गणधर के द्वारा गूथें गए महासागर प्रमाण श्रुतज्ञान को सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ। समयसार में वे लिखते हैं – समयपाहुड, को पढ़कर

जो उसके अर्थ में स्थित होगा, वह उत्तम सुख अर्थात मोक्ष प्राप्त करेगा। यहाँ तक ही नहीं, उन्होंने भक्ति से ज्ञान प्राप्त होने की बात भी लिखी है। जैन सिद्धान्त में 5 प्रकार के ज्ञान माने गये हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान। ज्ञान की भक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होते है। अन्यथा नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द का यह भी कथन है कि विनय के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की महत्ता मानते हुए आचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने कहा कि आचार्य प्रवर अपने ग्रन्थों में अध्यात्म की प्रधानता से प्रतिपादन किया है। जो शुद्ध रत्नत्रय है वही मोक्ष का उपाय है और स्वात्माका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, अन्य नहीं हैं। यथार्थ में स्वात्मा का ज्ञान ही निश्चय ज्ञान है। परज्ञेयों का जहाँ किंचित मात्र भी प्रवेश नहीं है ऐसा स्वात्मज्ञान ही ज्ञान है। अन्य पर दृष्टि नहीं है, अन्य दृष्टि नहीं है। स्वात्मा का श्रद्वान ही सम्यग्दर्शन है। जो अन्य पर दृष्टि है, वह भी परमार्थ भूत से सम्यक् नहीं है। निश्चय से स्वात्मा का ज्ञान, स्वात्मा पर श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, वही है सम्यग्ज्ञान। स्वात्मा में रमण ही शील है अन्य कोई शील शील नहीं है। इस प्रकार से स्वात्मरूप में स्थिरता ही सम्यग्चारित्र है। यह रत्नत्रय ही मोक्ष प्राप्ति का मुख्य है। इसी की आराधना कल्याण कारी है।

रत्नत्रय की मुख्यता से प्रतिपादन कसने वाले आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में केवली कवलहार, सचेलकता, स्त्रीमुक्ति आदि श्वेताम्बर मान्यताओं का निरसन है तथा इनके ग्रन्थों में दार्शनिक रूप की जो विवेचना है वह अन्य ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होती है। सप्त्भंगी का रूप भी आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अधिक विकासमान है। उत्तरवर्ती दार्शनिक धाराओं ने आचार्य की दार्शनिक धारा को स्वीकार किया है। यह बात अक्षरशः अ सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म दृष्टियों के प्रमुख व्याख्याकार थे। उनकी आत्मानुभूति परक वाणी ने अध्यात्म के नए क्षितिज का उद्घाटन किया और आगमिक तत्वों को तर्कसुसंगत परिधान पहनाया। आचार्य श्री विशुद्धसागरजी ने आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी की वाणी में अगाध श्रद्धा के फलस्वरुप समयसार के साथ साथ नियम सार पर देशना की प्रस्तुति कर लोक में रहकर भी लोकोत्तर कार्य किया क्योंकि यह ग्रन्थ अपने मोक्ष मार्गीय विषय प्रतिपादन करने वाला विशिष्ट ग्रन्थ है। श्रमण चर्चा के लिये परिज्ञान कराने वाला श्रेष्ट ग्रन्थ रत्न है।

(1) सद्दवियारो हू ओ भामा सुत्तेसु च जिणे कहियं।
सो तह कहिय णाय सीसणय भद्दबाहुस्स।।
वारस अंगवियाणं चउदस पुठवं विडल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरु भयवयो जय ओ।। बोध पाहुड 62-62

नियमदेशना—एक विहंगम दृष्टि

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित नियमसार ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय इन सबके बीच की कड़ियों को जोड़ने वाला ग्रन्थ है। आचार्य भगवन् ने 28 मूलगुणों को अध्यात्म में समाविष्ट किया है। षट् आवश्यकों को अध्यात्म से जोड़ा है। स्वच्छन्द क्रिया का नाम नियमसार नहीं है, शुद्ध क्रिया का नाम नियमसार है।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार और नियमसार में अध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है। आचार्य भगवन् के प्रति यह कहना कि उन्होंने मात्र निश्चय नय का कथन किया है, यह निराधार है। जिस ग्रन्थ में जिसकी प्रधानता है, उसका विशेष रूप से कथन किया है परन्तु लोप किसी का नहीं किया है। रयणसार में व्यवहार-निश्चय दोनों का साथ-साथ कथन किया है। नियमसार के बारह अधिकारों में प्रथम के चार अधिकारों में व्यवहार का कथन एवं शेष आठ अधिकारों में निश्चय का कथन किया है। उन्होंने नय के दो भेद व्यवहार नय और निश्चय नय किये हैं। कुछ आचार्यों ने निश्चय नय के पुनः दो भेद किये हैं शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। व्यवहार नय के सद्भूत, असद्भूत, अनुपचरित, उपचरित भेद किये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी इन प्रभेदों के चक्कर में नहीं पड़े हैं। उन्होंने बिना लाग लपेट के अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को निश्चयनय का विषय माना है और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को व्यवहार नय का विषय कहा है।

आचार्य विशुद्ध सागर महाराज ने नियमदेशना प्रथम भाग में चार अधिकारों में व्यवहार नय से जीव, अजीव, व्यवहार चारित्र आदि का कथन किया। आचार्य महाराज नियमदेशना भाग-2 प्रारम्भ करते हुये कह रहे हैं कि परमार्थ शब्द ही अपने आप कह रहा है निश्चय प्रतिक्रमण और जब तक परमार्थ दृष्टि नहीं बनेगी तब तक व्यवहार दृष्टि नहीं है। व्यवहार क्रिया, व्यवहार चारित्र उसे ही स्वीकार किया है जिसमें निश्चय चारित्र की प्राप्ति का लक्ष्य है। आचार्य श्री कहते हैं व्यवहार निश्चय का हेतु है और निश्चय मोक्ष का हेतु है। कारण में कार्य का उपचार करने से व्यवहार भी मोक्ष का हेतु है। बिना व्यवहार के निश्चय के पास जीव कभी नहीं पहुँच सकता है।

आचार्य श्री रागदृष्टि से छुड़ाने का उपाय बताते हुये कह रहे हैं कि जब मैं स्वयं का कर्त्ता नहीं हूँ, फिर मैं पर का कर्त्ता कैसा ? ये कर्तृत्व भाव जब तक विद्यमान रहेगा, तब तक त्रिकाल में शांति सम्भव नहीं है। कोई कहता है कि मैं सुखी हूँ, दु:खी हूँ। आचार्य महाराज कहते हैं कि परद्रव्य का सहयोग हो गया तो सुखी मानता है, परद्रव्य का वियोग हो गया तो दु:खी मानता है अपने आपको। पर तू तो अपने आप में पूर्ण था। विभाव की प्राप्ति का जब तक अभाव नहीं करोगे तब तक स्वभाव की प्राप्ति नहीं होगी।

आचार्य महाराज कह रहे हैं प्राप्ति का उद्देश्य अप्राप्त का ही होता है। शुद्ध स्वरूप के कथन का उद्देश्य अशुद्ध को शुद्ध करके दिखाना नहीं है। शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के कथन का उद्देश्य अशुद्ध सत्ता में शुद्ध सत्ता का ज्ञान कराके, अशुद्ध को छोड़ने का और शुद्ध सत्ता प्राप्ति का लक्ष्य बनाने का है। जो उद्देश्य है वही अध्यात्म है, ध्येय है। कितने स्वगत, परगत तत्व का ज्ञान हो जाये लेकिन जब तक स्वयं ध्यान नहीं कर रहा है, निर्वाण की प्राप्ति त्रैकालिक संभव नहीं है।

आचार्य श्री कह रहे हैं आत्म तत्त्व को छोड़कर जितने परिणाम हैं, सब अनाचार हैं। शुद्धात्मरूप परिणमन ही सदाचार है। वह सदाचार ही प्रतिक्रमण है अर्थात् आत्म आराधना ही प्रतिक्रमण है और आत्म विराधना ही अप्रतिक्रमण है। तीन गुप्तिधारी परम तपोधन ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप हैं। आचार्य श्री निश्चयनय के प्रति फैले भ्रम का निवारण करते हुये कह रहे हैं कि जिन्होंने निश्चयनय की बात को निश्चय मान लिया है, वह तत्व की बहुत बड़ी भूल है। निश्चय चर्चा का विषय नहीं है, वह तो लीनता का विषय है और अज्ञानी चर्चा का विषय बना करके व्यवहार धर्म की ओर जा रहा है। निश्चयनय की बात निश्चय नहीं है और व्यवहारनय की बात व्यवहार नहीं है। निश्चयनय, व्यवहारनय भाषा है।

आचार्यश्री कहते हैं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को जो सम्पूर्ण रूप से स्वीकारता है और मिथ्या दर्शनज्ञान चारित्र को सम्पूर्ण रूप से छोड़ता है वह साधु प्रतिक्रमण रूप होता है। आचार्य श्री ध्यान की उपादेयता महिमा को बताते हुये कह रहे हैं कि जो ध्यान नहीं करके मात्र स्वाध्याय में लगा है उसको परम शुद्धात्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि स्वाध्याय से आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होती है। ध्यान ही बंधक है, ध्यान ही अबंधक है। धर्म्य, शुक्लध्यान अबंधक है और धर्म्यध्यान के भेष में कहीं आर्त्त-रौद्रध्यान है तो बंधक है।

आचार्य श्री कह रहे हैं जो निर्ग्रन्थ मुनिराज सम्पूर्ण जल्पों अर्थात् विकल्पों को छोड़ देता है और आने वाले शुभ और अशुभ कार्यों का विचार भी नहीं करता है मात्र अपनी आत्मा में, ध्यान में लवलीन होता है उस साधु के निश्चय प्रत्याख्यान होता है। निश्चय प्रत्याख्यान में साधु बाहर के सभी विकल्पों का त्याग करके, बाहरी पदार्थों पर दृष्टि नहीं ले जाके, अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करके अपनी आत्मा का ध्यान करता है। योगी मन, वचन काय सम्बन्धी सम्पूर्ण पाँचों इंद्रिय सम्बन्धी इच्छाओं पर नियन्त्रण करता है और मोहरूपी इच्छा विशुद्ध ध्यानमयी सर्वशक्ति से ही छूटती है। आचार्य महाराज कह रहे हैं यदि वास्तव में कोई आत्मिक आनंद का स्थान है तो वह त्याग है। जिसका व्यवहार प्रत्याख्यान है उसको निश्चय प्रत्याख्यान हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है किन्तु जिनके निश्चय प्रत्याख्यान है उनको व्यवहार प्रत्याख्यान हो चुका है, क्योंकि व्यवहार के बिना निश्चय नहीं होता है। उपसंहार करते हुये कह रहे हैं निज तत्व ही निश्चय प्रत्याख्यान है स्वभाव लीनता की अविचल स्थिति ही प्रत्याख्यान है।

आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज कह रहे हैं कि निश्चय आलोचना के पूर्व व्यवहार आलोचना पूर्ण कर लेना। बिना व्यवहार आलोचना के निश्चय आलोचना संभव नहीं है। ये जीव जब तक निज निन्दा नहीं करेगा तब तक लोक निन्दा से नहीं बच सकता है। निज निन्दा करेगा तो पर निन्दा से भी बचेगा, लोक निन्दा से भी बचेगा। एक क्षण भी उसका निज आलोचना के बिना नहीं जायेगा। जो आलोचना गुरु के चरणों में की जा रही है, वह कोई लेन-देन की क्रिया नहीं है, आत्मशोधन की प्रक्रिया है।

आचार्यश्री कहते हैं कि प्रपंच मोक्ष नहीं है। मोक्ष तो छोड़ो मोक्षमार्ग भी नहीं है। पंचम भाव की ओर चलना है तो चारों भाव औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक को छोड़ दो। यति का शरीर ही मोक्ष मार्ग का उपदेश देता है। भो ज्ञानी! आलोचना तो करना परन्तु आलोचना में संक्लेशता नहीं लाना। मोह का अभाव, मंदता होने पर आलोचना समतापूर्वक होती है। भो ज्ञानी! कर्म आपको संभलने का मौका देता है। अबाधा काल का अर्थ ही है कि आप संभल जाओ। अन्त में आचार्यश्री कहते हैं कि जो साधु व्यवहारचर्या में पूर्णरूपेण निष्णात हैं वे ही निश्चय आलोचना को प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जिससे चित्त की शुद्धि हो उसका नाम प्रायश्चित है। विकल्पों का समापन होना प्रायश्चित है। गुरु चरणों में पहुँचकर दोष बताना, अपनी आलोचना करना, दंड स्वीकारना ये व्यवहार प्रायश्चित है। काम क्रोधादि भावों का क्षय ही मुनियों का उत्कृष्ट प्रायश्चित है। जो परमसंयमी परमयोगी निजस्वरूप में रमण कर रहे हैं उनके ही निश्चय प्रायश्चित है और वही मोक्ष का हेतु हैं। आचार्य महाराज कह रहे है कि निश्चय प्रायश्चित समस्त आचरणों में परम आचरण है। भैया परभाव का अभाव किये बिना निज भाव की लीनता नहीं होती है। यों ही बैठे बैठे मुख से कह दिया कि ''आत्म स्वभावं परभाव भिन्नं'' तो उससे परभाव की भिन्नता नहीं होती है। मुख की मिश्री और मुख में मिश्री, इन दोनों के स्वाद में बहुत अन्तर है।

आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज परम समाधि का स्वरूप कह रहे हैं जो वचन बोलने की क्रिया का परित्याग कर वीतराग भाव से आत्मा को ध्याता है उसकी परमसमाधि होती है यही स्वरूपाचरण चारित्र है। समता की अनुगामिनी समता है तो समाधि है और समता नहीं है तो त्रैकालिक समाधि नहीं है। निर्विकल्प समाधि में विराजने वाला द्वैत-अद्वैत भाव से मुक्त होता है। समता का अर्थ मात्र क्रोध आने का अभाव नहीं लोकेषणा, तीव्र उत्साह का अभाव होना समता है। समता अर्थात् चारों कषायों की भद्रता, मंदता। जहाँ आर्त्तरौद्रध्यान है वहाँ शांत होने पर भी समता संज्ञा नहीं है। जो षट्काय के सम्पूर्ण जीवों के प्रति साम्यभाव से युक्त है वह सामायिक चारित्रधारी होता है। भैया! बिना युक्ति के निर्दोष संयम का पालन सम्भव नहीं है।

आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज ने उपर्युक्त सभी कथनों को समयसार, प्रवचनसार, कीर्तिकेयानुप्रेक्षा, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, इष्टोपदेश, आत्मानुशासन, परमात्मप्रकाश आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के उद्धरणों से पुष्ट किया है। निश्चय व्यवहार नय, क्रमबद्धपर्याय आदि के विषय में जो जनसामान्य में भ्रान्तियाँ फैली है, उद्धरणों के माध्यम से दूर करने का अनुपम, हृदयग्राही प्रयास किया है। आचार्यश्री की वाणी अन्तरंग से प्रस्फुटित होने के कारण श्रोता के अन्तरंग की सीधे स्पर्श करती है। आचार्य श्री की नियमसार पर नियमदेशना आप सबको भवसागर के निर्मम जाल से निकालने में सहायक बने यही मंगल भावना है।

पुनश्च यह ग्रन्थ आचार्यश्री के प्रवचनांशों पर आधारित है इसमें प्रमादवश अशुद्धि रहना स्वाभाविक है। सुधी, विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि जहाँ उन्हें त्रुटि परिलक्षित हो सूचित करने का प्रयास करे। यह उनकी जिनवाणी के प्रति महती सेवी होगी।

नमोस्तु शासन जयवन्त हो, जयवन्त हो वीतराग श्रमण संस्कृति। आचार्य श्री जयवन्त हो जिससे हम सब अज्ञ जनों को उनकी अमृतमयी देशना में निरन्तर रसाबोर होने का सौभाग्य प्राप्त होता रहे।

चरणानुरागी

इंजी दिनेश जैन

भिलाई मो. 9303806982

email : JGudia2012@gmail.com

मंगलाचरण

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमोः नमः ॥

अविरल-शब्दघनौघ-प्रक्षालित-सकलभूतल-कलङ्का।
मुनिभि-रुपासित-तीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितम्॥

अज्ञान-तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

श्री परमगुरवे नमः परम्पराचार्यगुरवे नमः। सकलकलुष विध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं भव्य-जीवमनः प्रतिबोधकारक-मिदं शास्त्रं श्री नियमसार नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थ कर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तर ग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः, प्रतिगणधर देवास्तेषां वचनोऽनुसारमासाध्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचितं तस्य भाषा टीकां आचार्य श्री विशुद्धसागरेण विरचित एषः नियमदेशना नाथ ग्रन्थः। श्रोतारः सावधानतया श्रुणवन्तु।

मङ्गलं भगवान वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यौ, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलं॥

सर्वमङ्गल-माङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानम् सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम्॥

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं॥

❖❖❖❖❖

परमभक्ति अधिकार (10)

नियमसार

गाथा-134 **कलश 220 से 226**

उत्थानिका : परम भक्ति का महात्म्य

गाथा : सत्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं

संस्कृत छाया : सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु यो भक्तिं करोति श्रावकः श्रमणः।
तस्य तु निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति जिनैः प्रज्ञप्तम्॥134॥

अन्वयार्थ : (यः श्रावकः श्रमणः) जो श्रावक अथवा श्रमण (सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र में (भक्तिं करोति) भक्ति करता है (तस्य तु) उसके (निर्वृत्ति भक्ति भवति) निर्वाण की भक्ति होती है। (इति जिनैः प्रज्ञप्तं) ऐसा जिनों ने कहा है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार ग्रंथ के दशवें अधिकार परमभक्ति अधिकार को प्रारंभ करते हुये कह रहे हैं कि समाधिभक्ति में सभी जीवों का समाधि में प्रवेश नहीं होता है, उनके लिए कह रहे हैं कि तुम भक्ति करो। समाधि ज्ञानियों का विषय है। भक्ति में विकल्प ज्यादा होते हैं। यहाँ जो भक्ति की चर्चा कर रहे हैं, वो भी परमभक्ति समाधि ही है, निर्विकल्प भक्ति। परन्तु श्रावक अपेक्षा और सराग अपेक्षा सविकल्प भक्ति की चर्चा भी यहाँ करेंगे।

ज्ञानी! भक्ति यानि नमस्कार करना या पूजा करना नहीं है। वो भक्ति प्रवृत्ति है, वो भक्ति की क्रिया है। वंदना करना, नमस्कार करना, पूजा करना यह भक्ति नहीं है, ये भक्ति की क्रिया है। तो भक्ति क्या है? "पूज्येषु गुणानुरागो भक्तिः" पूज्यपुरुषों के गुणों में अनुराग होना, इसका नाम भक्ति है। कभी-कभी पूजा तो हो जाती है, नमस्कार भी हो जाता है, लेकिन भक्ति नहीं होती। भक्ति अंदर का विषय है। भक्ति यानि आत्म-प्रसाद, आत्म-अह्लाद। पूज्य पुरुषों को देख करके अह्लाद अंतरंग में आ रहा है, उसका नाम भक्ति है। साधु नगर में पधारे, तीर्थ रास्ते में पड़ गया, अपन नास्तिक तो हैं नहीं, तो ढोक/वंदना कर लो। बहुत

अंतर है। हमें तो दर्शन करना ही है। गद्गद् भाव नहीं आते तो भक्ति नहीं है। 'रयणसार' जी में लिखा है कि सिर पटक रहा है, हाथ जोड़ रहा है, सबकुछ कर रहा है, लेकिन विनय भक्ति से विहीन है, जैसे महिलाओं का रोना। महिलाओं में अंतरंग में राग नहीं है, लेकिन दिखाने के लिए जोर-जोर से रो रहीं हैं। किसी के यहाँ मृत्यु हो जाये तो किराये पर रोने वाले भी आते हैं। ऐसे रोयेंगे कि सुननेवाला रो पड़े, पर उनका तो व्यापार है। आप ऐसे भाव दिखा रहे हैं, सबकुछ कर रहे, कभी-कभी तो सोच कर रोते हैं कि यहाँ के बाद यह कहेंगे और प्रारंभ कर दिया, लेकिन आँख में एक आँसू नहीं है। स्नेह के बिना स्त्रियों का रोना और वैराग्य के बिना चारित्र, ऐसे ही भक्ति के बिना यह सब व्यर्थ है।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि गुणों में जो अनुराग है, अंतरंग में अह्लाद परिणाम है, इसी का नाम भक्ति भाव है। अभी तक आचार्यभगवन् ने (ग्रन्थकर्त्ता ने) श्रावक का नाम नहीं लिया था। जितना कथन चल रहा था, वो सब साधु का चल रहा था। परम समाधि अधिकार तक श्रावक की चर्चा नहीं की है। भक्ति का विषय आ गया तो श्रावक का नाम आ गया। श्रावक की सीमा उपासना है, भक्ति है। श्रावक की जो भक्ति है, वो सराग भक्ति है और श्रमण की भक्ति में सराग व वीतराग उभयभक्ति है। गृहस्थ जो भक्ति करता है, वह द्वैत भक्ति करता है। साधु जब निर्विकल्प ध्यान में बैठता है, तो अद्वैत भक्ति होती है। मुनियों के षट्आवश्यक में स्तवन और वंदना ये दो कर्त्तव्य होते हैं। एक तीर्थंकर का गुणगान करना, वो वंदना है। चौबीस तीर्थंकर का एकसाथ गुणगान करना, वह स्तुति/स्तवन कहलाता है। स्तुति और वंदना ये मनुष्यों के षट्आवश्यक कर्त्तव्य हैं। भक्ति आप कितने बार करते हो? साधु तो अनवरत् कर रहे हैं। सुबह भक्ति करते हैं, शाम को भक्ति करते हैं। आचार्यवंदना आचार्यभक्ति है। अरिहन्त भक्ति, सिद्ध भक्ति। सामायिक में भी भक्तियाँ होती हैं, उसे देववंदना कहते हैं। जब आप स्वाध्याय करते हो, तो भी भक्ति है। अर्थात् जो भी आपकी क्रिया है, भक्तियुक्त है, भक्ति सिद्ध है। क्यों? समाधि में अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता । समाधि अंतरंग को लेकर चलती है और भक्ति बाह्य द्रव्य को लेकर चलती है। भक्ति में विकल्पता है, क्योंकि समाधिमार्ग पर स्थिर नहीं रह सके। वैदिक दृष्टि से ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड। भक्तिमार्ग क्रियाकाण्ड है और समाधिमार्ग, ध्यान मार्ग यह ज्ञानकाण्ड है। क्रियाकाण्ड में गीत, संगीत आदि का आलम्बन होता है। भक्ति के अनेक तरीके हैं। कोई पूजा में भक्ति मानता है, कोई बजाने में भक्ति मानता है। भक्ति के अनेक

मार्ग हैं। ये यति गाने-बजाने से दूर रहते हैं।

जैनाचार्यों ने किसी क्रिया को छोड़ा नहीं। किसी एकांगी धारा में नहीं गये। भक्तिमार्ग को भी उन्होंने उतना ही स्वीकारा है जितना समाधिमार्ग को स्वीकारा है, निर्विकल्प दशा को स्वीकारा है। निर्विकल्प भक्ति की संज्ञा दे दी, नहीं-तो बड़ी गड़बड़ी हो जाती। लोग आँख खोलते और मींचते और कहते कि हम तो समाधि में जायेंगे, भक्ति नहीं करेंगे। निर्विकल्प भक्ति यानि शुद्धोपयोग,सविकल्प भक्ति यानि शुभोपयोग। ये भक्ति क्यों ?अशुभोपयोग से बचने के लिये भक्ति की जाती है। किसकी भक्ति ? यहाँ गुणों की भक्ति कर रहे हैं। पूजा किसकी ? गुणों की पूजा है, गुणों की भक्ति है।

'अष्ट पाहुड' में कुन्दकुन्द देव ने लिखा है कि गुणहीन की वंदना नहीं होती है। श्रमण हो अथवा श्रावक हो, गुणहीन का हमारे यहाँ कोई गुणगान नहीं है। यदि हम भक्ति कर रहे हैं तो दृष्टि कहाँ पर है ? 'वंदे तद्गुण लब्धये।' वंदना क्यों ? उन गुणों की प्राप्ति के लिए। गुण कौन से हैं ? सम्यग्दर्शन , सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जो श्रमण और श्रावक इनकी भक्ति करता है, उनके ही निर्वाण की भक्ति होती है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। यहाँ पर रत्नत्रय के स्वरूप का व्याख्यान है। चतुर्गतिरूप संसारपरिभ्रमण का कारण तीव्र मिथ्यात्व कर्मप्रकृति है। पहला प्रत्यय कौन-सा है ? मिथ्यात्व। इसने तत्त्व को तत्त्व नहीं जानने दिया, अतत्त्व को अतत्त्व समझने नहीं दिया, पंचपरमगुरु को गुरु नहीं समझने दिया, अगुरु को गुरु बना दिया। सब मिथ्यात्व की महिमा थी। जहाँ धर्म नहीं, वहाँ धर्म कह दिया। अदेव में देव की संज्ञा दे दी और सुदेव में अश्रद्धापन कर दिया। ये सब किसकी कृपा है ? मिथ्यात्व की।

लोगों को मिथ्यात्व में आनंद आता है। उनको मालूम नहीं चलता कि हम कितने गहरे हैं ? सोचते हैं कि यदि मिथ्यात्व का सेवन नहीं किया तो कुछ हो न जाय। सब जगह डर लगा हुआ है। भय, यह सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। लोग चाहते नहीं हैं, पर वो भय के कारण बोले कि हमारे घर में कुलदेवता की पूजा होती है। यदि नहीं करेंगे तो कुल में कुछ हो जायेगा। बेटे का सिर दर्द करे, मौसमी बुखार भी हो जाये, तो उनको लगता है कि कुलदेवता लग गये। उनको कुलदेवता दिखते हैं। इतना ही नहीं, कितनी रूढ़ियाँ होती हैं। घर में गाय,भैंस आदि हैं, वो दूध देते-देते परेशान हो गये, बछड़े को नहीं पिलाया, वो उसके थन को काट रहा था, तो उसने लात से अलग कर दिया। यह सबसे बड़ी रूढ़ि है देहातों में। बोले कि आज गाय ने बछड़े को दूध नहीं पिलाया, जरूर कुलदेवता आ गये हैं। ये सब कितने मिथ्यात्व हैं। यहाँ

आयेंगे, भगवान् की पूजा करेंगे, आराधना करेंगे और घर जाकर कुलदेवता की उपासना चलेगी। कहीं-न-कहीं रूढ़ियों से बंधे हैं। ऐसे-ऐसे लोग देखने को मिलते हैं जोकि अरिहन्त विम्बों को नहीं पूजेंगे, शास्त्र को नहीं मानेंगे, गुरुओं को नहीं मानेंगे, लेकिन कुलदेवता को जरूर मानेंगे, क्योंकि देव-शास्त्र-गुरु को नहीं मानेंगे तो ये सब कुछ नहीं बिगाड़ेंगे, परन्तु वे बिगाड़ देंगे। इससे मतलब यह है कि जहाँ तुम्हारा लौकिक सुधार या बिगाड़ दिखता है, वहीं भगवान् हैं। लेकिन वीतरागी भगवान् की निंदा करो तो बैर नहीं करते, स्तुति करो तो प्रेम नहीं करते, क्योंकि यह वीतरागी होते हैं। ऐसे वीतरागी की भक्ति करोगे तो नियम से तिर जाओगे संसार से, अन्यथा डूबोगे। इसलिये तीव्र मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति के प्रतिपक्ष में है निज परमात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान और उसी परमात्म तत्त्व में आचरण यानि रमण करना। शुद्ध रत्नत्रय के परिणाम में जो भजना है, लीन होना है, वही भक्ति है, वही आराधना है। निश्चय भक्ति और शुद्धात्म का श्रदान, ज्ञान व रमण, ये श्रमण की अपेक्षा कथन हुआ।

श्रावक के कितने पद होते हैं? एकादश, ग्यारह प्रतिमा। पहली प्रतिमा से छठवी प्रतिमा तक जधन्य श्रावक कहलाता है। अहो सम्यग्दृष्टि आत्माओ! अभी आप 'श्रावक' संज्ञा को प्राप्त नहीं हुये हो। जघन्य भी नहीं हो। जघन्य श्रावक तो बने नहीं, भैया! और शुद्धोपयोग में लीन हो रहे हैं। सातवीं से नवमी प्रतिमा, यह मध्यम श्रावक हैं, श्रावक-शिरोमणि कहलाते हैं। आजकल तो रात्रि में खा रहे हैं, गाड़ियों में घूम रहे हैं और पता नहीं क्या-क्या कर रहे हैं, थोड़ा-सा दान दे देते हैं और श्रावकशिरोमणि संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

भो ज्ञानी! जिसने रात्रिभोजन त्याग कर दिया हो, पर्युषण आदि के व्रत पालता हो, अष्टमी चतुर्दशी का उपवास करता हो, उसे जिनवाणी व्रती श्रावक नहीं कहेगी। व्रतपालक तो कह सकती है, क्योंकि वे पर्वों के व्रत पालते हैं। जो त्रिलोक तीज, जिनगुणसंपत्ति, 1234 व्रत आदि करते हैं, व्रती भी करते हैं, लेकिन इन व्रतों मात्र को करने वाला 'व्रती' संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है। जो बारह व्रतों का पालन होता है, वह यमरूप से होता है, वो व्रती संज्ञा है। जो त्रिलोक तीज आदि व्रतों की चर्चा कर रहे हो, ये व्रत तो आपके नियम हैं। जिस दिन पूरे हो जाते हैं, उस दिन उद्यापन हो जाता है। जिस किसी को प्रतिमा लेने की भावना हो, वे प्रतिमा तो ले लें, लेकिन ऐसा न करें कि दस बारह साल पालन किया अब उद्यापन कर लें। इनका उद्यापन नहीं होता है। जैसे कोई मुनिराज बन जाये और फिर सोचे कि हम वृद्ध हो गये हैं, अब पालन नहीं होता, अब हम उद्यापन कर रहे हैं। तो ध्यान रखना, बारह व्रत जो होते

हैं, उनका उद्यापन नहीं होता है। समाधि हो जाना ही उनका उद्यापन है। नहीं तो मालूम चला कि ऐसे ही घूम रहे हैं। पूछा, व्रत क्यों नहीं कर रहे हो? बोले, हमारा तो उद्यापन हो गया। जैसे कोई दसलक्षण पर्व करता था, उसके दस साल पूरे हो गये तो उसने उद्यापन कर लिया। अब वो ग्यारहवें साल नहीं कर रहा है तो कोई दिक्कत नहीं है, क्योंकि उसका नियम था, लेकिन प्रतिमाधारियों के उद्यापन नहीं होते हैं, महाव्रतियों के उद्यापन नहीं होते हैं।

जो प्रतिमाधारी श्रावक है, वह व्रती श्रावक कहलाता है। जो प्रतिमाधारी नहीं है, वो सामान्य रूप से व्रती श्रावक है, पर ग्यारह प्रतिमायें व्रतियों की ही होती है। वास्तव में 'श्रावक' संज्ञा व्रती की ही होती है। दूसरी प्रतिमा का नाम व्रत प्रतिमा है, इस दृष्टि से पाँचवाँ गुणस्थान तो पहली प्रतिमा से ही शुरू हो जाता है। परन्तु व्रत प्रतिमा की अपेक्षा से जब व्रती कहेंगे तो दूसरी प्रतिमा से शुरू होता है। बारह व्रत कहाँ से ?दूसरी प्रतिमा से । पहली प्रतिमा दर्शन प्रतिमा है। यह निर्दोष सम्यक् का, 25 दोषों से रहित सम्यग्दर्शन का पालन करता है। इस प्रकार जानना कि वो 11 दर्जे हैं, श्रेणियाँ हैं,कक्षा हैं। इस अपेक्षा से पहली प्रतिमाधारी व्रती तो है, लेकिन 12 व्रत की अपेक्षा से वहाँ उपचार वगैरह कुछ नहीं है। पहली प्रतिमा में कोई उपचार दूसरी प्रतिमा का नहीं है, क्योंकि स्वतंत्र प्रतिमा है। ऐसा नहीं है कि पहले उपचार से प्रतिमा पाले, फिर वास्तविक प्रतिमा पाले। अभ्यास कर रहा है।

पहली प्रतिमा का वर्णन करते हुये आचार्य समंतभद्र स्वामी कहते हैं, वो तो संसार,शरीर, भोगों से विरक्त होकर सम्यग्दर्शन का पालन करता है। सभी शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। मुनिराज लीनतारूप और श्रावक भावनारूप भक्ति करते हैं कि भगवन्! वो शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति मुझे भी हो जाये। जब तक पूर्ण रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं है, तब तक वो भक्ति मुनियों में लगाना, व्यवहार भक्ति श्रावकों में लगाना। छठवें गुणस्थान तक व्यवहार भक्ति होती है। व्यवहार भक्ति दोनों में है, पर निश्चय भक्ति एक में ही है। 'जो भव के भय से भीरु हैं—' ये शब्द बहुत ध्यान देने योग्य है। आप लोग पापों से क्यों नहीं बच पाते हो? क्योंकि भव से भय नहीं है। जिस दिन भव से भय हो जायेगा, उस दिन कोई कितना ही प्रेरित करे, पाप नहीं कर सकते हो। यदि भव से भयपना नहीं है तो कितना ही कोई समझाये, वह कहेगा—'अरे! ऐसा तो लोग कहते ही रहते हैं। सुन लो, पर अपन को तो अपने हिसाब से चलना है। सुन सब की लो। महाराज तो कहते ही रहते हैं, उनका तो काम ही कहना है, अपन गृहस्थ हैं, अपने अनुसार चलेंगे।' यानि भव से बिल्कुल भय नहीं है।

भो ज्ञानी! आप निडर रहना, लेकिन एकमात्र डरना तो भवों से डरना, पापों से डरना। जिनकी परम निष्कर्म वृत्ति (निश्चय भक्ति) है, ऐसे परम तपोधन भव-भय से भयभीत रहते हैं, शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। उन परम श्रावकों को तथा परम तपोधन साधुओं को जिनवरों के द्वारा कही गई निर्वाण-भक्ति होती है। जो बारह व्रतों का निर्दोष पालन कर रहे हैं, ऐसे परम श्रावकों के भी भावनारूप निर्वाणभक्ति होती है। परम श्रावक यानि व्रती श्रावक। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव भक्ति के महात्म्य को बतलाते हुए कहते हैं-

सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे
भक्तिं कुर्यादनिशमतुलां यो भवच्छेददक्षाम्।
काम क्रोधाद्यखलदुरधव्रातनिर्मुक्तचेताः
भक्तो भक्तो भवति सततं श्रावकः संयमी वा ॥ कलश 220॥

भो ज्ञानी! एक बात का ध्यान रखना कि अब ये नहीं कहना 'भक्त नहीं, भगवान् बनेंगे।' भक्ति करके ही भगवान् बनोगे। अंतिम पंक्ति में कह रहे हैं कि श्रावक हो या संयमी हो, भक्त है। यहाँ कह रहे हैं कि भेद भक्ति करके अभेद भक्ति को प्राप्त करो। अध्यात्मशास्त्रों और आचरणशास्त्रों में यही लिखा मिलेगा। वट्टकेर स्वामी ने 'मूलाचार' में स्पष्ट लिखा है- 'भक्ति जिनवराणां।' यानि जो तूने पूर्व में कर्म संचित किये हैं, उन कर्मों को जीव भगवान जिनेन्द्र की भक्ति से क्षय कर देता है। आचार्य परमेष्ठि के प्रसाद से विद्यामंत्र की सिद्धि हो जाती है। दोनों भक्ति हो गई एकसाथ। अर्हत भक्ति, आचार्य भक्ति। सोलहकारण भावनाओं में सबसे ज्यादा भक्ति की भावनायें हैं। अर्हत् भक्ति, आचार्य भक्ति, प्रवचन भक्ति, बहुश्रुत भक्ति आदि। इसलिये 'भक्त नहीं, भगवान् बनेंगे' इसमें थोड़ा सुधार कर लो। जब भी भगवान् बनोगे, भक्त बनके ही बनोगे। सविकल्प अवस्था में भेद भक्ति तथा निर्विकल्प दशा में अभेद भक्ति करोगे, यह ध्यान रखना।

भक्ति अनुरागपूर्वक ही होती है, भक्ति वैराग्य में नहीं होती है। वैराग्य उदास होता है, भक्ति अनुराग का विषय है। 'सर्वार्थसिद्धि' में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है "पूज्येषु गणानुरागो भक्तिः" पूज्य के गुणों में अनुराग करना भक्ति है। जब अनुराग होता है, तो वात्सल्य बढ़ता है। बिना अनुराग के वात्सल्यभाव नहीं आयेंगे। संस्कृति के प्रति, परमेष्ठी के प्रति, जिनवाणी के प्रति बहुमान नहीं आयेगा। ध्यान रखना, निधत्ति-निकाचित कर्म को क्षीण करने का कोई माध्यम है तो अर्हत् भक्ति है। कुछ लोगों ने भक्तामर पढ़ना छोड़ दिया,

णमोकार की माला फेरना छोड़ दिया। भैया! असातावेदनीय कर्म के उदय के कारण कष्ट में है। वो मंदिर आया। आपने कहा भक्तामर मत पढ़ो, णमोकार मत पढ़ो, पूजा मत करो। वो वैसे ही तो दु:खी था। जितने समय यह पढ़ता, तो अशुभ से बचता। तुम उससे कहो कि भगवान् की भक्ति करो। अभी तुम उससे यह मत कहना कि कुछ मत करो। अभी तो तुम उसे मार्ग पर लाओ, कि तुम्हें जो चाहिये, सब भगवान् दे देंगे। उसको बैठने तो दो। जब शुरू में बालक स्कूल जाता है तो उसको लड्डू देकर भेजते हो और जब वो समझदार हो जाता है फिर आप कहो कि दुकान में बैठ जाओ तो कहता है कि मुझे होमवर्क करना है, पढ़ना है। वो ही बालक है, जिसे तुम मिठाई देकर स्कूल भेजते थे। ऐसा ही यह जिनमार्ग है। पहले भक्तिमार्ग में लाओ। कोई असाता में विलख रहा है तो उसको समझा दो। जब वो समझ जाये, तो इसके बाद कहना कि भगवान् की भक्ति करने से सब कष्ट अपने आप दूर होते हैं। तुम ये भावना छोड़ दो कि मेरा मकान बने, दुकान चले, कष्ट दूर हो जायें। आप भक्ति करो, माँगो कुछ नहीं। फिर समझाना उसको निकांक्षित भाव, लेकिन पहले तो उसको बुला लो, क्योंकि भटक रहा है। कई लोग ऐसे हैं कि जो दर-दर ठोकरें खा रहे हैं और आप लोग समझा नहीं रहे हो। कुछ लोग तो इतने उदास हैं, बोले, 'हमारे भगवान् तो कुछ देते नहीं हैं।' मंदिर भी आता है, पर माँगने अन्यत्र जाता है, क्योंकि उसके अंदर भी इतना कूट-कूट कर भर दिया गया है कि अपने भगवान् कुछ देते नहीं हैं, ये तो वीतरागी हैं। ये वीतरागी तो हैं, ये कुछ देते नहीं, लेकिन वीतरागी की उपासना करने वाला सबकुछ अपने भावों से ले लेता है। उसे पास में आने दो, मिथ्यात्व में मत जाने दो। जब पास में आये, यदि वह प्रतिभावान, विवेकशील है, तो उसे ज्यादा नहीं समझाना, क्योंकि इससे वो असंतुलित हो जाता है। उसे मार्ग दिखा देना और शास्त्र पकड़ा देना, कहना कि आप स्वाध्याय किया करो, क्योंकि समझाओगे तो हो सकता है कि मानने को तैयार नहीं हो, लेकिन शास्त्र पढ़ने लगेगा तो स्वयं कहेगा कि ऐसा नहीं है। तब आपका कार्य पूरा हो गया। आप तो बस उसको खड़ा कर दो। यदि पहले ही आपने बिचका दिया, तो कुछ होनेवाला नहीं है।

झाँसी में एक सज्जन थे। उन्होंने लोगों को समझा दिया कि "तुमसे लागी लगन....." जो स्तुति है, वह मत पढ़ा करो, क्योंकि इसको पढ़ना मिथ्यात्व है। हमने उनको समझाया कि सीधे ऐसा मत कहो। कुछ लोगों को चालीसा ही पढ़ने में मन लगता है। कुछ लोगों को भक्ति मात्र चालीसा पढ़ने में ही है। अब आप उनसे कहने लगो कि चालीसा को चालीस दिन जो

पढ़ता है उसको संपत्ति मिलती है, सुख मिलता है, बहुत कुछ मिलता है। पढ़ने दो उसको। कम-से-कम चालीसा तो पढ़ रहा है।

चाहे महावीर स्वामी के पास बैठे, चाहे पार्श्वनाथ स्वामी के पास बैठे, आगे जाकर वह स्वयं समझदार हो जायेगा। अभी कम-से-कम द्रव्यमिथ्यात्व से तो बचा है। आप मार्ग में जा रहे थे कि अचानक कोई दुर्घटना हो गई। उस समय 'प्रभु पार्श्वनाथ रक्षा करो' ये शब्द कहना अच्छा है कि 'हाय बाप! मेरी रक्षा करो'? ये तो पक्का है कि न भगवान् आ रहे हैं तुम्हारे पास, न तुम्हारे पिता जी आ रहे हैं। रक्षा तो तुम्हारी तुम्हारे पुण्य से होगी; लेकिन भगवान् का नाम लोगे तो पुण्य आयेगा, पिताजी का नाम लोगे तो राग आयेगा। इसलिये किसी को निषेध मत करना कि तुम भक्ति मत करो।

भो ज्ञानी! भक्ति करो, लेकिन दृष्टि ये रखो कि हम अशुभ से बचने के लिये कर रहे हैं। जो भवों के भय को हरनेवाले हैं, ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भक्ति करो। ये कभी-कभी नहीं, हमेशा करना चाहिये, क्योंकि यही भव की दशा को छेद करने में समर्थ है, कुशल है, दक्ष है। 'ठीक है, महाराज! हम 'तत्त्वार्थसूत्र' के पहले सूत्र की आरती उतारा करेंगे।' ज्ञानी! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भक्ति का तात्पर्य आरती उतारना नहीं है, उसको स्वीकार करना है। और जो उससे युक्त हैं, उनकी भक्ति करो। जिन्होंने उसके फल को प्राप्त कर लिया, उनकी भक्ति करो। नहीं तो लोग सोचेंगे कि "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" इतना सूत्र रोज पढ़ लिया करेंगे, हो गई भक्ति। भैया! जैसे दवा का नाम लेने मात्र से रोग ठीक नहीं हो जाता, वैसे ही सूत्र का नाम लेने से उद्धार नहीं होगा, अपितु उस सूत्र पर चलना होगा। काम-क्रोधादि पापसमूह की रति से भयभीत ये आत्मा होगी, तभी श्रावक व संयमी की भक्ति होगी। हमारे जीवन में जब तक शुद्ध दशा की प्राप्ति नहीं हो रही है, तब तक पंचपरमगुरु की भक्ति सतत् करते रहना, जिससे कि आपकी अशुभ से रक्षा हो, दुर्गति गमन बचे।

॥भगवान महावीर की जय॥

गाथा-135

नियमसार

उत्थानिका : व्यवहारनयप्रधान सिद्धभक्ति का कथन

गाथा : **मोक्खं गयपुरिसाणं,गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।**
जो कुणदि परमभत्तिं, ववहारणयेण परिकहियं॥135॥

संस्कृत छाया : **मोक्षगतपुरुषाणां गुणभेदं ज्ञात्वा तेषामपि।**
यः करोति परमभक्तिं व्यवहारनयेन परिकथितम्॥135॥

अन्वयार्थ : (यः) जो (मोक्षगतपुरुषाणां) मोक्ष को प्राप्त हुये पुरुषों में (गुणभेद ज्ञात्वा) गुणों के भेद को जानकर (तेषां अपि) उनकी भी (परमभक्तिं) परमभक्ति (करोति) करता है, (उसके) (व्यवहारनयेन परिकथितं) व्यवहारनय से भक्ति कही गई है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्वगाथा में यह संकेत दिया कि रत्नत्रयधारी निर्ग्रन्थ यति अभेद भक्ति में लीन होते हैं और श्रावक भेदभक्ति में लीन होता है। सराग अवस्था में मुनिमहाराज भी भेदभक्ति में लीन होते हैं। एक माँ अपने सुत को किसी भी प्रकार से बाहर नहीं जाने देना चाहती, गिरने देना नहीं चाहती। उत्तम यह है कि तुम पालने में झूलो। यदि पालने में नहीं झूल रहे, तो उतर आओ, हम तुम्हें खिलौना देते हैं। बाहर चोट लग सकती है, कोई तुमको उठाकर ले जा सकता है। माँ जिनवाणी कह रही है, बेटा! उत्तम है कि तुम समाधि के झूले में झूलो अर्थात् छठवाँ, सातवाँ गुणस्थान। नहीं टिक पर रहे हो तो अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इनकी भक्ति करो। पंचपरमेष्ठी की आराधना करो, इनमें रत हो जाओ। उपदेश की आवश्यकता पड़े तो श्रावकों को अरिहंत आदि की भक्ति का उपदेश करो।

भो ज्ञानी! 'प्रवचनसार' की चरणानुयोग चूलिका में कहा है कि जब सराग अवस्था में योगी आता है तो वह अरिहन्त की उपासना की चर्चा श्रावकों के लिये भी करता है। जब साधक शुद्धोपयोग में नहीं पहुँच पाता है, (यह सराग साधु का कथन कर रहे

हैं) तो अरहंतदेव की पूजादि का उपदेश श्रावक को देता है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि भक्ति करो। भक्ति के माध्यम से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है, अशुभ का संवर होता है और शुभ का आस्रव होता है; लेकिन मुक्ति का साक्षात् हेतु तो शुद्धोपयोग है। परम्परा से मुक्ति का हेतु शुभोपयोग है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा सं. 135 में कह रहे हैं कि जो पुरुष मोक्ष को जा चुके हैं, मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं, वो आपको मुक्त करायेंगे क्या? नहीं करायेंगे। जैनदर्शन अरहंत को अकर्त्ता कह रहा है, जबकि आपको यह कर्त्ता कह रहे हैं और सिद्धों से कह रहे हैं कि प्रभु! तुम हमारी मुक्ति के कर्त्ता हो। सुननेवाला सोचेगा कि अशरीर आत्मा और पर की मुक्ति का कर्त्ता? हाँ, यही तो जैन नय की विशेषता है। सिद्ध भगवान् मोक्ष देते हैं। अन्यथा मत कहना, यथार्थ कहना। कैसे देते हैं? जो सिद्ध परमेश्वर हैं, वो अशरीरी हैं, उनको हमने जाना भी नहीं है, पहचाना भी नहीं है और वे हमें मोक्ष कैसे देते हैं? बोले, हाँ। उनका ज्ञान किसने कराया? अरिहन्त भगवान ने। तो अरिहन्त भगवान् प्रमाणिक पुरुष हैं और प्रमाणिक पुरुष का नाम जैनदर्शन में 'आप्त' है। तीर्थंकर महावीर पुरुष ही हैं, 24 तीर्थंकर पुरुष ही हैं और पुरुष जब पुरुषार्थ करता है मोक्ष का, तो वो ही पुरुष पुराणपुरुष हो जाता है। जो पुराणपुरुष है, वही पुरु है यानि श्रेष्ठ है। जो पुरुष है, वही आत्मा है। निकलंक आत्मा परमात्मा होती है। आप्त कौन है? कोई बाहर से आया हुआ परमेश्वर नहीं। यहाँ जिस पुरुष ने निर्मल पुरुषार्थ किया है, वो ही परमेश्वर है। जो पुराणपुरुष, प्रमाण पुरुष ने कहा, वह सत्य है। अरहंत भगवान् ने आपको सिद्धों की सत्ता का ज्ञान कराया।

भो ज्ञानी! वे अशरीरी परमेश्वर भक्ति के योग्य हैं कि नहीं? परमेश्वर की भक्ति क्यों की जाती है? दु:खों के क्षय के लिये, कर्मों के क्षय के लिये, बोधि की प्राप्ति के लिये, सुगति में गमन के लिये, और जिनेन्द्र के गुणों की संपत्ति मुझे प्राप्त हो। आपने जो भक्ति की है सिद्ध की, वो सिद्धों की भक्ति करने से कर्मनिर्जरा होगी कि नहीं? होगी। भक्त अब कारण में कार्य का उपचार लगाके कह रहा है, हे नाथ! आपकी कृपा से मेरे कर्म का क्षय हो रहा है। वह जीव पंचपरमेष्ठी की भक्ति कर रहा है अशुभ से बच रहा है और वही उसका शुभोपयोग है। जो योगी निकांक्षित भक्ति सम्यक्त्व के

साथ कर रहा है, वो नियम से मुक्ति का हेतु होती है। सम्यक्त्व में कांक्षा नाम का अतिचार है, इसलिये अलग से निकांक्षित कह दिया। इसलिये सिद्ध भगवान् मुझे मोक्ष देते हैं।

भो ज्ञानी! जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, वो भी भक्ति करे। संपूर्ण प्राणियों पर अनुग्रह करना, यह सज्जनों का प्रयास रहता है। मिथ्यादृष्टि है, रहने दो, वह भी दया का पात्र है। तुम भक्ति करो। तुम्हारी भक्ति तुम्हारे लिये मुक्ति का कारण बनेगी। सम्यग्दृष्टि की निकांक्षित भक्ति मुक्ति का कारण है। भगवन्! आप किनके द्वारा वंदनीय हो? सुरासुर द्वारा। सुर में तो सम्यग्दृष्टि देव आ गये। असुर जन्म से मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि का असुर पर्याय में प्रवेश होता ही नहीं है। अंतर्मुहूर्त के बाद वे लोग सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं। हे नाथ! जो असुर बना है, वो भी आपकी भक्ति से ही बना है। उसने आपकी भक्ति की, तो पुण्यास्रव हुआ। वो पुण्यास्रव संसार मात्र के लिये हुआ। पापास्रव नहीं होगा। पापास्रव तो पाँच पापों से होता है। मिथ्यादृष्टि अरहन्त की पूजा कर रहा है, वो तो द्रव्य से सम्यक्त्व को पाल रहा है। भाव-मिथ्यादृष्टि कुलिंग को जो पूज रहे हैं और कुलिंग को जो धारण किये है, वो भी बारहवें स्वर्ग तक जा सकता है। वो कषाय की मंदता में पुण्यास्रव कर लेता है, लेकिन उसका वह पुण्य संसार का ही हेतु है। कुसंयमी, ब्रह्मचर्य पाल रहा है, तपस्या कर रहा है। कुलिंगी परमहंस नाम का साधु बारहवें स्वर्ग तक जा सकता है।

भो ज्ञानी! मूल प्रश्न यह है कि मिथ्यात्व के साथ अरहंत देव की उपासना करने से पापास्रव होगा कि पुण्यास्रव? अरहंत देव की उपासना मिथ्यात्व के साथ भी करता है तो उसको पुण्यास्रव होगा, लेकिन उसका वो पुण्य संसार का ही हेतु है। यदि पुण्यास्रव से उत्तम पर्याय को प्राप्त कर गया और वहाँ उसको देशनालब्धि मिल गई, तो पुण्य के योग में वो सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेगा। इसलिये वो भी उपादेय है, सर्वथा हेय नहीं है।

भैया! जितने धनी-मानी बैठे हैं, सब सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा मत समझ लेना। हो भी सकते हैं। इन जीवों ने उत्कृष्ट तप किये होंगे। जो जितना ज्यादा श्रेष्ठ पुरुष होगा, लोकमान्य होगा, उसने पूर्व में उत्कृष्ट तपस्या की होगी। लेकिन भूल कहाँ हो गई?

"धम्मं भोग-णिमित्तम्"। जो जीव नारायण बन रहा है, वह अल्प तपस्वी नहीं था, घोर तपस्वी मुनि था और सम्यक्त्व के साथ साधना कर रहा था, घोर पुण्यास्रव हो रहा था, पर देवों की विभूति को देख करके निदान कर लिया। ध्यान रखना, वो निदान छठवें गुणस्थान में नहीं हुआ, क्योंकि जैसे ही निदान हुआ, गुणस्थान गिर गया। छठवें गुणस्थान में निदान नहीं होता है। आर्त्तध्यान के तीन पाये होते हैं। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिंतन निदान नहीं होगा। छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के रौद्रध्यान तो होता ही नहीं है। रौद्रध्यान हो गया तो गुणस्थान नाम की वस्तु उनके पास बची ही नहीं। इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग तो होते हैं। करणानुयोग वेश की बात नहीं करना, मात्र भाव की बात करता है। चरणानुयोग वेश की ही बात करेगा। जो करणानुयोग का मुनि होगा, वो नियम से चरणानुयोग का मुनि होगा ही। अंतरंग शुद्धि होगी, तो बाहर नियम से संयम होगा।

भो ज्ञानी! 'क्षपणासार' ग्रन्थ में पाँच लब्धियों के सिवा अलग से संयम लब्धि दी है। देशसंयम लब्धि, संयमलब्धि। जिसे संयमलब्धि आयेगी, वो मिथ्यात्व में नहीं होगा। जो मिथ्यात्व में होगा, वो संयमलब्धि में नहीं होगा। तीन कम नौ कोटि मुनिराजों की जो संख्या है, वह भावलिंगी निर्ग्रन्थों की है, द्रव्यलिंगियों की नहीं है। उसमें छठवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक की संख्या है, क्योंकि चारित्र की पूर्णता तो चौदहवें गुणस्थान में होती है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव 220वें कलश में कह रहे हैं कि श्रावक व संयमी भक्त होता है, हमेशा। आप ऐसा कहो कि भक्ति कर-करके भगवान् बनेंगे। दो भेद कर दिये। भेद, अभेद। परगत-तत्त्व की दृष्टि से पंचपरमेष्ठी और रत्नत्रय मुनि की अपेक्षा से निज दर्शन-ज्ञान-चारित्र की लीनता, वो अद्वैतभक्ति है। भेद भक्ति, अभेद भक्ति। जहाँ रत्नत्रय की लीनता है, वो अभेद भक्ति है। रत्नत्रय तो धारण नहीं किया, पर रत्नत्रयधारियों के प्रति, रत्नत्रय के फल को जिनने प्राप्त कर लिया है उनके प्रति भक्ति है, वो भेद-भक्ति है। आपने कहा रत्नत्रय की भक्ति, वो रत्नत्रय है कहाँ? अंदर। जब तक द्रव्य-रत्नत्रयधर्म नहीं दिख रहा है, हम भावों का रत्नत्रय कैसे समझा दें।

आदा खु मज्झ णाणं, आदा मे दंसणं चरित्तं च।

आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो॥277 स. सा.॥

आत्मा ही दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, संवर है, योग है, प्रत्याख्यान है। ये शब्द वाले नहीं, वास्तव में है, वही है। अन्यथा सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि के भेद समाप्त हो जायेंगे। ये सब आत्मा में ही होंगे, आत्मा के बाहर नहीं होंगे। पंचपरमेष्ठी भी आत्मा में हैं।

अरुहा-सिद्धा-इरिया, उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं॥वा. अ. 12॥

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये सब मेरी आत्मा में विराजते हैं, इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है, यह निश्चयनय से है। व्यवहारनय से "चत्तारि शरणं पव्वज्जामि" जब तक यह सूत्र नहीं गूँजेगा, तब तक "आदा मे सरणं पव्वज्जामि" सूत्र नहीं बन पायेगा। लोग भूल में ही भूल कर लेते हैं और फिर ऊपर-ऊपर झूलते हैं। मूल तो पंचपरमेष्ठी हैं। श्रद्धालु ही श्रद्धान करता है, रुचि रखता है, प्रतीति करता है, स्पर्श करता है। "धम्मं भोगणिमित्तं", अभव्य मिथ्यादृष्टि धर्म को भी भोग के लिये करता है, कर्मक्षय के निमित्त से कभी नहीं करता है। संपूर्ण शास्त्रों को उसने पढ़ा है, लेकिन पाठ गुणकारी नहीं होते हैं। केवली बद्ध को बद्धरूप जान रहे हैं, अबद्ध को अबद्धरूप जान रहे हैं। जो अगली पर्याय आपको बँध गई है, वह बद्ध पर्याय है और आपकी जो बंधेगी, वो अबद्ध पर्याय है और जो भोग रहे हो, वह भुज्यमान है। केवली सबको एकसाथ जान रहे हैं। सब आ गये क्रमवर्ती, अक्रमवर्ती। बद्ध पर्याय भी आ रही है, अबद्ध पर्याय भी आ रही है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' में नीतिवाक्यों का भी प्रयोग किया है -

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति॥स.सार. 317॥

गाय के मधुर दूध में गुड़ मिलाकर और-मीठा कर दो, इसे साँप को पिलाओ तो-भी वह विष-स्वभाव नहीं छोड़ता है। ऐसे-ही, भो चेतन आत्माओ! अभव्य जीव को आप कितनी ही जिनवाणी सुनाना, अपना कर्त्तव्य कर लेना, लेकिन उनको बदलने

का भाव मत लाना। 'राजवार्तिक' में आचार्य भट्ट अकलंकदेव लिख रहे हैं—

दूसरे के अभिप्राय को बदलना अशक्य होता है। यदि बदल दिया होता तो आज तीर्थंकर के शासन के अलावा किसी का शासन ही नहीं होता। समझना तो चाहिये। पृच्छना-स्वाध्याय यह कहता है कि जो विषय आपसे बनता है, फिर भी पूछना, लेकिन वक्ता की परीक्षा की दृष्टि से नहीं। इसलिये पूछना कि जो जानते हैं वह सही है या नहीं। पाँच प्रकार के स्वाध्याय में पृच्छना स्वाध्याय इसलिये रखा गया है कि शिष्य गुरुमुख से हाँ कहलवा ले। अपने मन में कोई शंका हो और आचार्य महाराज से पूछा, उनने कहा कि तुम्हारा चिन्तन ठीक है, तो बड़ा आनंद आता है, जैसे बाँझ को पुत्र हो जाये। सील लग गई कि अपना चिन्तन सही है, अपन भटके नहीं हैं।

भो ज्ञानी! मिथ्यादृष्टि जीव की भक्ति भी शुभास्रव का हेतु है, लेकिन परम्परा से मोक्ष का हेतु नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव की भक्ति नियम से परम्परा से मोक्ष का हेतु है। 'सिद्ध भगवान् मोक्ष देते हैं,' ये अकर्त्ता को कर्त्ता कैसे बना दिया? ये नय की अपेक्षा कर्त्ता तो हैं, पर स्वभाव से तो अकर्त्ता ही हैं। सिद्धचक्र मंडल विधान करने से मैनासुन्दरी ने कहा कि कष्ट दूर हो गया। 'अरे! क्या मिथ्यात्व की बातें कर रही हो?' आचार्यों की बात तुरन्त यों नहीं फेंकना। ठीक ही कहा है। किसी को निषेध मत करना। असाता के उदय में व्यक्ति बिलखता है, दु:खी होता है, उस समय आप यह कह सकते हो कि यह घर आपका ही है, यहाँ रह लो। आप भी जानते हो कि वो यहाँ नहीं रहेगा और वो भी जानता है कि हम कब तक यहाँ रहेंगे? आखिर में काम तो हमें अपना ही करना पड़ेगा। किसी के पिता की मृत्यु हो जाती है तो आप उसको कहते हो 'बेटा!' हम तो हैं।' तुम्हें ऐसा कहना ही चाहिये। वो जीव जब प्रतिबोधा को प्राप्त होता है, तो कहता है कि हमारे पिताजी तो गये, लेकिन इन्होंने हमें संभाला, उपकार है। उस समय भेदविज्ञान की आवश्यकता नहीं है। ऐसे-ही जीव जब दु:खी होता है तो उसे कहीं चैन नहीं मिलता है। उस समय वो यह नहीं देखता है कि क्या सम्यक्त्व है क्या मिथ्यात्व है? उस समय उसको पुचकार लो। 'देखो, मैनासुन्दरी ने सिद्धचक्र विधान किया तो श्रीपाल का कुष्ठ दूर हो गया। अपन भी तो कर सकते हैं।'

भो ज्ञानी! वास्तविकता समझो। सिद्धचक्रविधान और भक्तामर में आचार्यों ने शब्द-वर्गणाओं को इस तरह व्यवस्थित किया है कि इनसे इतनी तीव्र विशुद्धि उत्पन्न होती है कि असाता का जो द्रव्य तुम्हें परेशान कर रहा था, वो साता में संक्रमित हो गया। गंधोदक का पानी तो पानी है, पर मस्तक पर लगाने में अच्छा लगता है, शांति मिलती है, क्योंकि उसमें हमारी श्रद्धा घुल गई है। ऐसे ही जब मैनासुन्दरी ने सिद्धचक्रविधान भक्तिपूर्वक किया, तो असाता साता में संक्रमित हो गई और कुष्ट रोग दूर हो गया। व्यवहार को भाषा में बांधें तो व्यवहार कहेगा कि सिद्धचक्र की महिमा से कुष्ट रोग दूर हो गया। यह व्यवहार की भाषा है। करणानुयोग कहेगा कि इसके पुण्य का योग आ गया तो अशुभ कर्म टल गया। द्रव्यानुयोग कहेगा कि इस जीव के शुभ भावों की परिणति से ऐसा परिणमन हो गया। चरणानुयोग कहेगा कि मैनासुन्दरी के शील की महिमा से श्रीपाल का कुष्ट दूर हो गया। प्रथमानुयोग कहेगा कि भगवान् अरिहन्त की भक्ति करने से कुष्ट दूर हो गया। अब बताओ कौनसा अनुयोग बचा तुम्हारे पास कहने को?

भो ज्ञानी! ज्ञातापन के अभाव में वक्ता बनोगे तो लोग भटकेंगे। इसलिए ज्ञातापने के अभाव में कभी वक्ता नहीं बनना। ज्ञातापना है नहीं और वक्तापना आ गया, तो बोलने की सीमा सीमित ही रहेगी। इसलिए तीर्थंकर पहले ज्ञाता होते हैं तीनलोक के, फिर वक्ता बनते हैं। स्पष्ट समझना कि कारण में कार्य का उपचार। साता से असाता, असाता से साता, ये प्रकृतियाँ परिणमित होती रहती हैं और भावों की महिमा है। जो मोक्ष गये हैं उनके गुणों को जानकर भक्ति तो करना, पर विवेक के साथ। अरिहन्त की भक्ति अरिहन्तरूप, सिद्ध की सिद्धरूप, आचार्य की आचार्यरूप, उपाध्याय की उपाध्यायरूप और साधु की साधुरूप करना। मुनिराज सिद्ध, श्रुत, आचार्य तीन भक्तियाँ पढ़ते हैं। कोई महान तपस्वी आचार्य हैं तो उनकी भक्ति में योग-भक्ति भी पढ़ी जाती है। उपाध्याय परमेष्ठी की जो भक्ति करने जायेंगे तो वहाँ मात्र सिद्ध और श्रुत भक्ति होती है। साधु की वंदना करेंगे तो मात्र सिद्ध भक्ति होती है। आचार्यभक्ति तो साधु करते रहते हैं, श्रावक के लिए भी निषेध नहीं है।

भो ज्ञानी! कायोत्सर्ग, आवर्त्त, शिरोन्नति किया, यह कृतिकर्म कहलाता है।

कृतिकर्मपूर्वक जो भक्ति की जाती है, वो असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा का हेतु होती है। कृतिकर्म से रहित जो वंदना है, वह मुण्ड वंदना कहलाती है। आप भगवान् के दर्शन को गये, कायोत्सर्ग किया, आवर्त्त किया, फिर विधिपूर्वक गवासन से नमस्कार किया। यह कृतिकर्मपूर्वक भक्ति कहलाती है। आगम में नमस्कार विधि है। मुनिराज को नमोऽस्तु यानि पंचपरमेष्ठी को नमोऽस्तु, ऐलक और क्षुल्लक को वंदामि, आर्यिका को वंदामी, ब्रह्मचारी को वंदना कही गई है। ध्यान रखना, पंचपरमेष्ठी के सिवा कोई पदधारी है, उसके प्रति तीव्र अनुराग होने पर भी नमोऽस्तु नहीं कहना।

भो ज्ञानी! जिनको हम भावी भगवान् मान कर पूज रहे हैं, जितने भगवान् बननेवाले हैं, उनका नाम दिव्यध्वनि में खिर चुका है। सबकी आगम में व्यवस्था है कि इतने जीव बनेंगे और जिनके नाम आगम में नहीं आये हैं उन्हें भगवान मानकर हम नहीं पूज सकते, क्योंकि जब तक देशना नहीं है, तब तक पूजना नहीं और फिर भी पूजते हो तो वो मिथ्यात्व है। आगामी चौबीसी के नाम हमारे यहाँ आ चुके हैं। अब किसका नाम हटाकर उनका नाम जोड़ें? वे बोले कि अरिहन्त तो बन सकते हैं। हाँ, बन सकते हैं, फिर भी थोड़ा पर्याय का ध्यान रखें, अन्यथा अनवस्था दोष हो जायेगा।

भो ज्ञानी! श्रेणिक का जीव नरक में है, तीर्थंकर बनेगा, फिर भी उस नारकी पर्याय की पूजा नहीं कर रहे। हम तीर्थंकर पर्याय की पूजा कर रहे हैं। इसलिए इस पर्याय में किसी को भावी शक्तिरूपी भगवान तो कह देंगे, लेकिन अभी पूजा के भगवान् नहीं बन पायेंगे। नहीं तो प्रतिष्ठा करवाने लगें। भविष्य की चौबीसी के नाम आगम में आ चुके हैं। उनमें किन्हीं आचार्यों की अपेक्षा से समन्तभद्र स्वामी का नाम भी है, लेकिन वो विकल्प है। जिनके नाम आ चुके हैं, उनकी पूजा है, लेकिन उनकी पर्याय की नहीं, तीर्थंकर की पूजा है। 'हरिवंश पुराण' में भी कुछ नाम आये हैं। उनके बारे में महावीर स्वामी की ध्वनि खिर चुकी है, घोषणा हो चुकी है, अतः भविष्य में होने वाले तीर्थंकर की हम पूजा करते हैं। भावी नैगम नय की अपेक्षा से वे हमारे भगवान् हैं, लेकिन एवंभूतनय उन्हें नहीं पूजेगा। ये पिता बैठा है, माता बैठी है, बहन बैठी है, ये सब भावी भगवान् हैं। एवंभूत नय कहता है, कि जिस समय जो पदार्थ क्रियारूप काम कर रहा है, वो है। आप सुन रहे हो तो श्रोता हो। आप दाढ़ी बना रहे हो तो उस समय एवंभूत

नय 'श्रोता' नहीं कहेगा। जो क्रिया हो रही है, तद्नुसार एवंभूत नय कहता है।

भो ज्ञानी! भावी नैगम नय तो भगवान् भी कह देता है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से ''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया''। यह तो सबको अच्छा लगता है। चतुर्थ गुणस्थान से 'देशजिन' संज्ञा आ जाती है और बारहवें गुणस्थान से 'जिन' संज्ञा होती है, तेरहवें गुणस्थान में 'जिनवर' होते हैं। तीर्थंकर 'जिन' होते हैं। भक्ति हमें करनी चाहिए। यदि दृष्टि शुद्ध पर नहीं जा रही है तो तुम्हारी भक्ति भी 'भक्ति' नहीं है। वही 'व्यवहार' व्यवहार होता है, जो निश्चय की ओर ले जाता है। जिस व्यवहार में निश्चय में ले जाने की सामर्थ्य नहीं है, वो व्यवहार 'व्यवहार' नहीं है। कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं कह रहे हैं कि ये तो हमने व्यवहारनय से कहा है। यहाँ पर व्यवहारनय की प्रधानता से सिद्धभक्ति के स्वरूप को कह रहे हैं। पुराणपुरुष समस्त कर्मक्षय के उपाय में कारणभूत ऐसे परमात्मा की अभेद सम्यक् आराधना करके सिद्ध हुये हैं। कैसे? सम्यक् रत्नत्रय धारण करके। कर्मक्षय का आलम्बन अपने पास एक ही है स्वाध्याय, भक्ति आदि शुभोपयोग। पर शुभोपयोग कितना हो रहा है, अपने हृदय से पूछो। पूजा में लगता है कि इस वेदी पर ही करेंगे। तो काहे का शुभोपयोग? सामायिक कर रहे हो, विधान होने लगा, तुम्हारे भाव आ गये कि हम वहाँ जायेंगे, राग बढ़ गया।

भो ज्ञानी! आचार्य मुनिदीक्षा दे सकते हैं, किसी को मुनि नहीं बना सकते। मुनि तो तुझे ही बनके जीना पड़ेगा। गुरु ने द्रव्यसंयम दिया है, भावसंयम तुझे संभाल कर चलना पड़ेगा। ये शब्द याद रखना चाहिए। प्राणों को हथेली पर लेकर चलना पड़ेगा। व्यवस्था नाम की कोई व्यवस्था नहीं है। तुझको कोई आहार नहीं देगा। महाव्रत है, तुम किसी से कह नहीं सकते हो कि चौका लगा लो। निर्दोष पालन तभी कर सकोगे, जब तुम ये समझ कर चलोगे कि समाधि की साधना कर रहा हूँ। यदि जीने की साधना का विचार करेंगे, तो निर्दोषता नहीं आ पायेगी। बोले, इतनी भीड़ के सामने दीक्षा क्यों दी जा रही है? इसलिए कि ये जबर्दस्ती नहीं है, इतने लोग साक्षी हैं, जिससे कल कोई बात आये तो गुरु पर न आये। भैया! दीक्षा और सल्लेखना देखने जाना चाहिए, इससे विशुद्धि बढ़ती है, संयम के भाव आते हैं। सल्लेखना के समय प्राणों से विरक्ति के भाव आते हैं।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, द्रव्यसंयम तो दिया जा सकता है, पर भावसंयम स्वयं ही प्रकट करना पड़ेगा। जो पुराणपुरुष समस्त कर्मों के क्षय में कारणभूत परमात्मा की अभेद रत्नत्रय से युक्त सम्यक् प्रकार से आराधना-भक्ति करता है, निर्वाण के लिए परम्परा से हेतुभूत ऐसी परमभक्ति जो आसन्न भव्य करते हैं, उन मुमुक्षु के व्यवहारनय से निर्वाण भक्ति होती है। जिसकी भवितव्यता खोटी है, वो कभी प्रभु की भक्ति नहीं करेगा। आसन्न भव्य जीव कहता है 'हे प्रभु! आपके दर्शन से मेरे दोनों नेत्र सफल हो चुके हैं, संसार-सागर चुल्लू-प्रमाण बचा है। प्रभु! आपकी वंदना करने से, जैसे चुल्लु में भरा हुआ पानी एक-एक बूँद टपक कर खाली हो जाता है, ऐसे-ही आपकी पूजा करने से मेरा कर्मों का घट खाली हो जाता है।' ऐसी भावना रखता है सम्यग्दृष्टि जीव। भक्ति में अत्यन्त आनंद है।

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी परमभक्ति अधिकार में यह संकेत दे रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि की भक्ति परम्परा से मुक्ति का कारण है और मिथ्यादृष्टि की भक्ति संसार में भोग का कारण है। लेकिन भक्ति करने वाला जीव निम्नगति को प्राप्त नहीं होता, अपितु देवगति को प्राप्त होता है। असुर आदि बन रहा है, असुर पर्याय अशुभ पर्याय नहीं है, वो शुभ पर्याय है। नरकपर्याय अशुभ पर्याय है, तिर्यंच पर्याय अशुभ पर्याय है। मनुष्य और देव यह शुभ पर्याय है। असुर पर्याय मनुष्य से श्रेष्ठ है, पर देवदुर्गति है। भोगों की अपेक्षा से श्रेष्ठ है। वैक्रियक शरीर है, औदारिक शरीर नहीं है। सबकुछ मनुष्य से अच्छा है, लेकिन उनकी दशा ठीक नहीं है। ''तँहते चय थावर तन धरे''। असुरों का काम है लड़ना, लड़वाना। असुर जाति के अम्बरीष देव नरकों में जाकर नारकियों को आपस में लड़वाते हैं।

ज्ञानी! ध्यान रखना, जो जीव मनुष्यपर्याय में धर्मात्मा के रूप में होते हैं और उनकी विसंवाद की प्रवृत्ति का शमन नहीं होता है, तो उन्हें झगड़ा करवाने में आनंद आता है, यहाँ-वहाँ की करने में अच्छा लगता है। ऐसे धर्मात्मा की वही दशा होती है कि वे नरक में जाकर नारकियों को लड़वाते हैं। भैया! ध्यान रखना, संसार में नाना प्रकार के जीव हैं। ये आवश्यक नहीं है कि आप धर्मक्षेत्र में आ गये तो मोक्ष हो जायेगा। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि आपने दीक्षा ले ली, तो इस भव का सुख गया और

भविष्य के लिए कुछ कर नहीं रहे हो, सो परभव का भी गया। जो सम्यग्दृष्टि भावलिंगी होता है, वो कभी असुर नहीं बनेगा, स्वर्ग में देव ही बनेगा। किसी जीव ने भावावेश में संयम स्वीकार कर लिया और संयम स्वीकार करने के पश्चात् उसकी अशुभ प्रवृत्ति समाप्त नहीं हुई, परिणाम संक्लेश रूप हो रहे हैं, तो इस भव के सुख उसने बुद्धिपूर्वक छोड़े हैं और भावों की निर्मलता नहीं है सो अगला भव भी गया। उसने उभय सुख का नाश कर लिया। इसलिए यह सोचना चाहिए कि हमने सबकुछ छोड़ दिया है, अब यदि संक्लेशता नहीं छोड़ पाऊँगा, तो आखिर में हमारा होगा क्या ? ऐसा निर्मल चिंतवन जब तक नहीं आयेगा और संबंधों से बंधे रहोगे, तो नियम से संक्लेशता आयेगी।

जिनके बीच में तुम पले-बढ़े हो, उनको जब एक झटके में तोड़ कर आ गये, तो भक्त क्या होते हैं? ठीक है, आ गये हैं तो आने दो, जा रहे हैं तो जाने दो। न राग रखो, न द्वेष रखो। राग रखोगे तो बन्ध है, द्वेष रखोगे तो बन्ध है। साधर्मी हैं, अतः वात्सल्य भाव रखना। गृहस्थधर्म के अभाव में यतिधर्म का पालन नहीं होता है, अन्यथा दानतीर्थ क्या होगा? आपने निष्ठुर होकरके यदि गृहस्थ को उपेक्षित किया है, महाराज! अपने आयतन की उपेक्षा की है। आप तो मात्र स्वयं का कल्याण करते हो, श्रावक दो का कल्याण करता है। आगम में श्रावक की प्रशंसा की है। आप साधना करके मात्र स्वयं का कल्याण करोगे। श्रावक आपको चर्या करा रहा है तो स्वयं के लोभ का त्याग किया है, द्रव्य को छोड़ा है, इसलिए उसका उपकार हुआ। यह 'तत्त्वार्थसूत्र' का कथन है ''अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्'' श्रावक ने पात्र को दान किया है तो पर का अनुग्रह क्या हुआ? उससे साधक की साधना निर्दोष चलेगी तो पर का उपकार हो गया। उसने लोभ का त्याग किया है तो उसका उपकार हो गया।

श्रावक यतिधर्म को चला रहा है और गृहस्थधर्म को भी चला रहा है। इसलिए आप उसको धर्म के संस्कार दो और अपने धर्म का पालन करो, लेकिन लिप्त नहीं हो जाना। संबंध स्थापित रखोगे तो नियम से निज संबंध विच्छेदित होगा। पर से संबंध रखोगे तो निज से संबंध क्षीण होगा। लेकिन इस धर्म के आयतन की रक्षा के लिए श्रावक को धर्म का निर्मल उपदेश देना। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पूरे ग्रन्थ में श्रावक का नाम नहीं लिया, जब भक्ति का प्रकरण आया तो श्रावक का नाम ले लिया। क्योंकि

उन्हें मालूम था, कि श्रावक भक्ति नहीं करेगा तो श्रमण की अभेदभक्ति भंग हो सकती है। ये अनशनस्वभावी आत्मा अवश्य है, लेकिन आहार संज्ञा से प्रेरित होकरके तीर्थंकर-जैसी आत्मा को चर्या को निकलना होता है। ये मत कह देना कि वो तो दिखाने मात्र के लिए निकले थे। क्षुधावेदनीय कर्म की उदीरणा होने पर तीर्थंकर मुनिराज भी चर्या को निकलते हैं और तीर्थ का प्रवर्तन कराने को भी निकलते हैं। लेकिन शौक से नहीं निकलते हैं, क्षुधा से पीड़ित होकर निकलते हैं। वज्रवृषभनाराच संहनन का तात्पर्य भूख का अभाव नहीं है। भूख को सहन करने की सामर्थ्य है।

भो ज्ञानी! चर्चा का विषय चर्चा का है, क्रिया का विषय क्रिया का है। बोले, महाराज रोज तो आहार कर रहे हैं और आप कह रहे हो कि महाराज अनशनस्वभावी हैं। पुद्‌गल ने पुद्‌गल को खा लिया। भैया! भोजन के त्याग करने को अनशन नहीं कहा है। भोजन करने पर भी भोजन में गृद्धता का अभाव और उस भोजन को निज स्वभाव नहीं मानना, यह है अनशनस्वभाव। आहार के बाद भी कैवल्य हुआ है। आहार करके आये और ध्यान में बैठ गये, कैवल्य हो गया। उपवास में भी हुआ है। कैवल्य के लिये विशुद्धि की आवश्यकता है। विशुद्धि की जब वृद्धि होती है, वहाँ उपवास किया नहीं जाता, हो जाता है। जब विशुद्धि में क्षति होती है, तो उपवास करना चाहिये। जब मन में विकार आये, भोजन का मद चढ़ने लग जाये, उस समय आपको उपवास कर लेना चाहिये, अन्यथा संयम भंग हो सकता है। आगम में अनशन के, उपवास के ये हेतु दिये हैं। आहार करने के, आहार छोड़ने के हेतु दिये हैं। जहाँ जैसी विवक्षा हो, वैसा कथन करना। यह शरीर की शक्ति की क्षीणता है कि चर्या को निकलना पड़ता है, पर वास्तव में भोजन आत्मा का धर्म नहीं है। जब भी कल्याण होगा, जब संज्ञाओं का अभाव हो जायेगा, तभी निर्वाण होगा। संज्ञायें बनी रहें और निर्वाण हो जाये, यह कभी संभव नहीं है।

भो ज्ञानी! दशवें गुणस्थान तक अंतिम संज्ञा परिग्रह संज्ञा बची थी, क्योंकि लोभ कषाय दशवें गुणस्थान तक चलती है। दशवाँ गुणस्थान सूक्ष्मसांपराय है, यथाख्यात नहीं है। जैसे ही यथाख्यात चारित्र को प्राप्त होते हैं, संपूर्ण संज्ञायें समाप्त हो जाती हैं। वास्तविक अनशनस्वभावी आत्मा तो सातवें गुणस्थान में ही है। आहार संज्ञा का अभाव

सप्तम गुणस्थान में हो जाता है। सबसे ज्यादा गिराने वाली दशा भोजन ही है। भोजन का विकल्प छोड़ोगे, तभी ऊपर उठोगे। भोजन का विकल्प छठवें गुणस्थान तक ही है। उसके आगे के गुणस्थानों में ध्यान है। ध्यान में भोजन लाओगे तो श्रेणी कैसे चढ़ोगे? जैसे पिंजड़े में बैठा पक्षी अपनी उड़ान भर रहा है अंदर-ही-अंदर, ये अवस्था जीव के ध्यान की है। उस ध्यान का अभ्यास आप अभी से करें।

भो ज्ञानी! जब एक भक्त प्रभु की भक्ति में तन्मय होता है, तन्मयता ध्यान को ही इंगित कर रही है। भक्ति में बहुत आनंद आता है। ध्यान का आनंद ध्याता कर रहा है, भक्ति का आनंद भक्त कर रहा है। भक्ति में तन्मयभूत होकर भक्त को जो आनंद होता है, वो भगवान् को नहीं होता। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि जो भक्ति है, वह मुक्ति का कारण है।

उद्धूतहाकर्मसंदोहान् सिद्धान् सिद्धिवधूधवान्।
संप्राप्ताष्टगुणैश्वर्यान् नित्यं वन्दे शिवालयान्॥कलश 221॥

सिद्धों की भक्ति के महत्व को स्पष्ट करते हुये 6 कलश कह रहे हैं कि जिन्होंने कर्मसमूह को धो डाला है, जो सिद्धिवधू के पति हैं तथा जिन्होंने आठ गुणों के ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है, जो शिवालय में विराजमान हैं, कल्याण के घर हैं, ऐसे उन समस्त सिद्धों की मैं वंदना करता हूँ। उन्हें मेरा सदैव नमस्कार हो।

व्यवहारनयस्येत्थं निर्वृतिभक्तिर्जिनोत्तमैः प्रोक्ता।
निश्चयनिर्वृतिभक्ती रत्नत्रयभक्तिरित्युक्ता॥कलश 222॥

इस प्रकार से व्यवहारनय से निर्वाणभक्ति जिनेन्द्र भगवान् ने कही है। कोई यह न मान बैठे कि यह भक्ति का कथन लोगों ने बना लिया है। आगम की अनादि परम्परा जानना हो तो आचार्यों के संवत् पर नहीं जाना। लोग तीर्थंकर पर प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं। बोले कि यह तो इन आचार्य के समय शुरू हुई, इसके पहले क्या था ? कोई वीरसेन स्वामी की सदी खोज रहा है, कोई जिनसेन स्वामी की सदी खोज रहा है; लेकिन यह नहीं कहता है कि आगम पहले लिखे नहीं जाते थे, मौखिक चलते थे। जब क्षयोपशम की प्रवृत्ति क्षीण होने लगी, तो आचार्यों को जो विवक्षा प्राप्त थी, उसको लिख दिया। इसलिये सदी मत देखो क्योंकि जिनवाणी सदी से नहीं चल रही है, अनादि से चल

रही है। स्मृतियाँ कम होने से आचार्यों ने लिपिबद्ध करना शुरू कर दिया। लिपिबद्ध नहीं होता तो वर्तमान में बड़ी विडम्बना होती। जब लिपिबद्ध है तो इतना विकल्प है कि ये सही है कि ये सही है ? लिपिबद्ध नहीं होता तो हर व्यक्ति अपना मूलाचार कहता, श्रावकाचार कहता।

भैया! हम जिनवाणी का अध्ययन करें, मनन करें, चिंतन करें, परन्तु मूल पर कलम न चलायें, अन्यथा उससे बहुत बड़ी क्षति हो जायेगी। यदि आचार्यों की सदियों पर जाओगे तो श्रद्धान नहीं हो पायेगा। सदियों पर जायें, परन्तु यह नहीं कहें कि अमुक आचार्य का अभिप्राय यह है, उनका वह है। जो आचार्य का अभिप्राय है, वही पूर्वाचार्य का है और पूर्वाचार्यों का वही है, जो भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इसलिये कुन्दकुन्द स्वामी ने सभी ग्रन्थों में लिखा है कि यह केवली भगवान् के द्वारा कहा गया है। वही शैली पद्मप्रभमलधारिदेव भी अपना रहे हैं। ऐसा किसने कहा है? जो जिनों में उत्तम हैं, उन्होंने कहा है। रत्नत्रय की भक्ति ही निश्चय निर्वाणभक्ति है, ऐसा जिनदेव ने कहा है।

निःशेषदोषदूरं केवलबोधादिशुद्धगुणनिलयम्।
शुद्धोपयोगफलमिति सिद्धत्वं प्राहुराचार्याः॥कलश 223॥

जो सम्पूर्ण दोषों से दूर हैं, जो केवलज्ञानादि गुणों के खजाने हैं, निलय हैं, घर हैं। यही शुद्धोपयोग का फल है। ऐसा आचार्यों ने कहा है।

ये लोकाग्रनिवासिनो भवभवक्लेशार्णवान्तं गता
ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराश्लेषोत्थसौख्याकराः।
ये शुद्धात्म विभावनोद्भवमहाकैवल्यसंपद्गुणाः
तान् सिद्धानभिनौम्यहं प्रतिदिनं पापाटवीपावकान्॥कलश 224॥

जो लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं। जिन्होंने भव-भव के क्लेश के सागर को समाप्त कर दिया है, पार हो चुके हैं। जो निर्वाणवधू के पुष्टस्तन के आलिंगन से उत्पन्न हुये सुख की खान हैं। जो शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुये केवलज्ञान रूपी सम्पदा, महागुणों से सहित हैं। जो पापरूपी अटवी को जलाने के लिये अग्नि हैं। ऐसे सिद्ध परमेश्वर की मैं प्रतिदिन वंदना करता हूँ।

त्रैलोक्याग्रनिकेतनान् गुणगुरून् ज्ञेयाब्धिपारङ्गतान्
मुक्तिश्रीवनितामुखाम्बुजरवीन् स्वाधीनसौख्यार्णवान्।
सिद्धान् सिद्धगुणाष्टकान् भवहरान् नष्टाष्टकर्मोत्करान्
नित्यान् तान् शरणं व्रजामि सततं पापाटवीपावकान्॥कलश 225॥

आचार्यमहाराज पुनः कह रहे हैं कि तीनलोक का अग्रभाग रूपी भवन ही जिनका निवासस्थान है। जो गुणों से गुरू हैं, भारी हैं, श्रेष्ठ, गंभीर गुणों के धारक हैं। जो भक्ति रूपी स्त्री के मुखकमल को विकसित करने के लिये सूर्य के समान हैं। जो स्वाधीन सुख के सागर हैं। जिन्होंने आठ कर्मों के विनाश से आठ गुणों को सिद्ध कर लिया है। जो भव को हरनेवाले हैं। जो शाश्वत रूप हैं। जो पापरूपी वन को नष्ट करने के लिये दावानल हैं। ऐसे सिद्धों की मैं सदा शरण ग्रहण करता हूँ।

'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में लिखा है कि सराग अवस्था में कर्मबंध के छेद करने का उपाय भक्ति है। गृहस्थों का मोक्षमार्ग भक्ति है। जो निर्ग्रन्थ नहीं हो सकता है, उसके लिये निर्ग्रन्थों की भक्ति मोक्षमार्ग है। बिना भावों के व्यवहार भी नहीं होता है। भावशून्य क्रिया फल को प्रदान नहीं करती। स्वाध्याय का तात्पर्य ग्रन्थ अध्ययन मात्र नहीं है। भक्ति करते-करते भी स्वाध्याय हो जाता है। 'नियमसार' के प्रतिक्रमण अधिकार में कहा है कि वचनपूर्वक जो-जो क्रिया होती है, सब स्वाध्याय होता है। योगी जब चर्या को गया था, तब भी स्वाध्याय कर रहा था। आहार करते-करते कर्म की निर्जरा हो रही थी, क्योंकि "स्वाध्याय परमं तपः"। चर्या की बात तो छोड़ो, शौच आदि क्रिया में जाते हैं वहाँ भी स्वाध्याय होता है। निर्जन्तु भूमि है कि नहीं ? स्त्री-पुरुष का गमनागमन तो नहीं है ? निःछिद्र भूमि है कि नहीं ? यही तो स्वाध्याय है। निर्ग्रन्थों की हर क्रिया स्वाध्याय होती है।

भो ज्ञानी! आपका पढ़ना होता है, निर्ग्रन्थों का स्वाध्याय होता है। आप पढ़के स्वाध्याय करते हो और वे चलते-चलते स्वाध्याय करते हैं। मैं यदि देखकर नहीं चलूँगा तो जीवों को पीड़ा होगी, उनका घात होगा, तो मुझे कर्म का बन्ध होगा, मेरी आत्मा को संसार में भटकना होगा। यदि इतना विचार नहीं है, तो ईर्यापथ नहीं है। जो चार हाथ भूमि देखकर गमन कर रहे हैं, उनकी ईर्यासमिति चल रही है। और वह उनका

स्वाध्याय चल रहा है। आप-जैसा नहीं कि ग्रन्थ पढ़ा और बिजली बन्द करके गाड़ी में बैठकर घर चले गये।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति॥इष्टो. 41॥

जो योगी अपने आत्मतत्त्व में स्थिर है, वह बोलते हुये भी नहीं बोल रहा है, चलते हुये भी नहीं चल रहा है, देखते हुये भी नहीं देख रहा है। जो निज को नहीं देखता है, उसको बाहर के जीव भी नहीं दिखते हैं। बोरे में तिरूला भरे हैं, मण्डी में जूता पहन कर घूम रहा है, क्योंकि वह निज को नहीं देख रहा था तो उसको तिरूला आदि जीव भी नहीं दिख रहे हैं। उस तिरूला भरे गेहूँ को पिसवा कर आटा बनाकर बेच दिया और शास्त्र की वाचना कर रहा है। उसको ग्रन्थ तो दिख रहे हैं, परन्तु कर्म की ग्रन्थि नहीं दिख रही है। जब योगी निश्चय गुप्ति-समिति में जाता है, तो ये मत मान लेना कि व्यवहार समाप्त हो गया। जब शुभोपयोग में आता है, तो क्रियारूप होता है और शुद्धोपयोग में जाता है तो स्वभाव होता है।

भो ज्ञानी! मुनिराज सामायिक कर रहे हैं, उस समय गमन तो नहीं कर रहे हैं। वहाँ ईयासमिति होगी कि नहीं ? होगी, क्योंकि व्रत एकबार धारण किये जाते हैं, वे संपूर्ण व्रत युगपत् रहते हैं, परन्तु क्रिया में एक समय में एक ही आते हैं। गमन करेंगे उस समय आहार नहीं होता, एषणा समिति नहीं चलेगी, आदान-निक्षेपण, उत्सर्ग और भाषा समिति नहीं चलेगी, फिर भी ईर्या समिति सहित पांचों समितियाँ एकसाथ रहेंगी। जो व्यवहार समिति का पालन कर रहे हैं, वहाँ निश्चय समिति हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। लेकिन वास्तव में व्यवहार समिति का पालन हो रहा है, उनके निश्चय समिति होगी। 'वास्तव' शब्द पर ध्यान रखना, क्योंकि करुणाभाव के अभाव में शुद्धोपयोग संभव नहीं है। पर जीवों के प्रति तीव्र करुणा कहीं है तो छठवें गुणस्थान में है; क्योंकि अहिंसा की जितनी क्रियाएँ हैं, वे सब क्रियारूप छठवें गुणस्थान तक में हैं। सप्तम गुणस्थान तो अप्रमाद, निर्विकल्प अवस्था है, उसमें कोई क्रिया नहीं है। वो तो क्रिया के फल में लीन हैं। उनको करुणा का विकल्प नहीं है। वे परम करुणा में बैठे हैं, निज करुणा में बैठे हैं और निज की करुणा कर रहे हैं।

भो ज्ञानी! करुणा करना तेरा स्वभाव नहीं है। दया के भाव भी प्रशस्त राग ही हैं। 'पंचास्तिकाय' में कहा है कि तिर्यंचों से मनुष्यों तक भूखे-प्यासे को देखकर करुणा आना, यह प्रशस्त मोह है। 'जीवों पर दया करना प्रशस्त राग है।' यह कहकर कि हम मोह में नहीं जाना चाहते, करुणा करना मत छोड़ देना। वहाँ की विवक्षा भिन्न है। 'वारसाणुवेक्खा' में लिखा है कि कोई भी आस्रव मोक्ष का कारण नहीं है। निश्चयदृष्टि से शुभास्रव, अशुभास्रव दोनों ही मोक्ष के कारण नहीं हैं। यहाँ तक लिख दिया कि परम्परा से भी मोक्ष के हेतु नहीं हैं। यहाँ शुद्धोपयोग की चरमसीमा की चर्चा कर रहे हैं कि यह वास्तव में निरास्रव दशा से ही होगा। लेकिन जिस जीव ने अभी मिथ्यात्व को ही नहीं छोड़ा है, असंयम को ही नहीं छोड़ा है, उससे कहा जायेगा कि अशुभोपयोग को छोड़ो, शुभोपयोग में लगो। पात्र देखकर चर्चा करना।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे॥12 स.सा.॥

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द देव लिख रहे हैं कि जो शुद्ध का पात्र है, उसको शुद्ध का उपदेश करो। जो जीव अप्रतिबुद्ध है, प्रतिबुद्ध नहीं है, उसे निश्चय में ले जाने के लिये आप व्यवहार का उपदेश दो। निश्चय में ले जाने के लिये क्रमपूर्वक उपदेश दो। क्रमपूर्वक उपदेश नहीं करोगे तो आपका उपदेश सार्थक नहीं होगा। उपदेश का प्रयोजन क्या है? जीवों का हित, जीवों की अज्ञानता का अभाव कराना। कोई बहुत ज्ञानी है, सैकड़ों श्लोक कंठस्थ हैं, लेकिन सामनेवाले को कुछ नहीं मिला, तो क्या लाभ ? जो जैसा श्रोता हो, उसको वैसा वक्तव्य देना चाहिये, ऐसा 'समयसार' जी की गाथा 12 में लिखा है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव व्यवहार से सिद्धों की भक्ति का महत्त्व दर्शाते हुये कलश कह रहे हैं।

ये मर्त्यदेवनिकुरम्बपरोक्षभक्ति—
योग्याः सदा शिवमयाः प्रवराः प्रसिद्धा :।
सिद्धाः सुसिद्धिरमणीरमणीयवक्त्र—
पङ्केरुहोरुमकरंदमधुव्रताः स्युः॥226 कलश॥

जो मर्त्य अर्थात् मनुष्यों के तथा देवों के समूह की परोक्ष भक्ति के योग्य हैं, जो

श्रेष्ठ हैं, प्रसिद्ध हैं, ऐसे सिद्ध भगवान् सुसिद्धि रूपी रमणी के सुन्दर मुखकमल रूपी श्रेष्ठ मकरंद/पराग के लिये भौरे के समान हैं। ऐसे सिद्ध भगवान् की मैं सदैव भक्ति करता हूँ, वंदना करता हूँ। सिद्धों के स्थान पर अर्थात् सिद्धशिला पर सशरीर न देव पहुँच सकते हैं, न विद्याधर पहुँच सकते हैं, न मनुष्य पहुँच सकते हैं; परन्तु भक्त भावपूर्वक जरूर पहुँच सकते हैं। आप चाहो कि मैं इस शरीर से सिद्धालय में चला जाऊँ, तो आप नहीं जा सकते हो। आप तो छोड़ो, तीर्थंकर भी सशरीर सिद्धालय में नहीं जा सकते हैं। ऋद्धिधारी मुनि, देव, विद्याधर भी नहीं जा सकते हैं। भक्त अपनी भक्ति से सिद्धालय को भी देख लेता है। इसलिये ये सब भी उन सिद्धों की परोक्ष रूप से ही भक्ति करते हैं। अनुमान ज्ञान की महिमा से जब तू ध्यान में बैठेगा, तो सिद्धालय को भी निहार लेता है, निगोद को भी निहार लेता है और पता नहीं कहाँ-कहाँ पहुँच जाते हो। एक क्षण में सारे विश्व की वंदना कर लेते हो ध्यान के माध्यम से। आचार्यभगवन् ने सिद्धभक्ति करके यह संकेत दिया कि भक्ति भी उपादेय है और निश्चय भक्ति परम उपादेय है। उभय भक्ति करके हम परमपद को प्राप्त कर सकते हैं।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

गाथा 136, 137 **कलश 227, 228**

उत्थानिका : अपनी परमात्मा की भक्ति के स्वरूप का कथन

गाथा : मोक्खपहे अप्पाणं, ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती।
तेण दु जीवो पावइ, असहायगुणं णियप्पाणं॥136॥

संस्कृत छाया : मोक्षपथे आत्मानं संस्थाप्य च करोति निर्वृत्तेर्भक्तिम्।
तेन तु जीवः प्राप्नोत्यसहायगुणं निजत्मानम्॥136॥

अन्वयार्थ : (मोक्ष पथे आत्मानं संस्थाप्य) मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को सम्यक् प्रकार से स्थापित करके (निर्वृत्तेः) निर्वाण की (भक्तिम् करोति) भक्ति करता है (तेन तु जीवः) उससे यह जीव (असहायगुणं) असहाय-स्वाभाविक गुण स्वरूप (निजात्मानं) अपनी आत्मा को (प्राप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

उत्थानिका : निश्चय योगभक्ति के स्वरूप का कथन

गाथा : रायादीपरिहारे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य किह हवे जोगो॥137॥

संस्कृत छाया : रागादिपरिहारे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधुः।
स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथं भवेद्योगः॥137॥

अन्वयार्थ : (यः तु साधुः) जो साधु (रागादि परिहारे) रागादि के परित्याग में (आत्मानंयुनक्ति) आत्मा को लगाता है (सः योगभक्ति युक्तः) वह योगभक्ति से युक्त है। (इतरस्य च) अन्य साधु के (योगः कथं भवेत्) योग कैसे हो सकता है?

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार ग्रन्थ में परमभक्ति अधिकार में संकेत दिया कि भेदभक्ति, अभेद भक्ति; निश्चय भक्ति, व्यवहार भक्ति; श्रावक अपेक्षा और श्रमण अपेक्षा है। निश्चय नय से निज शुद्धात्मा की लीनता ही, रत्नत्रय की पूर्णता ही, भक्ति है। व्यवहारदृष्टि से पंचपरमेष्ठी का गुणानुवाद करना, गुणानुराग करना, ये भक्ति है। यह मुक्ति-कान्ता को प्राप्त कराने के लिये शुल्क है। क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में आचार्य वादीभसिंह सूरि कहते हैं "कन्या करग्रह कर:" कन्या के हाथ को ग्रहण

करने के लिये कर चाहिये पड़ता है। ऐसे ही मुक्तिकन्या के कर को पकड़ने के लिये यानि पाणिग्रहण करने के लिये प्रभु की भक्ति रूपी शुल्क चाहिये पड़ता है। जब तक आपका भक्तिरूपी शुल्क नहीं होगा, तब तक मुक्तिवधू के साथ आपका संबंध नहीं होगा।

आचार्य वादिराज "एकीभाव स्तोत्र" में कह रहे हैं, हे प्रभु! कपाट विशाल है और विशाल ताला लगा हुआ है। उस बन्द कपाट को कैसे खोला जाय ? बिना चाभी के ताला खुलता नहीं है। हे प्रभु! इस मोक्षमहल में महा मोह रूपी कपाट लगा हुआ है, उसको आपकी भक्तिरूपी चाभी के द्वारा ही खोला जा सकता है। भक्तिरूपी चाभी नहीं है तो मोक्षभवन के ताले खुलनेवाले नहीं हैं। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 136वीं कारिका में समझा रहे हैं कि परमभक्ति अधिकार में हम वास्तव में जिस भक्ति का कथन कर रहे हैं, वो भक्ति है क्या? आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि जो मोक्षपद में अपनी आत्मा को सम्यक् प्रकार से स्थापित करके निर्वाण की भक्ति करता है, वह बिना किसी के सहयोग के, स्वतंत्र, अपनी आत्मा के गुणों को प्राप्त करता है। पर की सहायता जब तक है, तब तक निज का धर्म प्रगट होनेवाला नहीं है। पर-सहायता की दृष्टि होगी, राग की दृष्टि होगी।

'सर्वार्थसिद्धि' में आचार्यभगवन् कहते हैं "केवलं असहायम्" जो केवलज्ञान होता है, वह असहाय ज्ञान होता है यानि जो इंद्रिय-मन आदि की भी सहायता नहीं लेता है। परद्रव्यों की सहायता नहीं लेता है। जबतक आलम्बन है, तबतक यथार्थ ज्ञान नहीं है। केवलज्ञान असहाय ज्ञान है, आत्मा का गुण है। जो जीव निज आत्मा में स्थिर होकर निश्चय भक्ति करता है, वो सहायगुण अर्थात् केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, किसी की कोई आवश्यकता नहीं। आत्महित के लिये केवलज्ञान स्वार्थ ही है, परार्थ तो झलकता है। स्वयं की दृष्टि से असहाय है। श्रुतज्ञान स्वार्थ भी होता है, परार्थ भी होता है। पर कैवल्य स्वार्थ मात्र है। वह स्वइंद्रियों की भी सहायता नहीं लेता है।

भो ज्ञानी! स्व आत्मा कहोगे तो मात्र आत्मा ही आत्मा है, वहाँ अन्य कुछ भी नहीं है। जब भी निश्चय ध्यान और निश्चय ज्ञान प्रकट होगा, तब असहाय भाव ही होगा। सामान्यज्ञान व्यवहारज्ञान है। स्वभावज्ञान केवलज्ञान है। असहाय शब्द कह रहा है कि जिस देह में आप हो, उसे भी अपना सहाय मत मानो। देह में प्रतिष्ठित नहीं हो। जो

पर में प्रतिष्ठित भाव मानता है, वो कभी भी व्यवस्था को ठीक नहीं कर पायेगा, अव्यवस्था नाम का दोष आयेगा। आप कहो कि में कुर्सी पर हूँ, कैसे निःसहाय प्रतिष्ठित हूँ ? कुर्सी कहाँ है? जमीन पर। जमीन कहाँ है? आकाश में। आकाश कहाँ है? निराधार होता ही नहीं है। अंतिम उत्तर तुम्हारा यही आयेगा। अपना शब्द जबतक नहीं लाओगे, तब तक अनवस्था दोष आयेगा। इसलिये निश्चय दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य स्वप्रतिष्ठ है, स्वयं में ठहरता है। ऐसे ही जीव भी अपने चतुष्टय में ठहरता है, शुद्ध में भी अशुद्ध में भी।

भो ज्ञानी! आप निश्चय से कहाँ हो ? शरीर में। क्या अपने में हो ? इसलिये केवलज्ञान भी असहाय है। ये सब संयोगी धर्म हैं और संयोगी धर्म का नियम से वियोग होता है। इसलिये स्वप्रतष्ठित भाव है, वो ही आपके शरीर का भाव है। निज स्वरूप निश्चय भक्ति का व्याख्यान यहाँ पर कर रहे हैं। भेद कल्पना निरपेक्ष, उपचार से रहित, रत्नत्रयात्मक निरूपराग मोक्षमार्ग में निरंजन निज परमात्मा के आनंद-अमृत के पान करने में अभिमुख हुआ है, ऐसा जीव निज आत्मा में ही निज को स्थापित कराके भी निर्वाण रूपी मुक्ति-स्त्री के चरणकमलों में परमभक्ति करता है। इससे वह भव्यजीव भक्ति गुण के माध्यम से आवरणरहित सहज ज्ञानगुण रूप होने से असहाय गुणस्वरूप ऐसी अपनी आत्मा को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् पराधीनता से परे हो जाता है। जब तक सहाय की दृष्टि रखोगे, परधीन रहोगे। सहायता यानि चिन्ता। आप अपने द्रव्य से मंदिर बनवा रहे थे, कोई चिन्ता नहीं थी। द्रव्य कम पड़ने लगा, तो आपको कहना पड़ा कि कुछ व्यवस्था करा दो। चिन्ता प्रारंभ हो गई। लोक में सबसे घातक वस्तु है तो मांगना है। मांगनेवाले का हाथ हमेशा नीचे रहता है। साधु को भी आहार लेते समय हाथ नीचे करना पड़ता है। क्षुधावेदनीय कर्म है, आहार संज्ञा है, इसलिये आहारदान की व्यवस्था की गई है, जिससे मोक्षमार्ग चलता रहे। साधुओं को श्रावकों से कोई विशेष प्रयोजन नहीं था। कोई विकल्प नहीं कि किस स्थान पर रुकूँ, किस नगर में स्थान बनाऊँ। सहज विहार होते थे, बड़ी सुन्दर व्यवस्था थी। अधिक लम्बे समय तक नहीं रुकते थे तो श्रावकों में भी राग नहीं आता था कि ये मेरे महाराज हैं। नगर-नगर में विहार होता रहता था, पर कोई विवाद नहीं होता था।

भो ज्ञानी! साधु ने कहीं स्थाई रुकना शुरू किया, तो रागदृष्टि बनेगी। आपने

कहा—'महाराजश्री! इसी तीर्थ में रुक जाओ, हम आपकी सेवा करेंगे।' हम रुक गये तो पराधीन हो गये। अब मुझे आपके बारे में सोचना पड़ेगा कि आये कि नहीं आये। घर नहीं बसा है, पर अंदर आप बस गये। इसलिये असहाय गुण की प्राप्ति के लिये असहाय चर्या चाहिए। इसलिये श्रमणों की परम्परा में आपको निश्चित स्थान नहीं मिले। आचार्य वीरसेन भगवन्, जिन्होंने षट्खण्डागम पर टीकायें लिखी, उनके नाम के प्राचीन भवन नहीं मिलते। आचार्य पुष्पदन्त, भूतबली, धरसेनाचार्य, लोहाचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य आदि के भवन कहीं नहीं मिलते हैं। इन आचार्यों ने निष्परिग्राही भाव का आश्रय लिया है। निष्परिग्राही भाव से जिया है, तभी ऐसे महान ग्रन्थों को लिख सके हैं। इनका श्रावकों से मिलने का समय आहार का समय था, धर्मोपदेश का था। शेष आपसे मिलने के लिये समय नहीं था। यदि समय होता, तो समय कैसे लिख पाते, स्वसमय में कैसे जाते ?

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं—

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलितमहाशुद्ध रत्नत्रयेऽस्मिन्
नित्ये निर्मुक्तिहेतौ निरूपमसहजज्ञानदृक्शीलरूपे।
संस्थाप्यानंदभास्वन्निरतिशयगृहं चिच्चमत्कारभक्त्या
प्राप्नोत्युच्चैरयं यं विगलितविपदं सिद्धिसीमन्तिनीशः॥227 कलश॥

टीकाकार निश्चय भक्ति को बतलाते हुये कह रहे हैं कि आत्मा जो चलायमान नहीं है, आत्मा आत्मा में अविचल है। महाशुद्ध रत्नत्रय स्वरूप, मुक्ति के लिये कारणभूत, उपमारहित, सहजज्ञान-दर्शन और शीलरूप, ऐसी नित्य आत्मा में आत्मा को स्थापित करके यह आत्मा चैतन्यचमत्कार की भक्ति द्वारा आनंद से शोभायमान निरतिशय स्थानरूप तथा विपदाओं से रहित ऐसे पद को प्राप्त कर लेता है, वह मुक्तिवधू का पति हो जाता है। रत्नत्रय ही मुक्ति का हेतु है। कोई चाहे कि रत्नत्रय के अभाव में मुक्ति की प्राप्ति हो जाये, त्रैकालिक असंभव है। जब भी मुक्ति मिलेगी, चाहे वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी क्यों न हो, तीर्थंकर-जैसी आत्मा भी क्यों न हो, रत्नत्रय को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। बिना निर्ग्रन्थ दशा के निवृत्ति दशा नहीं बनेगी। आप आत्मतत्त्व की बातें कितनी भी कर लेना, लेकिन मुक्तिश्री का वरण तभी होगा, जब शुद्ध रत्नत्रय होगा।

भो ज्ञानी! प्रवृत्ति के अभाव में निवृत्ति नहीं होती है।

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं, ववहारणया दु जिण भणियं॥45 द्र.सं.॥

अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति, यही व्यवहारनय से चारित्र है और जबतक ये चारित्र नहीं बनेगा, तब तक निवृत्तिमार्ग नहीं बनेगा। जैसे, व्यक्ति जब चलता है तो पीछे का पैर हटाता है और आगे पैर रखता है, ऐसे ही जब व्यक्ति शुद्धोपयोग में जाता है, वहाँ शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति सहज होती है और शुभोपयोग की निवृत्ति सहज होती है। जब शुभोपयोग में आता है, तब अशुभ की निवृत्ति होती है और शुभ में प्रवृत्ति होती है। जब सिद्धालय में जाता है, तब संसार की निवृत्ति होती है और मुक्ति में प्रवृत्ति होती है। यह श्रमणसंस्कृति निवृत्ति-प्रवृत्ति का मार्ग है। एकान्त से प्रवृत्ति भी नहीं है, निवृत्ति भी नहीं है। वही प्रवृत्ति है जिसमें निवृत्ति है। जिसमें निवृत्ति नहीं है वह प्रवृत्ति नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव 137वीं गाथा में कह रहे हैं कि रागादि का परिहार है किससे? आत्मा से। ऐसा साधु जो राग से तो रहित है और अपनी आत्मा को आत्मा से जोड़ रहा है, वही योगभक्ति से युक्त है। जो ग्रीष्मकाल में पर्वत की चोटी पर विराजे हैं, शीतकाल में नदी के किनारे विराजे हैं, वर्षा में वृक्ष के नीचे विराजते हैं, ऐसे तीनों योगों को धारण करनेवाले वे योगी हैं। वर्तमान में तीन योग नहीं हैं, इसलिये साधु तो हैं, किन्तु योगी नहीं हैं, क्योंकि संहनन नहीं है, जिनकल्पी दृष्टि नहीं है। व्यवहारदृष्टि से तीनों योगों को जो धारण करें, वे योगी हैं। उनके चरणों में नमन करना, वंदना करना, यह योगभक्ति है और निश्चय नय से वह साधक आत्मा को आत्मा से जोड़ रहा है, उसका नाम है योगिभक्ति। ये निश्चयदृष्टि है।

भो ज्ञानी। तुम जिस काम को करते हो, उसको फुरसत में करते हो। एक समय में दो काम नहीं होते हैं। ऐसे ही ध्यान अवस्था भी फुरसत की अवस्था है। हर चर्या, हर क्रिया समय चाहती है। साधक की साधना, विराधक की विराधना दोनों में समय चाहिये, तद्विषय का ज्ञान भी चाहिये। 48 मिनट की साधना के लिये 48 भव तक चाहिये पड़ते हैं। एक भव में कोई मोक्ष नहीं गया। उस क्षण की प्राप्ति के लिये कितने भव के पुरुषार्थ होते हैं? “अ इ उ ऋ लृ”, हो गया मोक्ष। जिसे आज तक हमने नहीं

किया, वो करना पड़ेगा। पहले कर्त्ता बन जाना, फिर सहज हो जाना। पहले बुद्धिपूर्वक गुरुचरणों में व्यवहार संयम स्वीकार करना। पहले तुम कर्त्ता बनोगे और जैसे-ही तुम्हारे संस्कार होंगे, तुम शुद्धोपयोग में चले जाओगे, फिर छठवें गुणस्थान में आ जाओगे।

जो साधु आत्मा को आत्मा से जोड़ता है, वह योगभक्ति है। परम समाधि में संपूर्ण मोह, राग, द्वेष का त्याग हो जाता है। यह 4थे, 5वें 6वें, 7वें गुणस्थान की चर्चा नहीं है, यह 12वें गुणस्थान की चर्चा है। परम समाधि यानि निर्ग्रन्थ। 12वें गुणस्थान में मोह का अभाव है। मोह, राग, द्वेष का संपूर्ण परिहार होने पर जो साधु आसन्न भव्यजीव है, अखंड परमानंदरूप से निज कारणपरमात्मा से जो युक्त होते हैं, ऐसा वह परम तपस्वी मुनि ही शुद्ध निश्चय भक्ति से युक्त होता है। इसके विपरीत जो बाहर के प्रपंचों में लगे हुये हैं, उनके योगभक्ति कैसे होगी ? वो होने वाली नहीं है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' में लिखा है कि प्रतिक्रमण करना, प्रत्याख्यान करना, ये सब विषकुंभ के समान हैं। चेलों ने सोचा कि बहुत अच्छा है, उनने सब छोड़ दिया और बातों में लग गये। आचार्यश्री वहाँ से निकले, शिष्यों से पूछा—प्रतिक्रमण हो गया? उन्होंने कहा कि ये सब विषकुंभ है। आचार्यमहाराज बोले कि ये आपके लिये विषकुंभ नहीं है, अमृतकुंभ है। जो शुद्धोपयोगी हैं, उन्हें प्रतिक्रमण का विकल्प नहीं लाना चाहिये; परन्तु जो दाल-बाटी की बात कर रहे हैं उन्हें प्रतिक्रमण करना ही चाहिये। आपके लिये पंचपरमेष्ठी की भक्ति अभूतार्थ नहीं है। जो पंचपरमेष्ठी पद को प्राप्त करके शुद्धोपयोग में जा रहे हैं, उनके लिये अभूतार्थ है।

'पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय' में लिखा है कि निश्चय की बातें करने वाला आलसी, व्यवहार संयम को छोड़ करके निश्चय में नहीं जा रहा है, वह व्यवहार-चारित्र का शत्रु है। 'अध्यात्म-अमृत कलश' में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी लिख रहे हैं, 'हे योगी! मैं शुभ क्रियाओं में जाना नहीं चाहता हूँ, शुभ क्रियायें नहीं करना चाहता हूँ, ऐसा कह करके अशुभ में जाकरके अपनी वंचना मत करना। निःप्रमाद होकर षट् आवश्यक का पालन करो, ये आदेश कर रहे हैं। आवश्यक पालन करोगे तो अवश में चले जाओगे। यदि आवश्यक का पालन नहीं करोगे तो अवश में जाने वाले नहीं हो। ये कभी मत सोचना कि हो जायेगा। आपको तो करना ही है, इसलिये कभी मत छोड़ना।

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥

आत्म प्रयत्न के सापेक्ष, ऐसी जो विशेष मनोगति है, निज आत्मा के प्रति प्रयत्न है, आत्मा का आत्मा में जो संयोग हो रहा है, वही योग है, ऐसा जानना चाहिये। सापेक्षता अर्थात् परद्रव्य से निरपेक्ष और आत्मद्रव्य से सापेक्ष। इसलिये वो सापेक्ष शब्द आत्मा में है, इसे आप ब्रह्मस्वरूप कहो, आनंदस्वरूप कहो, चित्तस्वरूप कहो, वही है। जैसा सिद्धालय में विराजा ब्रह्म है, वैसा मेरे देह में विराजा है, कोई अंतर नहीं है। ये है शुद्ध योग की दशा।

भो ज्ञानी! पहले बाह्य प्रपंचों से हटो। पहले शरीर के पापों से हटो, फिर वचन के पापों से हटना। शरीर से विषयों को तो छोड़ना नहीं चाहता है, कहता है मन से शुद्ध हो जाऊँ। ये सब व्यर्थ की बातें हैं। उमास्वामी महाराज कहते हैं कि शरीर को पापों से हटा लो, फिर पाप की चर्चा छोड़ो। फिर जो मन बार-बार पापों की ओर जा रहा है, उस मन को मन से बुद्धिपूर्वक समझाओ। बोले, भूख लगी है, अच्छी बात है। जब भोजन कर रहे हो, तो भोजन को उतने अच्छे से करो जितने अच्छे से भूख लगी है। भूख से भोजन करोगे तो भोजन में स्वाद आयेगा। यदि भोजन के समय किसी काम की चिन्ता लगी है, तो पेट तो भर जायेगा, पर इच्छा की पूर्ति नहीं होगी। ऐसे ही कुछ जीव धर्म की क्रियाएँ तो करते हैं, पर उपयोग कहीं और होता है। दिन के दिन, बरस के बरस बीत जायेंगे। बारह बरस बीत गये, पर कानी पत्नि की याद नहीं गई पुष्पडाल मुनि महाराज को। मन से मन को नहीं मार पाये। यदि आपने मनपूर्वक मन को जीतने का विचार कर लिया है, तो तुम्हारे मन को कोई चलायमान नहीं कर पायेगा। शास्त्र की भाषा में संकल्पशक्ति। रस्सी टूट सकती है, सांकलें टूट जायेंगी, टूटी हैं, लेकिन संकल्पशक्ति नहीं टूटी। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा, 'प्रभु! मैं आपको नमस्कार करूँगा, यह मेरा संकल्प है।' सांकलें टूट गई, चन्द्रप्रभु भगवान् की प्रतिमा प्रकट हो गई। आपका संकल्प नहीं टूटा।

मन में संकल्प आ गया कि रात्रि में जाना है। द्वार पर ताले लगे हुये थे। खिड़की से साड़ियाँ लटकाकर भवन से निकल गये। इसका नाम था वैराग्य। आज वैराग्य की बातें तो बहुत होती रहती हैं, परन्तु वैराग्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। राग की महिमा

देखो। तुलसीदास के बारे में आता है कि ससुराल के भवन में खिड़की पर सांप लटक रहा था, उसको रस्सी समझकर पत्नि से मिलने ऊपर पहुँच गये। वासना का राग मृत्यु भी नहीं देखता। कितना लोक-अपवाद होगा, कितनी निंदा होगी, उसे कुछ नहीं दिखता। पत्नि ने कहा कि जितना राग मेरे प्रति आपको है, उतना राग प्रभु के प्रति हो जाये, तो उद्धार हो जाये।

अस्थि-चर्ममय देह मम, तामें ऐसी प्रीत।
जो होती रघुवीर सों, मिट जाती भवपीर॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव योगभक्ति को स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं—

आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम्।
स योगभक्तियुक्तः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वरः॥228 कलश॥

जो यह आत्मा है, वह आत्मा आत्मा में ही आत्मा को निरन्तर आत्मा के साथ जोड़ता है, वही जीव योगभक्ति से युक्त है, ऐसा निश्चय से मुनीश्वर के लिये कहा है। यह श्रावकों के लिये नहीं लिखा है। यह वीतराग भक्ति का कथन चल रहा है। सराग भक्ति आलम्बन सहित होती है। इसलिए पूजा के लिये, आलम्बन के रूप में अष्ट द्रव्य दे दिये कि तुम्हारा उपयोग लगा रहे। दो आलम्बन, द्रव्य और परमेष्ठी के होते हुए भी एकाग्रता की कमी है। कभी मन दुकान में, कभी घर में जाता रहता है। इसलिये पहले घर छुड़वाते हैं, ऐसा मान करके कि घर मेरा है ही नहीं। जब तक ऐसा नहीं मानोगे, तब तक आत्मा की बातें कहाँ दिखने वाली हैं। यदि शत्रु के घर में मृत्यु हो जाये तो कहते हो कि ऐसा होता रहता है। ऐसे ही जब तुम्हें संपूर्ण विश्व शत्रु का घर नजर आने लगे, तो समझ लेना कि हम आत्मा के पास जाने के लायक हो गये। जरा भी प्रेम दुलार की भाषा रहेगी, तब तक निज का निज में पहुँचना कठिन है। मन से, वचन से, काय से भक्ति करना ही व्यवहार से योगभक्ति है और आत्मा में ही अपनी आत्मा को स्थिर करना निश्चय योगभक्ति है, ऐसा जानना चाहिये।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 138

उत्थानिका : निश्चय योग भक्ति का स्वरूप

गाथा : सव्व विअप्पाभावे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य किह हवे जोगो॥138॥

संस्कृत छाया : सर्वविकल्पाभावे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधुः।
स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथं भवेद्योगः॥138॥

अन्वयार्थ : (यः साधुःतु) जो साधु (सर्वविकल्पाभावे) सर्व विकल्पों के अभाव में (आत्मानं युनक्ति) आत्मा को लगाता है (सः योगभक्तियुक्तः) वह योगभक्ति से युक्त होता है (इतरस्य च) तथा अन्य साधु के (योगः कथं भवेत्) योग किस प्रकार से होगा ?

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने परमभक्ति अधिकार में यह संकेत दिया कि आत्मा का जो अह्लाद नियमदेशना प्रसाद है, वही भक्ति है, चाहे वहाँ परमेष्ठी हो या न हो। इसलिये प्रत्यक्ष भक्ति और परोक्ष भक्ति, ये भक्ति के दो भेद किये। वर्तमान में परमेष्ठी के विराजमान होने पर जो भक्ति आप कर रहे हो, वह प्रत्यक्ष भक्ति है। परमेष्ठी नहीं हैं, फिर भी अंतरंग में वही आस्था है, वही श्रद्धा है, वही आराधना की परिणति है, वह परोक्ष भक्ति है। प्रत्यक्ष भक्ति कोई भी कर सकता है, लेकिन उससे कई गुणा श्रेष्ठ परोक्ष भक्ति है। जिनदेव की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करना, यही सबसे बड़ी भक्ति है। आचार्य की आज्ञा के अनुसार भक्ति करना, यही सबसे बड़ी भक्ति है। भक्ति तीर्थंकर-प्रकृति के बन्ध का हेतु है। जो अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, प्रवचन आदि भक्ति से विहीन हो रहा है, वह जीव तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध की भावना से दूर हो रहा है। जिसकी जिनभक्ति में रुचि नहीं है, आचार्य भक्ति में रुचि नहीं, साधुसमाधि में रुचि नहीं है और अरहन्तपद से विमुख है, वह जीव अरहन्तपद का द्वेषी है। जो अरहन्तपद से द्वेष रखता है, वह शुद्धोपयोगी कैसा? जिसने शुद्धोपयोग का व्याख्यान किया है, उस व्याख्याकर्त्ता पर श्रद्धान नहीं है, तो व्याख्यान

पर श्रद्धान कैसे ? जैनदर्शन/श्रमणसंस्कृति वाणी को प्रमाण नहीं मानती। यह कहती है कि वक्ता प्रमाणित होता है। वक्ता प्रमाणित है तो वचन प्रमाण हैं।

भो ज्ञानी! यदि प्रवचनकार पर श्रद्धा है, तो वह जो बोलता है वह सब अच्छा लगता है। यदि उस पर श्रद्धा नहीं है तो अच्छा नहीं लगेगा। इसलिये जिनागम में सबसे पहले वक्ता पर ध्यान दिया गया। आप्त है, तो आगम है। आप्तबचनादि निंधनमर्थज्ञानमागमः आप्त के वचनों का निबन्धन ही आगम है। यह माणिक्यनंदि स्वामी ने 'परीक्षामुख सूत्राणि' में कहा है। आचार्य समंतभद्र स्वामी कहते हैं–

जो आप्त के द्वारा कहा हुआ है, अनुलंघनीय है, पूर्वापर विरोध से रहित है और खोटे मार्ग का खंडन करता है, वही सद्शास्त्र है, वही जिनवाणी है। जिसकी अद्वैतभक्ति की दृष्टि है, वह कभी द्वैतभक्ति का विरोधी नहीं हो सकता। जो अद्वैत भक्ति को चाहता है, वह कभी द्वैतभक्ति को नहीं छोड़ता। द्वैत की आराधना करते-करते अद्वैत को प्राप्त कर लेता है।

भो ज्ञानी! प्रयत्नपूर्वक निज आत्मा में मन का लगा देना, ब्रह्मस्वरूप की लीनता ही योग है। जो तेरा मन विषयों में दौड़ रहा है, उस मन को बुद्धिपूर्वक वहाँ से लाना और लाकरके पहले पंचपरमेष्ठी के चरणों में रख देना। जब पंचपरमगुरु की भक्ति में लीन होगा, वहीं से तुझे आह्लाद बढ़ेगा। जो आह्लाद की दशा है, एक समय में वह पूर्ण निर्मल हो जायेगी और आह्लाद अवस्था में योगी परम आह्लाद को प्राप्त कर लेता है, वही निर्विकल्प ब्रह्म है। फिर वहाँ पर

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं॥द्र.सं. 56॥

हे योगी! कोई जाप मत करो, कोई चिन्तन भी मत करो, कोई चेष्टा मत करो क्योंकि ये जल्प हैं, ये तरंगें हैं। सागर में पड़ा माणिक तभी दिखता है जब लहरें और धाराएँ समाप्त हो जाती हैं। स्तब्ध जल में, शान्त जल में ही मोती दिखता है। स्तब्ध चित्र में ही चेतन प्रभु झलकता है। इसलिये कुछ मत सोचो, स्थिर हो जाओ। आत्मा को आत्मा में रमण करा दो। यह असंभव नहीं है, पुरुषार्थसाध्य है, परन्तु शुष्क होना पड़ेगा। क्या राग क्या प्रेम, कुछ नहीं। यह सब निज गुणानुवाद है। वहाँ निश्चयनय कहेगा परम वात्सल्य भाव। निजगुणों में अनुराग ही परम वात्सल्य भाव है। जैसे

श्रावकाचार में सम्यक्त्व के आठ अंगों का कथन है, ऐसे ही 'समयसार' में भी सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का कथन है। जहाँ व्यवहार है, वहाँ निश्चय अंग है, लेकिन उनकी प्राप्ति का आलम्बन भक्ति है। दर्शनविशुद्धि जहाँ है, वहाँ सबकुछ है और दर्शनविशुद्धि जहाँ नहीं है, वहाँ कुछ भी नहीं है। मोक्षमार्ग का पूरा व्याख्यान कर लेना और दर्शनविशुद्धि को अलग रख देना, तो कुछ नहीं बचेगा। जिसकी दृष्टि ही विशुद्ध नहीं है, वह जिनेन्द्र को क्या बतायेगा? कुछ नहीं बता पायेगा।

भो ज्ञानी ! आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि परमभक्ति तभी होती है, जब दर्शनविशुद्धि होती है। दर्शनविशुद्धि के अभाव में सब बेकार है, ऐसा आचार्य वीरसेन स्वामी ने 'षट्खण्डागम' पुस्तक 8 में लिखा है। उसमें बन्ध का कथन है, तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध की 16 भावनाओं का कथन है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में भी 16 भावनाओं का कथन है। बिना पुण्ययोग के कोई भी जीव भावना नहीं भा सकता है। आप कुछ भी कहना, पुण्य का योग न हो तो भावना भाने के भाव भी नहीं आते हैं। 'भावना भवनाशिनी' जो आज तक भाव नहीं हुये हैं, उन भावों को कर लेना ही तो भावना है। इसलिये कभी नहीं कहना कि भक्ति से बन्ध होता है। बिना भक्ति के निर्बन्ध होंगे कैसे? विश्व में निर्बन्ध की कथा उसी ने कही है जो पूर्व में भक्ति से घनघोर भरा था। जिन्होंने पूर्व में सोलहकारण भावनायें भाई थी, वे ही तीर्थंकर बन पाये हैं। तीर्थंकरप्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में होता है, तभी निर्बन्ध की कथा कर पाता है।

भावों की विशुद्धि भक्ति से बढ़ती है। इन्होंने विशुद्धि का हेतु भक्ति को कह दिया, क्योंकि मार्दव-आर्जव धर्म के अभाव में आपके भाव नहीं बनेंगे। भक्ति की भक्ति यानि विनय करना, गुणों में अनुराग रखना। जिसके पास मार्दव धर्म होता है, वो एक छोटे से गुण को भी गुण ही मानता है। जो यह कहता है कि भक्ति बाहर की क्रिया है, वो अज्ञानी है। अन्दर की क्रिया के अभाव में भक्ति ढोंग ही है। जो यह कहता है कि त्याग करना बाहर की वस्तु है, उसने अभी जैनागम को समझा ही नहीं है। आपके त्याग के जो भाव बने हैं, वो राग का अभाव हुआ है, तब आपने त्याग किया है। यदि तीव्र राग बैठा है तो बाहर से थोप रहा है। अहंकार बैठा है, तो विनयभाव आता नहीं है। जो निर्बन्ध दशा में जाता है, वो भक्ति को बन्ध नहीं कहता है, क्योंकि वह तो निर्बन्ध की खोज में लगा है, उसे बन्ध दिख ही नहीं रहा है। जिसे अच्छे से भूख नहीं

लगी है, वह कहता है कि भोजन अच्छा नहीं है। जिसे तेज भूख लगी हो, वह माँ से कहता है कि जो कुछ भी रखा है, दे दो। जिसको मोक्ष की भूख नहीं होती है, वो दुनियाँ भर के बहाने बनाता है और जिसको तीव्र क्षुधा सताती है, वो कहता है 'प्रभु! अब मैं इस संसार में नहीं रहना चाहता हूँ।' संसार में वह जहाँ जिनमुद्रा देखता है, सिर टेककर बैठ जाता है।

भो ज्ञानी ! हम पत्थर की प्रतिमा में मोक्ष देख सकते हैं। नय के कथन की अपेक्षा प्रतिमा भगवान नहीं है, क्योंकि उसमें स्थापना निक्षेप किया गया है। इसमें भगवान के गुणों का आरोपण किया गया है, इसलिये भगवान हैं, पर वास्तव में तो वह पाषाण है। जब हम पाषाण में परमेश्वर के गुणों का आरोपण करके अरहंत की आराधना का फल पा सकते हैं, तो जो परमेष्ठी मौजूद हैं, उनकी वन्दना करके निर्बन्ध हो सकते हैं। सावन का महीना है, सबकी पत्नि अपने-अपने मायके चली गई हैं। लम्बा समय हो जाये और वहाँ से भैया आये तो क्या पूछते हो? बच्चे कैसे हैं? सीधा नहीं पूछता है। सब ठीक है ना? भो ज्ञानी ! जैसे तेरी पत्नी के यहाँ से कोई आता है तो तू उसका सम्मान करता है, ऐसे ही पंचपरमेष्ठियों में आचार्य, उपाध्याय, साधु ये अरिहन्त सिद्ध के नजदीक हैं, अपनी मुक्तिरमा के विषय में उनसे कुछ पूछना हो तो उनका सम्मान करके धीरे-से पूछ लेना कि हमारी परमप्रिय आत्म-मुक्तिवधू कैसी है? जब तक आप उनसे नहीं मिलोगे, तब तक निज वधू का ज्ञान नहीं होगा। ऐसा आचार्य जयसेन स्वामी ने 'समयसार' की टीका में एवं ब्रह्मदेव सूरि ने 'द्रव्यसंग्रह' की टीका में लिखा है। 'पंचास्तिकाय' में स्पष्ट लिखा है कि गृहस्थों का मोक्षमार्ग पंचपरमेष्ठी की भक्ति है, क्योंकि उससे बिना निर्विकल्प दशा नहीं बनती है। जब पूर्ण रत्नत्रय नहीं है, तो रत्नत्रयधारी की आराधना करता है। जब रत्नत्रय धारण कर लोगे, तब कहा जायेगा कि अब आत्मब्रह्म की भक्ति करो। उनसे फिर कहा जायेगा 'न शिष्यो गुरुर्नापि हीनं न दीनं, चिदानंदरूपं नमो वीतरागम्"।

तुम कोई विकल्प मत करो। गुरु, शिष्य, संसार, मोक्ष कोई विकल्प ही नहीं है। वो तो मात्र चिदानंद रूप में लीन होता है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा 138 में परमभक्ति के विषय में पुनः कह रहे हैं, कि जहाँ विकल्प है, वहाँ योग नहीं हो सकता है। जो साधु संपूर्ण विकल्पों का

अभाव करके आत्मा में निज को जोड़ते हैं, वे ही योगभक्ति से युक्त हैं। इसी बात को पुनः पुष्ट कर रहे हैं। जो ब्रह्म है, वो ही आत्मा है और जो आत्मा है, वो ही ब्रह्म है। जो आत्मा में रमण करता है, ब्रह्मचारी है। जो ब्रह्म में रमण है, वह ब्रह्मचर्य है। यहाँ पशुवृत्ति की बात नहीं कर रहे हैं।

यो चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो।
सो इंद्र नाग नरेन्द्र वा अहमिंद्र के नाहीं कह्यो॥ छहढ़ाला॥

आचार्य योगीन्दुदेव 'परमात्मप्रकाश' में लिखते हैं कि कोटि देवांगनाओं के साथ सौधर्मइन्द्र एकसाथ रमण करके जो सुख प्राप्त नहीं करता है, वह सुख निज में रमण करने वाले योगी को एक क्षण में होता है। तुला के एक पलड़े पर सुमेरू पर्वत का वजन रख दो और दूसरे पलड़े पर योगी की अनुभूति का वजन रख दो, तो योगी की अनुभूति भारी होगी। जब कुछ करने को नहीं है, कुछ भी कहने को नहीं है, कुछ भी सुनने को नहीं है, यही योगी की दशा है। जब तक कर्त्तृत्व भाव है, तब तक योगभाव नहीं है। अभेद योगभक्ति 7वें गुणस्थान से प्रारम्भ होती है।

भो ज्ञानी! अपूर्ण नहीं, संपूर्ण जिसका राग निकल चुका है, ऐसे रत्नत्रयात्मक निज चिद् विलास लक्षण वाले, निर्विकल्प परम समाधि वाले, जिन्होंने मोहरागरूपी अनेक प्रकार के विकल्पों का अभाव कर दिया है, परम समरसी भाव से पूर्ण रूप से अंतर्मुख हैं, निज कारणसमयसार स्वरूप, ऐसा आसन्न भव्यजीव ही उसमें अपने आपको जोड़ कर रखता है। किसमें ? परम समाधि में। निश्चय से उनके ही निश्चय योगभक्ति होती है, अन्य किसी के नहीं होती है। इसलिये भूल में मत रहना कि भूल से भगवान् मिल जायेंगे।

भो ज्ञानी! आपको स्वप्न में भगवान् दिखें तो कर्म की निर्जरा होती है। जब स्वप्न के विकारी भावों से भोगों की अनुभूति आती है, वहाँ कर्मबन्ध होता है। "सुपने मधि दोष लगायो", आलोचना पाठ में लिखा है। स्वप्न में भी दोष लगते हैं, तो स्वप्न में निर्जरा भी होती है। पापियों को अशुभ स्वप्न ही आते हैं। जिनके पाप का योग प्रबल चल रहा है, उनको भोग और भोजन के ही स्वप्न आते हैं। पुण्यात्माओं को तीर्थवंदना, साधु वंदना के स्वप्न आते हैं। आहार दे रहे हैं, मुनिराज की वैयावृत्ति कर रहे हैं, प्रतिमाजी का अभिषेक कर रहे हैं, जिनवाणी सुन रहे हैं। आपका उपयोग कैसा रहता

है, यह उसकी कसौटी है। तारणतरण श्रावकाचार में लिखा है कि जिस जीव की परिणति अशुभ रहती है, उसको स्वप्न भी खोटे आते हैं, क्योंकि संस्कार में वैसी सत्ता बैठी है। सत्ता में विकार बैठा है, वो उदय में आ गया है। दिन में नहीं भोग पाये तो रात्रि में भोग लिया।

भो ज्ञानी! आठ कर्मों में एक अंतराय कर्म है, उसके 5 भेद हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य। एक देना चाह रहा है, पर दे नहीं पा रहा है। एक लेना चाह रहा है, लेकिन ले नहीं पा रहा है। एक प्रसन्न होना चाहता है, हो नहीं पा रहा है। उत्साह नहीं बन पा रहा है, वीर्य-अन्तराय कर्म का क्षयोपशम नहीं है। भोगना चाहता है, लेकिन भोग नहीं पा रहा है। उपभोग करना चाहता है, लेकिन उपभोग नहीं कर पा रहा है, क्योंकि अन्तराय खड़ा हुआ है। कर्मों के उपशमन हेतु भक्ति है, तप है। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है 'भक्तेः सुन्दर रूपं।'

तपस्वियों का गुणगान करने से यश फैलता है और प्रभु की भक्ति करने से सुन्दर रूप मिलता है। कर्मसिद्धान्त कहेगा कि तत् सम्बन्धी असाता प्रकृति को नष्ट करके आपने इस रूप को प्राप्त किया है। भगवान् का नाम लेने से जहर उतर जाता है। जब प्रभु के नाम की शब्दवर्गणाएँ जीव ग्रहण करता है, तो रसायन-क्रिया होती है। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य में मिला दो तो परिणमन हो जाता है। शब्द पुद्गल है, कर्म पुद्गल है। पुद्गल पुद्गल को प्रभावित करता है। आप सब यहाँ शांत बैठे हो, सब पुद्गल की महिमा है। जिसे तुम सुन रहे हो, जिसके माध्यम से सुन रहे हो, वो सब पौद्गलिक है।

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति, शाकिनी भूत पन्नगाः।
विषं निर्विषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरे॥समाधिभक्ति॥

प्रभु की भक्ति से सभी प्रकार के विघ्न टर जाते हैं, भूत-प्रेत बाधायें नष्ट हो जाती हैं, विष उतर जाता है। जब प्रभु की भक्ति से जन्म, जरा, मृत्यु जैसे महारोग टर जाते हैं, तो ये सब तो छोटे-मोटे रोग हैं। 'तुम पद पंकज पूजते विघ्न रोग टर जाय।" जब तक भगवान् को कर्त्ता नहीं बनाओगे, तब तक भक्ति के भाव नहीं बनेंगे। जब तक तुम स्वयं के कर्त्ता न बन जाओ, स्वभाव में न चले जाओ, तब तक बनाते रहना।

गिम्हे गिरिसिहरत्था, वरिसायाले-रूक्खमूलरयणीसु।
सिसिरे वाहिर-सयणा, ते साहू वंदिमो णिच्चं॥योगिभक्ति॥

जो ग्रीष्मकाल में पर्वत के ऊपर बैठे हैं, बरसात में पेड़ के नीचे बैठे हैं, शीतकाल में नदी के किनारे बैठे हैं, ऐसे साधु की मैं प्रतिदिन वंदना करता हूँ। जब वंदना का भाव आया तो आल्ह्लाद हुआ, उसी भाव से बंधक भाव हट जाते हैं। जो शुद्धोपयोग में लीन योगी हैं, वह जब शुभोपयोग में आयेंगे, तो योगियों की भक्ति करेंगे। शुद्धोपयोग में जायेंगे तो योगभक्ति में जायेंगे, लेकिन पुरुषार्थ शुभोपयोग से प्रारंभ होगा। शुभोपयोग कारण है, शुद्धोपयोग कार्य है। शुभोपयोग कारणपूर्वक ही शुद्धोपयोग कार्य में जाते हैं। दृष्टि बनाके रखते हैं कि वही दशा परमदशा है। निर्दोष सम्यग्दृष्टि कभी शुभोपयोग में रमण नहीं करेगा, लीन नहीं होगा, लेकिन शुद्ध में नहीं पहुँच पा रहा है, इसलिये अशुभ से बचने के लिए शुभ में लगा होता है।

भो ज्ञानी! जब तक शुभोपयोग की परम उपादेयता का कथन नहीं करेगा, तब तक अशुभ से छूटेगा नहीं। जब शुभोपयोग की इतनी उपादेयता का कथन करेगा, तो शुद्ध की उससे दूनी उपादेयता का कथन करना। शुभ को उपादेय कहना, शुद्ध को परम उपादेय कहना और अशुभ को हेय कहना। व्यक्ति मंदिर में खड़ा है, शुद्ध में जा नहीं पा रहा है और हेय कह-कहके शुभ के भाव भी नहीं बनते हैं। उसको उत्साह नहीं जगेगा और उत्साह के अभाव में शुभ उपयोग होगा क्या ? नहीं। यदि आपको लगता है कि जिनवाणी पढ़ना हेय है, सुनना हेय है और आप सुनते भी रहोगे तो वो उत्साह नहीं रहेगा। उत्साह के अभाव में आह्लाद नहीं रहेगा और आह्लाद के अभाव में भक्ति का उदय नहीं होगा। अनुभूति स्वयं ग्राह्य है। एक शिष्य जब तक गुरु नहीं बनता, तब तक बड़े-बड़े भाषण देता है कि गुरु को ऐसा होना चाहिये, समूह को ऐसे संभालना चाहिये। जब स्वयं पर भार आता है तो सब बातें रखी रह जाती हैं। ये सब कहने की बातें वहीं तक रहती हैं जब तक जीव उस स्थान पर नहीं पहुँचता है। पहुँचने के बाद फिर संभालो मन को, फिर लगता है कि यह भी उपादेय है; क्योंकि अनुभव की कसौटी अलग होती है, व्याख्यान की कसौटी अलग होती है। अनुभव पर कसा हुआ जो व्याख्यान होता है, वह अंदर प्रवेश कर जाता है।

भो ज्ञानी! जब अंदर की विषय-कषाय सता रही होती है, तब शुभोपयोग बड़ा

कठिन होता है। जिस समय विषय-कषाय सता रही हो, लोभ सता रहा हो, क्रोध सता रहा हो, उस समय शुभोपयोग की झलक भी कठिन होती है। अहो! जिस मछली को स्थल ही जला रहा हो, उसको अंगारा कैसे जीवित रखेगा? जिस योगी को शुभोपयोग झुलसा रहा हो, उस योगी को अशुभोपयोग कैसे भायेगा? वो तो शुद्धोपयोग में ही जायेगा।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत् नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥इष्टोपदेश 3॥

यदि आप किसी स्थान पर फँस गये, वर्षा हो रही है, तो पेड़ के नीचे खड़े हो गये। पानी कम हुआ तो थोड़ी दूर पर दिखने वाली झुपड़िया में पहुँच गये। पर दृष्टि में क्या झलक रहा था? कि हे भगवान्! पानी कब रुके और हम अपने घर पहुँच जायें। ऐसे ही हम सोच रहे हैं कि पंचमकाल का पानी कब खुले और हम अपने घर पहुँच जायें, लेकिन भोगों के राग से गीला नहीं होना है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'अष्टपाहुड' में लिखा है, उसका पद्यानुवाद संस्कृत में पूज्यपाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' में किया है। गाथा संख्या 3 में कह रहे हैं कि अव्रती होकर नरक जाना श्रेष्ठ है, कि व्रती बनके देव बनना? देव बनना। धूप में झुलसने की अपेक्षा वृक्ष की छाया में ठहरना श्रेष्ठ है। आचार्य महाराज पुनः कह रहे हैं कि स्वरूपलीनता ही परम योगभक्ति है, वही परम उपादेय है। जब तक वहाँ नहीं पहुँच रहे हो, तबतक पंचपरमेष्ठी की आराधना करो।

जब तक स्वतत्त्व की प्राप्ति नहीं है, तब तक परगत तत्त्व को छोड़ मत देना।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 139, **कलश 229**

उत्थानिका : निज भाव स्वरूप का कथन

गाथा : विवरीयाभिणिवेसं, परिचत्ता जेण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो॥139॥

संस्कृत छाया : विपरीताभिनिवेशं परित्यज्य जैनकथित तत्त्वेषु।
यो युनक्ति आत्मानं निजभावः स भवेद्योगः॥139॥

अन्वयार्थ : (यः) जो (विपरीताभिनिवेशं) विपरीत अभिप्राय को (परित्यज्य) छोड़कर (जैनकथित तत्त्वेषु) जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्त्वों में (आत्मानं युनक्ति) आत्मा को लगाता है (सः निजभावः) उसका वह निज भाव स्वरूप (योगः भवेत्) योग होता है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने संकेत दिया है कि वह पंचपरमेष्ठी की भक्ति परम समाधि का हेतु है। यदि कोई जीव सल्लेखना की दृष्टि रखता है, और अरहन्त भक्ति से शून्य हो जाता है, तो उसकी तीनकाल में सल्लेखना संभव नहीं है। अंतिम स्वाध्याय 'ॐ' है, पंचपरमेष्ठी वाचक है। ऐसे स्वाध्याय-भक्ति, प्रतिक्रमण-भक्ति ही सामायिक है। जो कुछ है, वह भक्ति है। धर्मानुराग नहीं है तो ध्यान रखना, कुछ भी नहीं है। बिना धर्मानुराग के भक्ति नहीं होती है। तत्त्व को गहरे समझना, कहीं अध्यात्म के आवेश में आत्मसरोवर को सुखा मत देना। अध्यात्म-ग्रन्थ भक्ति का निषेध नहीं करता है, एकान्तदृष्टि का निषेध करता है। भक्ति करना, लेकिन दृष्टि शुद्धात्म तत्त्व पर रखना। भक्ति करना क्यों ? शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये। यदि शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं है और भक्ति भी नहीं है, तो दोनों से तू च्युत हो गया। कम-से-कम जो सहारा था, उस सहारे का अभाव तो मत करो।

आचार्यभगवान् ने परमभक्ति अधिकार में स्पष्ट किया है कि भक्ति पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करा देती है। निधत्ति निकांचित जैसे कर्मों का उपशमन कराने में कोई हेतु है तो वह जिनभक्ति है। सल्लेखना के काल में पंचपरमगुरु की भक्ति ही विषय बनेगा। समाधि के काल में ग्रन्थ तो पढ़े नहीं जाते। गहन चिन्तन करोगे तो तनाव बढ़ेगा।

आत्मस्वरूप का चिन्तन किया जाता है। समाधि के काल में णमोकार आदि भी उतना ही सुनाना जिससे उसे अश्रद्धा न हो पाये। आपको यदि कोई एक ही बात बार-बार सुनाये तो आप कहोगे कि थोड़ा ठहर जाओ। उसको थोड़ा सुनाओ और कहो कि तुम पाँच मिनट चिन्तन कर लो। विश्राम दो उसको।

भो ज्ञानी! यदि कोई दु:खी है तो उसको सहानुभूति तो दो, लेकिन इतनी सहानुभूति नहीं देना कि वो सुनते-सुनते थक जाय। सल्लेखना के काल में आप उसे समझायें, संबोधन दें, मधुर स्वर में णमोकार सुनायें, पाठ सुनायें, साथ में यह भी देखें कि थक तो नहीं गया। कभी-कभी अति भक्ति भी अभक्ति का कारण बन जाती है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।'

भेदाभावे सतीयं स्याद्योगभक्तिरनुत्तमा।
तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम्॥कलश 229॥

आचार्य पद्मप्रमभलधारिदेव कह रहे हैं कि भेद का अभाव हो जाने पर अपने योग से उत्तम भक्ति होती है और वह जो भक्ति है, वह आत्मोपलब्धि रूप है, वही भक्ति योगियों के लिये मुक्ति का हेतु बनती है। पहले इतनी भक्ति करना कि भगवान् और भक्त में भेद ही न दिखे। पंचपरमेष्ठी और आप में भेद का अभाव दिखे, इतने तन्मय हो जाना। ऐसी तन्मयता जब पंचपरमेष्ठी की भक्ति में करेगा, तो फिर वह रत्नत्रय की भक्ति में तन्मय हो जायेगा। ऐसी अभेद भक्ति होगी, वहाँ पंचपरमेष्ठी भी नहीं होंगे, स्वयं ही स्वयं होगा। यह परम निश्चय भक्ति है। प्रारंभ में स्लेट से आपने पढ़ना-लिखना प्रारंभ किया था, उसे आज हेय मानते हो, लेकिन धाराप्रवाह पढ़ना-लिखना उसी से सीखे हो। पहले आप पंचपरमेष्ठी के संस्कार डालो, उसमें एकाग्र होना सीख लो, फिर निज में एकाग्र होना सीख सकते हो।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 139 में कह रहे हैं कि ध्यान रखना, चाहे भक्ति का मार्ग हो चाहे अध्यात्म का मार्ग हो, अभिप्राय यदि निर्मल नहीं है तो न भक्ति में तुम्हारा मन लगेगा न निर्मल होगा। वृत्ति कहीं जा रही है और प्रवृत्ति कहीं कर रहे हैं, तो भक्ति कहाँ ? अभिप्राय की निर्मलता जबतक नहीं है, तब तक भक्ति में मन नहीं लगेगा। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि अभिप्राय विपरीत नहीं होना चाहिये। व्यक्ति का अभिप्राय बड़ा विचित्र होता है। योग शुभ चल रहा है, अभिप्राय विपरीत नहीं है, उस दशा का जो योग है,

वहाँ का अभिप्राय एक ही होगा। जो चिद्रूप में जायेगा, तो वहाँ उसका योग व अभिप्राय सब एक होगा, तभी निश्चय भक्ति होगी। उच्च श्रेणी पर पहुँचकर भी जीव का अभिप्राय विचित्र रहता है। सल्लेखना चल रही है, पूरा योग निर्मल चल रहा है, एक क्षण को अभिप्राय बदल गया कि हमारी सल्लेखना की चर्चायें कैसी हैं? ऐसा अभिप्राय परिवर्तित हुआ। सल्लेखना अच्छी चल रही थी, लोगों के अच्छा-बुरा कहने से सल्लेखना पर कोई प्रभाव नहीं था, वो तो अंदर की परिणति थी। तुम्हारी कैसी चल रही है ? चारों प्रकार का आहार छोड़ चुका है और हंस एक दो दिन का ही दिख रहा है और अभिप्राय विचित्र है। जैसे मंत्रवादी मंत्र साधना के लिये गुप्त स्थान में चला जाता है, ऐसे ही आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिये अपने आपको बिल्कुल गुप्त स्थान में जाना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! स्वरूप की प्राप्ति के लिये सबसे छुपकर रहना। परिचय जो है वह भीड़ बढ़ायेगा, साधना को विफल करायेगा। अभिप्राय को निर्मल रखना चाहते हो तो निर्मल अभिप्राय वालों के पास रहना पड़ेगा। जब तक तुम्हारा अभिप्राय निर्मल नहीं होगा और तुम दूसरों के अभिप्राय निर्मल करना चाहोगे, तो उसे अच्छा नहीं लगेगा। अभिप्राय निर्मल कराने की भावना है, तो पहले अपना अभिप्राय निर्मल करो। वैद्य जब रोगी को देखता है तो पैसे का अभिप्राय रहते हुये भी उस समय दृष्टि निर्मल रखता है। रोगी को स्वास्थ्य की दृष्टि से देखता है। उस समय पैसा उसकी दृष्टि में नहीं रहता है, तभी ठीक से उपचार कर पाता है। कफ थूकना था, महावीरकीर्ति महाराज ने हाथ बढ़ा दिया, कफ को अंजुलि में ले लिया। उनकी निस्पृहता देखो। महावीरकीर्ति जी की सेवा को देखकर आचार्य वीरसागर महाराज बोले कि हम अपना आचार्यपद आपको देते हैं। महावीरकीर्ति जी की निस्पृहता देखो, उन्होंने कहा मैं आचार्य पद लेने नहीं आया हूँ, वैयावृत्ति करने आया हूँ। आप अपने सुयोग्य शिष्य को आचार्यपद दे दो। उनके बार-बार कहने पर शिवसागर जी को आचार्य पद दे दिया। पहले संघ में मेरा-तेरा नहीं होता था, सभी साधु आते-जाते रहते थे अध्ययन के लिये। आचार्य विद्यासागर ने ब्रह्मचर्यव्रत देशभूषण महाराज से लिया था। उन्होंने अध्ययन की इच्छा की, तो उन्होंने आचार्य ज्ञानसागर जी के पास भेज दिया। मासोपवासी आचार्य सन्मतिसागर जी आचार्य महावीरकीर्ति के शिष्य नहीं, आचार्य विमलसागर जी के शिष्य थे, उन्होंने महावीरकीर्ति जी के पास अध्ययन के लिये भेज दिया था।

भो ज्ञानी! आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया, तो सब आपकी सेवा कर रहे हैं, क्योंकि

आपका पुण्य है। ये अभिप्राय मत बनाना कि पिताजी बैठे हैं, भैया क्यों नहीं आये ? हो सकता है वह बाहर की व्यवस्था कर रहे हों। तुम हीनभावना मत बनाना कि हमारे पास कौन-कौन बैठने आता है ? यानि सहानुभूति की इच्छा थी। उस सहानुभूति की इच्छा का परिणाम निकला कि वही नहीं आये। इन सबसे विमुक्त रहना। ये अभ्यास निरन्तर करना चाहिये। युद्ध नहीं होने पर भी सैनिकों का अभ्यास निरन्तर चलता रहता है। 'भगवती आराधना' में क्षपक को सैनिक कहा है। जैसे सैनिक प्रतिक्षण सजग रहता है कि कब शत्रु आक्रमण कर दे, इसी प्रकार से साधक प्रतिदिन अपने आप में सजग रहता है कि क्या मालूम आयुकर्म कब पूर्ण हो जाय ?

सल्लेखना के समय अभिप्राय को संभालना आवश्यक है। उस समय बाकी गुण गौण हो जाते हैं। विपरीत अभिप्राय नहीं होना चाहिए। ये बड़ा गहरा शत्रु है। जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित उपदेश से कोई साधु बन जाये तो धीरे-धीरे मिथ्यात्व टूटता है। बोले, अभी चर्या को नहीं निकलेंगे, क्योंकि सूर्यग्रहण लगा है, बाद में निकलेंगे। किसी की नजर न लग जाय इसलिये पिच्छी में काला धागा बांधा हुआ देखा गया है। हमने पूछा, क्यों बंधा है ? बोले, कुछ हो न जाय, इसलिये बान्धा है। हमने कहा, सम्यग्दृष्टि सप्तभय का त्यागी होता है और आपको अभी भी भय लग रहा है?

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि विपरीत अभिप्राय से रहित आत्मभाव ही निश्चय परमयोग है। अन्य संप्रदायों के तीर्थकर्त्ता के द्वारा कहे गये विपरीत अभिनिवेश हैं। दुराग्रह छूटना बड़ा कठिन होता है। आपको अपने पुण्य पर भरोसा नहीं है। यदि है, तो डर क्यों लग रहा है ? अंतरंग में भय बैठा है इसलिये आप छोड़ नहीं पा रहे हो। यदि ये देवी-देवता बिगाड़ करते ही हैं सबका, तो एक नास्तिक है वो किसी को नहीं पूज रहा है फिर भी फल-फूल रहा है। अन्य दर्शनों की दृष्टि से जैन मुनियों से बड़ा नास्तिक कौन होगा ? नहीं होगा। क्योंकि हमारे आचार्यों ने इसका डटकर खंडन किया है और कोई देवी-देवता कुछ नहीं कर पाये। देवों का इन्द्र सौधर्मइन्द्र तक देवाधिदेव के चरणों में लोटता है, उनकी सेवा करता है। सर्वार्थसिद्धि के देव भगवान का गुणगान करते हैं वहीं बैठे-बैठे। ये सबसे बड़े देव हैं, तो छोटे-मोटे देवों से तुम कहाँ परेशान हो रहे हो ? जीव के अंदर जो खोटा अभिप्राय बैठा है, वह परेशान कर रहा है। न कोई देव परेशान करता है न कोई देवी परेशान करती है। भ्रम के भूत ही परेशान करते हैं।

भो ज्ञानी ! दोषों को छोड़ने के लिये दोष खोजना एवं गुणों को ग्रहण करने के लिये गुणों को खोजना, परन्तु खोज करके उनमें लिप्त मत हो जाना। लिप्त होना मिथ्यात्व है। घृणा मत करना, द्वेष मत करना। यह नहीं कहना कि हमें मालूम नहीं था कि वो कैसे हैं। मालूम तो करना पड़ेगा, तभी आप विश्वास कर पाओगे। पहले आगम की खोज की जाती है, गुरु की खोज की जाती है, फिर श्रद्धा सौंपी जाती है। हमारी श्रद्धा कोई छोटी-मोटी नहीं है कि किसी पर भी श्रद्धा कर बैठें। यह पहला अध्यात्म ग्रन्थ है जिसमें 'जैन' शब्द आया है। न्यायग्रन्थों में तो आता है। निश्चय और व्यवहार दोनों रूप से जानना चाहिये। अध्यात्मसार में जैन की परिभाषा यह है। संपूर्ण जिन कौन है? भगवान् तीर्थंकर देव। ऐसे ही सकल परमेश्वर भगवान् तीर्थंकर स्वामी के चरणकमलों का जो उपासक है, उसका नाम जैन है। हम जिनेन्द्रदेव के उपासक हैं, इसलिये जैन हैं। जो उपासक नहीं है, वह जैन नहीं है। जो दिगम्बर गुरु का उपासक है, वो दिगम्बर है। जो दिगम्बर गुरु का उपासक नहीं है, वो दिगम्बर नहीं है।

जो परमजिन योगी अपने भाव को आत्मा से जोड़ते हैं, ऐसा उनका निजभाव ही परमयोग है। सार की बात यही है कि अपने अभिप्राय को निर्मल रखना, तभी समाधि हो पायेगी, सल्लेखना हो पायेगी।

॥ भगवान महावीर स्वामी की जय ॥

नियमसार

गाथा 140, **कलश 230-231**

उत्थानिका : परमभक्ति अधिकार का उपसंहार

गाथा : उसहादिजिणवरिंदा, एवं कादूण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहमावण्णा, तम्हा धरु जोगवरभत्तिं ॥140॥

संस्कृत छाया : वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरभक्तिम्।
निर्वृति सुखमापन्नास्तस्माद्धारय योगवरभक्तिम् ॥140॥

अन्वयार्थः (वृषभादि जिनवरेन्द्राः) वृषभादि जिनवरेन्द्र (एवं) इस प्रकार से (योगवर भक्तिम्) योग की उत्तम भक्ति (कृत्वा) करके (निवृत्ति सुखं) निर्वाण सुख को (आपन्नाः) प्राप्त हुये हैं (तस्मात्) इसलिये (योगवरभक्तिंधारय) तुम योग की उत्तम भक्ति धारण करो।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने परम भक्ति अधिकार की गाथा 139 में यह संकेत दिया कि योगी जबतक अभिप्राय की विपरीतता का विसर्जन नहीं करता तबतक निज में स्थिरता नहीं आती है। आत्मा को आत्मा से जोड़ने का यदि कोई निर्मल मार्ग है, वो अभिप्राय की निर्मलता है। जहाँ तक मेरा-तेरा का भाव है, तबतक अभिप्राय में कदाचित किंचित भी निर्मलता नहीं आ सकती है। "अहमेदं ममेदं" यह मेरे हैं और यह मेरा है, मैं ऐसा हूँ। ये परिणतियाँ जबतक रहेंगी, तबतक चर्चायें करते रहना, परन्तु परमभक्ति, परमयोग कदाचित् भी संभव नहीं है। जिन महामुनिराज की आप चर्चा कर रहे हो, उन्हें स्वयं की विक्रिया का भान नहीं था। मेरा संघ मेरा गुरु, यह कहाँ की बातें? जिस योगी को भान नहीं था कि मुझे विक्रिया ऋद्धि प्राप्त है। जब छुल्लकजी ने कहा कि आप मुनियों की रक्षा कर सकते हो। 'मैं रक्षा कर सकता हूँ?' हाँ, मेरे गुरु श्रुतसागरचन्द्राचार्य ने कहा है कि आपको विक्रिया ऋद्धि प्राप्त है। तब उनको भान हुआ कि विक्रिया ऋद्धि प्राप्त है। ये परमभक्ति का फल था। यह आवश्यक नहीं है कि जिनको विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो चुकी है उन्हें ज्ञान ही हो, क्योंकि उनका उपयोग तो स्वयं में था। विक्रिया एक ऋद्धि है, जो आत्मतत्त्व से आती है। इससे मोक्ष में कोई प्रयोजन नहीं है। ये विशेष तपस्या का प्रतिफल है। मुक्ति किसी ऋद्धि से नहीं, रत्नत्रय से होती है, इसलिये ऋद्धियों के पीछे मत पड़ना।

निर्ग्रन्थ योगी को अनेक ऋद्धियाँ स्वयं आ जाया करती हैं, योगी की साधना तो मात्र स्वात्मोपलब्धि की सिद्धि के लिये होती है, ऋद्धियों के लिये साधना नहीं है।

आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि जबतक अभिप्राय में निर्मलता नहीं आयेगी, तबतक संयम निर्दोष नहीं पलेगा और जहाँ संयम निर्दोष नहीं होगा, वहाँ निश्चय भक्ति और निश्चययोग कहाँ संभव है?

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुखारविंदव्यक्तेषु भव्यजनताभवघातकेषु।
त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः ॥कलश 230॥

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के माध्यम से कह रहे हैं कि जो जैनमुनियों के नाथ हैं गणधर परमेष्ठी, तीर्थंकरदेव के मुखकमल से निर्गत जो वाणी है, वो उनके द्वारा गुंथित की गई है। ग्रन्थों के माध्यम से उसी का अंश आज उपलब्ध है, जो भव्य जीवों के भव का घात करनेवाली है, संसार का नाश करनेवाली है। सभी जीवों का नहीं, क्योंकि जीव तो अनंत हैं। मात्र भव्य जीवों का। जो भव्य हैं, उनके लिये ही भगवान् हैं। अभव्यों के लिये तो भगवान् होते ही नहीं हैं। अभव्यों के कुलदेवता हो सकते हैं, परम्परागत देवता हो सकते हैं, लेकिन भगवान तो वास्तव में भव्यों के लिये ही होते हैं। जिसकी भवितव्यता निर्मल नहीं होती है, उसके लिये भगवान होते ही नहीं है।

भो ज्ञानी! ये तत्त्व भव का नाश तभी करायेंगे जब अभिप्राय निर्मल होगा। जबतक खोटा अभिप्राय है, तबतक साक्षात् जिनदेव भी तुम्हारे भव का घात नहीं करा सकते। साक्षात् तीर्थंकरदेव भी तुम्हें नहीं समझा पायेंगे यदि स्वयं के अंदर का भाव निर्मल नहीं है तो। इसलिये आचार्य महाराज कह रहे हैं कि दुराग्रह को छोड़ दो। जो मिल रहा है, पुण्य से मिल रहा है। जो जा रहा है, सब पाप से जा रहा है। न कोई कुछ दे पायेगा, न कोई कुछ आपसे ले पायेगा। जीव में यह अभिप्राय बैठा होता है कि हम ऐसा नहीं करेंगे तो कहीं कुछ बिगड़ न जाय। नास्तिक लोग तो कभी नमस्कार नहीं करते किसी को, उनका कुछ भी नहीं बिगड़ता है, क्योंकि उनके पास पुण्य रखा है। यदि स्वयं की परिणति निर्मल होती है, तो कोई कुछ नहीं कर सकता। जिस दिन पुण्य क्षीण हो जाता है, तो घर में ही फिसलकर पाँव टूट जाता है। इसलिये अंदर में जो खोटा अभिप्राय बैठा है, उसको निकालना जरूरी है।

तीर्थंकर अरहन्तदेव कह रहे हैं कि तुम्हारे अंतरंग में कषाय की अल्प कणिका भी रही तो भव का घात नहीं होगा, भव का बन्ध होगा। ऐसे निज भावरूप जो परिणाम है, वही योग

है। आचार्य आपको योगी का भेष देंगे, पर अभिप्राय तो आपको स्वयं बदलना होगा, क्योंकि वे अभिप्राय नहीं बदलेंगे। अपना अभिप्राय निर्मल रखोगे तो योगी बन जाओगे। यह परम पुरुषार्थ है, यही धर्म पुरुषार्थ है। यही मोक्षपुरुषार्थ की सिद्धि करायेगा। इसलिये जगह-जगह एक ही बात है कि दुराग्रह छोड़ो, हठाग्रह छोड़ो, कुअभिप्राय छोड़ो क्योंकि ये मोक्ष के साधन नहीं हैं। न मंडल साधन है, न कमंडलु साधन है। मोक्ष का साधन तो रत्नत्रय की निर्मलता है। मंडल-कमंडलु से मोक्ष नहीं होगा, मोक्ष तो अभिप्राय की निर्मलता से होगा। ये साधना के साधन तो हो सकते हैं, पर साध्य की सिद्धि तो साधना से होगी। यदि साध्य को साधन कहोगे तो अरहंत केवली को भी पिच्छि-कमंडलु लेना पड़ेगा। जबतक कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती है, तबतक पिच्छी-कमण्डलु आपकी साधना के साधन हैं। रखना ही चाहिये, रखना ही पड़ेगा। बिना पिच्छि-कमंडलु के मोक्ष नहीं होगा, लेकिन पिच्छि-कमंडलु मात्र से भी मोक्ष नहीं होगा। ये तो साधना के साधन हैं, पर साधना का साध्य तो परिणामों की निर्मलता है, अभिप्राय की निर्मलता है। यदि अभिप्राय खोटा बैठा है तो तपस्या करके भी जीव नरक-निगोद में चला जाता है। इसलिये पहले अभिप्राय को बदलो।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी परमभक्ति अधिकार का उपसंहार करते हुये कह रहे हैं कि वृषभादि जिनवर भी इस प्रकार से योग की उत्तम भक्ति करके निर्वाण सुख को प्राप्त हुये हैं। बिना भक्ति के भगवान् बनना संभव नहीं है। जब तीर्थंकर भी भक्ति करके भगवान् बने हैं, तो तुम बिना भक्ति के भगवान् कैसे बन पाओगे? ये सत्य है कि इसे कोई टाल नहीं सकता है। भक्त ही भगवान् बनेगा। क्योंकि जो पहले भेदभक्ति करेगा, फिर अभेदभक्ति करेगा, वही भगवान् बनेगा। परमयोगभक्ति निश्चयनय से और व्यवहारनय से पंचपरमेष्ठी की भक्ति, ऐसा जो निर्वाणमार्ग है, उसको प्राप्त हो सकते हो। इसलिये श्रेष्ठ योगभक्ति को धारण करो यदि आप मोक्ष प्राप्त करना चाहते हो तो। वृषभादि तीर्थंकरों ने भी पूर्व में योगभक्ति की थी, उससे वे मुक्ति को प्राप्त हुये हैं।

भो ज्ञानी! श्रद्धा के अभाव में भक्ति होती नहीं है। श्रद्धा का प्रेक्टीकल रूप भक्ति है। सम्यक् के प्रगटीकरण का कोई मार्ग है तो उसका नाम भक्ति है, वो दिखती है। जब तू योगी बनके बैठेगा तो लोग आकर देखेंगे। न साधना छिपती है न विराधना छिपती है। छुपाने वाले छुपाने का प्रयास जरूर करते हैं। विष्णुकुमार महाराज एकांत में धरणाधर पर्वत पर साधना कर रहे थे। पर छुपा पाये क्या? विक्रिया ऋद्धि की प्राप्ति प्रकट हो गई। कोई व्यक्ति गर्भाध

ान तो कोई एकान्त में करता है, छुपके ही करता है, लेकिन उदर को कहाँ छुपाने जाओगे? कभी-न-कभी संतान तो होगी। पुण्य पाप भले ही एकान्त में कर लो, लेकिन फल तो आयेगा, वो छुपनेवाला नहीं है। कोई छुपा नहीं सकता है। कोई कहे कि हम एकान्त में साध ाना करेंगे, तो यदि वास्तव में साधना हुई, तो जिस दिन कैवल्य होगा, तीनों लोक में पता लग जायेगा कि तुमने क्या किया है। मनुष्य क्या, देव भी जान जायेंगे, बाजे बजेंगे। यदि पाप का संचय कर लिया, तो सातवें नरक तक पहुँच सकते हो। इसलिये आज से यह भूल जाओ कि हम तो छुपकरके अपना काम कर लेंगे, परन्तु काम न स्वयं से छिपता है न पर से छिपता है। बुंदेलखण्ड में एक कहावत है 'पाप मगरे पे चिल्लाता है'।

भो ज्ञानी! जब व्यक्ति कोई कार्य करता है, उसको अंदर रख पाना बड़ा कठिन होता है। वह दूसरे से कहकर अपना बोझ हल्का कर लेता है। दूसरा अपना बोझ हल्का करने तीसरे से कह देता है। जैसे ढलान में आप पानी भर दो तो उसको रोककर रखना कठिन होता है, वैसे ही मानव-मन भी ढलान के समान है। न अच्छे को रोक पाता है न बुरे को रोक पाता है। तीर्थंकर अपनी पुण्यप्रकृति छुपा पाये क्या? जब सोलहकारण भावना भा रहे थे, उस समय अकेले बैठे थे, तब किसी को पता नहीं था कि क्या कर रहे हैं, क्योंकि वो अन्दर की दशा थी। जब तीर्थंकरप्रकृति उदय में आयी, तो तीनलोक को ज्ञात हो गया, नरक के नारकियों को भी एक क्षण के लिये शांति मिल गई। इसलिये आप ध्यान रखना, छुपाना चाहकर भी नहीं छुपा पाओगे। कर्मसिद्धान्त कह रहा है कि ऐसा कोई कर्म नहीं है जिसका प्रकाशन न हो।

भो ज्ञानी! कितना भी मजबूत घर बनवा लो, एक-न-एक दिन वो टूटेगा ही। ऐसे ही जीव गाढ़कर्म का बन्ध कर लेता है, वह समय पर उदय में आता है। कोई मकान गिराने के उद्देश्य से नहीं बनाता है, ऐसे ही जीव तीव्र मोह के कारण कर्मनाश के लिये कभी भी कर्मबन्ध नहीं करता। कर्म तो उदय में आयेंगे ही। इसलिये ऐसा काम क्यों करो कि उदय में आये?

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव टीका में कह रहे हैं कि इस भारतदेश में पहले ऋषभदेव से लेकर अंतिम श्री वर्द्धमान स्वामी तक जो चौबीस तीथंकर हुये हैं, वे सब परमदेव, सर्वज्ञ, वीतरागी थे। उनकी कीर्ति तीनों लोक में व्याप्त है। ऐसे सभी देवाधिदेव परमेश्वर अपनी आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाली शुद्ध निश्चय योग की उत्तम भक्ति को करके हुये हैं। उन देवाधि

दिव को देवों का इंद्र सौधर्म-इंद्र भी पूजता है, चरणों में पड़ा रहता है। सर्वार्थसिद्धि के देव भी अपने स्थान से स्तुति करते हैं, पूजते हैं। इसलिये भैया! आपको यदि पूजना है तो देवाधिदेव को पूजो, जो तीनभुवन के नाथ हैं, जिनके चरणों के समस्त लोक झुकता है। ध्यान रखना, न धरणेन्द्र काम आयेंगे, न पद्मावती काम में आयेंगी, न क्षेत्रपाल आदि कोई काम आयेंगे। काम में एक आयेगा, वो शुद्ध निजआत्मा अथवा पंचपरम गुरु। जो लौकिक सिद्धियों के पीछे घूमते हैं, वे सिद्धियाँ भी आपके पास नहीं रहेंगी।

आचार्यभगवान् ने तीनलोक द्वारा वंदनीय देवाधिदेव नहीं लिखा, महादेवाधिदेव लिखा। ये आचार्य नहीं बोल रहे हैं, उनकी भक्ति बोल रही है। जब अंतरंग में विशुद्धि हो, उसके प्रति आस्था हो, तो उपमा के शब्द आते हैं। विशुद्धि के अभाव में शब्द नहीं निकलते। आप कितने भी बड़े साहित्यकार हो, जिसके प्रति बोलना है यदि उसके प्रति आस्था नहीं है, तो भाव नहीं बनते, शब्द उपमायें नहीं निकलती। स्तुति/वंदना तभी होती है, जब श्रद्धा होती है। श्रद्धा नहीं होती तो जय बोलके बैठ जाता है, उसके मुख में शब्द नहीं आते। लिखना चाहो तो कलम नहीं चलती। ये आचार्यमहाराज नहीं बोल रहे हैं, उनकी श्रद्धा बोल रही है। ऐसे महादेवाधिदेव परमेश्वर की शुद्ध निश्चय श्रेष्ठ भक्ति करके अति पुष्ट स्तनवाली परम निर्वाणवधू के गाढ़ आलिंगन को प्राप्त करते हैं, जिससे कि वे आत्मा के सर्वप्रदेशों में अतिशय आनन्दरूप परमसुधारस का पान करके परितृप्त होते हैं, संपूर्ण संतुष्टि को प्राप्त होते हैं। इसलिये आप सब भी भव्यता का जो गुण है, जो स्वात्मा के प्रयोजनभूत वीतराग सुख का प्रदान करने वाली योगभक्ति है, उसे करो। यह आदेश है, लोट-लकार है। ये विधिलिंग नहीं है, क्योंकि विधिलिंग में 'करना चाहिये' होता है। 'योगभक्ति करो' आदेशित कर रहे हैं। तभी आप मुक्तिवधू के वल्लभ बन पाओगे। बिना योगभक्ति के कुंवारे ही बने रहोगे।

आचार्यमहाराज इस अधिकार को समेटते हुये कलशों में कह रहे हैं।

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरून् त्रैलौक्यपुण्योत्करान्
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटि विलसन्माणिक्यमालार्चितान्
पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशाङ्ना संहतेः
शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे॥कलश 231॥

श्री नाभिराज के पुत्र को आदि करके ऐसे 24 जिनेश्वर तीर्थंकर भगवान्, अनंतगुणों के धारक होने से, त्रिभुवन के गुरु कहलाते हैं। विश्व में गुरु तो बहुत बनना चाहते हैं, पर तुम

गुणगुरु बनो। गुरु बनने के पहले चेला अवश्य बनना, जैसे छात्र को पढ़ाने के पहले स्वयं पढ़ना अनिवार्य है। गुरुपद प्राप्ति के पूर्व गुरुता अनिवार्य है, अन्यथा आप चेलों को तो जोड़ लोगे, लेकिन सँभालके नहीं रख पाओगे। एक तीर्थंकर के समवसरण में हजारों लाखों चेले होते हैं। वहाँ कोई यह नहीं कहता है कि इतनी सारी दीक्षा दे दोगे तो क्या होगा? आहार के लिये दीक्षा नहीं दी जाती है। आहार तो मिल जाता है। दीक्षा तो आत्मकल्याण के लिये होती है। तीर्थंकर महावीर के 14000 शिष्य मुनिराज थे, उनकी व्यवस्था हुयी कि नहीं हुयी? इसलिये कभी यह मत सोचना कि क्या होगा?

'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' में लिखा है कि संख्या के पीछे दीक्षा को मना करोगे तो दण्ड के अधिकारी हो। किसी को संयम धारण करने से न रोकें, संयम में जरूर लगायें। तीन कम नौ करोड़ मुनिराजों की जो संख्या है, वह भावलिंगी मुनिराजों की है, इसमें मात्र द्रव्यलिंगी शामिल नहीं हैं। जहाँ परिग्रह की बात होती है, वहाँ पाँचों पाप सामने बैठ जाते हैं। 'अष्टपाहुड' में लिखा है कि तिल तुष मात्र भी परद्रव्य का संयोग रखोगे तो निगोद का स्वामी बनना पड़ेगा। बाहर द्रव्य न हो और अंतरंग में भी हो, तो भी।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो त्रिभुवन के गुरु हैं, गुरुओं के भी गुरु हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान्, तीनलोक में जितना भी पुण्य है उसके पुंजस्वरूप हैं। देवेन्द्रगण जो रत्नखचित मुकुटों के धारी हैं, उनके चरणों में सिर झुकाकर नमस्कार करते हैं। सौधर्म इन्द्र, सभी इन्द्र और इंद्राणियों के साथ मिलकर भगवान् के जन्मकल्याणक आदि में महामहोत्सव करता है। ऐसे तीर्थंकर भगवन्त तीनों जगत् के भव्य जीवों के द्वारा स्तुति को प्राप्त होते हैं। जो योगी भक्ति करते हैं, वे तीर्थंकर-जैसे पद को प्राप्त होते हैं। आप को यदि पूजना है तो देवाधिदेव को पूजो, जो तीनभुवन के नाथ हैं, जिसके चरणों में समस्त लोक झुकता है। ध्यान रखना, धरणेन्द्र काम नहीं आयेंगे। काम में एक आयेगा, वो शुद्ध निज आत्मा अथवा पंचपरमगुरु। जो लौकिक सिद्धियों के पीछे घूमते हैं वे सिद्धियाँ भी आपके पास नहीं रहेंगी।

॥ भगवान महावीर स्वामी की जय॥

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने 'नियमसार' के परमभक्ति अधिकार के अन्तर्गत यह संकेत दिया कि प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी पर्यंत चौबीस तीर्थंकरों ने परमयोगभक्ति का आलम्बन लिया, तभी वे सिद्धि को प्राप्त हुये हैं। जब तीर्थंकर-जैसी आत्मा ने योगभक्ति को स्वीकार किया है तब कहीं सुगति को प्राप्त हुये हैं। सामान्यजन तो इसके बिना सुगति प्राप्त करने की अपेक्षा कर ही नहीं सकता है। शक्ति कितनी भी छिपी हो, सत्ता में हो, लेकिन योग के अभाव में अभिव्यक्ति नहीं होगी। किसी भी काल में किसी भी देश में किसी भी क्षेत्र में योग के अभाव में मुक्ति नहीं होती। जब भी मुक्ति होगी, योग को स्वीकार करके ही होगी।

भो ज्ञानी! द्रव्य योग के अभाव में भावयोग नहीं बनेगा, इसे सुनिश्चित मानें। निश्चय चारित्र व्यवहार चारित्र से ही होता है। जहाँ द्रव्य होगा, वहाँ भाव होगा। आत्मा में आत्मा को निरन्तर जोड़ना, इसका नाम योगभक्ति है। यह निश्चय से मुनीश्वरों के ही होती है। श्रावक उस परम भक्ति का उपासक है। उसकी जो योगभक्ति है, वो वास्तव में व्यवहारनय से योगियों की पंचपरमेष्ठी की भक्ति है।

वृषभादिवीरपश्चिमजिनपतयोऽप्येवमुक्तमार्गेण।
कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधूटिकासुखं यान्ति॥कलश 232॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि वृषभदेव से महावीर पर्यंत, इन्होंने योगभक्ति करके मोक्षवधू का सुख प्राप्त किया है। जबतक भक्ति नहीं की, तबतक भगवान् नहीं बने। जो यह कहें कि भक्त नहीं भगवान् बनेंगे, वो 'नियमसार' के विपरीत कथन हैं। निश्चय-योगभक्ति-पूर्वक ही निर्वाण को प्राप्त हुये हैं। निश्चयभक्ति व्यवहारपूर्वक होती है। हम जो व्यवहारभक्ति कर रहे हैं, पंचपरमेष्ठी की भक्ति कर रहे हैं, इसका उद्देश्य रत्नत्रय की प्राप्ति मात्र है। व्यवहारभक्ति का अर्थ यह नहीं है कि मुझको पुत्र हो जाये, दुकान अच्छी चलने लगे, मकान बन जाये। ये कोई उद्देश्य नहीं है। जब तू शिखर जी जायेगा, तो ईसरी मार्ग में पड़ेगा। ऐसे ही जब तू मोक्ष जायेगा, तो स्वर्ग की विभूतियाँ बीच में मिल ही जायेंगी। इसलिये रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये भक्ति करो।

अपुनर्भवसुखसिद्ध्यै कुर्वेऽहं शुद्धयोगवरभक्तिम्।
संसारघोरभीत्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम्॥कलश 233॥

आचार्यभगवान् करुणापूर्वक कह रहे हैं, प्राणियो! जिससे संसार में पुन: जन्म-मरण न हो, ऐसे अपुनर्भव के सुख की सिद्धि के लिये मैं शुद्ध योग की उत्तम भक्ति को करता हूँ। संसार के घोर दु:खों से भयभीत होकर, सभी प्राणियो! तुम नित्य ही उस भक्ति को करो। आज्ञा दे रहे हैं। मुनीश्वरों को तो होगी, परन्तु सामान्य जीवों से भी कहा जा रहा है कि आप भी वैसा प्रयास करो जिससे कि आप रत्नत्रय को प्राप्त करके भक्ति को प्राप्त हो जाओ। भावनात्मक भक्ति जबतक आप नहीं करोगे, तो भावभक्ति कब आयेगी? वही सम्यग्दृष्टि श्रावक होता है जो प्रतिक्षण रत्नत्रय प्राप्ति की भावना भाता है। यदि रत्नत्रय की भावना श्रावक के अन्दर नहीं आ रही है, तो वह श्रावक नहीं है। योगी जो है, वह स्वरूप में निमग्न है और श्रावक जो है, स्वरूप की प्राप्ति की निमग्नता का लक्ष्य बनाके आराधना करता है। एक साक्षात् अनुभव करता है और दूसरा परोक्षरूप से सारी बात जान रहा है। गृहस्थ शुद्धयोगभक्ति या शुद्ध उपयोग का लक्ष्य लेकर उसकी प्राप्ति की अनुभूति करता है कि वो उसे प्राप्त कैसे हो? गृहस्थ/श्रावक ज्ञानात्मक वेदन करता है और योगी अनुभवरूप वेदन करता है। दोनों के स्वसंवेदन में अंतर है। एक का संवेदन स्वानुभवरूप है और दूसरे का संवेदन ऐसा कि स्वयं अनुभव तो कर रहा है, लेकिन परोक्ष रूप से कर रहा है।

भो ज्ञानी! देशसंयम देशानुभव नहीं है क्योंकि उससे आत्मा की अखण्डता पर प्रश्नचिह्न लगता है। जब भी अनुभव होगा, सर्वदेशी ही होगा, चाहे जैसा हो। जब पैर में काँटा चुभता है तो सर्वांग में एकदम पीड़ा होती है। 'पंचास्तिकाय' में कहा है कि एक व्यक्ति अंग विशेष से अंगना का स्पर्श करता है, परन्तु संपूर्ण शरीर रोमांचित होता है। इसी प्रकार से आत्मानुभूति खंड-खंड नहीं है, सर्वांग ही होती है, सर्वांगीण होती है। श्रावक को जो अनुभव हो रहा है, वह शुभोपयोग की अनुभूति है और साधक को जो अनुभव हो रहा है, वह शुद्धोपयोग रूप अनुभूति है। 'प्रवचनसार' में प्रश्न किया है, क्या योग शुभोपयोग में नहीं आता? क्या योगी शुभोपयोग में नहीं आता? बोले, आता तो है, लेकिन शुभोपयोग का काल अल्प होने से उसे शुद्धोपयोग ही कह दिया है। ऐसा 'प्रवचनसार' में कथन किया है। लेकिन शुभोपयोग शुभोपयोग ही है और शुद्धोपयोग शुद्धोपयोग ही है। किसी भी आगमग्रन्थ में शुद्धोपयोग को एकदेश एवं सर्वदेश नहीं लिखा है। आप ऐसा कह सकते हैं कि शुद्धोपयोग की प्रधानता योगियों की है और शुभोपयोग की प्रधानता श्रावकों की है। शुद्धोपयोग का लक्ष्य श्रावकों का भी होता है।

वृहद् द्रव्यसंग्रह और परमात्मप्रकाश में इन शब्दों का प्रयोग है। उन श्रावकों के परम शुद्धोपयोग था, वो परोक्षानुभूत था। उनको शुद्धोपयोग की प्राप्ति का लक्ष्य था इसलिए शुद्धोपयोग कहा है, लेकिन वास्तव में शुद्धोपयोग तो परम संयमियों के ही होता है। राम, पाण्डव आदि की गृहस्थ-अवस्था में शुद्धोपयोग की भावना थी।

भो ज्ञानी! वास्तव में वो ही शुभोपयोग है जहाँ शुद्धोपयोग का लक्ष्य है। परोक्ष शुद्धोपयोग का मतलब भावनात्मक शुद्धोपयोग है। लेकिन परोक्ष का अर्थ ही होता है कि वास्तव में नहीं है। तीर्थंकर भगवान के गृह-अवस्था में शुभोपयोग ही होता है, शुद्धोपयोग नहीं होता है। एक बगीचे में आम के बहुत वृक्ष हैं और थोड़े से नीम के वृक्ष हैं, लेकिन उसको आम का बगीचा ही कहा जाता है। ऐसे ही मुनियों के शुद्धोपयोग तो होता है, कदाचित् उनको शुभोपयोग भी होता है, लेकिन शुद्धोपयोग कहा जाता है। गृहस्थों को प्रधानता से शुभोपयोग होता है। नीम वृक्ष की प्रधानता होने से, आम के कुछ वृक्ष रहने पर भी नीम का बगीचा ही कहलाता है।

'प्रवचनसार' में जयसेन स्वामी लिखते हैं–

प्रथमगुणस्थान से तृतीयगुणस्थान पर्यन्त तारतम्य से अशुभ उपयोग, चतुर्थ गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक तारतम्य से शुभ उपयोग, सप्तम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक तारतम्य से शुद्ध उपयोग। तेरहवाँ, चौदहवाँ अरहन्त एवं सिद्ध अवस्था, यह शुद्धोपयोग का फल है।

निर्विकल्प जो ध्यान है वो यतीश्वरों के ही होता है। कैसे यतीश्वर? जो बाह्य व्यापार से मुक्त हैं, जो निर्ग्रन्थ हैं, जिनलिंगी हैं, उनके ही निर्विकल्प दशा घटित होती है। 'अष्ट पाहुड' के टीकाकार आचार्य श्रुतसागर सूरि ने लिखा है कि जैसे मेढकों के टर्राने से बादल नहीं बरसते हैं, बादल तो मौसम आने पर ही बरसते हैं, ऐसे ही श्रावकों के अपने आपको शुद्धोपयोग मानने से शुद्धोपयोग नहीं होता है। शुद्धोपयोग यतीश्वरों के ही होता है। वो श्रावक मिथ्यादृष्टि है जो अपने आपको स्वरूपाचरण मानता है, निर्विकल्प ध्यान मानता है, निश्चय समाधि मानता है। उन्होंने उस श्रावक को मिथ्यादृष्टि लिखा है जो शुद्धोपयोग मानता है।

'समयसार' में सम्यग्दृष्टि शब्द है, गुणस्थान शब्द नहीं है। लोगों ने सम्यग्दृष्टि शब्द पढ़कर चतुर्थगुणस्थान लगा लिया; जबकि 'समयसार' का जो सम्यग्दृष्टि है, वह निश्चय

सम्यग्दृष्टि है। समयसार की छठवीं कारिका समझ लो तो पूरा समयसार स्पष्ट हो जायेगा। यह कारिका शुद्ध ज्ञायकभाव की बात करती है, श्रावक शब्द नहीं दिया है।

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णओ जो सोउ सो चेव॥6 स.सार॥

मैं प्रमत्त नहीं हूँ, मैं अप्रमत्त नहीं हूँ। मैं तो ज्ञायकस्वभावी हूँ। जो हूँ, वही हूँ। वहाँ श्रावक का विकल्प नहीं है। वहाँ तो साधु से कहा जा रहा है कि हे योगी! मैं अमुक गुणस्थान वाला हूँ, ये भी विकल्प मत लाओ। पुनः साधु को समझा रहे हैं कि हे मुनि! कहीं तू ये मत सोच लेना कि मैं मुनि बन गया तो मोक्ष चला जाऊँगा। वहाँ ये जरूर लिखा है कि पाखण्डी लिंग मोक्ष का हेतु नहीं है। पाखंडी लिंग यानि मुनिवेश। इनमें जो भावात्मक साधना है, वो मोक्ष का हेतु है; लेकिन भावात्मक साधना तभी बनेगी, जब तेरे पास दोनों लिंग होंगे। लिंगों का खंडन करने का उद्देश्य लिंग का अभाव करना नहीं था। कहीं लिंगों में राग न लग जाये, चिह्नों में राग न लग जाये, इसलिए वहाँ लिख दिया। अब आप चिह्नों में मत जाओ, आप लांछन को मत देखो, लक्ष्य को देखो। लक्ष्य यानि शिवत्व। इसलिए स्पष्ट समझना कि निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि तो परमयोगी दशा में ही होगी।

'नियमसार' की कारिका 102 में जो लिखा है ''एको मे सासदो अप्पा'' इस कारिका को लेकर पूज्यपाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' में लिखा है ''ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।'' एक शाश्वत जो आत्मा है, वो परद्रव्यों से पृथक् है, वह ज्ञानी योगियों के गोचर है। ज्ञानी और योगियों के गोचर है, ऐसा अर्थ मत लगाना, क्योंकि ज्ञानी और योगी अलग नहीं है।

भैया! लोक में जो व्यायाम करते हैं, ध्यान लगाते हैं, आसन लगाते हैं, वे अपने आपको योगी कहते हैं। यहाँ योगाश्रम चलानेवाले योगियों की चर्चा नहीं है। जो आत्म-योग में लीन हैं, उन योगियों की चर्चा है। आँख बन्द करो, खोलो, नाक बंद करो, श्वास मुँह से निकालो, इन शारीरिक क्रियाओं में इनने आत्मा खोज ली। भैया! इससे शरीर तो स्वस्थ रहेगा, लेकिन आत्मा स्वस्थ नहीं होगी। प्राणायाम, सूर्यनाड़ी, चन्द्रनाड़ी, कुम्भक, रेचक, पूरक, धारणा ये सारी-की-सारी क्रियायें शरीर के लिए हैं, आत्मा के लिये नहीं हैं। जब इन क्रियाओं से शरीर थक जाता है तो आराम करने पर

शांति अनुभूत होती है, उसी को आत्मानुभूति इन्होंने मान लिया है। आचार्य योगिन्दुदेव ने 'परमात्मप्रकाश' में लिखा है कि योगी को आयाम, व्यायाम, प्राणायाम आदि कुछ नहीं अच्छा लगता है। आपकी साधना ही योग है, अलग से कुछ योग की कोई आवश्यकता नहीं है।

रागद्वेषपरंपरा परिणतं चेतो विहायाधुना
शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वस्थितः।
धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोःसन्निधौ
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परंब्रह्मणि॥234 कलश॥

आचार्यभगवन् कह रहे हैं राग-द्वेष की परम्परा से युक्त जो मेरी आत्मा की अवस्था है, उसे मैं आज छोड़ करके और शुद्धध्यान से युक्त होकरके अपने मन को आनंद सहित आत्मतत्त्व में स्थित करता हूँ; क्योंकि लोक में यदि कोई निर्मल सुख देने वाला है तो धर्म ही है। भैया! दुनियाँ में कहीं चले जाना, कहीं भी सुख नहीं है। यदि कहीं सुख है, तो धर्म ही निर्मल सुख को करनेवाला है। ऐसे धर्म को गुरु के सान्निध्य में प्राप्त करना, क्योंकि गुरु के सान्निध्य के बिना सच्चे धर्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, समझ में नहीं आता है। जहाँ आत्मा को शुद्ध कहा, वहाँ निश्चयनय है। किसी भी आचार्यभगवन् ने गुरु को अलग नहीं किया, क्योंकि उनको भान है कि गुरु के अभाव में मात्र ग्रन्थों से शुद्ध निर्मल ज्ञान संभव नहीं है। गुरु की साक्षी में ज्ञान की उपासना करके, समस्त मोह की महिमा को नष्ट करके, मैं अपने परमब्रह्म में लीन होता हूँ। जब तक गुरु का सान्निध्य नहीं होगा, मोह का विगलन नहीं होगा और राग-द्वेष नहीं छूटेगा, तब तक परमब्रह्म में लीनता नहीं आयेगी।

भैया! तत्त्व का ज्ञान होना और तत्त्व की अनुभूति होना, दोनों भिन्न विषय हैं। तत्त्व-ज्ञाता तो बहुत हैं। वे ऐसा व्याख्यान करेंगे कि आप झूम जाओगे। लेकिन अनुभूति का विषय भिन्न है। वह वस्तु कुछ-और है। वो शब्द से अगोचर है। इसलिए परमब्रह्म में लीन होना चाहते हो तो आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि उस अवस्था को प्राप्त करो।

निर्वृतेन्द्रियलौल्यानां तत्त्वलोलुपचेतसाम्।
सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम्॥235 कलश॥

जब इंद्रियों की लोलुपता से निवृत्ति होगी, तभी तत्त्व की लोलुपता चित्त में बढ़ेगी;

इसलिए इंद्रियों की लोलुपता छोड़ो। जो साधु इंद्रियों की लोलुपता को छोड़ देता है, समाप्त कर देता है, उसका चित्त तत्त्व में लोलुप हो जाता है, उसे सुन्दर आनंद को देने वाला उत्तम तत्त्व प्राप्त हो जाता है।

अत्यपूर्व निजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे।
यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे॥ 236 कलश॥

निज आत्मा से उत्पन्न हुआ जो अत्यन्त अपूर्व सुख है, वह यतिगणों को यत्न से प्राप्त होता है, वे ही जीवनमुक्त हैं, अन्य मुक्त नहीं होते हैं।

अद्वन्द्वनिष्ठमनघं परमात्मतत्त्वं संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम्।
किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थै र्मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य॥237 कलश॥

आचार्यभगवन् इस अधिकार के अंतिम कलश में कह रहे हैं कि जो निर्द्वन्द्व हैं, जिन्होंने राग-द्वेष के द्वंद्व को, कामादि विकारों के द्वन्द्व को नष्ट कर दिया है, पाप से रहित हैं, निर्दोष हैं, ऐसा परम तत्त्व उसी की भावना भाता हूँ। मैं एकमात्र एक हूँ। यहाँ वह जो फल है, उस निजात्म तत्त्व से भिन्न अन्य पदार्थों में वो फल नहीं है। मुक्ति के सुख को प्राप्त करना चाहते हो तो भवसुखों से निस्पृह हो जाओ, वैराग्य धारण कर लो और मुक्तिसुख में राग धारण कर लो। जब तक भवसुख से निस्पृह नहीं होगे, तब तक मुक्तिसुख प्राप्त नहीं होगा। जो भवसुख से निस्पृही है, वही मुक्तिसुख को प्राप्त कर सकता है।

इस अधिकार में पहले व्यवहार भक्ति की मुख्यता से कथन किया और कहा कि पहले से ग्यारह प्रतिमाधारक रत्नत्रय की भक्ति कर सकते हैं। फिर निश्चय भक्ति की प्रधानता से निर्वाण भक्ति और योग भक्ति को बताया एवं उस भक्ति का फल परम आनंद देने वाला निर्वाण सुख कहा। इस प्रकार सुकविजन रूपी कमलों के लिए सूर्य के समान, पंचेंद्रिय के प्रसार से रहित, गात्र मात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा विरचित 'नियमसार' की तात्पर्यवृत्ति टीका में परम भक्ति अधिकार नामक दशवाँ श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ।

॥ भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

गाथा 141, 142 **कलश 238-239**

निश्चय परम आवश्यक अधिकार (11)

उत्थानिका : व्यवहार षट् आवश्यक से प्रतिपक्ष शुद्ध निश्चय अधिकार का कथन

गाथा : जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो, णिव्वुदिमग्गो त्ति पण्णत्तो ॥141॥

संस्कृत छाया : यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यकम्।
कर्मविनाशनयोगो निवृत्तिमार्ग इति प्ररूपितः ॥141॥

अन्वयार्थः (यः अन्यवशः न भवति) जो अन्य के वश नहीं है (तस्य तु कर्म आवश्यकं) उसकी क्रिया को आवश्यक कर्म (भणंति) ऐसा कहते हैं क्योंकि (कर्म विनाशनयोगः) कर्म का विनाश करने वाला योग (निर्वृत्तिमार्गः) मोक्ष का मार्ग है (इति प्ररूपितः) ऐसा कहा गया है।

गाथा : ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं त्ति बोद्धव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती ॥42॥

संस्कृत छाया : न वशो अवशः अवशस्य कर्म वाऽवश्यकमिति बोद्धव्यम्
युक्तिरिति उपाय इति च निरवयवो भवति निरुक्तिः ॥42॥

अन्वयार्थः (न वशः अवशः) जो अन्य के वश में नहीं है, वह अवश है (अवशस्य कर्म वा आवश्यकं) और जो अवश का कर्म है, वह आवश्यक है (इतिबोद्धव्यम्) ऐसा जानना चाहिए (युक्तिः इति उपायः इति) वही युक्ति है और वही उपाय है (निरवयवः भवति) उससे जीव निरवयव (शरीर से रहित) हो जाता है (निरूपितः) ऐसी निरूपित है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! नियमसार ग्रंथ में व्यवहारनय के आश्रित छह आवश्यकों के विरुद्ध परम निश्चय आवश्यक अधिकार में आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द देव गाथा संख्या 141 में यह संकेत दे रहे हैं कि जो क्रिया आवश्यक होती है, उसे आवश्यक की क्रिया कहते हैं। जिसमें कोई हेतुओं की चर्चा नहीं होती है, अनिवार्य है। जिसके अभाव में मूलगुण व उत्तरगुण दोनों ही नहीं पलते, वह षट् आवश्यक क्रिया है। आवश्यक का जहाँ अभाव है, वहाँ मूलगुणों का अभाव है और जहाँ मूलगुणों का अभाव है, वहाँ साधुता का अभाव है। इसलिए आचार्य महाराज कह रहे हैं—प्रत्येक काल में प्रत्येक क्रिया यथातथ्य, जैसी है वैसी ही करना। जिस

क्रिया का जो समय है उस समय में वह निश्चित होना ही है, वह आवश्यक क्रिया है। जो दूसरे के वश नहीं है, वह अवश है, उसका नाम आवश्यक की क्रिया है। इस प्रकार से उस आवश्यक की क्रिया को ही आवश्यक समझना और यह आवश्यक ही कर्मों के नाश करने में समर्थ, मोक्ष का मार्ग जानना चाहिए।

ऐसा ही आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने कलश में कहा है—

'आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्द प्रसरसरसज्ज्ञानतत्त्वे निलीनम्।
प्राप्नोत्युच्चैरचलितया निःप्रकम्पप्रकाशात्
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम्॥

आत्मा का जो धर्म है, वह शुद्ध उपयोग है और जो शुद्ध उपयोग है, वह आत्मा का धर्म है। अन्वय लगाना। ऐसा शुद्ध-उपयोग-स्वरूप आत्मा का जो धर्म है, वही वास्तविक धर्म है। शेष बाह्य प्रपंचों से परे होकरके योगी उसी धर्म की ओर अग्रसर होता है। शब्दों का ध्यान रखना—बाह्य प्रपंचों से परे जो आत्मा की यथार्थ भूमिका है, वह ही शुद्ध उपयोग की अवस्था है। जब शुद्ध-उपयोग का कथन होता है, वहाँ व्यवहार-चारित्र को गौण करके कथन किया जाता है, तो लोगों ने समझ लिया कि जब आत्मा की शुद्ध दशा का व्याख्यान हुआ, वहाँ मात्र आत्मा ही होती है और उसी की चर्चा होती है। जब भी आप आध्यात्मिक ग्रंथों में शुद्ध-उपयोग की ओर जाओगे, आत्मा के स्वरूप में लीन होने का नाम शुद्ध-उपयोग है, स्वानुभव में रमण करने का नाम शुद्ध-उपयोग है और वह शुद्ध-उपयोग बाह्य प्रपंचों से परे होता है। ऐसा जैसे ही व्यक्ति सोचता है तो जिस अवस्था में अध्यात्मशास्त्र को पढ़ता है, उसी अवस्था में आत्मा में रमण करने का विचार कर देना प्रारम्भ कर देता है, जबकि उसकी भूमिका यह होती है कि व्यवहार चारित्र तो उसके पास होता नहीं है, ये आपकी भूल नहीं है। शुरू-शुरू में ब्रह्मचारी अवस्था में जब भी कोई मुझसे मिले, यही कहे-भैयाजी! समयसार पढ़ो। उस समय मैं सोचता था 'समयसार' ऐसी कौनसी वस्तु है? और योग संयोग देखो, अल्प वय में 'समयसार' मेरे हाथ में आ गया और खोलकर मैंने देख भी लिया। इसके बाद कुछ ग्रंथ जो मुनिचर्या के कथन करने वाले थे, उन ग्रंथों को जब पढ़ा, सो मालूम, क्या लगता था? ये हमारे लिये है ही नहीं। क्यों लगता था? क्योंकि उस समय ये राग था कि जिसमें हमारे बारे में लिखा है, हमें वो पढ़ना है। मतलब कि मैं श्रावक हूँ। और जैसे ही उस ग्रंथ समयसार जी को देखा, उसमें न हमारे बारे में लिखा है, न तुम्हारे बारे में लिखा है, उसमे तो मात्र आत्मा के बारे में लिखा था। क्योंकि मूलाचार मुनिराज का ग्रंथ, श्रावकाचार श्रावकों

का ग्रंथ और समयसार आत्मा का ग्रंथ। समयसार जी में श्रावक और मुनि का कोई भेद ही नहीं है। परन्तु ध्यान रखना, दोनों का जहाँ विराम होता है, वहाँ समयसार का प्रारम्भ होता है। श्रावक और मुनिचर्या दोनों के चलने और कहने की बातों का विराम हो जाता है, वहाँ से समयसार का प्रारम्भ होता है। जब तक यह भाव है कि मैं ऐसा करूँ, ऐसा करूँ, तब तक समयसार नहीं है।

यों है सकल संयम, सुनिये स्वरूपाचरण अब। (छहढाला)

मनीषियो! जो नय के पक्ष से अतिक्रांत है, वह समयसार है। विकल्प दशा जहाँ तक है, वहाँ तक समयसार नहीं है और जहाँ विकल्प दशा मिट जाती है, वहीं समयसार होता है। आचार्यभगवन् कह रहे हैं—अहो तपस्वी! जब मोह उत्पन्न हो तेरे अन्दर, उस समय तू स्वस्थ आत्मा का ध्यान कर। स्वस्थ आत्मा तो मात्र सिद्ध परमेश्वर हैं, बाकी ये सब अस्वस्थ आत्मा हैं। योगी जैसे ही स्वस्थ आत्मा का ध्यान करता है तो मोह की अग्नि क्षणमात्र में शांत हो जाती है। इसलिए स्वस्थ आत्मा का ध्यान करो, स्वस्थ हो जाओगे।

भो ज्ञानी! समयसार आपसे कह रहा है कि अपने आपको ज्ञानी कहो, भगवान् कहो। भगवान् हो नहीं, भगवान् बनने के लिये कहो—मैं स्वस्थ हूँ। तो तुम क्षणमात्र में साम्यता को प्राप्त कर लोगे। जिनदर्शन इसलिए, जिससे हो जाये निजदर्शन और जब भी जिनदर्शन होंगे तब निजदर्शन से ही होंगे। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, लेकिन श्रुत के होने पर फिर वह श्रुत से ही श्रुत होता है। इसलिए पहिले पर का आलम्बन लेते हैं निज के दर्शन के लिए और जिस दिन निज के दर्शन हो जाते हैं, उस दिन आलम्बन छूट जाता है। मूलाचार आदि ग्रंथों में आवश्यक कर्तव्य का विकल्प रूप से कथन है, पर यहाँ निर्विकल्प दशा की चर्चा है। इसी बात को टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव भी कलश में कह रहे हैं—

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्दमूर्त्तौ
धर्मः साक्षात् स्ववशजनितावश्यकर्मात्मकोऽयम्
सोऽयं कर्मक्षयकरपटुर्निर्वृतेरेकमार्गः
तेनैवाहं किमपि तरसा यामि शं निर्विकल्पम्॥कलश 238॥

आचार्यमहाराज कह रहे हैं—आत्मा अत्यंत अतिशय युक्त होती है। कैसी है आत्मा? अत्यंतअतिशयवान है, उत्कृष्ट है। चिद्आनंद है जिसका स्वरूप, उसकी है मूर्ति आत्मा और वो आत्मा ही साक्षात् धर्म है। यह आत्मा स्वयं ही आवश्यक कर्म रूप है और वही आत्मा कर्मक्षय करने में पटु है, कुशल है।

भो ज्ञानी! बंध किसने किया? जब तू भोग भोगने में इतना कुशल है, कहाँ की रिश्तेदारी

कहाँ जोड़ता है, कितने-कितने सम्बंध जोड़ता है, रिश्तों में, सम्बन्ध जोड़ने में तुम कुशल थे, सम्बन्ध तोड़ने में भी कुशल तुम ही हो। समयसार की भाषा में, जिस प्रज्ञा से बंध किया है, उसी प्रज्ञा से निर्बंधता की प्राप्ति होती है। बंध में प्रज्ञा का उपयोग चल रहा है कि नहीं? ये अट्टालिका भर रही है, नगर बसा रहे हो, इन सबमें ज्ञान लग रहा है कि नहीं, प्रज्ञा लग रही है कि नहीं? तो जो प्रज्ञा पर में लगी है, उस प्रज्ञा को निज में लगा दो, तो निर्वाण हो जायेगा। जैसे जब आपको गर्मी लगती है तो आप पंखे का बटन चटका देते हो और जब ठंड का मौसम आता है तो उसी कनेक्शन को आप हीटर में लगा देते हो, क्या किया आपने? वस्तु तो एक थी, कनेक्शन दो थे। आप ये मत कहना कि मुनिराज कहीं बाहर से उतरकर आते हैं। अंतर मात्र इतना होता है कि भोगी अपनी प्रज्ञा का कनेक्शन भोग में जोड़ता है और योगी अपनी प्रज्ञा का कनेक्शन योग में जोड़ता है। मनीषियो! काम तो होता है विद्युत का, मगर काम तो अपना है, कनेक्शन आपको जोड़ना पड़ेगा। प्रज्ञा अणुव्रती बना देती है और प्रज्ञा अणुबमों को भी बना रही है। अणुबम बना रहे व्यक्ति से यदि शुद्धात्मा की बात कही जाये और वह अपनी प्रज्ञा को अध्यात्म में लगा दे, तो पता नहीं कितनी बड़ी खोज करेगा, कितनी गहरी खोज करेगा? अणुबम अणुव्रत में बदल जायेगा। प्रकृति से प्रज्ञा का सम्बंध नहीं है, कर्म के क्षयोपशम से प्रज्ञा का सम्बंध है।

'स्वावरणक्षयोपशम लक्षण योग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति॥ प. मु. सूत्र॥

भैया! एक गुरु दस शिष्यों को एकसाथ अध्ययन कराता है, लेकिन प्रत्येक शिष्य अपनी प्रज्ञा से अपनेरूप ही स्वीकार कर पाता है। जिसका जितना पात्र होगा, उसके पास उतनी वस्तु रहेगी। वस्तु अगाध है, पात्र छोटा है, पात्र भिन्न-भिन्न है, तो स्वावरण कर्म का क्षयोपशम ही अंतरंग निमित्त होता है। आलोक ज्ञान नहीं कराता, अर्थ ज्ञान नहीं कराता, स्वावरण कर्म का क्षयोपशम ही ज्ञान का हेतु होता है। यदि आप कहेंगे कि ज्ञान तो प्रकृति से ही प्राप्त है, तो लोक में सभी जीव समान ज्ञानधारी हो जायेंगे, सर्वज्ञता की हानि हो जायेगी। जिस जीव का जैसा क्षयोपशम होता है और जैसे क्षायिकता को प्राप्त करता है, तो वही केवली बन जाता है।

मनीषियो! पुरुषार्थ के बिना कुछ होता ही नहीं है, शुद्धोपयोग की दशा भी परम पुरुषार्थ ही है। आगे आचार्य कुन्दकुन्द देव गाथा नं. 142 में कह रहे हैं कि जो किसी के वश नहीं है, वह अवश कर्म ही आवश्यक कर्म है, वही आत्मा का स्वभाव है, वही मुक्ति का उपाय है और वह शरीर आदि अवयवों से रहित है। अब समझना, जहाँ शरीर के राग में आवश्यक नहीं हैं, वहाँ बाह्य प्रपंचों के राग में आवश्यक कैसे हो सकते हैं? 'प्रवचनसार' जी में आचार्य

कुन्दकुन्द देव लिख रहे हैं-

सम्पूर्ण आगम को कण्ठ में रख लेना, रट लेना लेकिन, परमाणु-प्रमाण भी इस शरीरादि परद्रव्य से ममत्व दशा है, तो सिद्धि होने वाली नहीं है। एक रोम-प्रमाण राग शरीर में है तो मुक्ति तेरी होने वाली नहीं है। ब्रह्मस्वभाव नहीं तो ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति कैसी? जहाँ निज रोम के राग का निषेध किया जा रहा है, वहाँ तू पर रोम के राग में चिपक रहा है, ये कहाँ की दशा?

ज्ञानी आत्माओ! जिस दिन आत्मतत्त्व को समझेगा, आँख बंद करके अपने आप को देखेगा, कुछ नहीं है सुनना-सुनाना, सब व्यर्थ है। यही भूतार्थ है। सोचना बंद हो जाये, समझना बंद हो जाये, बस वहीं से समयसार शुरू हो गया। आवश्यक सोचना नहीं है, अब समझना भी नहीं है। छठवें गुणस्थान तक ही जानो-पहचानो। यहाँ परम आवश्यक की चर्चा है, जो परम जिन योगीश्वर के लिए होता है। जैन योगी के पास यदि परिग्रह नाम की कोई वस्तु होती है तो शरीर मात्र परिग्रह होता है, वे उसकी रक्षा करते हैं, लेकिन 'नियमसार' की भाषा ऊँची जा चुकी है—अब उनके पास परिग्रह नाम की कोई वस्तु है तो मात्र ज्ञान-दर्शन आत्मा है और वो परिग्रह शब्द ही समाप्त हो जायेगा, वहाँ फिर निर्वाण हो जायेगा। ये परिग्रह त्याग आत्मा का निश्चल दशा का परम ज्ञातापना है, यानि शरीर से भी निर्ममत्व दशा है। अब आत्मा मात्र परिग्रह बचा है, वो परम दशा है। ऐसे परम योगीश्वर के परम आवश्यक होता है।

भो ज्ञानी! निश्चय धर्मध्यान, परम आवश्यक, आत्म संवृत्ति, शुद्ध उपयोग इनमें अंतर मत डालना और जिसके परम आवश्यक होगा उसके ही शुद्ध-उपयोग होगा। क्रम वो ही रहेगा, सकल संयम के बाद ही स्वरूपाचरण प्राप्त होगा। बिना सकल संयम स्वीकार किये परमावश्यक का प्रारम्भ ही नहीं है। मेंढक के आवाज करने से बादल नहीं बरसते, वे तो मानसून के आने पर ही बरसते हैं। ऐसे ही अव्रतियों के कहने से शुद्धोपयोग नहीं होता है, वो तो संयम के प्राप्त होने पर होता है। पुरुषार्थ को कर्त्ताभाव कहके झुठलाना नहीं। वह कर्त्ताभाव नहीं, तेरा कर्तव्यभाव है। समयसार जी में जिस कर्त्ताभाव को छोड़ने की बात कही है, वो तो आप छोड़ते ही नहीं हैं। मैं सन्तान का कर्त्ता हूँ, भवन का कर्त्ता हूँ, मैं तेरे उपकार का कर्त्ता हूँ, ये तो छोड़ नहीं रहे और संयम को कर्त्ताभाव कहके छोड़ रहे हैं। जबकि उसे स्वीकार करना ही चाहिए। टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव अगले कलश में बड़ी गहन बात कह रहे हैं:-

योगी कश्चित्स्वहितनिरतः शुद्धजीवास्तिकायाद्
अन्येषां यो न वश इति या संस्थितिः सा निरुक्तिः।

तस्मादस्य प्रहतदुरितध्वान्तपुंजस्य नित्यं
स्फूर्जज्जयोतिः स्फुटित सहजावस्थयाऽमूर्तता स्यात्॥कलश 239॥

जो योगी अपने हित में निरत हैं, जिनकी दृष्टि में एकमात्र शुद्ध जीवास्तिकाय दिख रहा है, ऐसे योगी कह रहे हैं—मैं मात्र शुद्धजीवास्तिकाय यानी सिद्ध अवस्था के वश हूँ, अन्य किसी के वश नहीं हूँ। ऐसी वह निरुक्ति आवश्यक की है, उसके द्वारा जिन्होंने हमेशा के लिये पापसमूह को नष्ट कर दिया, ऐसी स्फुरमान सहज अमूर्तिक अवस्था की प्राप्ति का चिंतवन योगीराज कर रहे हैं।

आचार्यभगवान् स्पष्ट शब्दों में लिख रहे हैं कि तुम मंदिर के भी कर्त्ता मत बनो, ये मंदिर मेरा है, यह मेरे निर्देशन में बना है, भो ज्ञानी! तेरा मंदिर खो गया है, क्योंकि यह नियमसार है तथा परमार्थ भी यही कहेगा।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

गाथा 143 **कलश 240-241**

उत्थानिका : भेदोपचार रत्नत्रय से परिणत हुये जीव के अवशपना नहीं होता

गाथा : वट्टदि जो सो समणो, अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवस्सयलक्खणं ण हवे॥143॥

संस्कृत छाया : वर्तते यः स श्रमणोऽन्यवशो भवत्यशुभभावेत्।
तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यक लक्षणं न भवेत्॥143॥

अन्वयार्थः (यः) जो (अशुभ भावेन) अशुभ भाव से (वर्तते) प्रवृति करता है (सः श्रमणः) वह साधु (अन्यवशः भवति) अन्य के वश होता है (तस्मात्) इसलिये (तस्य तु आवश्यकलक्षणं कर्म) उस साधु के आवश्यक लक्षणवाला कर्म (न भवेत्) नहीं होता है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व गाथा में संकेत दिया था कि जो अवयव रहित है, शरीर रहित आत्मा की जो अवस्था है, वही परम आवश्यक है। सबसे गहतनम चर्या चर्चा अब मात्र परिग्रह नहीं। आत्मभाव मात्र जिनके पास परिग्रह है, ऐसे निर्ग्रन्थ योगी ही परम आवश्यक को प्राप्त होते हैं। जो श्रमण अशुभ के द्वारा वर्तन करता है, वह अन्य के वश होता है। यदि श्रमण अपने आवश्यकों को छोड़के अन्य के वश में होता है, उनको वह आवश्यक कर्म नहीं होता है। यदि श्रमण निज क्रियाओं को छोड़करके, निज स्वभाव को छोड़करके परभाव में, पर के अच्छे-बुरे में, दृष्टि डाल रहा है, तो उसका अच्छा-बुरा हो या न हो, लेकिन तेरा तो बुरा-ही-बुरा है। 'आप ऐसे हो, मैं ऐसा हूँ, ये ऐसे हैं', इससे होगा कुछ नहीं, क्लेश बढ़ेगा, शांति का विनाश ही होगा। एकमात्र स्वाधीन पर्याय है तो वह दिगम्बर अवस्था है। संसार में सविकल्पता में स्वाधीनता कहीं है तो मात्र जिनमुद्रा में है।

भो ज्ञानी! निर्ग्रन्थों की वृत्ति स्वाधीन है, स्वतंत्र है, परन्तु स्वच्छंद नहीं है। 'जैनीवृत्ति स्वेच्छाचार विरोधिनी।' आचार्य वादीभसिंह सूरि क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में लिखते हैं। यह जैन दर्शन का महान नीति काव्य ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थों की वृत्ति स्वतंत्र है, परन्तु स्वच्छन्द नहीं है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि उस स्वतंत्र दशा को प्राप्त करके जरा भी स्वच्छन्द हो गये तो स्वतंत्रता का विनाश हो जायेगा। निश्चित स्वतंत्र वृत्ति में जीने वाला लेशमात्र स्वच्छन्द हो गया तो जिनका अधिकार तुम्हारे ऊपर नहीं है वो भी अधिकार जमा लेते हैं। कहीं ऊँची बातों से नीचे तो नहीं जा रहे हो? 'मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ, परभावों से रिक्त हूँ, सब पुद्गल

का परिणमन है' और भोग शुरू है। जबकि ज्ञायकस्वरूपी क्यों कहा था? अब तो परद्रव्यों से रहित हो जाओ और ज्ञायकस्वभाव की ओर बढ़ो। परन्तु उल्टा हो गया, भोग लिप्सा बढ़ गई और योग से शून्यता आ गई और शब्दों में अध्यात्म झलकने लगा। भो ज्ञानी! आचार्यमहाराज कह रहे हैं अहो! कैसे कर्म का विपाक? जिनमुद्रा को धारण करके, घासफूस की टपरिया को छोड़के, अब तुम भवनों में मस्त हो रहे हो। इतनी विरक्ति बढ़ी थी कि सब छोड़ डाला और यहाँ आकरके इतने आसक्त हो गये कि अब स्वयं नहीं कमा रहे हो, परन्तु समाज को प्रेरित करके भवन बना रहे हो।

भो ज्ञानी! मध्यकाल में निर्ग्रन्थों में मठ परम्परा शुरू हो चुकी थी। राजाओं को खुश करके अपने-अपने मठ बनवाना प्रारम्भ हो चुका था। पहले श्वेताम्बर साधु, फिर यापनीय संघ प्रवृत्त हुआ। उससे ये हुआ कि निर्ग्रन्थों की जो स्वच्छ वृत्ति थी, निर्लिप्त वृत्ति थी, उस पर आँच आना प्रारम्भ हो गई। इतनी आँच आई कि कपड़े भी आ गये और लाल वस्त्र आकर भट्टारक परम्परा प्रारम्भ हो गई। फिर भूमि, खेत, नगर, समाज जुड़ने लगी। इस मठ का जो आदेश होगा वहाँ वैसा होगा। मालूम चला कि शासन-जैसी व्यवस्था जिन (निर्ग्रन्थ) मुद्रा में आ गई। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने बड़े खेद के साथ इस टीका के कलश लिखे हैं। अहो योगी! कौन-से कर्म का उदय आया कि पुण्य से ऐसा प्रेरित हो गया कि इनमें लिप्त हो गया? ऐसा साधु अन्य के वश में हो जाता है तो आवश्यक लक्षण से युक्त नहीं होता है। भेद उपचार और रत्नत्रय से युक्त (परिणत) हुये जीव के आवश्यकपना संभव नहीं होता। निश्चय के कथन में न यहाँ भेद को स्वीकार किया है, न उपचार को स्वीकार किया है। यहाँ तो जैसा है वैसा है। यहाँ उपचार धर्म को स्वीकार नहीं किया जायेगा, भेद धर्म को स्वीकार नहीं किया जायेगा। यह तो निर्ग्रन्थ की अभेद दशा की व्याख्या है। कठिन नहीं कह पायें तो कम-से-कम सुनने की सामर्थ्य लाना, समझने की सामर्थ्य लाना।

भो ज्ञानी! जब तक साधु (निर्ग्रन्थों) के मार्ग का अध्यापन नहीं होगा तो साधुता के वास्तविक स्वरूप का भान हो ही नहीं पायेगा। चरणानुयोग की आवश्यक क्रियाओं को करते-करते जीवन निकल जाता है और फिर सामाजिकता में इतने उतर आते हैं कि उस मूल वस्तु का तो पता ही नहीं होता है। ऐसा अनुभव होने लगता है कि पूरी समाज का, देश का संचालक मैं ही बन चुका हूँ, जबकि स्वात्मधर्म इससे अत्यन्त भिन्न है। अप्रशस्त रागादि अशुभ भावों से जो श्रमण युक्त है, उसका छठवाँ गुणस्थान वहाँ होता है जहाँ षट्काय के जीवों की हिंसा की निवृत्ति होती है। छठवें गुणस्थान की वृत्ति है। जहाँ षट्काय के एक जीव की भी हिंसा की प्रवृत्ति हो रही है कृत-कारित-अनुमोदना से, वहाँ श्रमणाभासपना है। जाओ भैया!

आपको अमुक जगह धर्मशाला भवन खड़ा करना है। जब वहाँ नींव खुदेगी, वृक्ष कटेंगे, तो हिंसा होगी ही! प्रशस्त राग होने पर भी तुम्हारे गुणस्थान के योग्य नहीं है, क्योंकि आप षट्काय के जीवों की हिंसा के त्यागी हो। 'षट्काय जीव न हननतें, सब विध द्रव्यहिंसा टरी।' इसलिये निर्ग्रन्थ दशा को समझो।

भो ज्ञानी! जो द्रव्यलिंगी नवग्रैवेयक जा रहे हैं, वे लेशमात्र भी हिंसा नहीं करते, निर्दोष पालन करते हैं 28 मूलगुणों का। 28 मूलगुणों का सदोष पालन करने वाले नौग्रैवेयक में नहीं जाते हैं। जो रागादि अशुभ भावों से वर्त्तन करते हैं, वो श्रमणाभास द्रव्यलिंगी होते हैं। यदि आप विधि की बात करते हो तो आपको समीचीन उपदेश देना चाहिए कि आपको अपने आयतनों की रक्षा करनी चाहिए। भाव को समझो, भाषा को समझो। आपको अपने आयतनों की रक्षा करनी चाहिए, वो आपका कर्त्तव्य है। यह छठवें गुणस्थान की व्याख्या है। बालि मुनिराज द्रव्यलिंगी नहीं थे, भावलिंगी थे। जब लंकेश कैलाश पर्वत के नीचे घुसकर हिलाने लगा, तो मुनिराज को रागभाव आया था, वो प्रशस्त राग था कि इतने जिनालयों की रक्षा होगी। जब सराग अवस्था में होगे, तो ऐसी भावना तो आयेगी। जब वीतराग अवस्था में होंगे, तो कोई विकल्प नहीं होगा। आप वीतरागी हो, परन्तु जब धर्म-धर्मात्माओं पर संकट आता है तो मुनिराजों को बोलना ही पड़ता है, इतिहास गवाह है। अरे भाई! साधु अकिंचन है, पर तू तो गृहस्थ है, किंचन है। यदि कोई मंदिर पर अधिकार जमाने लगे तो यह मत कहना कि हमारा आकिंचन धर्म है। आप धर्म करने कल कहाँ बैठोगे? व्यवहार दृष्टि से सोचो।

भो ज्ञानी! यह परम आवश्यक अधिकार है। यहाँ निश्चय की चर्चा हो रही है, व्यवहार को गौण किया जा रहा है, अभाव नहीं। मुनिराज ने आपको आदेशित कर दिया कि उदयगिरि पर कुछ लोगों ने अपने श्लोक लिख दिये हैं, अपने क्षेत्र की रक्षा करो। ऐसा कहने में दोष नहीं है, परन्तु वे स्वयं मिटाने नहीं जायेंगे। ये श्रमणाभासी द्रव्यलिंगी होते हैं। कैसे? अपने स्वरूप से भिन्न, अपने स्वभाव से भिन्न, पर के वश होकर उनके जघन्य रत्नत्रय की परिणति होती है। ऐसे जीव के उनके धर्म्यध्यान नहीं होता है, परम आवश्यक कर्म नहीं होता है।

भो ज्ञानी! आचार्यमहाराज डाँटते हुये कह रहे हैं कि तुम भोजन करने के लिये विभिन्न रूप दिखा रहे हो तो तुम मुनिवेश धारण करके अपने कार्य से विमुख हो रहे हो। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'लिंग पाहुड' और 'शील पाहुड' में अत्यन्त कठोर शब्दों का प्रयोग किया है। जिसने सबकुछ छोड़ा है, फिर तुम गृद्धता में मत चले जाना। भोजन के लिये मुनि नहीं बने हो, भजन के लिये मुनि बने हो, अन्यथा उभय लोक से च्युत हो जाओगे। यहाँ के मंदिर, वहाँ की धर्मशाला, यहाँ के तीर्थ, ये सब आत्मतीर्थ से परे हैं। कितने में बना है, कितनी आय

हुई, कितना व्यय हुआ, कितनी आमदनी हुई, प्रभु! आपको इन सबकी क्या चिन्ता? आपको ये चिन्ता होनी चाहिये कि कितनी शुभ की आमदनी हुई, कितनी अशुभ की हुई। इस चातुर्मास में कितना बचा, इससे तुम्हें क्या लेना-देना। आपने विधान किया, भगवान् की भक्ति की, बहुत अच्छा किया। आर्शीवाद दे देना क्योंकि आपके निमित्त से श्रावक अशुभ से बचे। जिन्होंने मोक्षमार्ग को नहीं जानकर, तत्त्व को नहीं जानकर इन बाह्य प्रपंचों को ही राजमार्ग बना दिया है। कोई राजमार्ग पर था उसको शिथिलाचारी घोषित कर दिया। संसार की दशा बड़ी विचित्र है। जिसने जो देखा है, उसी को भूतार्थ समझता है। जब तक आगम को नहीं समझा, भूतार्थ को क्या समझेगा?

भो ज्ञानी! आपको लगता है कि विदिशा, भोपाल आदि क्षेत्र तेरे हैं, जबकि एक बलिश्त भी तेरा नहीं है। महाराज! जिसमें आप रह रहे हो, वह भी तेरा नहीं है। जब हमें कहीं रहना ही नहीं है, विहार करना है, परन्तु पुद्गल का राग कितना महत्त्वशाली होता है कि नाम रहेगा। इस शब्द से वैराग्य नहीं आया, तो निर्मल साधना में बचा क्या? अध्ययन का सुन्दर क्षेत्र साधुजीवन है क्योंकि अन्य कुछ करना नहीं पड़ता है। अध्ययन का तात्पर्य मात्र ग्रन्थ पढ़ना ही नहीं है। सामायिक भी अध्ययन है, प्रतिक्रमण भी अध्ययन है, भगवान् के दर्शन करना भी अध्ययन है। जितनी आपकी क्रिया चल रही है, सब स्वयं के कल्याण की दृष्टि से है। पहले अशुभ से बचो, शुद्धोपयोग की चर्चा बाद में करना। पहला लक्ष्य बनाना चाहिए कि भगवन्! अशुभ से बचकर रहूँ और दृष्टि शुभ बनाकर चलूँ। यदि अशुभ से ही नहीं बच पाये तो कुछ नहीं कर पाओगे।

भो ज्ञानी! आचार्यों के 8 विशेष गुण होते हैं। उनमें एक गुण ''दूरदर्शी'' होता है, उससे वे आगे-पीछे का अनुभव करते हैं। ऐसा काल भी आयेगा जब लोग समाज को अपना कहेंगे, देश को अपना कहेंगे और दूसरे के आने पर उनके भाव बिगड़ सकते हैं। उन्हें समझाते हुए आचार्यमहाराज कह रहे हैं, महाराज! ऐसे भाव मत लाना कि मेरा क्षेत्र, मेरा नगर, मेरा गाँव। अरे! तू तो नाग के समान है। साँप कभी अपना घर नहीं बनाता, दूसरे के घर में रहता है। ऐसे-ही साधु दूसरे के घर में ठहरते हैं, भोजन करने जाते हैं, अपना घर नहीं बनाते। टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव इस काल के मुनियों की प्रशंसाा करते हुए कह रहे हैं और खेद भी प्रकट कर रहे हैं।

अभिनवमिदमुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां
त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वांतपुंजायमानम्।
तृणगृहमपि मुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्
वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति॥ कलश 240॥

'अहो मुनिराज! आपको कोई नवीन ऐसा तीव्र मोहनीय कर्म घेर रहा है।' इसको समझने के लिये इससे सुन्दर शैली क्या होगी? इतने गहरे में बैठकर समझा रहे हैं जिससे कि मोही मोह का वमन कर दे। उत्कृष्ट मोहनीय कर्म तेरा है कि तीनों लोक के भवनों को मेरा कहता है, मेरे सिवा किसी का नहीं हो सकता। ऐसा ही करना था तो छोड़के क्यों आये? इनमें ही जीना था, विसंवादों में पड़ना था, तो क्यों छोड़ा? तीनों लोकों के अंदर अज्ञान रूपी अंधकार के समान मुनियों को ऐसा नवीन मोह-कर्म समूहरूप से आच्छादित कर रहा है कि पूर्व में जिस घास-फूस की टपरिया में रहते थे, तीव्र वैराग्य के कारण छोड़कर पुनः कह रहे हैं कि यह हमारा अनुपम घर है, वसति है। स्मरण करते हैं। अब वह यह कहते हैं कि मैंने बड़ी सुन्दर व्यवस्था की है। वहाँ पर उपाश्रय होगा, यहाँ ध्यानकेन्द्र होगा, यहाँ ये होगा। लेकिन तुम्हारा ध्यान कब लगेगा? तुमने तो इतना ध्यान कर डाला कि कितने भट्टे लगे थे उनकी सोचो। तुम्हारा ध्यान क्या हुआ है? मेरी वसतिका में चलो, क्या सुन्दर अनुपम झलक रही है। हे मुनीन्द्र! तूने घास-फूस के मकान को इसलिए छोड़ा था क्या? आचार्यमहाराज उन मुनिराज को दोष नहीं दे रहे हैं। बड़े खेद के साथ कह रहे हैं कि कोई तीव्र मोहनीय कर्म सता रहा है।

भो ज्ञानी! मुनिराज आहार को जाते हैं तो मौन क्यों रहते हैं? मुनि भी संसारी जीव हैं। कषाय बड़ी खोटी होती है, संज्ञायें बड़ी खोटी होती हैं। हो सकता है कि कभी मन चल जाये कि ये वस्तु खाने को मिल जाये। कभी-कभी यह होता है कि थाली में रखी इच्छित वस्तु कोई नहीं दे रहा है और जो अन्इच्छित है, उसको ही दे रहा है। अब क्या करें? पराधीन हैं। ठीक है, होने दो, कर्म का विपाक है। यदि भाव खराब किये तो कर्मबन्ध होगा। आचार्यभगवन् लिख रहे हैं कि दोषी जिनवेश नहीं है। मन पिच्छी में नहीं आया, मन कमण्डलु में नहीं आया, दिगम्बर मुद्रा में मन तेरे परिणामों में आया। इसलिए कहा गया कि मौन लेके आहार को जाना। अब मन भी आ गया तो आ जाने दो, लेकिन वे कुछ कह नहीं रहे, क्योंकि मौन हैं, इससे दिगम्बर वेश की रक्षा हो गई। मन चलने पर भी भिखारी-जैसा नहीं माँग रहे, इससे वीतरागी वेश की रक्षा हो गई। इससे मौन व्रत दे दिया। इस वेश में कितनी गंभीरता होनी चाहिए, इसका ज्ञापन करा दिया। लोगों को इस वेश के प्रति अनास्था न हो जाये, क्योंकि व्यक्ति तो सुधर जायेगा, लेकिन वेश का कहीं अवर्णवाद हो गया तो फिर कोई इस वेश को स्वीकार नहीं करेगा। जिन वेश को स्वीकार नहीं करेगा तो कभी भगवान् नहीं बनेगा। यह दिगम्बर मुद्रा ही भगवान् बनने की एक कला है। इसलिए कभी अपने भावों से, वचनों से, देह से अनादर मत कर बैठना। आचार्य भगवन् ने मुनि को दोष नहीं दिया, मोहनीय कर्म तो दोष दिया है। अब वह पुनः कह रहे हैं-

कोपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृति काले कलावप्यलं
मिथ्यात्वादिकलकपङ्क रहितः सद्धर्मरक्षामणिः।
सोऽयं संप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते
मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः ॥ कलश 241॥

इस कलश में आचार्य महाराज ने निर्ग्रन्थ योगी की तीव्र प्रशंसा की है कि इस कलिकाल में पुण्यशाली जीव ही मिथ्यात्व आदि के कलंकपंक से रहित होकर मुनि बनता है। क्योंकि बिना पुण्ययोग के संयम के भाव नहीं बनते। मुनि बन भी जाओगे तो बनके नहीं रह पाओगे। वर्तमान का पुरुषार्थ भी चाहिए, पूर्व का पुरुषार्थरूप पुण्य भी चाहिए। क्या वर्तमान के पुरुषार्थ से आप ऐसा नहीं कर सकते कि इतना घनघोर तप करो कि पूरा कर्म अभी नष्ट हो जाये? भो ज्ञानी! अपकर्षण होता है कि नहीं? उदीरणा होती है कि नहीं? अविपाक निर्जरा होती है कि नहीं? होती है।

आचार्य कुलभूषण स्वामी कहते हैं जब तक शरीर स्वस्थ है, इंद्रियों की संपदा काम कर रही है तो साधु बनके काम नहीं करोगे तो क्या करोगे? आँख काम नहीं कर रही है तो क्या करोगे? इंद्रियाँ भी काम करना चाहिए। जब तक सब ठीक है, तपस्या कर लो। जब वृद्ध हो जाओगे तो कुछ कर नहीं पाओगे। अब एक काम करना कि निर्ग्रन्थ न बन सको तो निर्ग्रन्थों के भक्त बने रहना, कम-से-कम व्रती तो बन जाना। देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धान है, सात तत्त्वों पर श्रद्धान है तो आगम कहेगा कि तुम व्यवहार से सम्यग्दृष्टि हो।

भो ज्ञानी! इस कलिकाल में, पंचम काल में भी पुण्यात्मा जीव मुनि होता है, मिथ्यात्व आदि के पंक-कलंक से रहित। ये मत कहना कि पंचमकाल में सब मिथ्यादृष्टि होते हैं। ये अज्ञानियों का कहना है। ऐसा निर्ग्रन्थ योगी ही सच्चे धर्म की रक्षा के लिये मणि स्वरूप है। वर्तमान में भी निर्दोष संयमी देवों-जैसी पूजा को प्राप्त होते हैं, हो रहे हैं। जिन्होंने अनेक प्रकार के परिग्रह के समूह का त्याग कर दिया है और पापरूपी अटवी को जलाने के लिये अग्नि-तुल्य हैं। आज भी ऐसे मुनि हैं, निर्ग्रन्थ तपोधन हैं, जिनके चरणों की वंदना होती है मनुष्यों और देवों के द्वारा।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

गाथा 144, **कलश 242-244**

उत्थानिका : अन्य के वश हुये अंतरात्मा का लक्षण

गाथा : जो चरदि संजदो खलु, सुहभावे सो हवेदि अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवासयलक्खणं ण हवे॥ 144॥

संस्कृत छाया : यश्चरति संयतः खलु शुभभावे स भवेदन्यवशः।
तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यकलक्षणं न भवेत्॥ 144॥

अन्वयार्थः (यः संयतः खलु शुभभावे चरति) जो संयमी मुनि निश्चित रूप से शुभभाव में चर्या करता है (सः अन्यवशः भवेत्) वह अन्यवश होता है (तस्मात् तस्य तु) इसलिये उसके (आवश्यक लक्षणं कर्म) आवश्यक लक्षण क्रिया (न भवेत्) नहीं होती है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार जी परमागम में निश्चय परम आवश्यक अधिकार के अंतर्गत यह कथन किया कि हे श्रमण! निज स्वभाव के वर्तन से जो परे है, वह आवश्यकपने को प्राप्त नहीं होता है। यदि महल, भवनादि की दृष्टि है, यह उस योगी का नियम से कोई मोहनीय कर्म प्रेरित कर रहा है। ऐसे कौन-से पूर्व का कर्म था जिससे प्रेरित होकरके, घास-फूस के मकान को छोड़करके, अब महल, भवन के पीछे पड़ गया है? धन्य हैं वे धरती के देवता, जो सत्य धर्म की रक्षा में मणि के तुल्य हैं। ऐसे निर्ग्रन्थ योगी इस कलिकाल में भी सुकृत के योग से देवों में उच्चता को प्राप्त हो रहे हैं—यह संयम का महत्त्व है।

अब पुनः श्रमणों को समझा रहे हैं:—

तपस्या लोकेऽस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम्।
परिप्राप्यैतां यः स्मरतिमिर-संसारजनितं
सुखं रेमे कश्चिद्वत कलिहतोऽसौ जडमतिः॥ कलश 242॥

इस लोक में सुबुद्धि में विद्यमान विद्वानों के लिए प्राणों से प्रिय कोई है तो तपस्या है। पर ध्यान रखना, ऐसे दो जीवों को आचार्यों ने चुना है विश्व प्रशंसनीय और विश्व निंदनीय। एक प्रशंसा का पात्र और एक निंदा का पात्र।

मनीषियो! उत्कृष्ट प्रशंसनीय वह है जो तपस्या के लिए चक्रवर्ती पद का विसर्जन कर रहा है। लोग तो तड़पते हैं, सोचते हैं कि छोटी-सी सर्विस लग जाये और एक तपस्या के

लिए चक्रवर्ती पद को छोड़ रहा है। धन्य हो। और जो विषयों की आशा से तपस्या को छोड़ रहा हो, धिक्कार है। अहो! जिस तपस्वी को सौ-सौ इंद्र नमस्कार करते हैं, चरणों में सिर टेकते हैं, परन्तु ऐसी परमानंदशालिनी, चैतन्यमालिनी, भगवती आत्मा को प्रकट करनेवाली तपस्या को प्राप्त करके, जो काम के बाणों से संसार में बिध रहा है, ऐसे सुखों के लिये रो रहा है, अहो! उसकी बुद्धि को, जड़मति को कलिकाल ने भक्षण कर लिया है, नष्ट कर दिया है। ऐसी प्रिय तपस्या को छोड़करके जो नृत्यांगना में लिप्त हो रहा है, विषयों की ओर जिसका मन दौड़ रहा है, ऐसे साधु को आचार्यभगवन् जड़मति कह रहे हैं। एक निर्ग्रन्थ वीतरागी आचार्य भी, जिस गृहस्थ को मुनिदीक्षा देते हैं, उसी को योगी रूप में देखकरके, उसको स्वयं पिच्छी उठाकरके 'नमोस्तु' करते हैं। ये अरिहंत दर्शन की, अरिहंत वेष की महिमा है कि दीक्षा होते ही योगी सीधे सातवें गुणस्थान में जा रहा है, उसे जड़मति नहीं कह रहे, उसे तो नमोस्तु कर रहे हैं। इसलिए तात्पर्य समझना कि आचार्यभगवन् श्रमणों को समझा रहे हैं, विषयों की परिणति में अपनी परिणति को मत ले जाना।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव जिनेश्वर का आदेश कह रहे हैं:-

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोऽपि दुःखभाङ्नित्यम्।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किंचिंन्यूनो जिनेश्वरादेशः॥ कलश 243॥

ये जिनेश्वर देव का आदेश है कि जो मुनिवेष धारण करके भी यदि संसार के, अन्य के वश में हो रहा है, वो नित्य ही दुःखों को प्राप्त करेगा, वह संसारी ही है तथा जो मुनि हमेशा स्ववश होता है, वो जीवनमुक्त होता है, जिनेन्द्र भगवान् से किंचित न्यून है अर्थात् वह तो जिनेन्द्रदेव का लघुनंदन है।

भो ज्ञानी! अन्य के वश हो रहा है किसलिए? इच्छाओं की पूर्ति के लिए। जब इच्छाओं की पूर्ति होगी नहीं इस वेष में और इच्छा रखेगा, तो सबसे बड़ा दुःख इच्छा है। झुलसता है इच्छाओं में और निर्ग्रन्थ दशा में तूने इच्छा की तो तीव्र अशुभ कर्म का आस्रव कर लिया, अतः परलोक भी गया। अहो योगी! अपने हाथों से तूने उभय लोक का नाश कर लिया है। इच्छा न हो तो बड़ी शांति रहती है। माना कि मेरी इच्छा पंडित जी से चर्चा करने की थी, कोई श्रावक आकर बैठ गया। उस समय देखना अपनी परिणति, वो जीव आपको ऐसा लगता है कि कब चला जाये, ये कहाँ से आ गया? हम बात नहीं कर पा रहे। बहाने बनायेगा। एक छोटी-सी इच्छा ने आपको एक जीव के प्रति ईर्ष्या को जन्म दे दिया। इसलिए इच्छा के निरोध का नाम तप है। साधु-संघों में भी साधुओं को आपस में चर्चा करने की मनाही रहती है। आपस में नमोस्तु, प्रतिनमोस्तु करेंगे, वैय्यावृत्ति भी करेंगे, लेकिन आचार्यश्री से अनुमति लेकर ही करेंगे। जहाँ संघ में अनुशासन होता है, वहाँ सबसे बड़ी निर्मल व्यवस्था

रहती है। प्रारम्भ में अनुशासन में कठिनता तो लगती है, परन्तु बाद में बड़ा सुहावना प्रतीत होता है।

अहो! पद्मप्रभमलधारिदेव कहाँ बैठे-बैठे सोचते रहे, कैसी-कैसी बातें लिख दी, फिर भी बड़ी सीमा रखी। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी से कम ही नहीं है, बहुत ही ज्यादा कह दिया:

अतएव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे।
अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवल्लभवत् ॥ कलश 244॥

मनीषियो! भगवान् जिनेन्द्रदेव के शासन में रहनेवाले मुनियों को स्ववश ही शोभायमान होता है। यदि वे अन्य वश होते हैं तो वे वैसे ही हैं जैसे —राजा का प्रिय नौकर। हे मुनिराज! तुम राजभृत्य के तुल्य हो यदि स्ववश में नहीं हो। नौकर क्यों कह दिया? क्योंकि तुम लोकप्रिय तो हो जाओगे, परन्तु आत्मप्रिय नहीं बन पाओगे। राजा का जो ईमानदार नौकर होता है, वो राजा को प्रिय होता है। ध्यान रखना, अन्यथा मत लगाना, क्योंकि यह परम आवश्यक अधिकार है, आवश्यक क्रिया को अधिकारपूर्वक रखना पड़ता है।

आचार्यभगवन् गाथा 144 में कह रहे हैं कि निश्चय से जो संयमी शुभभाव में, शुभ क्रियाओं में आचरण करता है, वे अन्य वश हैं, स्ववश नहीं हैं। तात्पर्य, शुभ की क्रियाओं में ही लगे हैं, पर शुभ-उपयोग में नहीं लगे हैं—ऐसा करो, ऐसा करवाना। भो ज्ञानी! बाहर में शुभ तो दिख रही है, अंतरंग में योग में चंचलता चल रही है। अब दूसरी दृष्टि से देखें कि व्यवहार-चारित्र पर ही मात्र दृष्टि है तो शुभ भाव तो बनेंगे, पर शुद्ध भाव नहीं बनेंगे। यहाँ आचार्यभगवन् योगी को प्रेरित कर रहे हैं—अहो मुनीश्वर! अब तो आपकी सीमा बहुत ऊँची है, इन शुभ भावों में कब तक लगे रहोगे? तुम शुद्धभाव की ओर बढ़ो। जब तक शुभभाव है और क्रियाओं में लगे हो, तो शुभभाव भी स्ववश नहीं है। जो क्रिया भाव से युक्त है, वही क्रिया शुभ क्रिया है। अन्य शुभभाव से रिक्त क्रिया शुभयोग तो है, पर शुभ-उपयोग-रूप नहीं है। ये शुभ-उपयोग की दशा है।

भो ज्ञानी! निश्चय नय की दृष्टि से भाव-सहित सम्यग्दृष्टि जीव अवश है और व्यवहार दृष्टि से वश है।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥ स. सार 2॥

जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित है, वह ही स्वसमय है और दर्शन-ज्ञान-चारित्र से पर में पड़ा है, वो ही परसमय है। 'पज्जयमूढ़ा परसमया' पर्याय में जो मूढ़ हो रहा है, वह परसमय है। शुद्धोपयोग स्वसमय, शुभोपयोग परसमय। शुभोपयोग स्वसमय और

अशुभोपयोग परसमय। अब गुणस्थान क्रम का ध्यान रखना, अन्यथा आप गड़बड़ कर दोगे। समयसार का बहिरात्मा छठवें गुणस्थान तक और श्रावकाचार का बहिरात्मा तीसरे गुणस्थान तक। अब समझना, जो सम्यक्त्व के बाह्य है, वो बहिरात्मा; लेकिन जो सम्यक्त्व सहित है, वह अंतरात्मा। चतुर्थ गुणस्थान में जघन्य अंतरात्मा है। छठवें गुणस्थान तक जघन्य अंतरात्मा कथंचित् और सप्तम गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक मध्यम अंतरात्मा। ग्यारहवाँ व बारहवाँ उत्कृष्ट अंतरात्मा और तेरहवाँ व चौदहवाँ गुणस्थान परमात्मा तथा सिद्ध परमात्मा, निकल परमात्मा। समयसार कह रहा है—जो निज आत्मरूप से दूर हैं, वे सब दुरात्मा हैं और जो निज स्वभाव में लीन हैं, वे सब अंतरात्मा हैं। सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव अंतरात्मा और छठवें गुणस्थान तक बहिरात्मा; लेकिन ये मिथ्यादृष्टि नहीं है, असंयमी नहीं है, शुद्ध उपयोगी नहीं है, इसलिए कहा है अपेक्षा लगाना, अन्यथा भटक जाओगे।

मनीषियो! एक पुस्तक में किसी विद्वान ने लिख दिया है कि चतुर्थ गुणस्थान में तो शुद्धोपयोग है, परन्तु पंचम और छठवें गुणस्थान में नहीं है, फिर सातवें गुणस्थान में होता है। अब आप स्वयं सोचना, छठवें गुणस्थान के नीचे के सभी पाँच गुणस्थान प्रमत्त ही हैं। इसलिए प्रमत्त से शुद्ध उपयोग नहीं होता है। ध्यान से सुनना, विवेक लगाना, किसी के तर्क सुनकर भ्रमित मत हो जाना। हमारे आगम में दर्शनशास्त्र को प्रारंभ अवस्था में पढ़ने का निषेध है, जब अच्छे प्रौढ़ हो जाओ, तभी पढ़ना। जब दर्शनशास्त्र का अध्ययन होता है, तो वहाँ पर परपक्ष का प्रतिपादन किया जाता है और ऐसे तर्क रखे जाते हैं कि आपको लगेगा कि यही सत्य है और अपने स्वपक्ष के प्रति डगमग होने लगते हो, जबकि हमारे आचार्यों की बात आज भी वैसी ही सत्य है जैसे पूर्व में थी।

भो ज्ञानी! वैशेषिक दर्शन में एक तर्क आया है—क्या ज्ञान से स्वयं को जाना जाता है, ज्ञान तो पर का जानता है, कैसे? जैसे, नट जब भी खेल दिखाता है तो दूसरे के कंधे पर बैठकर दिखाता है, वह अपने स्वयं के कंधे पर बैठकर खेल नहीं दिखा पाता, दो ही चाहिए पड़ते हैं। यह दृष्टांत गलत है, यह नट की कथा दृष्टांताभास है। जबकि जैनाचार्यों ने प्रति-प्रश्न रखा है कि जब घर में एक दीपक जला होता है, उस जलते हुए दीपक को खोजने के लिये क्या कभी दूसरा दीपक जलाया जाता है? अतः जिसने नयपक्ष को नहीं पढ़ा, चरणानुयोग करणानुयोग को नहीं पढ़ा और अध्यात्मशास्त्र को पढ़ लिया, उसका पक्ष अधूरा है। श्रावक चारों अनुयोगों का अध्ययन कर सकता है, परन्तु समयसारभूत कौन है, इसे ध्यान रखना। जो समयसार का अनुभव कर रहे हैं, वे ही समयसारभूत हैं।

अतः परमत का अध्ययन परमति बनने के लिए नहीं, परमत का अध्ययन स्वमत का पोषण करने के लिए करना चाहिए।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

नियमदेशना

भो बन्धुओ! नियमसार ग्रन्थ में निश्चय परम अधिकार में आचार्य-भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने स्पष्ट कथन किया है। वे निर्ग्रन्थ योगी जो निश्चय आवश्यक से युक्त हैं, जिनेन्द्रदेव से किंचित न्यून हैं, जो स्ववश हैं, परवश नहीं हैं, वे भगवान् जिनेन्द्र के लघुनंदन हैं। जो परवश में लीन हैं, वे राजा प्रियव्रत के तुल्य हैं। जो श्रमण संयमभाव से युक्त हैं, वे स्वभाव में लीन हैं। जब शुभ भाव को अन्य वश कह रहे हैं, तो अशुभ भाव वाला स्ववश कैसे हो सकता है? यही आवश्यक का लक्षण है। यदि निजवश है, तो स्ववश है। आवश्यक है और स्ववश नहीं है तो आवश्यक घटित नहीं होता है।

जो अन्यवश है, परवश है, ऐसे अशुद्ध अंतरात्मा का लक्षण कह रहे हैं। जो भगवान् जिनेन्द्र के मुखकमल से विनिर्गत है, वही प्रमाणिक है, वही आगम है। जो वाणी जिनेन्द्रमुख से नहीं खिरी, वो आगम नहीं है, उसे जिनशासन प्रमाणिक नहीं कहता। यह जैनशासन की महिमा है कि यहाँ आचारसंहिता लिपिबद्ध है और आचारसंहिता से साधु बंधे होते हैं। इस कारण से आपको जैन साधु गलियों में घूमते नहीं मिलते। आचारसंहिता लिपिबद्ध नहीं होती तो नमोऽस्तु कहलाने को कोई नहीं मिलता। जितने आचार्यसंघ होते, सब अपनी-अपनी संहिता को प्रमाणित कहते। जब प्रमाणित संहिता हमारे पास मौजूद है, तब संघभेद हो गये। यदि नहीं होती, तो पता नहीं आज जिनशासन की दशा क्या होती।

भो ज्ञानी! आचार सम्बन्धी शास्त्र, प्रधानरूप से मूलाचार, आचारसार, मूलाचार प्रदीप आराधना सार, भगवती आराधना, मरण कण्डिका आदि, ये आचारांग-प्रधान ग्रन्थ हैं दिगम्बर आम्नाय में। यद्यपि पं. आशाधरजी ने 'अनगार धर्मामृत' लिखा है, परन्तु वो मूलाचार की दृष्टि से ही है। मूलाचार के आधार के विपरीत यदि कोई आचरण है तो वह मूलाचार नहीं है। जिसमें मूलाचार का कथन है, वही मूलाचार है, यतिचार है, श्रमणाचार है। जो 'मूलाचार प्रदीप' ग्रन्थ है, वह मूलाचार का संस्कृत पद्यानुवाद भाष्य है। श्रावकाचार तो 36 हैं, पर मूलाचार एक है। श्रावकाचार तो अलग-अलग काल में आचार्यों ने बनाये हैं, परन्तु मूलाचार अलग-अलग काल में नहीं बनाये। श्रावकाचार में शिथिलाचार बढ़ा है परन्तु मूलाचार में किसी शिथिलाचार को स्वीकार नहीं किया गया है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में श्रावक के अष्टमूल गुण गिनाये हैं। वे सर्वोपरि हैं—पाँच अणुव्रतधारी, तीन मकार का त्यागी। अब तुम्हारा चारित्र इतना गिर चुका है कि पाँच अणुव्रत की जगह पाँच उदम्बर फल आ गये, तीन मकार आ गये। फिर देवदर्शन, रात्रिभोजन त्याग, पानी छानकर पीना, आप इतने नीचे गिरते चले जा रहे हो। हमारा चारित्र इतना नीचे आ चुका है कि जब आचार्य शांतिसागर महाराज उत्तर भारत की तरफ

आये तो श्रावकों को शूद्र जल का त्याग कराना पड़ा। आहार देने वाला शूद्र के द्वारा प्राप्त जल का उपयोग नहीं करेगा। बहुत सारे नियम इसमें आ गये। जो यज्ञोपवीत पहने है, उसका अर्थ है कि अष्टमूलगुणधारी है, प्रतिदिन पूजन करता है, स्वाध्याय करता है, अब उससे नहीं पूछना पड़ेगा कि आलू, प्याज छोड़ा कि नहीं? जैसे कोई नल में छन्ना लगाकर पानी पी रहा हो तो पूछना नहीं पड़ता कौन है? सब समझ जाते हैं कि ये जैन है।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, चरणानुयोग सबसे ज्यादा बदला है, परन्तु फिर भी आचार्यों ने मूलाचार अलग से बनने नहीं दिया। यदि आपसे मूलाचार के अनुसार आचार नहीं पलता तो उसे शिथिलाचार संज्ञा दे दी। उससे ये हुआ कि शुद्ध आम्नाय में कोई फर्क नहीं पड़ा। मध्यकाल में दिगम्बर आम्नाय में गोपुच्छ संघ हो चुका है। एक निष्पिच्छिका संघ भी हुआ है। हमारे आगम में उनको मिथ्यादृष्टि कहकर पुकारना पड़ा क्योंकि यदि ऐसा नहीं कहेंगे तो सुधार नहीं होगा और जो सुधरे हैं वे बिगड़ न जायेंगे। इसलिए उनको मिथ्यादृष्टि कहकर पुकारा। बिना पिच्छी के यति सात कदम से आगे नहीं जा सकता। क्षुल्लकजी के लिये पिच्छी का नियम नहीं है पर ऐलकजी पिच्छी धारण करेंगे। आर्यिका माता उपचार से महाव्रती हैं, उनके ऊपर महाव्रतों का आरोपण होता है। बिना पिच्छी के आर्यिका सात कदम से आगे नही बढ़ सकती है। आगम में पिच्छी रहित का कोई विधान नहीं है। अत: जो समीचीन वृत्ति है उसी के अनुसार प्रवृत्ति करना।

भो ज्ञानी! वाचना यानि स्वाध्याय, पृच्छना यानि पूछना, आम्नाय यानि याद करना, धर्मोपदेश यानि उपदेश और अनुप्रेक्षा यानि चिन्तन। आम्नाय, अनुप्रेक्षा में अन्तर है। अनुप्रेक्षा में जो आपने अध्ययन किया है उसका बार-बार स्मरण करना, चिन्तन करना होता है। आम्नाय में ग्रन्थ के श्लोकों को याद करना, रटना, कंठस्थ करना होता है। जैन आगम चरण-करण प्रधान है। परिणामों को प्रतिक्षण संभालना एवं चर्या को व्यवस्थित रखना है। ऐसा नहीं कि हमारे परिणाम अच्छे हैं और हम कुछ भी करते रहें। ऐसा नहीं कि हम णमो अरिहंताणं का जाप कर रहे हैं और सोच रहे हैं कि उसका विनाश हो जाय। तेरे परिणाम कलुषित चल रहे हैं तो जाप का फल नहीं मिलेगा, अशुभ का आस्रव ही होगा। इसलिए चरण भी निर्मल हो और करण भी निर्मल हो।

भो ज्ञानी! बंध के हेतु चार भी कहे गये हैं और पाँच भी कहे गये हैं। उमास्वामी महाराज ने पाँच हेतु माने हैं और कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार, नियमसार में चार हेतुओं का कथन किया है। उन्होंने कषाय में प्रमाद को ग्रहण किया है। उन पाँच प्रत्ययों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के बन्ध का हेतु कौन-सा है? बंध के हेतु पाँच हैं—मिथ्यात्व, अविरती, प्रमाद, कषाय और योग। रत्नत्रय यदि बंध का हेतु हो जायेगा तो मोक्ष का हेतु क्या होगा?

लेकिन जो मोक्ष के हेतु हैं उनसे तो मोक्ष होना चाहिये। इस हिसाब से जितने मुनिराज हैं सबको मोक्ष जाना चाहिये, एक को भी स्वर्ग नहीं जाना चाहिये। लेकिन स्वर्ग जाते देखे गये हैं। सर्वार्थसिद्धि को मुनि ही जाता है, श्रावक नहीं जाता है। मुनिराज रत्नत्रय की साधना निर्बन्ध दशा की प्राप्ति के लिये कर रहे हैं, परन्तु रत्नत्रय की साधना में जो शुभोपयोग चल रहा है वो राग है। रत्नत्रय की साधना में परमेष्ठी के प्रति अनुराग, धर्मात्मा के प्रति अनुराग, वह अनुराग राग ही तुम्हें स्वर्ग ले जा रहा है, नहीं-तो रत्नत्रय मोक्ष ले जाता। ''रत्नत्रय निर्वाणस्य हेतुः'' अमृतचन्द्र स्वामी ने रत्नत्रय को निर्वाण का हेतु कहा है।

भो ज्ञानी! रत्नत्रय की साधना में 'चलो, वंदना का समय हो गया, अब मुझे भगवान् की वंदना करने जाना है।' ऐसे भाव साधु के मन में आ रहे हैं, वो शुभोपयोग है। उसे शुभास्रव होगा। यहाँ उसे अवश कहा है, परवश कहा है, क्योंकि वह आस्रव, बन्ध का कारण है। अशुभ प्रवृत्ति में अशुभ आस्रव ही होगा, वहाँ तो शुभ की बात भी मत करना। चक्रवर्ती, नारायण आदि जब दिग्विजय को निकालते हैं वो आठ-आठ दिन के उपवास करते हैं। नारायण जब कोटिशिला उठाते हैं तो पहले आठ उपवास करते हैं। लेकिन उनकी दृष्टि जय की होने के कारण आकांक्षित उपवास होता है, इसलिए परमपदभूत नहीं है।

भो ज्ञानी! मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग में से मिथ्यात्व को छोड़कर इन सबसे शुभोपयोग भी होता है। यदि ऐसा नहीं स्वीकारोगे तो आप आगे के गुणस्थान में बढ़ ही नहीं सकते हो। अनंतानुबंधी कषाय के अलावा तीन कषाय में शुभोपयोग होता है। कषाय में आप शुभोपयोग नहीं स्वीकारोगे तो चौथा गुणस्थान क्या दशवां गुणस्थान तक नहीं बनेगा। अव्रतभाव में शुभोपयोग होता है क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव के अव्रत तो है, परन्तु मिथ्यात्व का अभाव होने के कारण उसको पंचपरमेष्ठी में जो अनुराग होता है उससे शुभोपयोग बनता है, अन्यथा क्षायिक सम्यक्त्व नहीं बनेगा। मिथ्यात्वी जीव की प्रवृत्ति में मंदता आने के कारण ग्रैवेयक की यात्रा करता है, ये अनंतानुबंधी कषाय की मंदता की महिमा है। अनंतानुबंधी मंद नहीं होगी तो भद्र मिथ्यादृष्टि कैसे बनेगा? पहले जीव भद्रमिथ्यादृष्टि बनता है, फिर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। भद्रमिथ्यात्व की महिमा से देव-शास्त्र-गुरु के चरणों में आ जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक् को प्राप्त करता है, तो वो मिथ्यात्व को इतना भद्र कर लेता है कि वो तत्त्वों को सुनने की दृष्टि लाता है। पहले थोड़ा ज्ञान होता है, फिर सम्यग्दर्शन होता है, फिर सम्यग्ज्ञान होता है युगपत। सम्यक्चारित्र हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता हैं। पहले तत्त्व का ज्ञान होता है, फिर तत्त्व पर श्रद्धान होता है, तब वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। जब-तक कोई मिथ्यादृष्टि जीव आपकी तत्त्वदेशना को सुनेगा नहीं, देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को जानेगा नहीं, तो श्रद्धा कैसे होगी? तो वो है सामान्य ज्ञान। श्रद्धा जैसे ही हुई,

वो ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। इंद्रभूति गौतम को देखो, इतना बड़ा ज्ञाता, मिथ्यात्व का पोषक और वो ही अंतर्मुहूर्त में सम्यक्त्व में बदल गया। जैसे एक भवन को एक घंटे पहले उसे दूसरी दृष्टि से देखते थे, आपको कोई मतलब नहीं था। एक घंटे में सौदा हो गया तो तुम्हारी भावना पूरी तरह बदल गई। इसकी दीवाल ठीक करवाना है, छत ठीक करवाना है आदि। इसके पहले भावना थी कि गिर रही है तो गिरने दो, टूट रही है तो टूटने दो। ऐसे-ही पहले क्षण में मिथ्यात्व की अवस्था में जिनशासन के प्रति विरुद्ध भावना थी, श्रद्धा बदलने से वह जिनशासन के प्रति अनुकूल भावना बन जाती है। बस, आवश्यकता है श्रद्धा बदलने की, और-कुछ नहीं। पूरे के पूरे राष्ट्र को आप खरीद नहीं सकते और आत्मीयता प्रकट करा दो तो सब तुम्हारे हैं।

भो ज्ञानी! मिथ्यात्व कोई बन्ध नहीं कराता है। मूलाचार जी में मिथ्यात्व को भाव कषाय में समावेश किया है। मिथ्यात्व कषाय नहीं है, भाव कषाय है। अनुभाग बन्ध कषाय से होता है, इसलिए मिथ्यात्व से भी स्थिति, अनुभाग बन्ध होता है। मिथ्यात्व जो है, भाव कषाय है और अनंतानुबंधी जो कषाय है वो किसके साथ पलेगी? आप से पलेगी। फिर एक काम कर दो, मिथ्यात्व हो या नहीं हो, अनंतानुबंधी न हो, अलग-अलग करके दिखाओ। जब जीव चतुर्थ गुणस्थान से गिरता है, सासादन में आता है, तो चार में से कोई एक रहती है। ये ध्यान रखो कि मिथ्यात्व के अभाव में कषाय तो रह सकती है, मिथ्यात्व के अभाव में अनंतानुबंधी तो रह सकती है पर अनंतानुबंधी के अभाव में मिथ्यात्व रहने वाला नहीं है। द्वितीय गुणस्थान में एक स्थिति ऐसी है, कि इस गुणस्थान में एक समय से 6 समय तक चार में से कोई एक अनंतानुबंधी कषाय रह सकती है। रह सकती नहीं, रहती है। मूलाचार जी में स्पष्ट लिखा है कि मिथ्यात्व भाव-कषाय है और भावकषाय के कारण वो भी बन्ध का हेतु है। उमास्वामी महाराज ने स्पष्ट लिखा है कि ''मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये बंध के हेतु हैं। दोनों आचार्यों ने जो लिखा है वह यथार्थ है।

भो ज्ञानी! अनंतानुबंधी कषाय के अभाव से मिथ्यात्व का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। अनंतानुबंधी कषाय के साथ मिथ्यात्व रहता है। मिथ्यात्व के साथ अनंतानुबंधी कषाय रहती है। अनंतानुबंधी का काम है अनंत का अनुबन्ध करा दे और मिथ्यात्व का काम है तत्त्व में अश्रद्धान उत्पन्न कराये। अनंतानुबंधी दोमुहे साँप के समान है, आगे से और पीछे से दोनों मुँह से काटे। अनंतानुबंधी सम्यक्त्व का भी घात कराती है और चारित्र का भी घात कराती है। दर्शनमोहनीय श्रद्धागुण का विनाश कराता है और चारित्रमोहनीय चारित्रगुण का विनाश कराता है। चारित्रमोहनीय का नाश दशवें में नहीं, बारहवें (क्षीण मोह) गुणस्थान में होगा। चौथा गुणस्थान तभी बनता है जब दर्शनमोहनीय का क्षय, उपशम, क्षयोपशम इन तीनों में

से कोई हो। साथ में अनंतानुबंधी का भी अभाव होगा।

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम और देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर जीव की जो परिणति बनती है, वह क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता है और पंचमकाल में मुख्यरूप से वही होता है। उपशम का काल अन्तर्मुहूर्त है, क्षायिक होता नहीं है।

भो ज्ञानी! स्वाध्याय-काल को देखकर स्वाध्याय करना चाहिए। कुन्दकुन्द स्वामी का एक नाम वक्रग्रीवाचार्य है। वो अध्ययन में इतने रत हो गये कि उन्होंने स्वाध्याय के काल का ध्यान नहीं रखा। असमय में स्वाध्याय कर रहे थे तो उनकी गर्दन टेढ़ी हो गई।

भो ज्ञानी! जब-तक मुनिराज की अंजुली नहीं टूटती है, तब-तक चारों प्रकार के आहार का त्याग चल रहा है। जैसे ही अंजुलि छोड़ेंगे, सिद्धभक्ति करेंगे, बस, उतने काल तक आहार का काल और जैसे ही मुद्रा छोड़ी, आहार का तुरन्त त्याग। वहीं रसोईघर में ही प्रत्याख्यान कर लिया। प्रत्याख्यान की प्रवृत्ति कैसी चल रही है, क्योंकि त्याग धर्म है। ज्ञान से कल्याण होने वाला नहीं है। ज्ञान तो इसलिए किया जाता है कि जिससे त्याग में सजगता रहे, त्याग में समीचीनता रहे। वे स्वाध्यायकाल का अवलोकन करके स्वाध्याय करते हैं, आहार करके चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करते हैं। तीनों संध्याओं में भगवान् अरहन्त परमेष्ठी की स्तुतियों से जिनका मुखकमल मुखरित रहता है, वे तीनों संध्याओं में अनेक प्रकार से अरहन्त भगवान् की स्तुति वंदना करते हैं, भक्ति करते हैं। परन्तु ध्यान रखना, आवश्यक तो आवश्यक है, अनावश्यक अनावश्यक है। जब-तक परम आवश्यक प्राप्त नहीं हो, तब-तक व्यवहार आवश्यक को छोड़ मत देना।

॥ भगवान महावीर की जय ॥

नियमदेशना

गाथा 144

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने अध्यात्म की परम सरिता को, भगवान् महावीर स्वामी के उपरांत, प्रवाहित किया। कुन्दकुन्द स्वामी की पंचप्रभावना में नियमसार एक महान् ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आचार्य महाराज ने नियम की चर्चा की है। व्यवहार संयम को निश्चय में कैसे बदला जाता है, इस शैली की चर्चा नियमसार में अभूतपूर्व है। उन्होंने आवश्यक गुप्ति आदि संपूर्ण विषयों को निश्चय की श्रेणी में रखा है। निश्चय के विषय को निश्चय समझना और व्यवहार के विषय को व्यवहार समझना। अध्यात्म का अर्थ आगम का अभाव नहीं है। एक बार में एक का ही कथन होता है। जहाँ ये कथन चल रहा है कि आत्मा अभेद रत्नत्रय से मंडित है, ज्ञानस्वभावी है, ज्ञान आत्मा का धर्म है, वो आत्मा ही ज्ञान है, इसका तात्पर्य शेष धर्मों का अभाव नहीं है, शेष धर्मों को गौण किया है।

यहाँ आचार्यमहाराज निश्चय परम आवश्यक अधिकार में कथन कर रहे हैं। आत्मा वश है कि अवश है? जो पर के वश है, वो निजवश नहीं है। जो निजवश है, वो परवश नहीं है। यह निर्ग्रन्थों की दशा है। जो निर्ग्रन्थ दशा है, वह वाह्य आडम्बर से परे है। ज्ञान ही निर्ग्रन्थता है, ज्ञान ही दिगम्बरत्व है और ज्ञान ही स्वभाव है। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य है बाह्य परिणति से निवृत्ति। जो यह स्वरूप की दशा है, वह निर्ग्रन्थता है। लोगों ने इसका विपरीत अर्थ लगा दिया कि निर्ग्रन्थ यानि रागादिक भावों का अभाव हो गया और वस्त्र पड़े हैं तो रहने दो। ज्ञानी! ऐसा नहीं है। जहाँ ज्ञानस्वभाव की लीनता आ जाती है, वहाँ बाह्य पदार्थ अपने आप पहले से छूटे होते हैं।

अनशनस्वभावी आत्मा की चर्चा कुन्दकुन्द देव, आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव ने षट् आवश्यक अधिकार में कर दी है। अंतरंग, बहिरंग बारह तप हैं। बहिरंग तप दिखते हैं, अंतरंग तप देखने में नहीं आते हैं। अंतरंग तप की वृद्धि के लिये योगी बहिरंग तप करता है। बहिरंग तप न करना पड़े और अंतरंग तप हो जाय, यह सम्भव नहीं है। आचार्य महाराज ने जो कथन किया है वो व्यवहार के विनाश की चर्चा नहीं है। आप व्यवहार को जितना निर्मल पालन कर सकोगे तब निश्चय को प्राप्त कर सकोगे।

साधु चार प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करते हैं। कहीं ये भाव मेरे मन में न रह जाये कि मैंने भोजन किया है। ये भाव मन में न आ जाये कि मुझे भोजन करना है। जो

आहार कर रहा है वह त्रैकालिक है, कषाय का प्रत्याख्यान कर रहा है वो त्रैकालिक है। भोगने का त्याग तूने अनंतबार किया है, पर भोजन-भाव का त्याग तूने कितनी बार किया है? भोजन-भाव का त्याग हो रहा है और भोजन का त्याग न हो, उभय पक्ष को देखना। एक जीव कहता है मैं अनशनस्वभावी हूँ, अनशन मेरा धर्म है। जिस अनशनस्वभावी आत्मा की चर्चा कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं, वो अनशनस्वभाव ज्ञानस्वभाव की योग्यता है। इसे ही जिनवाणी कहती है। वो ही सामायिक संयम है, वही शुद्धोपयोग की दशा है। अनशनस्वभाव में बैठा जीव पुद्गल का भक्षण नहीं करता। अनशन स्वभाव में बैठा जीव छोड़ने या गृहण करने की दृष्टि भी नहीं रखता। अनशनस्वभाव में बैठा जीव निज स्वभाव में ही रहता है।

भो ज्ञानी! ऐसा मत कह बैठना कि मैं निर्ग्रन्थ हूँ ज्ञानस्वभाव में, लेकिन पाँच प्रकार के वस्त्र छूटे नहीं, तुम निर्ग्रन्थ कैसे हो? पोतज, वल्कज, चर्मज, कोसज, रोमज ये पाँच प्रकार के वस्त्र कहे गये हैं। पाँच प्रकार के वस्त्र गौतम स्वामी ने प्रतिक्रमण में कहे हैं। 'नियमसार' में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहे हैं। 'तिलोयपण्णति' में रागी-मोहीजीव को कोसे का कीड़ा कहा है। कोसे का कीड़ा अपने शरीर से ही कोसे को उत्पन्न करता है और उस कोसे को उत्पन्न करके स्वयं कोसे के पीछे अपने जीवन को नष्ट कर देता है। ऐसे ही रागी जीव नाना प्रकार के विषयों के कोष को संचित करके, रागादिक भावों को संचित करके, अन्त में उसी में फँसकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अध्यात्म की दृष्टि से निज विकारी भाव कोस है, वही अम्बर है। उस विकारी भाव के अम्बर का जिसने त्याग किया है, उसका नाम दिगम्बर है। दिगम्बर अपनी चमड़ी का भी राग नहीं करते हैं। वल्कल, छाल आदि को भी जैनशासन ने स्वीकार नहीं किया है। तू छाल के वस्त्रों को धारण नहीं करता है, इसलिए दिगम्बर है। छाल वृक्ष की मूल वस्तु नहीं है। कुछ दिन में अलग हो जाती है। ऐसे-ही छल आत्मा का धर्म नहीं है। जब छल होता है, नियम से पकड़ा जाता है। रोम अर्थात् ऊन आदि के वस्त्र भी स्वीकार्य नहीं है व्यवहार दृष्टि से और निश्चय दृष्टि से प्रमाद रूप रोम को स्वीकार नहीं करते, वे दिगम्बर हैं। जो जीव अण्डे से उत्पन्न होता है, उसके वस्त्रों को स्वीकार नहीं करते। जैसे सर्प अण्डे में पलता है, ऐसे-ही विकारीभाव संकल्प के अण्डे में पलते हैं। जैसे सर्प दोमुखी होता है, ऐसे-ही राग-द्वेष दो मुख हैं। जिन्होंने राग-द्वेष संकल्प-विकल्प का त्याग कर दिया है, वे दिगम्बर मुनि हैं।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि योगी भोगे हुए चार प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करते हैं। तीनों संध्याओं में भगवान् अरहंत की आराधना करे, वे योगी सत्क्रियाओं में तत्पर रहते हैं। पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक, वार्षिक प्रतिक्रमण करते हैं। जैसे आपने मकान बनाया, दीवाल थोड़ी-सी आगे कर दी, शासन उसको अतिक्रमण कहता है। ऐसे-ही निर्ग्रन्थों के मार्ग में जब कहीं संयम की साधना में अतिक्रमण हो जाये तो प्रतिक्रमण का बुलडोजर चला देते हैं। वो प्रतिक्रमण है। कहीं आपको प्रमाद सताया हो, कषाय सताई हो, वासनायें सताई हों, किसी भी कर्म का विपाक उदय में आ गया हो, वे तुरन्त ही प्रतिक्रमण के द्वारा अतिक्रमण को हटा देते हैं। दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथ, पाक्षिक, वार्षिक आदि प्रतिक्रमण के सिवा अंतिम प्रतिक्रमण का नाम है उत्तमार्थ प्रतिक्रमण। ये हो सकता है कि निर्ग्रन्थ दशा को प्राप्त करने के बाद भी यदि कहीं राग की कणिका बैठी रही कि हम इतना बड़ा दोष गुरुचरणों में निवेदन कर देंगे तो वर्तमान में मेरी जो प्रतिष्ठा गुरु की नजरों में है वह गिर जायेगी। यह जहर बैठा रहा तो समाधि तीन काल में सम्भव नहीं है। सल्लेखना-शय्या पर आरूढ़ होने के पहले अंतिम यानि उत्तमार्थ प्रतिक्रमण होता है। उस समय योगी सोचता है कि अब क्या सम्मान क्या अपमान। अंतिम समय में हम नहीं निकाल सके तब क्या होगा? काँटा चाहे छोटा हो या बड़ा हो, वेदना तो होगी ही। यदि आपसे पूर्व में कोई दोष हो जाये तो संतोष की साँस नहीं लेने देता, जब-जब उस व्रत की बात चलेगी तब-तब तुम्हारे अंदर हीनभावना जागेगी कि मैंने व्रत लिया था और मेरे से नहीं पला और लोक-लाज के पीछे मैंने न प्रायश्चित किया है न प्रतिक्रमण किया है, न आलोचना की है, न गर्हा की है, छुपा कर रखा है। ध्यान रखना, साँप चाहे गड्ढे में पले, जंगल में पले, मटके में पले, लेकिन जहर बढ़ रहा है। आप पाप को छुपा लेना या बता देना, प्रायश्चित्त नहीं किया है तो साँप का जहर तो बढ़ रहा है।

भो ज्ञानी! जैन सिद्धान्त में अपघात और परघात दो प्रकृतियाँ हैं। अपघात अर्थात् स्वयं के द्वारा स्वयं का घात और परघात अर्थात् किसी ने तलवार से दूसरे को मार दिया। अज्ञानी रोयेगा कि उसने मुझे मार दिया, पर जैनदर्शन कहेगा कि तेरा परघात नामकर्म का उदय था इसलिए उसकी तलवार तेरे ऊपर चल सकी। परघात नामकर्म का उदय नहीं होता तो कोई तलवार का वार तेरे ऊपर नहीं कर सकता था। ये कितना सशक्त दर्शन है कि सामने तलवार मारने वाले को भी दोषी नहीं कह रहा है। अपघात के विषय में 'सर्वार्थसिद्धि' में पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि स्वयं के द्वारा अस्त्र-शस्त्र से आत्मघात करना, विष आदि खाना, पर्वत

आदि से कूदकर जो आत्मघात कर रहा है उसके अपघात नामकर्म का उदय है। जिसका अपघात नामकर्म का उदय चल रहा है, वो जीवन में कभी-न-कभी अपना घात करेगा। ये अशुभ प्रकृति है। परघात अपघात जैसे अशुभ कर्म का बन्ध न हो, इसलिए आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि प्रतिक्रमण करो। एक बार दो बार नहीं, प्रतिदिन प्रतिक्षण करो।

आचार्य ज्ञानसागरजी से किसी श्रावक ने पूछा महाराज जी! आपको दीक्षा लिये कितना काल व्यतीत हो गया? तो वे कहने लगे कि अभी-अभी दीक्षा लेकर आ रहा हूँ। वह बोला कि महाराज जी! मैंने सुना है कि आप बहुत बड़े ज्ञानी हैं और ज्ञानी गंभीर होते हैं और आप तो मजाक कर रहे हैं। बोले, भाई! इसमें मजाक कैसा? पंचमकाल में दो चारित्र होते हैं, सामायिक और छेदोपस्थापना। सामायिक चारित्र तो है, जब जीव विचलित हो जाता है तो पुनः छेदोपस्थापना करता है। मैं अभी-अभी प्रतिक्रमण करके आ रहा हूँ, अपने चारित्र में उपस्थित होकर आया हूँ, उसका नाम ही तो है दीक्षा लेकर आया हूँ। छेद हुआ हो मेरे व्रतों में, दोष लगा हो तो मैं प्रतिक्रमण करके आ रहा हूँ। मैं अपने छेद को नष्ट करके संयम में उपस्थित होता हूँ। संयम में उपस्थित होने का नाम ही दीक्षा है। इसलिए मैं अभी-अभी दीक्षा लेकर आया हूँ। ये जो प्रतिक्रमण है, वास्तव में निर्ग्रन्थ योगी की त्रैकालिक दीक्षा व्यवस्था है। कैसे? भूत में दोष लगे हों, वर्तमान में लग रहे हों और भविष्य में न लगें, सजग हो रहा है, तो प्रत्याख्यान भी कर लेता है। ध्यान रखना, अज्ञानी संयम के पालन में खिन्न होता है और ज्ञानी संयम के पालन में रोमांचित होता है। जैसे कोई अपने रिश्तेदारों मित्रों से मिलने पर रोमांचित हो जाता है, अज्ञानी पर से मिलने पर रोमांचित होता है और ज्ञानी स्वयं से मिलने पर रोमांचित होता है। यही योगी की दशा है। इस रोमांच को साधारण भाषा में फुरफुरी और आगम की भाषा में प्रसाद, आह्लाद, आनंद कहते हैं। यही आनंद स्वउपयोग में चला जाये तो परमानंद संज्ञा को प्राप्त हो जाता है।

भो ज्ञानी! जब भी धर्मात्मा से मिलो, धर्म की क्रियायें करो, जिनवाणी सुनो, जिनदेव के दर्शन करो, गुरु के पास बैठो तो रोमांचित हो जाओ। श्रमणसंस्कृति में जो साधना होती है, वो निरपेक्ष होती है। दर्शन भी करना तो अपेक्षा मत रखना। प्रभु! आप तो निरपेक्षों के बन्धु हो। निर्ग्रन्थ दशा निरपेक्ष दशा है और संसार का स्वभाव है कि बिना किसी के बंधपने के हुये रह नहीं पाता। व्यक्ति जब इन बंधुओं को छोड़ता है तो फिर निरपेक्ष बन्धु मिल जाते हैं। भगवान् के चरण। उनके चरण के सहारे से आचरण करते हैं। यदि उनके चरण का सहारा

न होता तो तुम किसके सहारे चरण करते? जब-तक वीतराग मुद्रा का हमें भान नहीं है, वीतरागी के परिणाम का ज्ञान नहीं है, तो वीतराग का आचरण कौन करेगा? निरपेक्ष बंधु अरहन्त देव हैं। इनके चरण को देखकर आचरण सुधार लेना। जब आचरण सुधरेगा, तभी धर्म-धर्मात्मा को देखकर रोमांचित हो पाओगे।

भो ज्ञानी! ज्ञान को सीख सकते हो, चारित्र को पालकर सीख सकते हो, लेकिन श्रद्धा किसी से सिखाई नहीं जाती है। किसी से पढ़कर ज्ञान सीख जाओगे, दूसरे की चर्या को देखकर कुछ करना सीख लोगे, लेकिन श्रद्धा तो आपको अपने ही उत्पन्न करनी पड़ेगी। 'अष्टपाहुड' में कुन्दकुन्द स्वामी ने दो प्रकार के विम्बों की चर्चा की है। चेतन जिनविम्ब और अचेतन जिनविम्ब। अचेतन जिनविम्ब अरहंत प्रतिमा है और चेतन जिनविम्ब आचार्य, उपाध्याय, साधु हैं। आत्मा के बारे में जाना जा सकता है, लेकिन आत्मा को योगी ही जान सकता है। भोगी, शास्त्रों का अध्ययन कर, आत्मा के विषय में उपदेश दे सकता है, लेकिन आत्मा का वेदन भोग से नहीं, योग से होगा। आत्मा के बारे में बहुत विद्वान जानते हैं। आत्मा के बारे में जानने के लिए बहुत आगम हैं, पर आत्मा को जानने के लिए आगम का सहारा भी छोड़ना पड़ेगा। जब-तक द्रव्य-आगम में लगे हो, तब-तक भाव-आगम नहीं है और भाव-आगम का होना ही आत्मा को जानना है। आत्मा को जानने और आत्मा के बारे में जानने में उतना ही अंतर है जितना प्रसूति करने और प्रसूति कराने में है। जननी जन्म दे रही है, पीड़ा का अनुभव उसे हो रहा है। दाई जन्म दिला रही है, उसे पीड़ा देखने का अनुभव है।

मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने ग्रन्थों को योगी बनकर योग में बैठने के लिए लिखे हैं। वह व्यापार का विषय नहीं था। अध्यात्मविद्या व्यापार नहीं है। व्यापार का अभाव जिस विद्या से हो, उसका नाम अध्यात्मविद्या है। वह रागादिक विषय भाव का अभाव करने वाली विद्या है। आत्मा भोजन से नहीं जीती है, आत्मा अनशनस्वभाव में ही जीती है। भोजन तो विकारी भाव है, भोजन आत्मा का स्वभाव नहीं है। केवली कभी कवलाहार नहीं करते हैं। सातवें गुणस्थान से भोजन का त्याग हो जाता है।

भो ज्ञानी! चारों प्रकार के आहार का त्याग उपवास है। मात्र पानी लेकर किया गया उपवास, आगम के अनुसार उपवास संज्ञा को प्राप्त नहीं है। उसे अनुपवास कह सकते हैं। अनशन तप का अर्थ होता है चारों प्रकार के आहार-पानी का त्याग। योगी कषायों की मंदता के लिये अनशन व्रत करता है। शरीर के मद को कम करने के लिये उपवास करता है। उपसर्ग परीषह सहन करने की आदत बने, इसलिए साधु समय-समय पर अनशन तप करते रहते हैं।

लम्बे समय तक एक-सी क्रियायें करने से भावनाओं में कमी आ जाती है, इसलिए दैनिक क्रियाओं में कुछ अन्तर डाल दिया करो जिससे सुस्ती नहीं आयेगी। अनशन तप के माध्यम से आगमज्ञान में भी निर्मलता बढ़ती है, प्रमाद का विनाश होता है, विशुद्धि में वृद्धि होती है। ऊनोदर तप अर्थात् भूख से कम खाना, वो भी प्रमाद कम करने के लिये किया जाता है। तुम भरपेट खाओगे तो साधना कैसे करोगे? उत्कृष्ट ऊनोदर तप में चर्या को जायेंगे और एक चावल तथा जल लेकर आ जायेंगे। जघन्य ऊनोदर में भूख से एक ग्रास कम लेंगे। मध्यम ऊनोदर अनेक प्रकार का है। भो ज्ञानी! साधु को आहार देने में जबर्दस्ती नहीं करना। आपने जबरन दे दिया, खाते हैं तो अपच होता है और गिराते हैं तो अछिन्न नाम का दोष, आपने धर्मसंकट में डाल दिया।

भो ज्ञानी! एक पुरुष का आहार 32 ग्रास एवं स्त्री का आहार 28 ग्रास होता है। एक हजार चावल का एक ग्रास होता है। इसलिए 'मूलाचार' आदि आगम को सावधानीपूर्वक पूरा पढ़ना चाहिए। 23 तीर्थंकरों का आहार खीर का हुआ था, कोई चावल गिनने गया था क्या? एक परिमाण दिया गया है। एक दृष्टि यह भी है कि आप पेट के चार भाग करें, दो भाग में खाद्य, एक भाग में पानी, एक भाग खाली। इसलिए मुनिराज की व्यवस्थित चर्या बना दी कि रोग न होने पाये। इसलिए 12 प्रकार के तप बना दिये। अनशन, अवमौदर्य, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, वृत्ति परिसंख्यान और कायक्लेश ये 6 प्रकार के बाह्य तप हैं। रसना इंद्रिय की लोलुपता को कम करने के लिये रस परित्याग नामक तप है। 6 रसों में कोई-न-कोई रस छोड़ देते हैं। प्रतिदिन की रसी जो श्रावक करते हैं, वह रसपरित्याग व्रत के अभ्यास के लिए है। आपका व्रत है, इनका तप है। आपका रस परित्याग नाम का तप नहीं है, वह मुनिराज का है, आपका अतिथि संविभाग व्रत है। आपको उत्तम-से-उत्तम षट्रसयुक्त भोजन बनाना चाहिए। ये साधु को सोचना है कि क्या लें क्या नहीं लें। आप यह विचार नहीं करना कि आज अष्टमी है, चतुर्दशी है, महाराज का उपवास होगा ही। आप तो आहार बनाओ, पड़गाहन के लिये खड़े हो, क्योंकि आपका अतिथि संविभाग व्रत है।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमदेशना

गाथा 144

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि अंतरंग व बहिरंग तप आत्मा की विशुद्धि का एक हेतु है। बाह्य तप के अभाव में अंतरंग तप का उद्‌भव नहीं होता। बर्तन को गर्म किये बिना दूध गर्म नहीं होता। हमारा उद्देश्य बर्तन को तपाना नहीं, दुग्ध को तपाना है, परन्तु बटलोई के तपाये बिना दूध तपता भी नहीं है। इसी प्रकार से बहिरंग साधना के अभाव में अंतरंग साधना नहीं होती है। साधक का उद्देश्य अंतरंग साधना का ही होता है, लेकिन उसके लिए बहिरंग साधना अनिवार्य है। अध्यात्म ग्रन्थ अंतरंग साधना का व्याख्यान करते हैं और आगम शास्त्र अंतरंग व बहिरंग साधना का व्याख्यान करते हैं। यदि कोई चाहे कि 'समयसार' के माध्यम से हम मुनि बन जायें, यह तीनकाल में संभव नहीं है। 'समयसार' मुनिस्वरूप की बात करता है। आपके पास भावचर्या तो है, परन्तु विधि मालूम नहीं है, तो कैसे होगा? जब-तक बहिरंग परिग्रह नहीं छोड़ोगे, तब-तक अंतरंग परिग्रह ही नहीं छोड़ पाओगे और जब-तक परिग्रह का अभाव नहीं होगा, तब-तक चैतन्य चिद्‌रूप भगवती आत्मा की अनुभूति संभव नहीं है। 'समयसार' में मुनि बनने की चर्चा नहीं है, इसमें तो मुनि बने रहने की चर्चा है।

भो ज्ञानी! सार सम्मुचय, तत्त्वार्थसूत्र इन सबमें 12 प्रकार के तप की चर्चा है। यदि कोई चाहे कि मैं द्रव्यानुयोग का अध्ययन करके जैनदर्शन का ज्ञाता बन जाऊँ, तो नहीं बन सकते, क्योंकि अध्यात्मशास्त्र को द्वितीय श्रुतस्कन्ध कहा है। सिद्धान्तशास्त्र प्रथम श्रुतस्कन्ध है, उसमें चरणानुयोग समाविष्ट है। सिद्धान्त का अर्थ होता है जिसका अन्त सिद्ध में हो। जो सिद्धान्त का अन्त होने के बीच में हमें आत्मा में स्थिर कराये, उसका नाम है अध्यात्म। लेकिन अध्यात्म सिद्धि नहीं करायेगा। अध्यात्म सिद्धि की स्थिति को बनाये रखता है और सिद्धान्त आपको सिद्ध कराता है। आप सिद्धान्तग्रन्थ जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, आदि पढ़ेंगे उसमें जीवसमासों की चर्चा है। इन सबसे परे जो अवस्था होती है, वही सिद्ध है। मार्गणास्थान की चर्चा करेंगे, यह अशुद्ध जीव की दशा है। इससे अतीत जो दशा है, वह सिद्ध है। यह सिद्धान्त है। संसार भी सिद्ध है और सिद्ध भी सिद्ध है। जो संसार को सिद्ध नहीं कर पाया, वो सिद्धों की सिद्धि त्रैकालिक नहीं कर पायेगा। तो पहले किसकी सिद्धि करें? आचार्यों ने कहा है कि सिद्धि की सिद्धि तो बाद में, पहले संसार की सिद्धि और दोनों की सिद्धि जब भी होगी तो वह सिद्धान्त से होगी। यथार्थ में सिद्धान्त के अभाव में अध्यात्म झूठा नजर आने लगता है।

भो ज्ञानी! किसी से कहा कि अनशन कर लो। बोले, किसका अनशन? किसका त्याग? तू चिन्मय भगवती-आत्मा है, निज स्वरूप में लीन हो जा। जिसने पहली बार 'भगवती आत्मा' शब्द सुना, वो कहेगा कि भगवती आत्मा कैसी है? उसका रंग कैसा है? ढंग कैसा है? यह शब्द जैसे ही आया, आत्मा का स्वरूप बिगाड़ दिया, क्या पूछ लिया? रंग कैसा है? ढंग कैसा है? क्योंकि चर्मचक्षु से देखनेवाला और क्षयोपशम से पर्याय को जाननेवाला उसे ''अरहस्य अणु'' वह भगवती आत्मा नजर आती है। चरणानुयोग कहेगा कि आज भोजन का त्याग कर दो। 'क्यों कर दें?' इसलिये कर दो कि भोजन नहीं करोगे तो भोजनसम्बन्धी गृद्धता कम होगी। 'उससे क्या फायदा?' उससे लाभ यह होगा कि भोजनसम्बन्धी जो आरम्भ-समारम्भ होने वाला था, वह बच गया, वो हिंसा बच गई। चरणानुयोग कहेगा कि भोजनसम्बन्धी हिंसा का अभाव हो गया। करणानुयोग कहेगा कि अंतरंग में जो भोजनसम्बन्धी कषायभाव बैठा था, उसका उपशम हुआ है। द्रव्यानुयोग कहेगा कि जो भी भोजन करने सम्बन्धी विकार भाव उठ रहे थे, उससे परिणति अशुभ में जा रही थी। उन्होंने भोजन नहीं किया तो विकारभाव मंद हो गये, परिणति शुभ में चली गई। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि उपवास में आप खायें नहीं, परन्तु श्रुत का पान करें, ध्यान आदि करें। जब तुम श्रुत का ध्यान करोगे, परमेष्ठी की आराधना करोगे, तो आपका उपयोग अशुभ से बच गया, ये द्रव्यानुयोग कह रहा है। प्रथमानुयोग कहेगा कि जैसे पूर्व में भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि महापुरुषों ने गृहस्थ-अवस्था में ऐसी साधना की थी, शिक्षाव्रतों का पालन किया था, तो मुनि बनने के भाव हो गये। आचार्य महाराज कहते हैं कि एक विषय में चारों अनुयोग एकसाथ चलते हैं, लेकिन व्याख्यान एक अनुयोग का ही होता है।

भो ज्ञानी! क्रियाकाण्ड का नाम धर्म नहीं है, परन्तु धर्म की प्राप्ति बिना क्रियाकाण्ड के नहीं है। स्वाध्याय को अध्यात्म क्रियाकण्ड कहेगा। 'सागार धर्मामृत' में पं. आशाधर जी लिखते हैं कि प्रवक्ता का उद्देश्य यश प्राप्ति नहीं होना चाहिए। यश प्राप्ति का उद्देश्य रहेगा तो श्रोताओं का कल्याण नहीं करा पायेगा। जैसा श्रोता चाहते हैं, वैसा सुनायेगा; जबकि तुम्हारा उद्देश्य जिनवाणी का कथन होना चाहिये, श्रोता का हित होना चाहिये। वैद्य रोग के हिसाब से औषधि देता है, रोगी के अनुसार नहीं। द्रव्यानुयोग पढ़ने के पूर्व चरणानुयोग, करणानुयोग का ज्ञान होना चाहिये, तभी द्रव्यानुयोग में प्रवेश हो पायेगा।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि निश्चय दृष्टि से निज चेतन में लीन होना ही प्रायश्चित्त है। व्यवहार दृष्टि से हुये दोषों का प्रच्छालन करना गुरुचरणों में बैठकर, प्रायश्चित्त है। बिना प्रायश्चित्त के चित्त शुद्धि होती नहीं है। भो ज्ञानी! देव तुम्हारे बोलते नहीं है, जिनवाणी कुछ कहती नहीं है, इसलिए देव या जिनवाणी के समक्ष प्रायश्चित्त नहीं करना, क्योंकि वहाँ मनमाना ही होगा। प्रायश्चित्त गुरु के समक्ष ही करना। गुरु इसलिए कहा कि अभी तक हमारी गलती किसी को पता नहीं थी, अब मालूम चल गई है, अब संभलकर चलो। भय बना रहता है, लज्जा बनी रहती है। लज्जा चली जाय तो संयम नहीं पल सकता है।

प्रायश्चित्त का अर्थ है भाव सहित द्रव्य चारित्र में स्थापना अर्थात् शुभ क्रियाओं में पुनः स्थापित होना। जिसको शुद्ध होना है, वो प्रायश्चित्त की सोचेगा, गुरु नहीं सोचेंगे। मार्दव-आर्जव धर्म को प्राप्त किये बिना प्रायश्चित नहीं ले सकते हो। शौचधर्म होगा तो आँच आ जायेगी तो प्रायश्चित्त नहीं ले पाओगे। 'मूलाचार' में लिखा है कि आलोचना दो प्रकार की होती है। एक लोक आलोचना और दूसरी परलोक आलोचना। यदि मेरे से कोई दोष हो गया है तो लोक में फैले या न फैले, पर आत्म-लोक तो बिगड़ चुका है। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि लज्जा बनाये रखो। जैसे लड़का पिता से लड़ता है, पर मेहमान आ जाये तो बड़े आदर से 'पिताजी' कहता है। इसलिए साधु को लज्जा बनाकर रखनी चाहिए कि मेरा जो हो रहा है सो हो, लेकिन जिनशासन की अप्रभावना न हो।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि निज संयम में स्थित होने के लिये प्रायश्चित्त नाम का तप होता है। प्रायश्चित्त तप अंतरंग तप है, क्योंकि विशुद्धि अंतरंग से होगी, तभी प्रायश्चित्त होगा। पूज्य के गुणों में अनुराग होना, विनय तप है। गुरुओं और पशुओं से कभी आँख मत मिलाना, दृष्टि नीचे रखना। पशु की आँख से आँख मिलाओगे तो वो आक्रमण कर देगा। धीरे-से निकल जाना। गुरु आपसे नाराज भी हो तो प्रणाम कर लेना। प्रणाम करने मात्र से गुरु प्रसन्न हो जाते हैं। क्षत्रिय को भेंट देने से, ब्राह्मण दक्षिणा मात्र से, सवा रुपया का साडा बनिया को देने से प्रसन्न हो जाता है। ऐसा आचार्य सोमदेव सूरि ने 'नीति वाक्यामृत' में लिखा है। वैय्याव्रत सेवा करना भी अंतरंग तप है क्योंकि अंतरंग में लघुता नहीं होगी तो तुम किसी के पैर नहीं दबा पाओगे। व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग ये भी अंतरंग तप की श्रेणी में आते हैं। ऐसे अंतरंग तपों में निकट होने वाले जो कुशल बुद्धि हैं, वे निरपेक्ष तपोघन साक्षात् मोक्ष के लिये कारणभूत अपनी आत्मा के आश्रित जो आवश्यक क्रिया है, जो परमात्म तत्त्व में

विश्रांतिरूप धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान हैं जो उसको नहीं जानते हैं वे परद्रव्य के अधीन होने से जो अन्यवश कहे गये हैं, जिनका चित्त तपश्चरण में निरत है, ऐसे अन्यवश हुए तपोधन, शुभोपयोग के फलस्वरूप ऐसे प्रशस्तराग से आसन्नभव्यता नामक गुण का उदय होने पर, शुद्ध निश्चय रत्नत्रय की परिणति द्वारा, निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

भो ज्ञानी! तप के माध्यम से इंद्रियों का दमन, कषाय का उपशमन दोनों युगपत होते हैं। इंद्रियों का दमन नहीं है तो कषाय का उपशमन नहीं है। यदि इंद्रियविषयों की लोलुपता है, वह नियम से कषाय है। जहाँ कषाय है, वहाँ नियम से इंद्रिय लोलुपता है। कषाय का शमन कर लो, भाव शुद्ध कर लो, परिणति निर्मल होगी। जहाँ-जहाँ इंद्रिय-भोग-लिप्सा है, वहाँ-वहाँ नियम से राग बसा है। जहाँ-जहाँ राग बसा है, वहाँ नियम से कषाय परिणति है। इस जीव ने अभक्ष्य का त्याग किया है, चरणानुयोग कहेगा कि जिसने सप्त व्यसन का त्याग किया है, आठ अंगों को पालता है। करणानुयोग वही कहेगा, द्रव्यानुयोग वही कहेगा कि जिसने अभक्ष्य को छोड़ा है, अनाचार छोड़ा है, मिथ्यात्व छोड़ा है, उस जीव के लिए अंतरंग में अनंतानुबंधी कषाय का उपशमन हुआ है। द्रव्यानुयोग कहेगा कि इसका सम्यक् दृढ़चारित्र प्रारम्भ हुआ है। कुन्दकुन्द देव ने 'अष्टपाहुड' में सप्त व्यसन त्यागी, अभक्ष्य त्यागी, अन्य अंगों का पालन करने वाले को सम्यग्दर्शन से युक्त कहा है। सामने दिख रहा है तो हम व्यवहार से कह सकते हैं कि इसके मिथ्यात्व का विगलन है और जिसके सम्यक्ता नहीं है, उसे हम व्यवहार से भी सम्यग्दृष्टि नहीं कह पायेंगे। जिनदेव, जिनवाणी, निर्ग्रन्थ इनके प्रति निश्चल और निर्मल भाव नहीं हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।

भो ज्ञानी! एक पंडितजी ने हाथ में जिनवाणी ली और कहा, नमोस्तु महाराज। बोले, हमने मुनिराज को नहीं, जिनवाणी को नमस्कार किया है। संसार में विचित्र लोग हैं। बोले, जब हम महाराज जी के पास जाते हैं, तो जिनवाणी लेकर जाते हैं। पूछा, क्यों जाते हो? बोले, इसलिए जाते हैं कि सम्मान मिलता है। सम्यग्दृष्टि जीव का विनय निश्चल और निश्छल होता है। जिसने यह निर्णय कर लिया कि यह वीतराग मार्ग नहीं है, तो निश्छलता, निश्चलता नहीं आयेगी। और निश्चय है तो वह छल नहीं करेगा, निश्छल होगा। जब-तक निश्छलता नहीं आयेगी, आप तत्त्वों का अध्ययन करते रहो, प्रज्ञा के माध्यम से लोकप्रसिद्धि को प्राप्त कर सकते हो, परन्तु करणानुयोग कहेगा कि अलोक दृष्टि नहीं बन पायेगी।

आचार्यभगवन् ने भक्ति को प्रधानता दी है, क्योंकि भेदविज्ञानी को ही भेदविज्ञानी के प्रति भक्ति होती है और जिसको भेदविज्ञानी के प्रति भक्ति नहीं है, तो वह मिथ्यादृष्टि है। भेदविज्ञान, कथंचित, आँखों से दिखता है। जैसे किसी के शरीर पर फोड़ा हो गया। जिस जीव का रक्त खराब हुआ है उसे फोड़ा हुआ है। रक्त की खराबी फोड़े के रूप में दिख रही है। जिसका रक्त निर्मल है, उसके शरीर की अवस्था निर्मल दिखती है। इसी प्रकार जिसकी परिणति अशुद्ध है, अशुभ है, उसकी प्रवृत्ति भी अशुद्ध दिखती है। जिसकी परिणति निर्मल है, उसकी चर्या भी निर्मल दिखती है। भेदविज्ञान हो और तत्त्व के विपरीत चिन्तन हो, ये कभी संभव नहीं है, क्योंकि भेदविज्ञानी की दृष्टि निर्मल होती है। वह चींटी में भी भगवान् को देखता है। वह पाषाण में भी भगवान् को देखता है। वह वनस्पति में भी भगवान् को देखता है। लेकिन देखता द्रव्यदृष्टि से ही है, पूजने की दृष्टि से नहीं देखता है। पूजने की दृष्टि से देखें तो मिथ्यात्व है। वहाँ देखने की दृष्टि द्रव्य की है, वहाँ दृष्टि बोध की है। बीज तो बीज है, बीज वृक्ष नहीं है, पर बीज के बिना वृक्ष नहीं। जीवमात्र भगवान् नहीं है, पर जीव के बिना भगवान् नहीं होते। मैं भगवानों की बात नहीं सुना रहा हूँ, भगवान् बनने की बात बता रहा हूँ। जो भटके हुये हैं, भविष्य के भगवान् हैं, उन भगवानों के सामने भगवत्ता की बात की जाती है। भगवानों के सामने भगवानों की बात नहीं की जाती। भगवान् के सामने तो भगवान् की स्तुति की जाती है।

भो ज्ञानी! वैराग्य रागियों के ही होता है। जब-तक राग में राग दिखता है, तब-तक वैराग्य नहीं होता है और जब राग बाहर आ जाता है, तो वैराग्य हो जाता है। वही काँच, वहीं कंघी, वही बाल, वही चेहरा देखते-देखते अनेक वर्ष व्यतीत हो गये, फिर भी वैराग्य नहीं आया और उसी दर्पण में एक बार देखा तो वैराग्य हो गया। वह चन्द्रप्रभु भगवान् के पूर्वपर्याय की दशा है। वे दर्पण में देख मात्र रहे थे। दर्पण राग है कि वैराग्य? दर्पण रागी के लिये वैराग्य बन गया। आप अपना बहुत सारा समय दर्पण देखने में बिताते हो। यदि दर्पण में स्वयं को देख लिया होता तो दर्पण देखना नहीं पड़ता। आप अपने सफेद बालों को देखते रहे, परन्तु अन्दर में सफेदी नहीं होने के कारण आपको सफेद बाल भी काले दिखते हैं। बालों की सफेदी से वैराग्य नहीं होता, अन्दर की सफेदी से वैराग्य होता है। बालों की सफेदी से वैराग्य होता तो सब वैरागी ही दिखते। भावों में सफेदी नहीं है तो बाल काले हों या सफेद

हों, मोक्ष नहीं मिलेगा। यहाँ बालों की चर्चा नहीं है। स्वात्म तत्त्व की चर्चा है। इसलिए बालों में मोक्ष नहीं है।

भो ज्ञानी! व्यवहारदृष्टि से जैन हो, क्योंकि जो जिनदेव का उपासक है वह जैन है। सिद्धान्तदृष्टि से पंचेद्रिय जाति बैठी हुई है और निश्चयदृष्टि से भगवान्आत्मा हो। इसके सिवा कोई परिचय नहीं है। चमड़ी का परिचय, पंचेद्रिय मनुष्यपर्याय का परिचय कितने समय का दे पाओगे? इसलिए संसार का जितना भी परिचय होगा, वह अधूरा ही होगा, असत्य ही होगा। इस परिचय को तू सत्य मानके बैठा है, इसलिए तू सत्य को समझ नहीं पा रहा है। जैनसमाज में जन्मे हो, इसलिए जैन हो। अन्य समाज में जन्मे होते तो क्या कहते? उसे ही सत्य कहते। जन्म से सत्य को खोजना मिथ्यात्व है। जाति, नगर आदि से सत्य को खोजना मिथ्यात्व है। इसलिए जैनदर्शन में नगर का त्याग, जाति का त्याग, पंथ सम्प्रदायों का त्याग कहा गया है। जाति, लिंग आदि का विकल्प बैठा है तो अनात्मदर्शी। भविष्य में मेरा परिचय क्या होगा? हम जहाँ जन्मेंगे, उसे ही सत्य मानेंगे। ये सब रंगीन काँच हैं। जैसा काँच होगा, वैसा द्रव्य दिखेगा। जब सफेद काँच चढ़ जाता है तो द्रव्य जैसा है वैसा दिखता है। इसी तरह न पीत लेश्या से मोक्ष होता है, न पद्म लेश्या से, न कृष्ण लेश्या से मोक्ष होता है। शुक्ल लेश्या से और अंत में अलेश्या से ही मोक्ष होता है। रंग-बिरंगे भाव जब-तक रहेंगे, तक-तक मोक्ष नहीं होगा।

भो ज्ञानी! तीर्थंकर भगवान् समस्त विभूतियों को छोड़ करके जंगल में अकेले बैठते हैं, क्योंकि जिनके बीच में रहेंगे वो अपना कहेगा। अपना कहे, इससे कोई दिक्कत नहीं है, लेकिन उनके बीच में मैं उनका हो गया तो मेरे साथ दिक्कत-ही-दिक्कत है। इसलिए सबसे परे होकर चलना। गन्ने की गाँठ में रस नहीं होता, गाँठ से ऊपर होता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी निर्वाणभक्ति में कहते हैं कि जैसा-जैसा पेलो, वैसा निकलता है। मधुर शब्दार्थ रस। वह शुद्ध उपदेश सार-स्वरूप ही होता है। जब-तक सुना जा रहा है, सुन रहे थे, तब तक समयसार की प्राप्ति नहीं है। कुछ लोगों को बाहर का संगीत पसंद होता है, कुछ को अध्यात्म-संगीत पसंद होता है। उसको आपने कर्ण का विषय बना लिया तो वो भी राग है, राग शुद्ध-सार नहीं है। शुद्धसार, वह खालिस शुद्ध है। यह शुद्ध सार ग्रन्थों का नहीं, निर्ग्रन्थों का है। निर्ग्रन्थ दशा में बैठकर समझोगे तो समझ में आयेगा।

भो ज्ञानी! किसी कार्य में पाप उसे ही दिखता है जिसने पाप करना छोड़ दिया है। जब-तक पाप करना नहीं छोड़ा, उसे पाप नहीं दिखता है। इस भवन में एक जीव मार्जन करके बैठ रहा है और दूसरा आकरके सीधा बैठ गया। क्यों? एक के लिये जीव थे, दूसरे के लिये नहीं थे। साधक मार्जन करके बैठा है और श्रावक सीधे बैठ गया। यदि आपने संयम लिया होता और बिना मार्जन के आप बैठ गये होते तो आपके अन्दर में खिन्नता आती। आपने मार्जन का नियम नहीं लिया है, इसलिए कोई विकल्प नहीं आया। अव्रत दशा में कर्म का तीव्र आस्रव होता है क्योंकि व्रत का भान नहीं रहता है। वह सोचता भी नहीं है कि जीव की रक्षा करनी चाहिए। जब-तक अंदर से रुचि नहीं हो, संयम के भाव नहीं आते। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि देव-शास्त्र-गुरु का भक्त है और संसार-शरीर-भोगों में लिप्त है, वो सम्यग्दृष्टि नहीं है। कोई व्रत लेता है, व्रत दिखावे के लिये भी लिया जा सकता है, देव-शास्त्र-गुरु के पास कभी नहीं जाता है, वह व्रती नहीं कहा जा सकता है। मात्र व्रत लेने का नाम सम्यग्दृष्टि नहीं, पदार्थों को छोड़ने वाला सम्यग्दृष्टि नहीं। देव-शास्त्र-गुरु का भक्त है और संसार-शरीर-भोगों से विरक्त है, तो सम्यग्दृष्टि है।

भो ज्ञानी! अध्यात्म ग्रन्थों में 'द्रव्यसंग्रह' और चरणानुयोग के ग्रन्थ में 'रयणसार' में एक पंक्ति में निश्चय दूसरी पंक्ति में व्यवहार का कथन है। रयणसार में एक पंक्ति में श्रमणचर्या, दूसरी पंक्ति में श्रावकचर्या का कथन है। दान देना, पूजा करना श्रावक का मुख्य कर्तव्य है। ध्यान, अध्ययन करना श्रमण का मुख्य कर्तव्य है, धर्म है। रयणसार में उभय पद का कथन किया है। एक ओर श्रद्धा का ग्रहण और दूसरी ओर भोगों के त्याग का कथन एकसाथ किया है। सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान-वैराग्य शक्ति से समन्वित होता है। निर्मल सोच होने से इंद्रियाँ मुरझा जाती हैं, शांत हो जाती हैं, उस समय तू उत्प्रेरित करता है, बलात् प्रेरित करता है कि तुम कहाँ जा रही हो? रस तो इसमें है। बस वो रसपने के वश में हो जाने के कारण ही तेरा कार्यपरमात्मा प्रगट नहीं हो पा रहा है। यही तत्त्व का सार है, समयसार है, कि कारण-परमात्मा को कार्य-परमात्मा रूप परिणत करता है। जब-तक कारणपरमात्मा को कार्य-परमात्मा रूप परिणत नहीं करेंगे, तब-तक न वो कारण है, न कार्य है। कारणपरमात्मा तो एकेन्द्रिय जीव भी है, निगोदिया भी है। कारण परमात्मा तो अभव्य भी है, परन्तु वे कारण 'कारण' नहीं हैं। आगम उसे कारण कहता है जो कार्य को कराता है। जो कार्य को कराये, वो कारण। आपको अध्यक्ष बना दिया और आप कोई कार्य नहीं करते हो, दूसरा कार्य करता

है, तो लोग कहेंगे कि ये तो नाम के अध्यक्ष हैं। काम के अध्यक्ष तो ये हैं जो काम करते हैं।

भो ज्ञानी! जो कारण तत्क्षण में कार्य कर रहा है, वो तो कारण है और जिस कारण से कार्य नहीं होता, उसे जिनागम में 'कारण' की संज्ञा नहीं दी जाती। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व जैसी क्रियायें करते दिख सकता है। रामचन्द्र जी छह महीने तक भाई के शव को लिये घूम रहे हैं। आपकी दृष्टि में वो मिथ्यात्वी जैसे झलक रहे हैं। पर उस जीव के करणानुयोग बैठा हुआ है। ये कब तक घूम रहे हैं? छह मास तक। उनको चारित्रमोहनीय पेर रहा है। जैसे ही उसका उदय समाप्त हुआ, उनको तत्त्वज्ञान हुआ। भो ज्ञानी! उनका उन्माद भाव कारण-परमात्मा नहीं था। उनके पास क्षायिकसम्यक्त्व कारणभाव था। उन्माद दशा कारण नहीं है। आगम कहता है कि सम्यग्दृष्टि भोग भोगते निर्जरा को प्राप्त हो रहा है। भोगों से निर्जरा नहीं होती, पर सम्यक्त्व के साथ भोगों को भोग रहा है, उस सम्यक्त्व के कारण भोग होते हुये भी निर्जरा है। इसी प्रकार से भाई को लेकर घूमना, भरतेश का भाई पर चक्र चलाना, ये निर्जरा का कारण नहीं है। ये कारणपरमात्मा-भाव भी नहीं है, ये क्षायिकसम्यक्त्व दशा है। चारित्रमोहनीय की विडम्बना के कारण पर्दा पड़ा था। चारित्रमोहनीय से उलझे थे, पर दर्शनमोहनीय का क्षय था, परन्तु ये भी कहना कि वेदन नहीं था। देखना राग की महिमा, जब भाई को लिये घूम रहे थे, तब लोगों ने कहा कि तुम मुर्दे को लिये घूम रहे हो, तो भाई का राग कहता था कि मरे तुम्हारे पिता, मरे तुम्हारा भाई और उठाकर चल देते थे। जब कृतान्तवक्र के जीव, देव ने आकरके घानी में बालू पेलना शुरू किया, तो वे राम कहते हैं 'अहो! तू कैसा है? कहीं बालू से तेल निकलता है?' प्रतिबोध देखना, 'बालू से तेल नहीं निकलता तो मुर्दा भोजन करता है क्या?' ऐसा सुनकर उठाकर चल दिये। आगे वही देव पाषाण पर बीज बोने लगा, तो पूछते हैं 'पाषाण में कहीं बीज उगता है क्या?' देव बोला, 'मुर्दा सुगन्धित पदार्थ सूंघता है क्या?' छह मास हो गये तो विचार करते हैं कि धिक्कार हो मुझे। राग की दशा में क्षायिक सम्यक्त्व काम कर रहा है। राग की दशा में मैं अज्ञानी बना घूम रहा हूँ। धिक्कार हो मुझे। चलो, संस्कार करो इसका। कषाय का संस्कार हट गया तो शरीर का संस्कार हो गया।

भो ज्ञानी! कषाय का संस्कार हट जाये तो शरीर का संस्कार शुरू हो जाय, केशलुंचन प्रारम्भ हो जाये। छह महीने तक क्षायिक सम्यक्त्व का अभाव नहीं था, वेदन का भी अभाव नहीं था। वो तो ऐसा मान लो कि आपने किसी को सुन्न करने का इंजेक्शन लगा दिया, लेकिन

अंदर की प्रक्रिया समाप्त नहीं हुई है, चल रही है। कोई कोमा में चला गया तो यह मत कहना कि संज्ञायें नष्ट हो गई। भोजन भी कर रहा है, नाली के द्वारा। पूरा हृष्टपुष्ट भी रह सकता है, क्योंकि मात्र स्नायुतंत्र का काम बिगड़ा है, पूरे शरीर का संचालन नहीं बिगड़ा है। वो चारित्रमोहनीय से काम बिगड़ा था, दर्शनमोहनीय का क्षय अपना काम करायेगी। क्योंकि दर्शनमोहनीय का क्षय हो चुका है। सम्यक्त्व रुचि अंतरंग में नहीं है तो क्षायिक सम्यक्त्व का अभाव करना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! दशवें गुणस्थान की लोभकषाय का क्या वेदन है? अंतरंग में चल रही है। ऐसे-ही जीव का सम्यग्दर्शन अंतरंग में जाज्वल्यमान है, वैसे-ही क्षायिकभाव निर्मल है, लेकिन चारित्रमोहनीय की दशा कैसी प्रबल है कि दिख रहा है पागल/उन्मत्त-जैसा। माता की, तीर्थंकर की जननी कहके, सेवा हो रही है, पूजा हो रही है। 'वर्द्धमान चारित्र' में आता है कि वर्द्धमान जब दीक्षा ले रहे होते हैं, उस स्थल पर माता सामान्य माता की भाँति रोते-बिलखते जाती है, बाल बिखरे हैं, आँखों से आँसू गिर रहे हैं। इंद्राणी (शची) समझा रही है, 'जगतजननी! ये आप क्या कर रही हो? आप सामान्य नारी-जैसे रो रही हो? आप तो तीर्थंकर की माता हो' तब उसको प्रतिबोध आता है कि यह तो नियोग है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि ऐसे कारणपरमात्मा को जिसने समझा है उसकी कार्यपरमात्मा पर दृष्टि है। संयम ही कारणपरमात्मा है और सिद्धत्व ही कार्यपरमात्मा है। जब जीव मिथ्यात्व में होता है, तो पहले सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करता, विश्राम लेता है, फिर मन बनाता है कि मैं क्या करने जा रहा हूँ, फिर विशुद्ध होता है, फिर सम्यक्त्व प्राप्त करता है। ऐसे-ही मिथ्यादृष्टि जीव जब विषयों से थक जाता है, फिर विश्राम लेता है, फिर सोचता है कि उपादेय क्या है? तब कहीं तत्त्वदृष्टि बनती है। तब होता है निश्चय धर्म्यध्यान शुक्लध्यान और जब-तक विश्रांति नहीं, तब-तक नहीं जान पाता है। परद्रव्य के अधीन होने से वे अन्यवश कहे गये हैं। जिनका चित्त तपश्चरण में निरत है, ऐसे ये ही अन्यवश हुये तपोधन स्वर्गलोकादि की क्लेश परंपरा से शुभोपयोग के कारण, प्रशस्त राग से आसन्नभव्यता गुण का उदय होने पर, परमगुरु की कृपा से, परम तत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप शुद्ध निश्चय रत्नत्रय की परिणति के द्वारा, निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

गाथा 145

उत्थानिका : द्रव्य-गुण-पर्यायों में रत अन्यवश ही है

गाथा : दव्वगुणपज्जयाणं, चित्तं जो कुणदि सो वि अण्णवसो।
मोहान्धयारववगय समणा, कहयंति एरिसयं॥145॥

संस्कृत छाया : द्रव्यगुणपर्यायाणं चित्तं यः करोति सोऽप्यन्यवशः।
मोहंधकारव्यपगतश्रमणाः कथयन्तीदृशम्॥145॥

अन्वयार्थ : (द्रव्यगुणपर्यायाणं) द्रव्य गुण और पर्याय में (यः) जो (चित्तं करोति) चित्त को लगाता है (सः अपि अन्यवशः) वह भी अन्यवश है (मोहान्धकार व्यपगत श्रमणाः) मोहान्धकार से रहित श्रमण (ईदृशं कथयंति) कहते हैं।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व में यह संकेत दिया कि अंतरंग व बहिरंग उभय तप जब-तक साधक के उत्पन्न नहीं होते, तब-तक निजवश से बाह्य है, निज स्वभाव से बाह्य है। अंतरंग व बहिरंग तप जहाँ है, वहीं अवश्य है, अन्यथा अन्य वश है और अन्यवश अवस्था जहाँ तक है, वहाँ तक नियम से कर्म का बन्ध है। आचार्यमहाराज कहते हैं कि स्वर्ग आदि की विभूतियाँ यह क्लेश है। लोग क्लेश का अर्थ सामान्य भाषा में झगड़ा समझते हैं। क्लेश का अर्थ होता है संक्लेश। जब इंद्रिय के विषयभाव की तीव्रता आती है, उस समय संक्लेशता होती है। जब इंद्रियविषय के उपभोग की भावना आती है और तद्रूप भोग की प्राप्ति न हो, तो कैसे तड़पता है। प्राप्ति होने पर हर्षित भाव आ रहा है, वो भी कषाय है। कषाय परिणति का नाम ही संक्लेशता है। इसलिए स्वर्ग को भी शांति का हेतु नहीं मानना।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव टीका में कह रहे हैं, 'भो चैतन्य! प्रशस्तरूप अंगारों पर कब-तक सिकते रहोगे? ये स्वर्ग के सुख प्रशस्त अंगारे हैं। जहाँ प्रशस्त का भी विकल्प न हो, वह शुद्धोपयोग की निश्छल दशा है। वह न प्रशस्त अंगारों को दिलायेगी न अप्रशस्त अंगारों को दिलायेगी। वह समरसी भाव चिद्रूप चैतन्य भगवती-आत्मा की शुद्ध दशा को प्राप्त करायेगी। लेकिन जब-तक आपका अशुभ परिणाम नहीं छूटता है, तब-तक शुभोपयोग

में लगे रहना ठीक है। आचार्यभगवन् निर्विकल्प ध्यान में बैठे हुये योगी के लिये कह रहे हैं।

त्यजतु सुरलोकादिक्लेशे रतिं मुनिपुंगवो
भजतु परमानन्दं निर्वाणकारणकारणम्।
सकल विमलज्ञानावासं निरावरणात्मकं
सहज परमात्मानं दूरं नयानयसंहतेः॥ कलश 245॥

आज्ञा दे रहे हैं 'हे मुनिपुंगव! स्वर्गलोक के क्लेश की रति को छोड़ दो। हे मुनिश्रेष्ठ! आप इस दृष्टि को भी छोड़ दो कि मैं स्वर्ग जाऊँ। तुम्हारी दृष्टि तो अर्जुन के समान होनी चाहिये कि गुरुदेव! मुझे पत्र नहीं, पुष्प नहीं, फल नहीं, वृक्ष नहीं, मात्र लक्ष्य दिख रहा है। इसी प्रकार से निर्ग्रन्थ योगी को यश नहीं, कीर्ति नहीं, पूजा नहीं, स्वर्ग नहीं, नरक नहीं, इन सबसे परे शुद्ध सिद्धभूत त्रैकालिक सिद्ध आत्मा का स्वभाव दिखता है। हे योगेन्द्र! आप परमानंद को भजो, जो निर्वाण का कारण है। संपूर्ण निर्मल ज्ञान का आवास है, जिसमें कोई आवरण नहीं है। ऐसा जो सहज परमात्मस्वभाव है, वह नय, अनय, कुनय, सुनय इन सबसे, विकल्पों से परे परमात्म स्वभाव है, उसे प्राप्त करो। ये निश्चय, ये व्यवहार, इनमें जो उलझा है वह सबसे बड़ा अज्ञानवादी है। न तो निश्चयनय मोक्ष दिला पायेगा, न व्यवहारनय मोक्ष दिला पायेगा। मुक्ति का हेतु, निर्वाण का कारण परमानंद स्वभाव है। रत्नत्रय की आराधना ये कारण का कारण है। स्वभाव की लीनता कारण और सिद्ध-अवस्था कार्य। पहले सहज रूप से निज आत्मतत्त्व को समझो, समझ करके रत्नत्रय को भजो और रत्नत्रय की आराधना से जो परमदशा बनेगी वह सिद्धत्व का कारण बनेगी। शुद्धोपयोग के बिना परमानंद संभव नहीं है। जो शुद्धोपयोग की दशा का स्पर्श कर रहे हैं, उनसे कहा जा रहा है कि शुभोपयोग अंगारा है। दो दृष्टियाँ हैं। एक से कहा जा रहा है, उत्साहित किया जा रहा है कि आप इसी में मत लगे रहो, आपका स्थान तो बहुत ऊँचा है। यहाँ जिनकी चर्चा की जा रही है, वे गृहस्थ नहीं हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं हैं, असंयमी नहीं हैं। जो बारह तपों में कुशलबुद्धि से युक्त हैं, ये निर्ग्रन्थ मुनि की दशा की चर्चा है। उनसे कहा जा रहा है आप और-आगे चलो, इसी में संतुष्ट मत हो जाना।

भो ज्ञानी! कहीं ऐसा न हो कि तुम व्रतपरिसंख्यान में अपना मोक्ष मान लो, कहीं रस परित्याग में मान लो। आपको ध्यान, अध्ययन के किये भी उठना है। आत्मा जो स्ववश है, उसे कहने की आवश्यकता नहीं है। जो परवश है, उसे ही कहा जाता है। जो स्ववश है,

उनसे कहने का आपका वश नहीं चलेगा। जो परवश है, उसे ही यहाँ समझाया जा रहा है कि आप स्ववश की ओर जाओ। जो स्ववश में हैं, वे आपकी सुन भी नहीं रहे और आप सुनाना भी चाहोगे तो उनको कोई फर्क नहीं पड़ रहा है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द देव 145वीं गाथा में परम योगी की दशा की चर्चा कर रहे हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय का चिंतवन, जिसे आप तत्त्वदृष्टि कहते हो, आचार्यभगवन् उसे परदृष्टि कह रहे हैं। अभी तुम सब पर में हो। समयसार की चर्चा भी परसमय है। द्रव्य-गुण-पर्याय का विकल्प लाना ही परवश है। चिद्रूप की निमग्नता ही स्ववश है। द्रव्य-गुण-पर्याय का जो चिंतन करता है, वो भी अन्यवश है। कौन संघ, कौन संघनायक, कौन गण, कौन गच्छ? ये सब बहुत स्थूल बातें हैं। आस-पास में कहीं वर्षा हुई हो तो हवा से मालूम चल जाता है। अहो श्रावको! तुम्हारे पास तो शुद्धोपयोग की हवा भी नहीं आ रही है। जो अरहन्त देव का वेदन कर रहा है, किन्तु आँखों से, कानों से नहीं जान रहा है, ये कथन व्यवहार का है। जो द्रव्य-गुण-पर्याय को चित्त में रखता है, वह परवश है। ये 12वें गुणस्थान की भूमिका चल रही है। मोह का अंधकार जिनका नष्ट हो चुका है, ऐसे श्रमण के लिये भगवन् कह रहे हैं कि जो जीव द्रव्य-पर्याय के चिंतवन में लगा है इस समय, वह परवश है, स्ववश नहीं है।

भो ज्ञानी! जैनदर्शन में द्रव्य-गुण-पर्याय के चिंतन में लगे जीव की परमदशा कहते हैं और जिसको सुनकरके जीव चिद्दशा को प्राप्त होता है उसे अन्य दर्शन (पातंजलि आदि) परमसमाधि कहते हैं, जबकि वास्तविक परमसमाधि बहुत दूर हैं। पतंजलि योग भाष्य में 5 महाव्रतों की तो चर्चा है। इन भावनाओं के अनुसार जीने को ही उन्होंने परम अवस्था स्वीकार कर लिया। जबकि यह अवस्था तो उस परम अवस्था की प्राप्ति का साधन है। परमध्यान तो परमशून्य दशा है। जहाँ सबकुछ शान्त होता है, वहाँ से शून्य प्रारम्भ होता है, परनिरपेक्ष होता है। शून्य जहाँ होता है वहाँ न आदि बसता है, न अन्त बसता है, न मध्य होता है। ऐसे-ही विकल्पों का जहाँ आदि, मध्य, अंत न हो, विकल्पातीत अवस्था हो, उसे जिनशासन में निर्विकल्प ध्यान कहा है, इसे ही शून्यध्यान कहा है। शून्यध्यान से तात्पर्य किसी शून्य का ध्यान नहीं है। शून्य से तात्पर्य बाह्य प्रपंचों से रहित अवस्था है, जो जड़ नहीं है। जैनदर्शन में जड़ का ध्यान नहीं है। ''ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।'' ओंकार जो बिन्दु से संयुक्त है, उसका योगी नित्य ध्यान करते हैं। ओंकार को नहीं, जो बिन्दु है, वह सिद्धशिला

का प्रतीक है, सिद्ध भगवान् है। जब संसार के कर्म नष्ट हो जायेंगे, तब वो बिन्दु दशा प्राप्त हो जायेगी।

भो ज्ञानी! लोक में जिसे अन्य दर्शन मोक्ष कहते हैं, उसे जैनदर्शन मोक्षमार्ग भी नहीं कहता। शरीर में जो शिरायें हैं, कोषिकायें हैं, उनमें जो रक्त का संचार चल रहा है, यह काययोग की चंचलता है। 13वें गुणस्थान में परम निश्चय काययोग बनेगा, क्योंकि शरीर परम औदारिक होगा तो रक्त आदि सब धातुओं का बहना बन्द हो जायेगा। 14वें गुणस्थान में अयोग केवली दशा है। जब इस दशा का कथन हो रहा हो, तो मेरा तो कहीं स्थान दिख ही नहीं रहा है, श्रावको! आपका स्थान कहाँ रखूँ?

भैया! चौथा गुणस्थान तभी तक चमकता है जब तक पंचम गुणस्थान वाले जीव नहीं दिखते। पंचम गुणस्थान वालों की चर्चा तभी तक होती है जब-तक छठवें गुणस्थानवर्ती जीव नहीं हैं। व्यवहारिक दशा में, जब आचार्य महाराज होते हैं तो दृष्टि वहीं होती है। नगर में बहुत विद्वान भी हों तो महाराज के ऊपर दृष्टि होती है। ये संसार का स्वरूप है, इसलिये हीनता मत लाना। मोक्षमार्ग का भी ऐसा ही स्वरूप है। उपशम श्रेणी पर चढ़ रहा जीव, अपन कहते हैं कि धन्य हो भगवन्। परन्तु वे क्षपकश्रेणी के सामने कुछ भी नहीं हैं। जब आप गुणस्थान को गौण करके और सम्यग्दृष्टि शब्द को पढ़कर समयसार पढ़ते हो तो आनंद आता है। और कहीं निश्चय सम्यग्दृष्टि शब्द जोड़कर पढ़ोगे तो फिर आपके लिये कोई स्थान है ही नहीं। समयसार के सामने गुणस्थान और विराजमान कर लिया करो, तो-फिर सोचना कि कौन-कौन से प्रमाद नष्ट हो गये? वास्तविक दशा का ज्ञान होता है।

कोई अव्रती जीव था, वह अव्रतियों के बीच में शास्त्र पढ़ने लगा तो अव्रती लोग बड़ा सम्मान देने लगे, तो उसको लगा कि भगवत् अवस्था मेरे पास है। अव्रती जीव था, क्षयोपशम विशेष होने के कारण उससे कुछ लोग जुड़ गये। वह सोचता है कि जो कुछ है, भगवत्ता तो मेरे पास है, क्योंकि आवरण तो हटाना नहीं है और निरावरण की चर्चा सामने रखी है। उसे आवरण झलकता ही नहीं है। जब वो संयमी के पास जाता है तो फिर उसकी दशा कैसी होती है? अव्रत दशा में जिसने अपने आपको शुद्ध-उपयोग में स्वीकार कर लिया, जब उसके सामने वास्तविक तत्त्व आता है, तो फिर चिल्लाता है। ये अव्रत सम्यग्दृष्टियों की दशा है। वास्तविकता यह है कि अव्रत सम्यक्पना तुम्हारे पास था भी कि नहीं? नहीं था। क्योंकि व्यवहार सम्यग्दर्शन कहता है कि व्यवहारिक मूढ़ता से दूर रहो। व्यवहारिक मूढ़ता तेरी दूर

नहीं हो पा रही है तो आप मूलाचार में नहीं हो। हम बोलें कि पंचम गुणस्थान की दशा अनुपम है और आप कह रहे हो महाराज! वे तो क्रियाओं में लगे रहते हैं, हम तो ध्यान करते हैं, सामायिक करते हैं। आपसे एक बात पूछूँ? आपने त्रसहिंसा का बुद्धिपूर्वक त्याग किस दिन किया है? नहीं किया, तो तुम्हारा रौद्रध्यान गया ही नहीं है। कुछ ने स्वाध्याय को परम तप मान लिया है, किसी ने सामायिक को परम तप मान लिया है, किसी ने कुछ और को मान लिया है; पर वास्तविकता यह है कि प्रत्येक गुण परम होता है और एक गुण में अधिक समय तक नहीं रह सकते। इसलिए आचार्यों ने षट् आवश्यक रखे हैं। जीव आयुपर्यन्त पहले, चौथे, पाँचवें, तेरहवें में रह सकता है, परन्तु शेष गुणस्थान के काल अंतर्मुहूर्त के हैं। सबसे दीर्घकाल गुणातीत अवस्था (सिद्ध अवस्था) है। अब कभी नहीं आना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! आप गिरी हालत में क्यों रहना चाहते हो? चौथे गुणस्थान तक ही प्रसन्न क्यों रहते हो? संतुष्ट मत होना। चील की नहीं, चकोर की दृष्टि रखना। चील आसमान में उड़ते हुये भी जमीन पर दृष्टि रखता है। चकोर जमीन पर रहते हुये भी आसमान की ओर दृष्टि रखता है। भले आप नीचे बैठो, पर ऊपर की ओर दृष्टि रखना। हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह दिन कब आये कि सोलह संस्कार हो जायें। जब तक सोलह संस्कार नहीं हो जाते, वह चरणानुयोग का मुनि नहीं बना है। सोलह संस्कारों में महाव्रत का आरोपण होता है। उसे समझ में आ जाता है कि अब मेरे पास अहिंसा महाव्रत आ गया है। क्रम से प्रतिज्ञा लेते चला जा रहा है। उसके बाद पिच्छी-कमण्डलु दे दिया और कहा कि सबको नमोस्तु करके जाओ। कोई उनको नमोस्तु नहीं करेगा, क्योंकि अभी तो वेश दिया गया है। इसके बाद नामकरण संस्कार होता है। आखिरी में उनको संस्कारित किया जाता है कि आपको कुन्दकुन्द आम्नाय में दीक्षित किया जाता है, आपको शिष्यत्व प्रदान किया जाता है, अब आप निर्ग्रन्थ योगी हैं।

भो ज्ञानी! जब यह अनुभव करता है कि मैं अब मुनि बन चुका हूँ, वहाँ जो चित्त की निर्मलता बनेगी, तब कहीं अप्रमत्त दशा को पा लेगा। भावों की निर्मलता, भावों की स्थूल विशुद्धता को अप्रमत्त दशा मत कह देना। जब कभी प्रथम दर्शन होता है तो शुभोपयोग भी बड़ा निर्मल होता है, शुभोपयोग भी अवक्तव्य होता है। जो शुभोपयोग का वेदन होता है, वो वेदक ही जानता है। वेद-वेदक भाव ही उपयोग की दशा है। वृत्ति तो बहुत ऊँची हो सकती है, पर प्रवृत्ति तभी निर्मल होगी जब निवृत्ति मार्ग की प्राप्ति होगी। बिना निवृत्ति के

शुद्धोपयोग नहीं होगा। अंतरंग की निर्मलता, अंतरंग की कलुषता चेहरे पर आये बिना नहीं रहती। कोई जीव जिसकी भृकुटियाँ खिंची हों, मुठ्ठी बंद हो रही हो, तो वो अशुभोपयोग में ही होगा। वेश के बदलाव से परिवेश बदल जाये, यह नियामक नहीं है, भजनीय है। लेकिन भाव बदले हों, वेश न बदला हो, यह नियामक है। शुद्ध उपयोग की दशा क्या होगी? आप शुभोपयोग की चरम सीमा में जाओ।

भो ज्ञानी! कुछ तथाकथित विद्वानों ने टीका ग्रन्थ में लिखा है कि चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता है। आचार्यभगवन्! आपने अप्रमत्त दशा में मुख्य वृत्ति शुद्धोपयोग की कही है और गौणवृत्ति चतुर्थ आदि गुणस्थान में कही है। तो गौण वृत्ति का अर्थ लगा लिया कि आंशिक रूप से हो रही है। भो ज्ञानी! जिस शासन में शुभोपयोग को अंगारा कहा है, उसमें अशुभोपयोग को शीतल भाव कैसे कहा जा सकता है? ऐसे परमयोग में निमग्न योगी जब शुभोपयोग में विचरते हैं, उस समय शुद्धोपयोग के पुरुषार्थ की दृष्टि को लेकर चलते हैं और जो शुद्धोपयोग में विचरते हैं वे स्वानुभूति में झूलते हैं। जहाँ भेद रत्नत्रय को परवश कहा है, वह सराग दशा है, शुभोपयोग की दशा है। जब अभेद की चर्चा करेंगे तो वो शुद्धोपयोग की दशा है। लेकिन बिना भेद रत्नत्रय के शुभोपयोग की दशा के अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति संभव नहीं है। प्रथम अवस्था में तो अप्रमत्त दशा बनती है, लेकिन अप्रमत्त दशा की प्राप्ति में जो पुरुषार्थ था, वह क्या था? वस्त्र त्यागने के समय अप्रमत्त दशा नहीं है, केशलुंचन के समय अप्रमत्त दशा नहीं है। ये सब अप्रमत्त दशा की प्राप्ति के उपाय चल रहे हैं। चित्त की एकाग्रता बनाकर बैठे हैं तो अप्रमत्त दशा बनेगी। नहीं तो आप कहने लगो कि कपड़े उतारते-उतारते सप्तम गुणस्थान और कपड़े उतर गये तो छठवां गुणस्थान। दिगम्बर आम्नाय में ये नहीं है कि पहले केवलज्ञान हो गया फिर दीक्षा ले ली। वो भी किसको? माता मरुदेवी को।

भो ज्ञानी! पहले विधिपूर्वक दीक्षा लेगा, उसके उपरान्त ध्यान करने बैठेगा, तब कहीं अप्रमत्त दशा घटित होगी। जो केशलुंचन हो रहा है, वस्त्र उतर रहे हैं, ये चौथे, पांचवें गुणस्थान का कार्य हो रहा है। जब आचार्यपरमेष्ठी दीक्षा के संस्कार कर रहे हैं, उस समय साधक के मन में भाव आ रहे हैं कि मेरी दीक्षा हो रही है वो उमंग संयम प्राप्ति की चल रही है। ये दीक्षार्थी का छठवां या सातवां गुणस्थान नहीं है। जिस समय दीक्षा की क्रियायें चल रही हैं; उस समय 4 था, 5वाँ या पहला भी गुणस्थान हो सकता है। ये भाव आ जाये कि अब

तो मैं विश्व में पुजूँगा, सब प्रणाम करेंगे, जिनके चरणों में झुकता था वो प्रतिवंदना करेंगे। इस भावना को लेकर संयमित हो रहा है कि पहले मेरे संस्कार हो जायें तो मैं ज्येष्ठ कहलाऊँगा। यदि ऐसा श्रद्धान कर रहा है, यह ठीक नहीं है। कर्मक्षय के निमित्त दीक्षा लेने वाले को छोटे बड़े का मान ही नहीं होता है। प्रभु! मुझे तो सिर्फ जैनेश्वरी दीक्षा चाहिए। वैराग्य और मान दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते।

भो ज्ञानी! वो कह रहे हैं कि जैसा अप्रमत्त दशा में बैठे स्ववश में लीन योगी के लिये निजानुभव की अनुभूति हो रही है, उस अनुभूति की भावना चतुर्थ आदि गुणस्थान में होती है। उस अनुभूति की भावना का अर्थ है कि ऐसी अनुभूति मैं भी प्राप्त करूँ।

यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावद्भवति संसृतिः।
यथेंधनसनाथस्य स्वाहानाथस्य वर्द्धनम्॥ कलश 246॥

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलाधारिदेव कह रहे हैं कि जब तक जीवों को चिन्ता है, तभी तक संसार है। ये जीव जब-तक संसार की ही बात करता रहता है, तब-तक संसार छूटने वाला नहीं है। यदि अग्नि में ईंधन डालते रहे, तो अग्नि कभी समाप्त नहीं होगी, वृद्धि को ही प्राप्त होगी। संसार की चिन्ता संसार को बढ़ानेवाली ही है। जो योगी संसार को छोड़ना चाहता है, वह आत्मकार्य में लगा रहता है, निज आत्मा के स्वरूप में लीन रहता है, इसके विरुद्ध अन्य कार्यों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चिन्ता नहीं करता है।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

गाथा 146 **कलश 247**

उथानिका : परभाव छोड़ने वाला आत्मध्यानी ही आत्मवश होता है।

गाथा : परिचत्ता परभावं, अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं॥46॥

संस्कृत छाया : परित्यज्य परभावं आत्मानं ध्यायति निर्मलस्वभावम्।
आत्मवशः स भवति खलु तस्य तु कर्म भणन्तयावश्यम्॥

अन्वयार्थः (परभावं परित्यज्य) परभाव को छोड़कर (निर्मल स्वभावं आत्मानं) निर्मल स्वभावी आत्मा का (ध्यायति) जो ध्यान करता है (सः खलु आत्मवशः भवति) वह निश्चित रूप से आत्मवश होता है (तस्य तु कर्म अवश्यं) उसकी क्रिया को आवश्यक (भणंति) कहते हैं।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! नियमसार में आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने निश्चय परम आवश्यक अधिकार में यह संकेत दिया कि जब-तक चिन्ता है, तब तक संसार है। जिस दिन चिन्ता का विसर्जन हो जायेगा, उस दिन संसार का भी विसर्जन हो जायेगा। चिन्ता के स्थान पर चिंतवन आ जाये तो आत्मा का कल्याण हो जायेगा। जैसे ईंधन की वृद्धि से अग्नि की वृद्धि होती है, उसी प्रकार से चिन्ता से संसार की वृद्धि होती है और होता कुछ नहीं है। चाहे स्वयं के लिये चिन्ता करो चाहे दूसरे के लिये चिन्ता करो, परन्तु चैतन्य का पुण्य नहीं है तो चिन्ता से कुछ नहीं होता। जिस कर्म की क्षपणा चाहते हो उस कर्म की क्षपणा के लिये भी पुण्य चाहिये। पुण्यकर्म का भी क्षय करने के लिये पुण्य चाहिये, जैसे काँटा को निकालने के लिये काँटा चाहिए। पाप को काटने के लिये भी पुण्य चाहिये। बिना पुण्य के पुण्य नहीं कटता क्योंकि अरहन्त अवस्था के अभाव में परम पुण्य नहीं होता है।

14वें गुणस्थान में पुण्यक्षय पर दृष्टि है। स्वरूपलीनता में पारिणामिक भाव और क्षायिक भाव पर भी दृष्टि नहीं है क्योंकि वे तो लीनता के हैं। इस वक्त और विकल्प नहीं है कि मुझे मोक्ष प्राप्त होगा। ऐसे जिन तपोधन के परमपारिणामिक भाव का प्रकटीकरण होता है। परमपारिणमिक भाव अर्थात् सिद्ध अवस्था। जिन्होंने औदायिक आदि परभावों के समूह का भी परित्याग कर दिया है, जो इंद्रियों और वचन से अगोचर है। इसलिए कोई कहे कि मैं शुद्धोपयोग में जा रहा हूँ, तो ये सब असत्य भाषा है। वो पर विकल्प में जी रहा है। उसे

वहाँ जाने का विकल्प सता रहा है जो शरीरगम्य नहीं है, इंद्रियगम्य नहीं है, जो वचनगोचर नहीं है। जिन्होंने संपूर्ण पापरूपी शत्रु की सेना की पताका को नष्ट कर दिया है, लूट लिया है, परास्त कर दिया है, वही जिनयोगी आत्मवश है, शेष परवश हैं।

भो ज्ञानी! पंचपरमेष्ठी की आराधना परवश है, तो इंद्रियों के सुखों को लूटना स्ववश कैसे हो सकता है? पकड़ो अपनी पापी आत्मा को। तेरी दशा क्या है? कभी राग में, कभी द्वेष में, कभी अहं में, कभी क्रोध में, कभी काम में, कभी मान में ये तेरी दशा है। 'मैं किसी से कम नहीं हूँ।' सही तो कह रहा है, अनंत संसार में कम थोड़े ही हैं। यही कहना था तो सिद्धों से कहता कि आप जल्दी चले गये, हम आपसे कम नहीं हैं, हम भी आ रहे हैं। कहो तो ऐसे जीव से कहो जिससे कुछ लाभ हो। संसारी जीव से कह रहा है कि हम कोई कम नहीं हैं। हाँ, महाराज कम हो जाते तो यहाँ क्यों होते, उधर ही होते जहाँ वर्द्धमान स्वामी विराजे हैं। इसलिए चाहे सामने शत्रु साक्षात् दोषी बैठा हो, उससे उसके दोषों का कथन करके हमें कौन-से गुण मिल रहे हैं? सामने बैठा शत्रु वास्तव में दुर्गुणी है, यदि हमने उसके दुर्गुणों का व्याख्यान भी किया तो वो कषाय के आवेश में कुछ नहीं सुनेगा। लेकिन अंतरंग में वो भी दुःखित होता है 'काश! मेरे अंदर अवगुण न होते।' उसके अवगुणों का स्मरण करा करके हम उसे दुःखी कर रहे हैं।

भो ज्ञानी! लोग शांति भक्ति भी नहीं पढ़ पाये। ''सम्पूजकानाम् प्रतिपालकानाम्'' संपूर्ण देश/राष्ट्र की शांति जिनेन्द्रदेव करें। लेकिन मेरी निज की शांति हो जाये तो पूरे राष्ट्र की शांति हो जायेगी। ऊपर यह कह रहा था और नीचे आकर मैनेजर को डाँट रहा था। वह यदि सम्यग्दृष्टि है तो जिसको डाँट लग रही है, वो दुःखी हो या न हो, परन्तु डाँटनेवाले को नियम से दुःख होता है कि एक आत्मा को मैंने कष्ट दिया। यदि यह भाव नहीं आ रहा है, तो सम्यग्दृष्टि कहना बंद कर लेना अपने आप को, क्योंकि अनुकम्पा सम्यग्दृष्टि का पहला लक्षण है। खिन्नता आनी चाहिये कि हमने उसको डाँट दिया। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि स्ववश होना है तो परवश होना बन्द कर दो। अभेद अनुपचार रत्नत्रय कब होगा ? जब तेरे निश्चय निर्विकल्प संपूर्ण अभेद रत्नत्रय प्रगट होगा। संपूर्ण बाह्य क्रियाकाण्ड आडम्बर से परे होगा। विविध विकल्प, नाना प्रकार के विकल्पों को छोड़ेगा।

भो ज्ञानी! कुछ जीवों को पाप क्या है इसका भान नहीं होता है। वे तो प्रकृति का ध र्म मान रहे हैं। बोलते हैं कि जन्में ही इसलिए हैं। प्रकृति का धर्म चल रहा है, विषय सेवन करो, मस्त रहो। यदि इसे प्रकृति का धर्म मानते हो, तो विकृति नाम की कौन-सी वस्तु है? यदि विकृति नाम की कोई वस्तु नहीं है, तो सब प्रकृतिमय है। मोक्ष, संसार, स्वर्ग, इत्यादि

की चर्चा सब विकृतियाँ हो गई। जिसका ऐसा चिंतवन बन गया, वो भी प्रतिभाशाली है। कहता है कि लोकमय प्रकृति ने प्रकृति के लिये जन्म दिया है। सृष्टि में जितने प्राणी हैं, सब प्रभु के लिये न्योछावर हैं, यही प्रकृति का परिणमन है। एक अध्यात्मवादी कहता है कि जो प्रकृति का परिणमन है, वो पुद्‌गल का परिणमन है। सब प्रकृतियाँ पुद्‌गल की पुद्‌गल में हो रही हैं। ज्ञानी! यदि आप प्रकृति शब्द को मानते हो, तो इसके विपरीत शब्द भी होना चाहिए। एक पहलू के बिना दूसरा पहलू नहीं होता। एक किनारे से नदी नहीं बनती। एक किनारा होगा तो दूसरा भी होगा। यदि प्रकृति शब्द को स्वीकार रहे हो, तो विकृति शब्द भी है। विकृति के विनाश का नाम प्रकृति है और प्रकृति के विनाश का नाम विकृति है।

ये ध्यान रखना कि विकृति में अधिक समय तक कोई पदार्थ टिकता नहीं है। क्रोधकषाय विकृति है, उसमें आप कितनी देर रह सकते हो? पानी को अग्नि पर कितनी भी देर रख देना, जब उतारकर नीचे रखोगे तो कुछ करना नहीं पड़ेगा, वो अपने स्वभाव में आ जायेगा। साधना का जो मार्ग है, वह वास्तव में प्रकृति यानि स्वभाव, शील है। साधना शील को जन्म देती है। साधना कुशील से बचाती है। जैसे आपने कुए पर जाल बिछा दिया तो कुए को सुरक्षित नहीं किया। कुए में जो जल आ रहा था, वो तो शुद्ध है। आपने जाल सुरक्षा के लिये बिछाया है। ऐसे-ही आत्मा का जो त्रैकालिक धर्म है, वो तो त्रैकालिक है। उस पर जो कर्म का कीचड़ गिर रहा है, उस कर्म-कीचड़ से रक्षा के लिये आत्मा पर शील-संयम का जाल बिछाया जाता है जिससे उस त्रैकालिक धर्म की निर्मलता उज्जवलता प्रकट होती जाये और प्रकट होकर सिद्ध अवस्था बन जाये। इसलिए साधना है। साध्य को लाया नहीं जाता है, साध्य त्रैकालिक होता है। साधनों से साध्य के अंदर विकृति को लाया जाता है। स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण त्रैकालिक है, अग्नि के द्वारा किट्टिमा को अलग किया जाता है। ऐसे ही ध्यान, साधना, तपस्या से, कर्म की जो किट्टिमा है उसको, अलग किया जाता है। आत्मा तो अरूपी है।

भो ज्ञानी! साधक तो त्रैकालिक रहता है, परन्तु साध्य को सिद्ध करना है जो असिद्ध है। सिद्ध को सिद्ध नहीं किया जाता, ये न्याय है। किसको सिद्ध किया जा सकता है? जो इष्ट हो, अबाधित हो, असिद्ध हो, वो साध्य सिद्ध है। ऐसा आचार्य माणिक्यनंदि स्वामी ने 'परीक्षामुख सूत्र' में, और आचार्य धर्मभूषण स्वामी ने 'न्यायदीपिका' में कहा है। साध्य की सत्ता को त्रैकालिक समझ लेना, यह निश्चयनय है और साध्य की त्रैकालिक सत्ता को प्रकट करा देना, इसका नाम व्यवहारनय है। साधन वही होता है जिससे साध्य की सिद्धि हो। साध्य जिससे सिद्ध नहीं होता, जिनवाणी उसे साधन नहीं स्वीकारती। साधक ही साध्य को सिद्ध

करता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में एकीकरण नहीं होता, मिले होते हैं, मिले होने को कर्मबन्ध कहा है। यदि आत्मा और कर्म एक हो जायेंगे तो या तो हमें कर्म की सत्ता का विनाश करना पड़ेगा या फिर आत्मा की सत्ता का विनाश करना पड़ेगा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं करता है, इसका तात्पर्य है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता है, परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को प्रभावित करता है। आपकी युवावस्था है, आप चाहते हो शील संयम से रहूँ। वो युवा अवस्था किसकी थी? पर्याय की। और पर्याय तू था। एक युवती को देखकर परिणाम चलित हो रहे हैं, उसके अंग विशेष को देखने के भाव आ रहे हैं, बार-बार दृष्टि घुमा रहा है। ये कौन प्रभावित कर रहा है तुझे? पर द्रव्य। जबकि तू अत्यन्त भिन्न था। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को प्रभावित कर रहा है, लेकिन फिर भी हर द्रव्य की सत्ता स्वतंत्र है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में परस्पर मेल को प्राप्त होते हैं, एक दूसरे को अवकाश भी देते हैं, लेकिन फिर भी नित्य ही मिले होने पर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

भो ज्ञानी! माँ घर में गेहूँ आदि अनाज को बीनती है, शोधन करती है। अब बताओ उसमें क्या शोधन कर रहे हो? प्रत्येक दाना, प्रत्येक कंकड़ स्वतंत्र है। उनकी स्वतंत्र सत्ता को आपने अलग-अलग उठाकर रख दिया और 'बोले बीन लिया है, शोधन कर लिया है।' ऐसे-ही आत्मा के प्रदेशों में जो कर्म के प्रदेश मिले हुए हैं उनको उठा-उठाकर अलग कर दो, बीन लो, हो गया मोक्ष। ठोस द्रव्यों को बीनने में कम समय लगता है, लेकिन तरल में तरल मिला हो, संष्लेश संबंध है, घुला-मिला हो, तो उसके लिये हंसदृष्टि लानी पड़ती है, इसलिए आगम में हंस-आत्मा कहा है। नीर-क्षीर को अलग कर लो, ऐसी शक्ति अपने में लाओ कि आत्मा हंसरूप हो जाये।

जयत्ययमुदारधीः स्ववशयोगिवृन्दारकः
प्रणष्टभवकारणः प्रहतपूर्वकर्मावलिः।
स्फुटोत्कट विवेकतः स्फुटितशुद्धबोधात्मिकां
सदाशिवमयी मुदा व्रजति सर्वथा निर्वृतिम्॥कलश 247॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं कि जो भव के कारण हैं, उनको जिन्होंने नष्ट कर दिया है तथा पूर्व में संचित जो कर्मों का समूह था उसको भी उन्होंने समाप्त कर दिया है, ऐसे कौन? जो अपने वश में हैं ऐसे योगिवृन्द ने। वे धीर, उदारचित्त वाले हैं, ऐसे योगीपुंगव जयवन्त हों। वे उत्कृष्ट विवेक से कर्मों के खंड-खंड कर रहे हैं। जिनके अंतरंग में प्रकट हुई है शुद्ध बोधि, शुद्ध रत्नत्रय, शुद्ध आत्मज्ञान, वे सदा शिवमयी, आनंद को देने

वाली मुक्ति को हर्षपूर्वक प्राप्त कर लेते हैं। जो सदा सर्वथा निवृत्ति मार्ग है, प्रवृत्ति नहीं है, ऐसे निवृत्ति मार्ग, मुक्ति मार्ग में प्रसन्नता आ गई तो समझ लो कि मुक्ति तेरी मुठ्ठी में आ गई।

'महाराज! आज चतुर्दशी थी, हमने उपवास कर लिया, अब क्या करें? गला सूख रहा है।' अब तुमने नियम ले लिया है, अब कुछ होना नहीं है। कर्मनिर्जरा के स्थान पर व्यर्थ में कर्म का आस्रव मत करो। ऐसा सोच जब-तक नहीं आयेगा, तब-तक भो ज्ञानी! परम स्फुटित समस्त भावरूप चिद्स्वरूप चैतन्य प्रकट होने वाला नहीं है। भैया! मानसिकता बनाना कि मेरे भी गेहूँ के कंकड़ कैसे पृथक् हों। पृथकीकरण की क्रिया का नाम ही मोक्षमार्ग है और पृथक् हो जाना, इसका नाम मोक्ष है।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमदेशना

गाथा 146 **कलश 248**

भो बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द ने परम आवश्यक अधिकार की गाथा 146 में कथन करते हुये यह संकेत दिया कि जो योगी परभावों से दूर है और निज भाव में लीन है, वो ही आत्मवश है, वो ही स्ववश है। बाह्य क्रियाकाण्ड, आडम्बर से परे है, प्रपंचों के कोलाहल से दूर है, वो ही परम आवश्यक की क्रिया है। इसके विपरीत जो-जो परिणमन है, सब परवश क्रिया है और जब-तक परवश की क्रिया में लीन है, तब-तक स्ववश की चर्चा नहीं हो सकती है, स्वानुभूति संभव नहीं है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव 248वें कलश में बहुत सुन्दर गुणों की चर्चा कर रहे हैं और कहते हैं 'ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु के चरण-आशीष से मुक्ति-संपदा की प्राप्ति होती है।

प्रध्वस्त पञ्चबाणस्य पञ्चाचारराञ्चिताकृतेः।
अवंचकगुरोर्वाक्यं कारणं मुक्तिसंपदः॥ कलश 248॥

यहाँ आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि जिन्होंने काम के पाँच वाणों को नष्ट कर दिया है और पंचाचार से युक्त ही जिनकी आकृति है, पंचाचार की जिनकी मूर्ति है, पंचाचार ही जिनका स्वरूप है, जो अवंचक-वृत्ति के हैं, अर्थात् उनके मन में कुछ हो, वचन में कुछ हो, शरीर से कुछ हो, ऐसी मायाचारी की वृत्ति नहीं है। मायाचारी बहुत दिन तक नहीं चलती है। यदि आप छल से किसी को अपने चंगुल में फंसा लोगे तो कितने दिन तक? वस्तुस्वरूप निश्चित रूप से प्रकट होता है। जो वास्तविक स्वभाव है, वह लम्बे समय तक होता है। बनावटीपन महीना पंद्रह दिन तो चल जाता है, अधिक समय नहीं टिकता है। यदि आपकी चर्या क्रिया व्यवस्थित होगी, तो सहज मालूम चल जायेगा और बनावटीपना होगा वो भी सहज मालूम चल जायेगा। बनावटी, वंचक गुरु कल्याणकारी नहीं है। अवंचक गुरु के वचन मुक्ति-संपदा के कारण हैं।

भो ज्ञानी! सच्चे गुरु के वचन अवंचक ही होते हैं और अवंचक गुरु के वचन ही मुक्ति-संपदा के कारण होते हैं। जिनकी लोक-पूजा, ख्याति-लाभ की दृष्टि हो अथवा जो गुरुरूप नहीं है फिर भी अपने को गुरु कहलवाये, वो जैनशासन में गुरु नहीं है। जो विषय-कषाय से रहित, आरम्भ-परिग्रह से रहित, ज्ञान-ध्यान-तप में लीन हैं, जिनशासन में वे ही 'गुरु' संज्ञा को प्राप्त होते हैं। अन्य शिक्षक हो सकते हैं, धर्मात्मा हो सकते हैं, साधर्मी हो सकते हैं, विद्वान हो सकते हैं, पर 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में जो 'गुरु' संज्ञा निहित है, वो ही यथार्थ है। आचार्य के उपस्थित रहते हुए किसी मुनि को आचार्य कहना, आचार्यपद

की गरिमा को कम करना है। किसी गृहस्थ को, क्षुल्लक को, ऐलक को नमोस्तु करना, नमोस्तु शब्द की अवहेलना है। उनको इच्छामि। श्रावक को वंदना बोलते हैं। जिसकी विनय का आगम में जो कथन है वही करना चाहिए।

भो ज्ञानी! श्रुतसागर नाम के मुनिराज थे। सम्राट उनके चरणों में नमन करके कहता है कि इस विषय को मैं समझना चाहता हूँ। श्रुतसागर महाराज बहुत ज्ञानी थे, लेकिन देखना लघुता मुनिराज की, बोले, 'राजन्! चलो हम तुम्हारे साथ चलते हैं, अपन आचार्यमहाराज से जिज्ञासा करेंगे, आपका समाधान होगा और हम समझ लेंगे, क्योंकि यहाँ हमारे गुरुमहाराज विराजमान है और गुरु के रहते हुए शिष्य का समाधान देना उचित नहीं है।

भो ज्ञानी! अवंचक गुरु की जो बात है तो वास्तव में तो पंचपरमेष्ठी ही परम गुरु हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु तो गुरु हैं। अब माना कि कोई जीव इस पद को स्वीकार करके भी अंतरंग परिणामों की निर्मलता नहीं रख सका और किसी प्रकार से उनके मन में छल भाव आ जाये, तो आगम कह रहा है कि अवंचक गुरु को वंचक भाव नहीं होना चाहिये। माया, मिथ्या, निदान इन तीन शल्य से जो रहित है, आर्जव-मार्दव धर्म से युक्त है, निश्चल वृत्ति है, ऐसे अवंचक गुरु ग्रहण करना ठीक है। जो आर्जव धर्म से युक्त नहीं हैं, उन्हें अवंचक गुरु स्वीकार नहीं किया। लेकिन उस दृष्टि को केवली या अवधिज्ञानी ही जान सकते हैं। ये उनके स्वयं का विषय है कि हम क्या कर रहे हैं, परन्तु इतना सत्य है कि जो हमारे आगम में 'गुरु' की परिभाषा है, उससे जब द्रव्य में ही घटित नहीं हो रहा है, तो अपने आपको गुरु नहीं कहलवाये।

आपके पास कोई आये, पिता कहकर चरण छूता है तो कोई निषेध नहीं करेगा। आपके यहाँ कोई विद्वान् आता है, आपने उसको सम्मान दिया, एक बार चरण भी छू लिये विद्वान के नाते, तो ठीक है, क्योंकि आपने ज्ञान की विनय की है। लेकिन यदि आप कहने लगे कि हमारे सद्गुरु यही हैं, तो ये गलत है। यदि वे मौन बैठे रहे और सुनते रहे, तो वे वंचक गुरु कहलायेंगे। क्योंकि जिनवाणी में गुरु का स्वरूप यह नहीं है। लालवस्त्रधारी भट्टारक संरक्षक हैं, परन्तु जिनवाणी उन्हें सद्गुरु की संज्ञा नहीं दे पायेगी। वे आदरणीय हैं, सद्श्रावक हैं, इनकी क्षुल्लक दीक्षा होती है, सम्यग्दृष्टि भी हो सकते हैं, लेकिन देशव्रत के आगे के व्रत नहीं हैं। जिनवाणी में श्रावकोत्तम ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि को 'गुरु' संज्ञा नहीं है। पहले कुछ भट्टारक होते थे जो दिगम्बर रहते थे और संचालन करते थे। भट्टारक सकलकीर्ति ने बहुत साहित्य लिखा और जैनदर्शन का प्रचार किया है। वे राजस्थान में हुए थे। उन्होंने सम्मेद शिखर, गिरनार, कर्नाटक आदि क्षेत्रों की वंदना की और बहुत सारी प्रतिष्ठायें कराई क्योंकि

उस समय लोग धर्म से दूर हो रहे थे। उन्होंने यात्रा के माध्यम से समाज को जोड़ा, धार्मिक भावना उत्पन्न कराई।

भो ज्ञानी! निर्ग्रन्थ साधु ही पंचगुरु में आते हैं। ग्यारह अंग का पाठी अभव्य जीव भी इतनी सुन्दर देशना देता है कि लाखों भव्य उनकी देशना को सुनकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन उनकी निजी वंचना है, इससे उनका अहित है, आपका अहित नहीं है। परन्तु जो वेश से ही गुरु न हो, आँखों से ही वंचक दिखे और आप फिर भी गुरु कह रहे हो, गुरु मानकर आराधना कर रहे हो, इससे आपका भी अहित है और उनका तो परम अहित ही है।

'तत्त्वार्थ सूत्र' में पाँच प्रकार के मुनिराजों का वर्णन आया है। पुलाक, वकुस, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक। पुलाक, वकुस कभी-कभी मूलगुणों में भी दोष लगा लेते हैं। जो मुनियों के पाँच भेद कहे हैं, वे द्रव्यलिंगियों के नहीं, भावलिंगियों के हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के काल में पाँच प्रकार के मुनि होते हैं। वे मुनिराज 10-10 पूर्व के ज्ञाता भी होते हैं। दोष लगने पर निज गुरु के चरणों में बैठकर उस दोष को छोड़ते हुये प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण करते हैं। कभी उपकरणों में राग कर लिया, कभी शरीर में राग कर लिया, कभी वसतिका में राग कर लिया। ये राग यदि अनंतानुबंधी के साथ है, तब तो द्रव्यलिंगी हैं और संज्जवलन के साथ है, तो भाव- लिंगी हैं। अब इसे नापे कौन? ये विषय केवली और अवधिज्ञानी के गम्य है। 'प्रवचनसार' जी में लिखा है कि जनसमुदाय के बीच आप उनकी वंदना करो यदि आप सम्यग्दृष्टि हो तो, क्योंकि गुरु का वेश है।

प्रवचनसार जी की चरणानुयोग की गाथा में लिखा है कि कोई वृद्ध मुनिराज हैं, लेटे-लेटे सामायिक कर रहे हैं, यह उनकी असमर्थता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि युवा मुनि कहे कि वे ऐसा कर रहे हैं, हमसे बड़े हैं, इसलिए हम भी ऐसा करते हैं। उनके शरीर की स्थिति तो देखो। यदि भावलिंगी मुनिराज हैं, तो वे नहीं चाहेंगे कि उनसे दोष हो, फिर भी क्या करें? शरीर नहीं चलता है। यदि कोई मुनिराज आपके नगर में आये, आपको लगे कि चर्या ठीक नहीं है, तो ऐसा नहीं कि विहार कराकर दूसरे गाँव में छोड़ दो। उनको रोको, एकांत में समझाओ। यदि आपसे नहीं समझते हैं तो उनके गुरु महाराज तक समाचार दो। फिर भी नहीं मानते हैं तो मध्यस्थ हो जाओ। ''माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ''।

भो ज्ञानी! आप अपने मुख से मुनिराज की आलोचना, प्रत्यालोचना नहीं करना, क्योंकि इससे निधत्ति निष्काचित कर्म का बन्ध होगा। आप दूरगामी सोच रखो, उनका स्थितिकरण करने का प्रयास करो। वात्सल्य भाव से उनको समझाओ। आप कभी चर्चा का विषय नहीं बनाना।

भो ज्ञानी! गुरु के अभाव में तंत्र-मंत्र की साधना में कभी मत जाना। ज्योतिष, तंत्र, मंत्र की साधना में जाओगे तो तुम्हारी निर्मल चर्या नहीं चल रही है। यश:कीर्ति के पीछे संयम से भ्रष्ट हो जाओगे। ये सिद्धान्त का नियम है कि विद्यानुवादपूर्व का जो सावधानी से अध्ययन नहीं करता है, वह साधु संयम से च्युत हो जाता है यदि नहीं संभल पाया तो। साधना से अनेक देवता आकर खड़े हो जाते हैं, 'स्वामिन्! आज्ञा दो, क्यों आवाहन किया?' यदि स्वयं को नहीं संभाल पाये, तो संयम से च्युत हो जाते हैं। इसलिये जादू-टोना, तंत्र-मंत्र में नहीं पड़ना चाहिए। मालूम नहीं है कि काहे का यंत्र है, किसी को दे दिया यह सोचकर कि प्रभावना बढ़ेगी, पता चला कि यंत्र दूसरी वस्तु का था और आपने दे दिया कि रख लो, तो इससे काम तो कुछ हुआ नहीं, परन्तु परेशानी और बढ़ गई। यंत्र प्रतिष्ठित नहीं था, शुद्धि उतनी नहीं हो पा रही, तो उल्टा प्रभाव शुरू हो गया। किसी को महावीर स्वामी की प्रतिमा दे दी कि घर में ले जाकर रख लेना। जिन्होंने स्वयं का घर नहीं बसाया, वे तुम्हारा घर क्या बसायेंगे? कभी भी बालब्रह्मचारी तीर्थंकर की प्रतिमा गृहचैत्यालय में नहीं रखना चाहिए। जिनकी शादी हुई, उन्हीं तीर्थंकरों की प्रतिमा गृहचैत्यालय में विराजमान करना चाहिये। गृह चैत्यालय का आगम में विधान तो है, पर दिशा, शुद्धि आदि का ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा परिवार को परेशानी होती है।

भो ज्ञानी! मंत्र यानि पुद्‌गल वर्गणाओं की शक्ति और वह अपना प्रभाव छोड़ता है। जैन शास्त्रों में मुद्रा और मंत्र दोनों साथ-साथ चलते हैं। जब वक्ता सामने दिखता है तो आनंद आता है अर्थात् मुद्रा दर्शन। णमोकार मंत्र से चौरासी लाख मंत्र निकले हैं। णमोकार मंत्र से कोई भी कार्य किया जा सकता है। आटे में मावा मिला दो तो रसगुल्ला, आटा पतला बेला तो पपड़ियाँ, मोटा तो पूड़ी। आटा वही है, परन्तु स्वाद में अंतर आ जाता है। श्रद्धा नहीं है तो कोई मंत्र काम नहीं करता है। मंत्रसाधक की जितनी गंभीर साधना होगी, उतना फल होगा। मंत्रसाधक के लिये ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। एक समय का भोजन, चटाई पर सोना आदि। जाप आदि संभलकर देना चाहिये, क्योंकि अधिक जाप देने से मानसिक तनाव बढ़ता है। अत: बिना गुरु के मंत्रसाधना नहीं करना चाहिये, क्योंकि मानसिक तनाव से विक्षिप्तता हो सकती है।

भो ज्ञानी! रत्नत्रय के प्रभाव से अपनी आत्मा को प्रभावित करना, ये उत्कृष्ट है। यदि जिनशासन पर कोई आपत्ति आ जाये तो विद्या का प्रयोग करना। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के समय दिगम्बर श्वेताम्बर आम्नाओं में बहुत कट्टरता चल रही थी। गिरनार वंदना के लिये दोनों संघ एकसाथ पहुँचे। श्वेताम्बर संघ कह रहा था कि पहले हम वंदना करेंगे, दिगम्बर संघ कह रहा था कि पहले हम वंदना करेंगे। विवाद इतना बढ़ा कि सम्राट तक पहुँच गया।

उन्होंने कहा कि आपके साधु निर्णय नहीं कर सकते हैं तो आप ऐसा करो कि पर्वत पर जो अंबिका देवी है वो जिसको कहे, पहले वह वंदना करे। उसने सोचा कि देवी को तो बोलना नहीं है, झंझट समाप्त हो जायेगा। उस समय कुन्दकुन्द स्वामी ने श्वेताम्बर साधुओं से कहा पहले आप बुलवा लो। उन लोगों ने बहुत मंत्र-तंत्र किये, जब देवी नहीं बोली, तो उन्होंने दिगम्बरों से कहा कि आप कोशिश कर लो। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पिच्छी उठाकर कहा 'बोल देवी-आदि दिगम्बरा कि आदि श्वेताम्बरा? देवी के मुख से आवाज आई-महासाहू महासाहू दिगम्बरा, **आदि दिगम्बरा-आदि दिगम्बरा**। प्राचीन प्रतिमाओं में लिखा रहता है ''कुन्दकुन्द आम्नाय, सरस्वती गच्छे, बलात्कार गणे .....'' बलात्कार गण इसलिये लिखा रहता है कि कुन्दकुन्द स्वामी ने गिरनार पर्वत पर स्थित अंबिका देवी को बोलने को विवश कर दिया था, बलात् कहलाया था 'महासाहू दिगम्बरा, आदि दिगम्बरा।'

भो ज्ञानी! पक्का निर्णय करके चलना कि अवंचक गुरु के द्वारा ही मुक्ति संपदा की प्राप्ति होती है।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

गाथा 147, कलश 249-254

उत्थानिका : शुद्ध निश्चयनय आवश्यक की प्राप्ति का उपाय

गाथा : आवासं जदि इच्छसि, अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं, संपुण्णं होदि जीवस्स॥147॥

संस्कृत छाया : आवश्यकं यदीच्छसि आत्मस्वभावेषु करोषि स्थिरभावम्।
तेन तु सामायिकगुणं सम्पूर्णं भवति जीवस्य॥147॥

अन्वयार्थः (यदि आवश्यकं इच्छसि) यदि तुम आवश्यक को चाहते हो तो (आत्मस्वभावेषु स्थिरभावं करोषि) आत्मा के स्वभावों में स्थिर भाव करो (तेन तु) उसी से (जीवस्य) जीव का (सामायिक गुणं संपूर्णं भवति) सामायिक गुण संपूर्ण होता है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! नियमसार जी के निश्चय परम आवश्यक अधिकार में आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द देव योगी के लिये पुनः संकेत कर रहे हैं। सुअवस्था ही परम लक्ष्य है। आत्मिक स्वरूप परवश नहीं है। जिन्होंने काम के पाँच बाणों का शमन कर दिया है, पंचाचार परायणता ही जिनकी होती है, ऐसे आवश्यक ही मुक्ति-सम्पन्नता के कारण हैं। अवंचक गुरु की कृपा ही मुक्ति-सम्पदा का कारण है। आचार्यमहाराज परम आवश्यक में लीन परम निर्ग्रन्थ योगी की पुनः पुनः वंदना कर रहे हैं।

इत्थं बुद्ध्वा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम्।
निर्वाणसंपदं याति यस्तं वंदे पुनः पुनः ॥ कलश 249॥

इस प्रकार से जो योगी भगवान् जिनेन्द्रदेव के मार्ग को जान करके कि यह जिनेन्द्रदेव का मार्ग ही निर्वाण का कारण है, जो निर्वाण-संपदा को प्राप्त कर रहे हैं, मैं उनकी पुनः पुनः वंदना करता हूँ। भेद रत्नत्रय अभेद रत्नत्रय का कारण है और अभेद रत्नत्रय निर्वाण का कारण है।

स्ववशयोगिनिकायविशेषक प्रहतचारुवधूकनकस्पृह।
त्वमसि नश्शरणं भवकानने स्मरकिरातशरक्षत चेतसाम् ॥ कलश 250॥

इस कलश में आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव एक सामान्य जीव को खड़ा करके यह कह रहे हैं कि हे योगीश्वर! मैं आपके चरणों की वंदना कर रहा हूँ क्योंकि हम लोग तो राग से पीड़ित हैं, कामरूपी किरात के वाणों से पीड़ित हैं, आपके चरण ही हमारे शरणभूत हैं।

ऐसे स्ववश योगी जिन्होंने सुन्दर कामिनी और स्वर्ण को, जो दोनों संसार को लुभाने वाली वस्तुयें हैं उनको छोड़ दिया है। कंचन और कामिनी बड़े-बड़े महापुरुषों को भी चलायमान कर देती हैं। श्रीराम जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कामिनी के अभाव में नयन सुजा कर वन में भटकते रहे। यह ध्यान रखना कि वन, भवन मोक्ष के कारण नहीं हैं जब-तक निज भवन में वास नहीं है। यदि वन से मोक्ष होता तो जो जीव 14 वर्ष वन में घूमा उसे उस समय में मोक्ष हो जाना चाहिये था। उस समय उन्हें कनक और कामिनी भी सता रही थी। देवागम स्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं–

कामादिप्रभवश्चित्तः कर्मबन्धऽनुरूपतः।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्य शुद्धितः॥आ.मी. 99॥

ये काम जीव के चित्त को प्रभावित करता है, चलायमान करता है। पाँच इंद्रियों में दो काम इंद्रियाँ और तीन भोग इंद्रियाँ हैं। स्पर्शन और रसना काम इंद्रियाँ हैं और घ्राण, चक्षु और श्रोत ये भोग इंद्रियाँ हैं। आचार्य जयसेन स्वामी 'समयसार' जी की गाथा 4 की टीका में कहते हैं कि जिसने आठ अंगुल का वशीकरण कर लिया वह अष्टम वसुधा को प्राप्त कर लेगा। चार अंगुल की रसना इंद्रिय और चार अंगुल की स्पर्शन इंद्रिय। हे ज्ञानी! जितने कामादिक भाव हैं, चाहे देखने के हों, सुनने के हों, सूँघने के हों, स्पर्श करने के हों, ये सब कर्मबंध ा के हेतु हैं। तेरे शुद्धाशुद्ध परिणाम ही निर्बंध-बंध के हेतु हैं। समझ लोगे तो निश्चित कल्याण है। आज तक हमने किया क्या है? हमें कोई समझाने आया तो हमने उसके अंदर हजार गलतियाँ खोज ली। इससे आपका कल्याण नहीं होना है। कल्याण तो इसी में है कि सामने वाले ने जिस गलती पर आपको समझाया है वो निज में देखो।

अहो ज्ञानियो! आपको निर्ग्रन्थ में निर्ग्रन्थ नहीं दिखते, पर पद्मप्रभमलधारिदेव को निर्ग्रन्थों में सर्वज्ञ दिखते हैं। अद्भुत निर्मल दृष्टि है। अज्ञानियों को संघ नहीं दिखता और इतने महान ज्ञानी को सर्वज्ञ दिख रहे हैं। और क्या कह रहे हैं? जो भेद करे, सो जड़बुद्धि। जो सर्वज्ञ वीतराग भगवान् में और स्ववश में लीन योगी में किंचित भेद करता है तो जड़बुद्धि है। जो योगी है, वह ही सर्वज्ञ बना है। ये अभेददृष्टि से चर्चा कर रहे हैं। पूज्यता की दृष्टि से पंचपरमगुरु हमारे यहाँ पूज्य हैं।

अरुहा-सिद्धा-इरिया, उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं॥ वा. अ 12॥

आचार्य पद्प्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं कि

अनशनादि तपश्चरणैः फलं तनुविशोषणमेव न चापरम्।
तव पदाम्बुरुहद्वय चिंतया स्ववश जन्म सदा सफलं मम॥ 251 कलश॥

अनशन, उपवासादि तपों के द्वारा प्राप्त होने वाला फल शरीर-शोषण मात्र ही है, अन्य कुछ भी नहीं है। हे स्ववश मुनिराज! आपके चरणकमल की चिन्ता, वंदना से मेरा जन्म सफल है। यहाँ अनशन, अवमौदर्य आदि व्रतों के फल की अवहेलना नहीं है क्योंकि तपश्चरण से कर्मों की निर्जरा होती है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में कहा है—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम्।

हे प्रभु! आपने आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिए परम दुश्चर ऐसे वाह्य तप को तपा था। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव का कलश में कथन का तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञानशून्य तपश्चरण मुक्ति को प्राप्त कराने में असमर्थ है, परन्तु निर्दोष तपश्चरण द्रव्यलिंगी मुनि को नवग्रैवेयक तक पहुँचा देता है। यहाँ तपश्चरण का सर्वथा निषेध नहीं है, प्रत्युत गुरुभक्ति से गुरुओं के चरणों की उपासना का महत्त्व स्पष्ट है।

जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः स्वरसविसरपूरक्षालितांहः समंतात्।
सहजसमरसेनापूर्णपुण्यः पुराणः स्ववशमनसि नित्यं संस्थितः शुद्धसिद्धः॥252 कलश॥

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः।
न कामापि भिदां क्वापि तां चिन्मोहा जडा वयम्॥253 कलश॥

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि सहज तेज की राशि में डूबा हुआ जीव लोक में जयवन्त हो रहा है। जो निज रस के विस्तार से पाप को धो चुका है। जो सहज समरस से युक्त होने से, परिपूर्ण होने से पुण्य है, पवित्र है, पुराण है, सनातन है, जो योगी स्ववश होता है, उसके हृदय में यह नित्य विराजमान रहता है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि सर्वज्ञ वीतराग में और स्वात्माधीन इन योगियों में कभी कुछ भी भेद नहीं है। परन्तु शोक, खेद प्रकट करते हुए कह रहे हैं कि जो जड़-बुद्धि हैं, वे उनमें भेद मानते हैं। यहाँ स्ववश योगी से तात्पर्य 12वें गुणस्थान में स्थित योगी है जो अन्तर्मुहूर्त में शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ, वीतराग होने वाले हैं।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पंचपरमेष्ठीरूप मेरी आत्मा का ही स्वरूप है, इसलिए निश्चयनय से निज आत्मा ही शरण है और व्यवहारनय से पंचपरमेष्ठी शरण हैं। उनका ही इस लोक में जन्म धन्य है जो महामुनि स्ववश में विराजे हैं।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 'अष्टपाहुड' में लिखते हैं ''धण्णा ते भयवंता'' हे भगवन्! वे धन्य हैं जिन्होंने अंतरंग व बहिरंग परिग्रह को छोड़ दिया है।

एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनिः।
स्ववशः सर्वकर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः॥कलश 254॥

जो संपूर्ण कर्मों से बाह्य में स्थित हैं, जो अन्य में उपयोग से रहित हैं, ऐसे अनन्यबुद्धि वाले हैं। वास्तव में वे ही इस संसार में धन्यवाद के पात्र हैं जो वीतराग निर्विकल्प ध्यान में अपने उपयोग को स्थिर कर चुके हैं। उनसे सभी कर्म अपने आप पृथक् हो जाते हैं। उनका उपयोग अन्य तरफ न होने के कारण वे अनन्य-धी कहलाते हैं।

आचार्य-भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 147 में कह रहे हैं कि यदि तुम आवश्यक को चाहते हो तो आत्मा के स्वभावों में स्थिर भाव करो। निज में स्थिरता है तो आवश्यक है और आवश्यक है तो सामायिक है। एक ही पर्याय (मुनि पर्याय) ऐसी है जिसमें परवशता नहीं है, किसी की आधीनता नहीं है। परवशता में तो तुमने अनन्त भव व्यतीत कर दिये। श्रावको! एक बात का ध्यान रखना, साधक अपनी साधना कर रहा है, उससे जो मिल जाये अच्छा है। उनसे यह नहीं कहना कि महाराज आप ऐसा कहो, ऐसा करा दो। उनकी मानसिकता में अपनी मानसिकता का प्रवेश मत करा देना। निश्चिन्त होकर जीने का कोई स्थान है तो एकमात्र निर्ग्रन्थ अवस्था है। जिसे भोजन की भी चिन्ता नहीं है। यह लोक में सबसे बड़ी चिन्ता है। एक समय भी श्रावक को भोजन करना हो तो उसे धन की चिन्ता, सामान की चिन्ता, बनाने की चिन्ता रहती है। कोई विद्वान है तो समाज ने निमंत्रण कर लिया, अब तो चिन्ता/विकल्प नहीं है। आज का तो भोजन हो गया, पर कल उनके यहाँ जाना है, यह विकल्प है। यह छोटा नहीं है।

भो ज्ञानी! मुनिराज के लिये आगम ने अत्यन्त सुन्दर व्यवस्था कर दी है। कितने भी लोग हों, आप विधि लेकर जाओ। उससे क्या होगा? तुम्हारे भाग्य की परीक्षा और राग-द्वेष की हानि होगी। श्रावक की मानसिकता भी विकृत न हो और आप सहज होकर जाओ। साधु को भोजन की चिन्ता नहीं, रहने की भी चिन्ता नहीं है। तीसरी, पहनने की चिन्ता तो बहुत बड़ी चिन्ता है। कुछ नहीं पहनते हैं तो न गरीब दिखते हैं, न अमीर दिखते हैं। यदि कोई फटे कपड़े पहने हो, गरीब हो, तो आप पास में बैठने नहीं देते हो। खाने, रहने, पहनने की बहुत बड़ी चिन्ता रहती है आपकी। जब तीनों चिन्ता हटा दीं, तो जब स्थूल चिन्ता समाप्त हो जाती है तो सूक्ष्म चिन्ता की बात करते हैं।

भो ज्ञानी! विशेष साधना में कमी आने का यह भी मुख्य बिन्दु है समाचारपत्रों का आना-जाना। ज्यादा समाचार लोगे तो समय जायेगा, ज्यादा समाचार दोगे तो समय जायेगा। इसलिए अपरिचित रहो। परिचय बढ़ने से निज का अपरिचय हो जाता है। आचार्यभगवन् कह रहे हैं 'हे योगी! यदि आवश्यक चाहता है तो आत्मभाव में स्थिर भाव करो। जब तू आत्मा

में स्थिर हो जायेगा, तो उससे सामायिक गुण की प्राप्ति होगी। हे जीव! तेरी सामायिक गुण में पूर्णता होगी। यदि तू आत्मा में स्थिर हो गया तो शुद्ध निश्चय आवश्यक की प्राप्ति होगी।

टीकाकार शुद्ध निश्चय आवश्यक की प्राप्ति के उपाय के स्वरूप का व्याख्यान करते हैं। लेकिन यह नहीं सोच पा रहे हैं कि जहाँ षट् आवश्यक कर्तव्यों को प्रपंच कहा हो, वहाँ अनावश्यक की चर्चा की आवश्यकता क्या है? आगम का यथार्थ स्वरूप समझना आवश्यक है। ऐसा नहीं कि आप व्याख्यान करने बैठे, बोले, भैया! ये आवश्यक प्रपंच हैं, इनके करने से कुछ नहीं होता है। आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सब अज्ञान। देखो पहले लिखा है कि तन सुखाने से कुछ नहीं होना है। आत्मज्ञान ही ज्ञान है, ये पंक्ति कह रही है कि जिन कर्मों की क्षपणा अज्ञानी हजार करोड़ वर्षों में करता है, उन कर्मों की क्षपणा ज्ञानी एक उच्छवास मात्र में कर लेता है। पर कौन ज्ञानी? आत्मज्ञानी यानि त्रिगुप्तिधारी योगी।

कोटि जनम तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरें जे।

ज्ञानी के छिनमाँही त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥ 4/4 छहढ़ाला॥

यहाँ चतुर्थ गुणस्थान की चर्चा नहीं है। चौथे गुणस्थान में त्रिगुप्तियाँ कहाँ से प्राप्त होंगी? व्यवहारदृष्टि से छठवाँ और निश्चयदृष्टि से सातवाँ। चौथे गुणस्थान में एकदेश गुप्ति नहीं है, पंचम में भी नहीं है। यह छठवें गुणस्थान से प्रारंभ होती है।

वास्तव में यहाँ सप्तम गुणस्थानवर्ती ज्ञानी की चर्चा है। यहाँ कह रहे हैं कि जो तीन गुप्तियों से युक्त तथा व्यवहार निश्चय रत्नत्रय से मंडित है, स्ववश योगी है, वे ही यहाँ ज्ञानी संज्ञा को प्राप्त हैं। असंयमी की अपेक्षा से पंचमगुणस्थानवर्ती श्रेष्ठ है और उनकी अपेक्षा से महाव्रती श्रेष्ठ है।

भो बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 'नियमसार' जी में निश्चय परम आवश्यक अधिकार में अवश्य की क्रिया को आवश्यक कहा है। जो किसी के वश में नहीं है, वह अवश्य है और निश्चय दृष्टि से निज स्वभाव में लीन होना ही आवश्यक है। प्रपंचों में जाना परवश है। जो स्ववश में लीन योगी है, ऐसे योगी और सिद्ध परमेश्वर में जो भेद करके देखता है, वह जड़बुद्धि है। शुद्ध निश्चयनय से जीव सिद्ध-सदृश है, ''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।'' एक स्ववश में लीन योगी के अंदर सदृश्य न हो, यह संभव ही नहीं है। लेकिन ध्यान रखना, द्रव्यदृष्टि से है, द्रव्यों से नहीं है। संसारीजीव द्रव्यदृष्टि से सिद्ध-सदृश्य है, पर द्रव्य से तो अभी वर्तमान में संसारी है। वही द्रव्य जब कर्मों से मुक्त हो जाता है, तो वही सिद्ध परमेश्वर बन जाता है।

भो ज्ञानी! दृष्टि तो दृष्टि है, वस्तु तो वस्तु है। वस्तु में ही दृष्टि लगाई जाती है, अवस्तु

में कोई दृष्टि नहीं लगाई जाती है। दृष्टि यानि शक्ति। सिद्ध परमेष्ठी की अपेक्षा से अरहन्त भगवान भी संसारी हैं। बिना अपेक्षा लगाये भी संसारी हैं, अशुद्ध हैं। यदि संसारी आत्मा को शुद्ध मानते हो तो आचार्य कार्तिकेय स्वामी कहते हैं–

जइ पुण सुद्ध-सहावा, सव्वे जीवा अणाइ-काले वि।
तो तव-चरण-विहाणं, सव्वेसिं णिप्फलं होदि॥का. अनु. 200॥

जो सदा शिवत्व को मानके चल रहा है, शुद्ध मानके चल रहा है, वह कहीं सदाशिव मती न हो जाय। सभी जीव अनादिकाल से यदि सिद्ध हैं, तो करण यानि आत्मा के परिणाम, ये सब निष्फल हो जायेंगे। फिर गुणस्थानों की कोई आवश्यकता नहीं होगी। अणुव्रतों और महाव्रतों की कोई आवश्यकता नहीं होगी। अणुव्रतों या महाव्रतों का पालन कोई शौक है क्या? गुणस्थानों की चर्चा शौक से करते हो क्या? या ऊपर चढ़ने के लिये करते हो? संयम का पालन अशुद्धता नष्ट करने के लिये है। असिद्ध की सिद्धि होती है, कि सिद्ध की सिद्धि होती है? सिद्धि किसकी करनी चाहिये? असिद्ध की सिद्धि होती है। अध्यात्म के लिये करणानुयोग एवं न्याय दोनों अनिवार्य हैं। असिद्ध है, उसकी सिद्धि कर रहे हैं, वो ही मेरा साध्य है। आत्मा इष्ट है, अबाधित है, परन्तु असिद्ध अर्थात् शुद्ध नहीं है। उसकी सिद्धि मैं कर रहा हूँ।

भो ज्ञानी! जो आत्मा को नहीं मान रहे हैं, अर्थात् चार्वाक आदि के लिये आत्मा की शुद्धि है ही नहीं। जो आत्मा को तो मानते हैं, पर सदा मुक्त/शुद्ध मानते हैं, तो उनके लिये ''कर्मभूभृताम्'' ये शब्द क्यों कहा? कर्मरूपी पर्वतों को नष्ट कौन करता है? कर्म नष्ट करेगा, कि कर्मबंध नष्ट करेगा। जो जीव आत्मा को सदा शुद्ध मानता है, उसने 'तत्त्वार्थसूत्र' का मंगलाचरण भी नहीं पढ़ा है। यदि आप सिद्ध मानते हो तो गलत, सर्वथा संसारी मानते हो तो गलत, सर्वथा मुक्त मानते हो तो गलत। यदि आप ये कहें कि आत्म संसारी ही है।

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्ष नया सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्॥आ. मी. 108॥

वस्तु के अर्थ का कथन करने वाला सापेक्ष नय होता है, निरपेक्ष नय नहीं होता है, ऐसा आचार्य समन्तभद्र स्वामी 'आप्तमीमांसा' में कहते हैं।

'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में लिखा है कि जो निश्चय को प्राप्त नहीं कर पा रहा है, व्यवहार में प्रमाद किये बैठा है, ऐसा जीव स्व-पर का घात कर रहा है।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रुयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः॥पु. सि. 50॥

इसी विषय को कार्तिकेय स्वामी भी कहते हैं–

पच्छा तोणी बंधा

जब बन्ध को स्वीकार कर लेगा, तो फिर बंध को तोड़ेगा। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से वह आत्मा सिद्ध, शुद्ध, ध्रुव होती है। संसारी जीव की अपेक्षा से आत्मा अध्रुव, अशुद्ध कही है और सिद्धों की अपेक्षा से ध्रुव शुद्ध कही है। कुन्दकुन्द स्वामी ने अनित्य भावना को अध्रुव भावना कहा है। संसार की पर्यायें अध्रुव हैं और सिद्ध पर्याय ध्रुव है। प्रत्यासत्ति सब पदार्थों की ध्रुव ही है। आत्मा त्रैकालिक ध्रुव है, परन्तु परिणामी भाव अध्रुव ही हैं। जितने द्रव्य परिणमन कर रहे हैं, उस काल में वैसा ही तन्मय होकर परिणमन करते हैं। इसका ध्यान रखना। कुछ लोगों की धारणा होती है कि कर्म कर्म में है, आत्मा आत्मा में है। जैसे जल में तेल उछल रहा है, ऐसे आत्मा में कर्म उछल रहे हैं। भैया! एक बात बताओ, जल में तेल मानते हो कि तिल में तेल समान मानते हो?

भो ज्ञानी! जो चेतन है, वो चेतन है, आत्मा तो आत्मा ही है। दो द्रव्य एक कैसे होंगे? पर दो द्रव्य एक होकर रह सकते हैं कि नहीं रह सकते हैं? यदि नहीं रह सकते, तो बैठा कौन है? जिस समय द्रव्य जैसा परिणमन करता है, उस समय उसकी पर्याय तन्मय होके परिणमन करती है। दर्पण के सामने जब आपका चेहरा होता है, दर्पण उस समय तन्मय है आपके चेहरे से। पद्मराग मणि जब दूध में होती है तो जितना दूध का बर्तन होता है उतनी बड़ी उसकी आभा होती है। आत्मा और कर्म का संबंध संयोग नहीं है। संयोग जो होता है, भिन्न-भिन्न द्रव्यों में भिन्न-भिन्न होता है। आपका मेरा संयोग संबंध है। पंचपरमेष्ठी और आपका श्रद्धा-श्रद्धेय संबंध है। आप जहाँ बैठे हो, उस भूमि का और आपका आधार-आधेय सम्बन्ध है। यह अंगुली है, यह कौन जान रहा है? ये ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है। तेल में स्निग्धता, ये अविनाभाव संबंध है। अग्नि में उष्णता, जल में शीतलता, ये अविनाभाव संबंध है। इनका कभी अभाव नहीं होता। जिसको जिससे कभी पृथक् नहीं किया जा सके, एकमेक होकर एक-एक अंश में रहे, वहाँ अविनाभाव सम्बन्ध होता है।

भो ज्ञानी! बंध की परिभाषा क्या है? 'आत्मकर्मणो प्रवेशात्मको बंध:।' आत्मा में कर्मों का प्रवेश हो जाना, यानि एकमेक हो जाना, इसका नाम बंध है। ज्ञानावरणादि कर्म के योग्य जो पुद्गल वर्गणायें हैं, उनका आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हो जाना 'बंध' है। आत्मा और कर्म का संबंध जल व तेल के समान नहीं है। जल में जो तेल होता है, वो बिल्कुल प्रवेश किये नहीं होता, वो ऊपर-ऊपर होता है। हाथ डालके तेल को हटाया जा सकता है। तिल में जो तेल होता है, वो तिल के अंश-अंश में व्याप्त होता है। ऐसे-ही आत्मा के अंश-अंश में कर्म व्याप्त हैं। तिल का तेल एक्सपेलर से अलग किया जा सकता है। संसारी आत्मा का कर्मबन्ध कब से है? स्वभाव से है या किसी के द्वारा किया गया है? यदि अलग नहीं होगा, तो 'मुक्ताश्च' सूत्र क्यों? विभाव-स्वभाव किसका है? उपाधि ग्रहण की योग्यता नहीं होगी

तो पर उपाधि कभी ग्राही नहीं होगी। भो ज्ञानी! भावश्रुत की चर्चा तो सप्तम गुणस्थान से शुरू होती है। वास्तव में शुद्धोपयोग में लीन अवस्था ही भाव-आगम है।

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाण मिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ।।9।।
जो सुयणाणं सव्वजाइ सुयकेवलिं समाहु जिगा।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा।।10।। स. सा.।।

जो अपनी आत्मा में रमण करता है, वही मनुष्य भावश्रुत है, समयसार का द्रव्य से ज्ञाता है। एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्य में एकरूपता को प्राप्त होता ही नहीं है, लेकिन एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को प्रभावित करके तीसरी पर्याय को जन्म देता है।

अण्णोण्णं पविसंता देंता ओगास मण्ण मण्णस्स।
मेलंता वि णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ।। प. काय. 177।।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रवेश करने पर भी, एक दूसरे द्रव्य को अवकाश-दान देने पर भी, नित्य मिल जाने पर भी, अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। यह देह और आत्मा एकरूपता को प्राप्त होने पर भी एकरूप नहीं है। देह का धर्म जड़ है और आत्मा का ध र्म चेतन है। बंध का कथन दो द्रव्यों को एक करना नहीं है। बंध का कथन बने को बना कहना है।

भो ज्ञानी! कोई कहता है कि आत्मा इस शरीर में राई-प्रमाण है। कोई कहता है कि आत्मा मस्तिष्क में है, कोई हृदय में मानता है। कोई यह मान बैठा है कि आत्मा के प्रदेश स्वतंत्र हैं। जबकि ऐसा नहीं है, क्योंकि संसारी आत्मा का ऐसा कोई अवयव नहीं है जो शरीर से रहित हो। शरीर का ऐसा कोई स्थान नहीं है जो आत्मा से रहित हो। आत्मा स्वदेह-परिमाण है।

भो ज्ञानी! अशुद्ध समयसार यानि शुद्ध जीवकाण्ड। यह आत्मा अशुद्ध-स्थान-स्वभावी नहीं है, यह आत्मा विशुद्धि-स्थान से युक्त है, आत्मा अबंधक है, आत्मा मार्गणास्थान से रहित है, गुणस्थान से रहित है। यह नास्तिधर्म चल रहा है। नास्तिधर्म तभी चलता है जब अस्तिधर्म होता है। निश्चयनय से आत्मा एक-इंद्रिय नहीं है, दो-इंद्रिय नहीं है। व्यवहारनय से आत्मा एकेन्द्रिय आदि भी है। यदि ऐसा नहीं मानते हो तो महाव्रत भी नहीं है, अणुव्रत भी नहीं है और अणुव्रत व महाव्रत के अभाव में मुक्ति भी नहीं है, शुद्धि भी नहीं है और अशुद्धि भी नहीं है।

'मूलाचार' कहेगा, चरणानुयोग कहेगा कि ईर्यापथ से गमन करो। 'समयसार' कहेगा कि आत्मा में गमन करो। व्यवहारनय कहेगा कि वंदना, सामायिक आदि षट्आवश्यक करो।

'नियमसार' का निश्चय अधिकार कह रहा है कि आत्मा में स्थित हो जाओ।

भो ज्ञानी! तिल के कितने अंश में तेल है? सर्वांश में है। आत्मा और कर्म का संबंध कितने अंश में है? सर्वांश में है। दूध पानी के प्रवेश के समान आत्मप्रदेशों के साथ कर्मप्रदेशों का परस्पर में प्रवेश हो जाना 'बंध' है।

कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥द्रव्यसंग्रह 32॥

दूध के कितने अंश में पानी है? पानी के कितने अंश में दूध है? सर्वांश में। आत्मा का ऐसा कोई अंश नहीं है जिसमें कर्म का प्रवेश न हो। अष्ट धातुयें मिश्रित हैं, फिर भी प्रत्येक धातु स्वतंत्र है। ऐसे-ही आत्मा के प्रदेश और कर्म के प्रदेश एकमेक होने पर भी प्रत्येक स्वतंत्र है। वह स्वतंत्रता होने पर भी बन्ध तत्त्व का नहीं है और बन्ध होने पर भी बंधरूप नहीं है, निश्चयनय से। भो ज्ञानी! आत्मा कर्मों का कर्त्ता नहीं है अशुद्ध निश्चय नय से, व्यवहार से भी नहीं है। आप कहाँ शुद्ध निश्चयनय की बात कर रहे हो? आत्मा कर्म का व्यवहार से भी कर्त्ता नहीं है, क्योंकि कर्म जड़ है, आत्मा चेतन है। चेतन धर्म से जड़ धर्म का उत्पाद नहीं होता है। जड़ धर्म से चेतन का उत्पाद नहीं होता है। कर्म का कर्त्ता आत्मा नहीं है, आत्मा तो अपने निज स्वभाव का कर्त्ता है। विभाव का कर्त्ता भी आत्मा है वो पर-सापेक्ष है। कर्मबन्ध न होता तो विभाव न होता। विभाव न होता तो कर्मबन्ध न होता। अतः आत्मा दोनों का कर्त्ता है और आत्मा एक का भी कर्त्ता नहीं है। आत्मा तो निज चेतनस्वभाव का कर्त्ता है। और परमशुद्ध निश्चयनय से आत्मा न किसी का कर्त्ता है न किसी का भोक्ता है, वह तो स्वभाव का ही कर्त्ता और भोक्ता है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि बाह्य षट्आवश्यक, जो प्रपंचरूपी नदी की कलकल ध्वनि के समान हैं, उनको सुनने से भी जो पराङ्मुख है, ऐसा योगी यदि संसाररूपी बेल के मूल को (जड़ को) काटना चाहता है कुठार से, जिससे कि यह पुनः उत्पन्न न हो, ऐसा शुद्ध निश्चय धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान रूप स्वात्मित आवश्यक क्रिया को चाहता है तो समस्त विकल्पजालों से रहित, निरंजन स्वरूप, अपने परमात्म भावों में सतत् निश्चल स्थिर भाव करो। इस हेतु से निश्चय सामायिक गुण के हो जाने पर मुमुक्षु जीव के लिये बाह्य क्रियायें अनुपादेय फल को देने वाली ही होंगी। उससे उपादेयभूत परमतत्त्व प्राप्त नहीं होगा। इसलिए युक्तिरूपी सुन्दरी के संयोग और हास्य को प्राप्त कराने में कुशल, ऐसे निष्क्रिय निश्चय परम आवश्यक के द्वारा जीव का सामायिक चारित्र संपूर्ण होता है। जिसके पास सामायिक चारित्र नहीं है, उसके स्वरूपाचरण बिल्कुल नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

आचार्य योगीन्द्रदेव भी 'अमृताशीति' ग्रन्थ में कह रहे हैं—

यदि चलति कथंचिन्मानसं स्वस्वरूपाद्
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंगः
तदनवरतमंतर्मग्नसंविग्नचित्तो
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम्॥अमृताशीति 64॥

हे साधक! यदि कथंचित तेरा मन स्वरूप से चलायमान होने लगे और जैसे ही स्वरूप से चलायमान होता है तो वह बाह्य में भ्रमण करने लगता है। व्यक्ति का संयम नहीं छूटता है, व्यक्ति का मन छूटता है। यदि चित्त निर्मल है, तो चारित्र निर्मल रहेगा। यदि चित्त निर्मल नहीं है, तो आप कितना ही दबाके बैठे रहना, लेकिन चारित्र बचने वाला नहीं है। स्वभाव से जो स्थिरता आती है, वह स्थिरता दबाने पर नहीं आती है। मोक्षमार्ग दबाने का नहीं है, मोक्षमार्ग अपने आपको रोके रखने का है। यदि कषाय को नहीं रोका, शरीर को कितना ही रोक कर रख सकते हो, यदि मन को नहीं रोका तो मौका पाकरके तन भी जायेगा मन के साथ। जब तक मन जा रहा था, तब तक किसी को पता नहीं था और जिस दिन तन भी चला गया, उस दिन चारित्र गया। जिनवाणी कहती है कि जिस दिन मन गया था, उस दिन तुम जा चुके थे। फिर भी उपाय था। मन को वश में कर लेते तो अतिक्रमण नहीं होता। मन गया, अतिक्रम हुआ और उस विषय की प्राप्ति के लिये आप सामग्री जोड़ने लगे तो व्यतिक्रम हुआ। व्रत का एकदेश भंग हो जाना अतिचार है और व्रत के भंगरूप प्रवृत्ति में मस्त हो जाना, तल्लीन हो जाना, अनाचार है। मन गया है, अभी भी संभल जाओ, कुछ नहीं गया है, अतिक्रम हुआ है। यदि भोगों की सामग्री जुटाने लगे, तो व्यतिक्रम हुआ है। एकदेश भोग शुरू कर दिया और पुनः संभल गये, अतिचार पर रुक गये। और कहीं उसमें तल्लीन हो गये, तो महाअतिचार हो गया।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जब यह मन बाहर में भ्रमण करने लगता है, तो सर्व दोषों का प्रसंग होता है। आप द्रव्यों को भोगने का भाव छोड़ देना। आपने कहा कि पदार्थ दिख गये, सो मेरे ऐसे भाव आ गये। लड्डू ने कब किससे कहा कि मुझे खा लो? वो तो जड़ था। आपने खाया, तो उसमें लड्डू का दोष था क्या? आपका चित्त ही लड्डू में गया। तो वश किसको करना है? लड्डू या मन को? मन को। इसलिये कह रहे हैं कि विश्व में जितने दोष हैं, उन सबका कारण मन का भटकना है। इसलिये जो चित्त है, उसको अनवरत अन्तर्मन होकर संवेग भाव से संभाल लो। चित्त संभल गया तो चारित्र संभल गया। लेकिन इसमें छल मत ग्रहण करना। इंद्रिय भोग चल रहा है, भैया आनंद में मग्न हैं। मन जाये नहीं और इंद्रियों के भोग होते रहें, यह संभव नहीं है। बोले, भाव तो विशुद्ध हैं, भाव तो निर्मल हैं। जब विषयसेवन की भावना आई, तभी पाप हो चुका था। और जिसका शरीर (इंद्रियाँ) काम कर

रहा है तद्रूप, वो तो महापाप में जा रहा है और कह रहे हो कि मन तो शुद्ध है। बोले, हम चाहते नहीं थे। पश्चात्ताप को अचाहना कह रहा है, थकान को विशुद्धि कह रहा है। जो दौड़ में शक्ति व्यय होती है, तो थक जाता है। साधना करने में शक्ति व्यय होती है तो थक जाता है। भोगों को भोगने में शक्ति का व्यय होता है। भोजन करने के बाद विश्राम करने के भाव क्यों आते हैं? क्योंकि शरीर को श्रम हुआ है। ऐसे-ही स्पर्श-इंद्रिय के भोग भोगने पर थकान आती है और कह रहा है कि विशुद्धि आ रही है। ज्ञानी! वो विशुद्धि नहीं है। शरीर में ताकत नहीं बची, इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं। वास्तव में विशुद्धि नहीं है, वो पश्चात्ताप है, थकान है। अंतरंग में सामर्थ्य होने पर भी, बल होने पर भी, प्रवृत्ति नहीं होना, इसका नाम विशुद्धि है। एक समय में एक उपयोग होता है। आप एक वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हो तो आपको महसूस नहीं होगा कि मैं कर रहा हूँ कि नहीं कर रहा हूँ।

भो ज्ञानी! किसी के घर में कुछ हो जाये तो जो एक दिन संयम का पालन नहीं कर सकता है उसको भी तीन दिन तक पता ही नहीं चलता कि हमारे घर में कोई स्त्री है भी या नहीं। नौजवान बेटे की मृत्यु हो जाये तो ऐसा भान होता है कि संसार में कुछ बचा ही नहीं। ये आर्त्तध्यान की महिमा है कि सब सुध-बुध भुला दी। जिसे ऐसी चिंता सताती है कि निज स्वरूप का वियोग न हो जाये, निज स्वरूप से चलायमान न हो जाऊँ, उसी का चित्त ब्रह्म में लीन होता है। इसलिए आचार्यों ने व्रत की रक्षा के लिये और निद्रा पर जय करने के लिये आदेश दिया कि चिंता करो। जिसे निद्राजयी बनना हो, तो चिंता निज स्वरूप की करो। जैसे जिसके घर में 25 साल की कन्या बैठी हो, शादी के योग्य हो, माता-पिता शादी की चिन्ता में बैठे हों, योग्य लड़का नहीं मिल रहा हो, बहुत दहेज देने की सामर्थ्य नहीं हो, उन माता-पिता से पूछना 'भोजन का स्वाद आप कब लेते हो? शांति की नींद कब आती है?' बस, निद्रा को जीतने के लिये ऐसी चिंता चाहिये।

भगवती आराधना, मरण कण्डिका में आचार्य महाराज कहते हैं कि योगी पुरुष सोचे कि अपनी चेतन कन्या का संबंध चेतन पुरुष के साथ कैसे हो? ऐसी चिन्ता जब सताती है, तब साधक निद्राजयी बनता है। भो ज्ञानी! आत्मसाधना क्या होती है और साधना की चर्चा क्या होती है, ये तो प्रेक्टिकल से ही अनुभव में आता है, क्योंकि बाहर की बात अलग होती है और अनुभव की बात अलग होती है। प्रसूति की वेदना मापने का कोई यंत्र नहीं होता। वेदना मापने का यंत्र तो उसी के पास होता है जो प्रसूति करती है। ग्रन्थों से वस्तु के स्वरूप को तो जाना जा सकता है, परन्तु ग्रन्थों से वस्तुस्वरूप का वेदन नहीं किया जा सकता है। वस्तुस्वरूप का ज्ञान तो ग्रन्थों से होता है, पर वस्तुस्वरूप का वेदन तो निर्ग्रन्थता में ही होता है। यदि चित्त संभाल लिया, तो भव के अंत के स्वामी सिद्ध भगवन्त बन जाओगे।

यद्येवं चरणं निजात्मनियतं संसारदुःखापहं
मुक्तिश्रीललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम्।
बुद्ध्वेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा
सोऽयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवी-पावकः॥कलश 255॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव इस कलश में कह रहे हैं, अहो योगी! निज आत्मा में चरण करो। क्यों करो? यदि संसार के दुःखों से पार होना चाहते हो तो एक ही उपाय है, निज आत्मा में चरण करो। जो मुक्तिरूपी कान्ता है, ललना है, उसके साथ सुख से रहना चाहते हो तो एकमात्र उपाय है, निज आत्मा में लीन हो जाओ। इस प्रकार से निर्दोष आत्मा को जो जानते हैं, वे बाह्य क्रियाओं से रहित हुये मुनिनाथ पापरूपी वन को भस्मसात् करने के लिए अग्निस्वरूप होते हैं।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

गाथा 148 **कलश 255**

उत्थानिका : शुद्धोपयोग-सम्मुख जीव को शिक्षा

गाथा : आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो, तम्हा आवासयं कुज्जा॥148॥

संस्कृत छाया : आवश्यकेन हीनः प्रभ्रष्टो भवति चरणतः श्रमणः।
पूर्वोक्तक्रमेण पुनः तस्मादावश्यकं कुर्यात्॥148॥

अन्वयार्थः (आवश्यकेन हीनः) आवश्यक से हीन (श्रमणः) श्रमण (चरणतः प्रभ्रष्टः भवति) चारित्र से भ्रष्ट होते हैं (तस्मात् पुनः) पुनः इसलिए (पूर्वोक्त क्रमेण) पूर्व कथित क्रम से (आवश्यकं कुर्यात्) आवश्यक क्रिया करना चाहिये।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी के निश्चय परम आवश्यक अधिकार में कह रहे हैं कि यदि तुम आवश्यक को चाहते हो तो अपने आपको आत्मा के स्वभाव में स्थिर करो। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव निश्चय चारित्र के महत्त्व को बताते हुये कलश में कह रहे हैं

यद्येवं चरणं निजात्मनियतं संसारदुःखापहं
मुक्तिश्रीललना-समुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम्।
बुद्ध्वेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा
सोऽयं व्यक्तबहिः क्रियो मुनिपतिः पापाटवीपावकः॥कलश 255॥

पाप की अटवी को कोई जलाने वाला है वो चारित्र है, आचरण है, संसार के दुःखों का नाश करने वाला है। यहाँ यह नहीं कह रहे हैं कि ज्ञान संसार के दुःखों को नाश करायेगा। ज्ञान संसार के दुःखों और सुखों की जानकारी देता है। हित क्या है अहित क्या है, इन दोनों के उपाय को बताने वाला ज्ञान होता है। पाप का नाश करने वाले ज्ञान का नाम चारित्र है। मुक्तिरूपी ललना को प्राप्त करने में जो सुख होता है, वो श्रेष्ठ सुख है। उस सुख का कारण, समय का सार, पाप से रहित अवस्था है। जो जीव मुक्ति-ललना के साथ रहने के सुख को जानता है, वो संपूर्ण बाह्य क्रियाओं को छोड़ देता है। जब-तक मुक्तिललना का संग समझ में नहीं आ रहा है, तब-तक तुम चमड़ी की ललना में रत हो। चर्म पर राग कब-तक? जब-तक मुक्तिललना को प्राप्त नहीं कर लेते। आचार्यमहाराज इतना कठोर कह रहे हैं, तब

भी तू वैराग्य को प्राप्त नहीं होता। देखो, राग की दशा बहुत विचित्र होती है। सब जान रहे हैं, समझ रहे हैं, इससे लगता है कि ज्ञान कुछ-और वस्तु है और वैराग्य कुछ-और वस्तु है।

आपने दस दिन में 'तत्त्वार्थसूत्र' से मुनिचर्या नवें अध्याय में, गृहस्थचर्या सातवें अध्याय में जान ली। शुभ-अशुभ क्रियाओं को समझ लिया, पुण्य-पाप को समझ लिया, आस्रव-बंध और मोक्ष को समझ लिया, फिर भी मोक्ष से मोह नहीं हो रहा है। मोक्ष होने में देर नहीं लगती है, देर तो लगती है मोक्ष से मोह होने में। मोक्ष जाने के लिये मात्र दो गुणस्थान 13, 14वाँ और मोह का मोक्ष कराने के लिये 1 से 12 तक चलते हैं। महाराज! आप पहले गुणस्थान में मोक्ष की बात बता रहे हो? 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' में आचार्यमहाराज कहते हैं कि भद्र मंदकषायी मिथ्यादृष्टि जीव करणलब्धि में जब वह सम्यक् के सम्मुख होता है, तब भद्रमिथ्यात्व अवस्था में अनंतानुबंधी की मंदता आती है, वहीं से मोक्षमार्ग प्रारम्भ करता है। देव-शास्त्र-गुरु के पास पहुँचता है। जो देव-शास्त्र-गुरु के पास पहुँचता है, वही आगे बढ़ जाता है।

लोग घर में झाड़ू लगा लेंगे, पर मंदिर में माली पर चिल्लायेंगे। घर की झाड़ू तो पापबंध का कारण है। अरहंतदेव की सेवा करने दूसरे को बुलाते हो और घर की झाड़ू स्वयं लगाते हो। यह मानो कि पुण्य का योग है कि अरहंतदेव की सेवा करने का अवसर मिला है। जो जिनभवन में घंटा आदि लगाता है, वह बड़ा पुण्यशाली जीव है। फर्श आदि बिछाने की आवश्यकता पड़े तो स्वयं बिछा लेना क्योंकि आप देखकर बिछाओगे, दूसरा वैसे-ही बिछायेगा। धार्मिक कार्यों में कभी यह मत सोचना कि सम्मान नहीं हुआ। ''न धर्मो धार्मिकैर्बिना'' धार्मिकों के बिना धर्म चलता नहीं है, होता नहीं है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 148 में कह रहे हैं कि जो श्रमण आवश्यक से हीन होते हैं, वे भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए पूर्व में जिस क्रम से आवश्यक क्रियायें कही गई हैं, उनको अवश्य करना चाहिये। यहाँ पर निश्चय और व्यवहार दोनों की बात कह रहे हैं। इस गाथा में कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि जो आवश्यक क्रियाओं को छोड़ करके निश्चय मात्र की बात कर रहा है, वो अपने व्यवहार संयम से भी भ्रष्ट हो रहा है। जिसका व्यवहार संयम निर्मल है, वो निश्चय में जाने की योग्यता रखता है। जिसका व्यवहार संयम ही नष्ट हो चुका है, वो निश्चय संयम में क्या जायेगा? इसलिए क्रम से अर्थात् पहले व्यवहार आवश्यकों को करो और जब व्यवहार आवश्यक पालोगे तो निश्चय आवश्यक को भी कर सकते हो। ऐसा जानना चाहिये।

भो ज्ञानी! जब-तक निश्चय आवश्यक में प्रवेश नहीं हुआ है, तब तक व्यवहार आवश्यकों को नहीं छोड़ना चाहिये। जो आवश्यक जिस काल में जरूरी है, उस काल में

ही करना। 'मूलाचार' में लिखा है कि वृद्धि नहीं करना, हानि नहीं करना। छह आवश्यक का काल है, उस काल को यहाँ-वहाँ नहीं करना। आचार्यमहाराज ऐसे योगी के लिये शिक्षा दे रहे हैं जो वास्तव में शुद्धोपयोग में नहीं है पर शुद्धोपयोग की ओर अभिमुख हो रहा है। व्यवहारनय की दृष्टि से 'समता' यानि सामायिक। चौबीस तीर्थंकरों का एकसाथ स्तवन करना 'स्तुति' है और एक तीर्थंकर का स्तवन करना 'वंदना' है। आगामी पापों का परित्याग 'प्रत्याख्यान' है। भूत में हुये दोषों से निराकरण के लिये 'प्रतिक्रमण' होता है। 'कायोत्सर्ग' में शरीर से ममत्व का परित्याग होता है। इस प्रकार यह व्यवहार से षट् आवश्यक हैं। निश्चय में कौन आवश्यक थे, अपने ज्ञान का विषय नहीं है। लेकिन व्यवहार में जो इनका पालन करता है, उसे 'श्रमण' कहते हैं। निश्चय हमारे ज्ञान का विषय नहीं है, पर व्यवहार तो हमारे ज्ञान का प्रत्यक्ष विषय है। इन षट् आवश्यक से जो हीन है, वह श्रमण के चारित्र से परिभ्रष्ट है।

आचार्यमहाराज ने 'भ्रष्ट' शब्द के साथ 'परि' उपसर्ग लगाया है। चारित्रभ्रष्ट भी कह सकते थे। परि का अर्थ होता है चारों ओर से। वह श्रमण चारों ओर से भ्रष्ट है और शुद्ध निश्चय से परम अध्यात्म भाषा में कहा है कि निर्विकल्प समाधि स्वरूप परम आवश्यक क्रिया से हीन हुआ श्रमण निश्चयचारित्र से भ्रष्ट है, ऐसा तात्पर्य है। अर्थात् जो व्यवहारनय से षट् आवश्यक और निश्चयनय से परम आवश्यक दोनों ओर से रहित है, वो उभय धर्म से भ्रष्ट है। स्ववश हुये परम जिन योगीश्वर के जो निश्चय आवश्यक का क्रम है, जो कि स्वात्म-आश्रित निश्चय धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान स्वरूप है, उसी क्रम से परममुनि सदा आवश्यक क्रिया को करो, ऐसी आज्ञा दे रहे हैं।

जो योगी यह कहे 'मैं तो परम आवश्यक में लीन होता हूँ' वह आवश्यक से भ्रष्ट है। पूछा, सामायिक कर ली? बोले, 'क्या सामायिक का विकल्प करते हो आप? मैं तो चौबीस घंटे स्व में रहता हूँ।' प्रतिक्रमण कर लिया? 'प्रतिक्रमण वे करें जिनने पाप किया हो, मैं तो चौबीस घंटे स्व में रहता हूँ।' प्रत्याख्यान किया? 'मैं ग्रहण ही नहीं करता हूँ तो प्रत्याख्यान किसका करूँ?' कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उनसे कहा 'अमुक वस्तु का त्याग कर दो' बोले, 'हम लेते ही नहीं हैं तो काहे का त्याग कर दो? हम बंधना नहीं चाहते हैं।' ज्ञानी! यह आप नहीं बोल रहे हो, आपका तीव्र राग और कषाय बोल रही है। सामायिक यानि संध्याकाल। उसको बजे से नहीं लगाना। हर मौसम में सामायिक के काल में परिवर्तन होता रहता है। जैसे गर्मी में साढ़े छह/सात बजे, जाड़े में पाँच बजे अंधेरा होने लगता है, उस समय सामायिक काल में परिवर्तन हो जाता है। सुबह का समय भी परिवर्तित हो जाता है। मौसम के अनुसार सामायिक का समय परिवर्तित होता है। कुल मिलाके सूर्यास्त के एक घड़ी पहले से एक घड़ी बाद

तक, यह सामान्य सामायिक है। सामायिक जघन्य, उत्कृष्ट कही गई है। उत्कृष्ट सामायिक का काल सवा दो घंटे होता है अर्थात् लगभग छह घड़ी। ये व्यावहारिक सामायिक के काल का कथन है। निश्चय सामायिक के लिये कोई काल नहीं है।

भो ज्ञानी! आहार का उत्कृष्ट काल 40 मिनट अधिकतम, अंजुली छोड़ने, सिद्ध भक्ति पढ़ने के पश्चात् तथा जघन्य काल 2 घंटा कहा गया है। वृद्ध हैं, अशक्त हैं, धीरे-धीरे आहार ले पाते हैं। कोई 15-20 मिनट में भी आहार ले लेता है। यह व्यक्तिगत व्यवस्था है। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि आवश्यक कर्तव्य आवश्यक काल में अवश्य करना चाहिये।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

गाथा 149 **कलश 256, 257**

उत्थानिका : आवश्यक क्रिया के अभाव में श्रमण बहिरात्मा होता है

गाथा : आवासएण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासयपरिहीणो, समणो सो होदि बहिरप्पा॥149॥

संस्कृत छाया : आवश्यकेन युक्तः श्रमणः स भवत्यंतरङ्गात्मा।
आवश्यकपरिहीणः श्रमणः स भवति बहिरात्मा॥149॥

अन्वयार्थ : (आवश्यकेन युक्तः) आवश्यक से सहित जो (श्रमणः) श्रमण है (सः) वह (अंतरङ्गात्मा) अंतर-आत्मा है और जो (आवश्यकपरिहीणः) आवश्यक से रहित (श्रमणः) श्रमण है वह (बहिरात्मा भवति) बहिरात्मा होता है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! टीकाकार आचार्यमहाराज निश्चय क्रियाओं के महत्त्व को दो श्लोकों के माध्यम से कह रहे हैं।

आत्मावश्यं सहजपरमावश्यकं चैकमेकं
कुर्यादुच्चैरघकुलहरं निर्वृतेर्मूलभूतम्।
सोऽयं नित्यं स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
वाचां दूरं किमपि सहजं शाश्वतं शं प्रयाति॥कलश 256॥

यहाँ आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव सामायिक आदि षट् आवश्यक कर्तव्यों की महिमा बता रहे हैं। जो पापों का समूह है, उसको आत्मा अवश्य ही, आवश्यक कर्तव्यों के द्वारा, नाश करे। कोई पापों से तो बचना चाहता है और क्रिया से भी बचना चाहता है तो आप पापों से नहीं बच सकते। क्रियाओं को क्रियाकाण्ड कहकर टाल दिया और पापों की प्रवृत्ति छोड़ी नहीं, तो पापास्रव से कैसे बच सकते हो? यह आवश्यक कर्तव्य निर्वाण के मूल हैं। यदि आवश्यक ही नहीं हैं, तो मार्ग ही नहीं है, तो निर्वाण की बात क्या करोगे? जो सहज परम आवश्यक है, वह नित्य ही स्वरस से परिपूर्ण है, पुण्यरूप है, पुराणरूप है, वचनों से दूर है, वचनों के अगोचर है। उसके द्वारा यतिगण परम सहज शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं।

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम्।
इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूलं मुक्तिशर्मणः॥कलश 257॥

यहाँ आचार्य कह रहे हैं कि जो मुनिराज अपने स्व के वश में है, उनका स्वात्म चिन्तन उत्तम आवश्यक कर्म है और वही उनकी मुक्ति के सुख का मूल है। स्ववश से युक्त योगी

का आत्मचिन्तन ही परम आवश्यक है। ये शुद्धोपयोग की चर्चा है।

एक प्रश्न उठता है कि सामायिक में मन लग गया तो फिर शेष आवश्यक करें कि नहीं? यदि वास्तव में सामायिक में लगा है, तो श्रेष्ठ है। यदि हम सामायिक में अन्य पाठ करने में तल्लीन हैं, तो फिर सामायिक छोड़कर अन्य कर्त्तव्य करना अनिवार्य ही है। मन लगना एक बात है और शुद्धोपयोग में डूबा होना भिन्न विषय है। शुद्धोपयोग में डूबे जीव के लिये, कोई दूसरी क्रिया के लिये आगम आदेश नहीं कर रहा है। ऐसे अमृत को छोड़कर तुम कहाँ जाओगे? आत्मचिन्तन का नाम शुद्धोपयोग नहीं है। जो सहज रूप में लीनता है, वो शुद्धोपयोग है, आत्म ग्रहण है। कभी-कभी यह होता है कि हम चिन्तन में बैठे हैं और दूसरे कर्त्तव्य का समय हो गया तो वहाँ हमें चिन्तन को छोड़कर अपने दूसरे कर्त्तव्यों को करना चाहिये।

भो ज्ञानी! किसी ने उपदेश कर दिया कि स्वाध्याय ही पूजा है अथवा पूजा ही स्वाध्याय है। ये दोनों बातें प्रवचन की तो हो सकती हैं, परन्तु व्यवहार में नहीं आना चाहिये। प्रवचनकार ने षट् आवश्यक कर्त्तव्य पूजा में घटित कर दिये, वो तो ठीक है, लेकिन उससे क्या स्थिति बनेगी? सामाजिक और धार्मिक विषमता आ जायेगी। घटित कोई भी कर सकता है, लेकिन पूजा तो पूजा ही है। उसमें छंद पढ़ रहा है, उनके अर्थ में जा रहा है। बोले 'स्वाध्याय चल रहा है।' ठीक है। वचनपूर्वक जितनी प्रवृत्ति होती है वह सब स्वाध्याय है।

भो ज्ञानी! आपने द्रव्य चढ़ाया, त्याग हुआ, बोले 'दान हो गया।' एक घंटे खड़े होकर पूजा की, बोले, 'तप हो गया।' ऐसे घटित करना है तो करो, लेकिन बात कुछ-और है। आपके नगर में मुनिसंघ आया, आप पूजा करके आ चुके थे, बोले, महाराज! हम अपने षट् आवश्यक पूरे कर चुके हैं। हम पूजा में दान आदि सब करके आये हैं। ज्ञानी! यह चिन्तन का विषय है। पूजा अकेले से काम चल जाता तो भिन्न-भिन्न आवश्यक कहने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे प्रत्येक अनुयोग में चारों अनुयोग सम्मिलित होते हैं, फिर भी एक अनुयोग चारों अनुयोग नहीं है। 'हरिवंश पुराण' में करणानुयोग का विशद् वर्णन है, पर वो करणानुयोग का ग्रन्थ नहीं होगा, प्रथमानुयोग का ही होगा। प्रथमानुयोग में करणानुयोग का वर्णन हो जाना अलग विषय है, लेकिन प्रथमानुयोग करणानुयोग नहीं होता है। एक अनुयोग में चारों अनुयोग रहते हैं, परन्तु जिस विषय की प्रधानता रहती है, जिस विषय को प्रतिपादित किया जाता है, वह उस अनुयोग का ग्रन्थ होता है। जैसे आम के बगीचे में आम के सिवा इमली, अमरूद, जामुन आदि के वृक्ष भी होते हैं, परन्तु आम के वृक्षों की अधिकता/प्रधानता के कारण आम का बगीचा कहा जाता है।

भो ज्ञानी! इसलिये अलग-अलग व्याख्यान करना चाहिए, नहीं-तो बड़ी विषमता हो जायेगी। ऐसा भी चिन्तन हो सकता है कि एक पाप में पाँचों पाप, एक व्रत में पाँचों व्रत

लेकिन फिर भी अलग से भी कहना चाहिये। सूत्रप्रधानी शिष्य और टीकाप्रधानी शिष्य, दोनों के लिये वचन होना चाहिये, अन्यथा गड़बड़ी हो जायेगी। नास्ति पक्ष कहने के बाद आगम में अस्तिपक्ष भी कहा जाता है, जबकि एक पक्ष कहने से दोनों पक्ष आ जाते हैं।

आचार्य विद्यानंदि महाराज कहते हैं कि आप अर्हत् दर्शन वाले हो, आप अर्हत् को आप्त मानते हो, अन्य दर्शन वाले अपने-अपने हिसाब से आप्त को मानते हैं। यदि वे अपने प्रतिपादित तत्त्वों के द्वारा आपके आप्त को अनाप्त सिद्ध करते हैं तो आप मान लेते हो क्या? नहीं। आप उनके द्वारा प्रतिपादित को आप्त मानते हो क्या? नहीं। तर्कों के द्वारा मनवायेंगे तो मानोगे क्या? नहीं। आप मनवा सकोगे क्या? नहीं। अब प्रश्न खड़ा हो गया कि मनवा नहीं सकते हो, मान भी नहीं सकते हो, तो सबसे बढ़िया है कि अपने आप्त की महिमा गाओ, आप्त/अनाप्त की चर्चा करके समय नष्ट मत करो। ग्रन्थ प्रमाणिक माने जाते हैं।

आगमविरुद्ध कुछ हो रहा हो तो उसका विरोध करना चाहिये, नहीं-तो आगामी काल में सच्चा धर्म कहलाने लगेगा।

आचार्यमहाराज कहते हैं कि जो तत्त्व को स्वीकार किये हुये हैं, वे अतत्त्व को स्वीकार न कर लें, इसलिए दर्शनशास्त्र में दूसरे दर्शन का खण्डन किया जाता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने सांख्य दर्शन का डटके खण्डन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ऐसे आचार्य हुये हैं जिन्होंने सर्वप्रथम सांख्य दर्शन का खण्डन किया है। अन्य आचार्यों ने भी परमत का खण्डन किया है, परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने 'नियमसार' ग्रन्थ में जिनधर्म में मुनिचर्या में शिथिलाचार का जोरदार खण्डन किया है। उनको लग रहा था कि जब अपना घर ही स्वच्छ नहीं होगा तो दूसरों को क्या कह पायेंगे? उनके समक्ष विकट परिस्थिति आ चुकी थी, कपड़ाधारी मुनिराज बन चुके थे और ऐसा माहौल बन चुका था। जिस समय जैसा माहौल होता है वैसा साहित्य लिखा जाता है।

भो ज्ञानी! आराधना करो, साधना करो। समझौता करके चलना, परन्तु सिद्धान्त से कभी समझौता मत करना। यदि सिद्धान्त से समझौता कर भी लिया, तो जिनवाणी तुम्हें माननेवाली नहीं है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 149 में कह रहे हैं कि आवश्यक से सहित जो श्रमण है, वह अंतरात्मा है और जो आवश्यक से रहित श्रमण है, वह बहिरात्मा है। जैन दर्शन में सबसे बड़ी गाली 'बहिरात्मा' है। निज में लगाने के लिये आचार्यों ने कठोर शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने बाह्य कह दिया जिससे कि तुम प्रमादी न बन जाओ। बोले, मैं तो स्वाध्याय कर रहा हूँ, कर लूँगा वंदना बाद में। वंदना के लिये ही स्वाध्याय होता है। 'प्रतिक्रमण कर लो।' अब करना ही है तो बाद में कर लेंगे। 'अभी क्या कर रहे हो?'

स्वाध्याय कर रहा हूँ। भैया! समय पर प्रतिक्रमण आदि करो। इसलिए स्वाध्याय किया जाता है कि अपने आवश्यक कर्त्तव्यों में सजगता रहे। 'पूजा कर लो।' अरे! कर लूँगा पूजा। अभी मन स्वाध्याय में जा रहा है। यानि आप ज्ञान को महत्त्व दे रहे हो, आप संयम को महत्व नहीं दे रहे। स्वाध्याय का निषेध नहीं किया जा रहा है। अच्छी तरह से पूजा कर सको इसलिये स्वाध्याय है। क्रिया का निषेध नहीं है।

भो ज्ञानी! जिसको आवश्यक कर्तव्यों पर विश्वास नहीं है, उसे हम सम्यग्दृष्टि कैसे कह सकते हैं? यदि चारित्र पर श्रद्धा नहीं है और त त्त्व पर श्रद्धा है, तो वह सम्यग्दृष्टि है कि मिथ्यादृष्टि? मिथ्यादृष्टि। 'मूलाचार' की भाषा में, आपने स्वर्ग को नरक से गया-बीता बना दिया। नरक के बारे में कुछ कह नहीं रहे हो। आपको ज्यादा कथन नरक का करना चाहिये जिससे कि अशुभ से बचने का प्रयास करे। पहले शुभ में ले जाने की बात करो, फिर स्वर्ग की चर्चा करो। आपने स्वर्ग से इतना भयभीत कर दिया किसी को, तो वो पूछता है कि स्वर्ग मिलता है किससे? बोले, पूजन-पाठ करने से। बोले, जय हो। आज से अपन को पूजन-पाठ नहीं करना है, क्योंकि ऐसे स्वर्ग में नहीं जाना है। अतः ऐसा कथन मत करो। कथन ऐसा करो कि वास्तव में स्वर्ग ही मोक्ष नहीं है, लेकिन नरक से अच्छा है।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत् नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान ।। इष्टोपदेश 3।।

धूप में जलने की अपेक्षा से वृक्ष की छाया श्रेष्ठ है। लेकिन दृष्टि यही बनाके चलना है कि हमको भवन में ही बैठना है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य गति में झुलसने की अपेक्षा स्वर्ग में जाना श्रेष्ठ है। सम्यग्दृष्टि देव हो गये तो नंदीश्वर द्वीप आदि की वंदना करोगे। भगवान् की भक्ति करके, विदेह आदि की वंदना करके, और वहाँ से जाके, मनुष्य बनके, सिद्धि को प्राप्त करने की भावना करो।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

गाथा 150, कलश 258

उत्थानिका : बाह्य और अंतर जल्प का निराकरण

गाथा : अंतरबाहिरजप्पे, जो वट्टदि सो हवेदि बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टदि, सो उच्चदि अंतरंगप्पा॥150॥

संस्कृत छाया : अन्तर्बाह्यजल्पे यो वर्तते स भवति बहिरात्मा।
जल्पेषु यो न वर्तते स उच्यतेऽन्तरङ्गात्मा॥150॥

अन्वयार्थः (यः) जो (अन्तर्बाह्यजल्पे) अंतरंग और बहिरंग जल्प में वर्तता है (सः बहिरात्मा) वह बहिरात्मा (भवति) होता है और (यः जल्पेषु) जो जल्पसमूह में (न वर्तते) नहीं वर्तता है (सः अन्तरङ्गात्मा) वह अंतरात्मा (उच्यते) कहा जाता है,

नियमदेशना

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 149वीं गाथा में यह संकेत दिया था कि जो आवश्यक से युक्त है, वह अंतरात्मा है और जो उन आवश्यक से रहित है, वह बहिरात्मा है। आवश्यक कर्तव्यों का प्रमाण है वही आत्मा है बाह्य दृष्टि से और निश्चय दृष्टि से स्वरूप प्रमाणता ही अंतरात्मा है। बाह्य आवश्यक ही बहिरात्मभाव है, पर वह बहिरात्मभाव मिथ्यात्व गुणस्थान नहीं है। यह अध्यात्म है। अन्यथा कोई लगा बैठे छठवें गुणस्थान में बहिरात्म भाव। श्रावक अपेक्षा से कथन किया है।

आचार्य महाराज टीका में कह रहे हैं कि आवश्यक क्रिया के अभाव में तपोधन बहिरात्मा होता है। जो श्रावक अपने आवश्यकों को नहीं करता है, वह भी बहिरात्मा है। समयसार की भाषा में वह परसमय में है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र में जो एकतास्वरूप स्थिरता है, वह सुखमय/स्वसमय भाव है। उससे बाह्य पुद्गल भाव में जो प्रस्थित है, वह परसमय भाव है। स्वसमय यानि अंतरात्मा और परसमय यानि बहिरात्मा। छठवें गुणस्थान में जब वैराग्य भाव कहा जाय, तो परसमय-अपेक्षा ग्रहण करना। परवश है, इसलिए स्ववश नहीं है, लेकिन मिथ्यादृष्टि नहीं है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि अभेद है, अनुपचार है, उपचार नहीं है। अपनी आत्मा के अनुष्ठान में रत ऐसे परम आवश्यक कर्म में सतत संलग्न है, ऐसे स्ववश में जो रमण/लवलीन है; ऐसे परम श्रमण सर्वोत्कृष्ट अंतरात्मा हैं। यहाँ पर बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनिराज की चर्चा है। छठवें गुणस्थानवर्ती की बात नहीं है। क्यों? जिन्होंने सोलह कषाय का अभाव किया है। अनंतानुबंधी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, संज्वलन चारों की चौकड़ी का अभाव हो चुका

है ये क्षीणमोह पदवी को प्राप्त बारहवें गुणस्थान में होता है। यह छठवें या चौथे गुणस्थान में नहीं होता है। छठवें से ग्यारहवें तक जितने हैं, वे सब मध्यम अंतरात्मा हैं और असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य अंतरात्मा हैं। इसमें आचार्यों के दो मत हैं। किन्हीं आचार्यों ने छठवें गुणस्थान तक जघन्य अंतरात्मा माना है और किन्हीं आचार्यों ने चतुर्थगुणस्थानवर्ती को जघन्य अंतरात्मा माना है। देशव्रती को मध्यम अंतरात्मा में लिया है। पं. दौलतराम जी ने अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य अंतरात्मा और देशव्रती अनगारी को मध्यम अंतरात्मा कहा है। इसके अलावा जो हैं वे सब मध्यम अंतरात्मा हैं।

भो ज्ञानी! जो षट् आवश्यक क्रिया से रहित हैं, वे सब बहिरात्मा हैं। जो व्यवहाराचार से भी शून्य हैं और निश्चयाचार से भी शून्य हैं।

चौथे गुणस्थान में व्यवहार चारित्र होता है, निश्चय चारित्र नहीं होता है। करणानुयोग की अपेक्षा से निश्चय भी है और व्यवहार भी है। निश्चय चारित्र तो सप्तम गुणस्थान से प्रारम्भ होता है, क्योंकि अभेद रत्नत्रय जहाँ से प्रारम्भ होता है वो निश्चय चारित्र है। आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही योग है। ये निश्चय चारित्र की दृष्टि है। करणानुयोग की दृष्टि से दोनों होंगे। द्रव्यानुयोग की दृष्टि से एक होगा, छठवें गुणस्थान में। जिसे चौथे गुणस्थान में देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धानी कहा जा रहा है, सम्यग्दृष्टि, ये चरणानुयोग की परिभाषा है और इस दृष्टि से व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

जब करणानुयोग से पहुँचेंगे तो सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम स्वीकारेंगे। तो व्यवहार ऊपर से कहने का सम्यक्त्व है या वास्तव में निश्चय से सम्यक्त्व है? यदि कर्म-प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है, तो निश्चय से तो सम्यक्त्व है, पर निश्चय सम्यक्त्व नहीं है। बार-बार ये निषेध किया जाता है। आत्मा का जो परिणमन है, निश्चय से वह सम्यक्त्व नहीं है। अतः कोई भ्रम है तो उसे दूर कर लो। वास्तव में अभेदरूप रत्नत्रय में जो आत्मा की अनुभूति होती है, वैसी अनुभूति नहीं है, इसलिए निषेध किया जाता है। परन्तु बिना आत्म-परिणति के न सम्यक्त्व होता है न चारित्र होता है, इसलिए जहाँ जैसा संबोधन है, तद् गुणस्थान संबंधी, तद्विषय संबंधी अनुभूति निश्चित है और वहाँ सम्यक्त्व आचरण संबंधी आत्मा की निर्मलता है और श्रद्धा गुण की आत्मनिर्मलता है, वो निश्चय से है। यदि नहीं, तो सम्यग्दर्शन किस बात का?

छठवें गुणस्थान में व्यवहारचारित्र है। करणानुयोग की भाषा में, जहाँ अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय है और देशघाती संज्जवलन की तीव्रता के उदय होने पर जो भाव जिनके आ रहे हैं, उसका नाम निश्चय से छठवाँ गुणस्थान है और संज्जवलन की जहाँ मंदता है, निश्चय से वह सातवाँ गुणस्थान है। छठवें और सातवें दोनों में संज्जवलन कषाय तो रहती है, लेकिन छठवें में संज्जवलन की तीव्रता रहती है और

सातवें गुणस्थान में मंदता रहती है। मंदता के काल में जीव की इतनी निर्मल दशा होती है कि वह प्रवृत्ति रहित होता है और तीव्रता के सद्भाव में इतनी निर्मलता होती है कि उसकी आवश्यक आदि के पालन में प्रवृत्ति होती है। द्रव्यानुयोग कहेगा कि जहाँ भेद रत्नत्रय है, वहाँ छठवाँ गुणस्थान और अभेद रत्नत्रय जहाँ है, वहाँ सातवाँ गुणस्थान। आत्मा की जो परिणति है अबुद्धिपूर्वक, वो सप्तम है और बुद्धिपूर्वक आत्मपरिणति है, वह षष्टम। सातवाँ गुणस्थान निश्चय चारित्र के अविनाभावीभूत होता है। पहले सातवाँ गुणस्थान बनता है। छठवाँ गुणस्थान गिरने का है। आत्मा की विशुद्धि बनने पर सीधे सातवाँ गुणस्थान बनता है। चौथे से सातवाँ, पाँचवें से सातवाँ बनता है, लेकिन छठवें से सातवाँ नहीं बनता। जब सातवें में जीव जाता है, फिर छठवें में आता है। ध्यान रखना, जो दीक्षा की क्रियायें चल रही हैं, वह सातवाँ गुणस्थान नहीं है, वो छठवाँ भी नहीं है। जब भी छठवाँ बनेगा, वो सातवें से ही बनेगा और बाद में वो पाँचवें में भी जा सकता है और छठवें में भी आ सकता है, क्योंकि छठवाँ गिरने का है। जैसे कोई जीव द्रव्यलिंग में है, रत्नत्रय है, वह पहले गुणस्थान में है, वह तीव्र विशुद्धि को प्राप्त कर कहीं गिर गया और अप्रत्याख्यान का उदय आ गया, पंचम गुणस्थान में चला गया, असंयम भाव हो गये, देशव्रती हो गये। वही जीव पुनः प्रयास करता है तो संज्जवलन की क्रिया में छठवें में भी पहुँच सकता है, सातवें में भी पहुँच सकता है। लेकिन जब भी प्रांरभ में जायेगा, सातवें में ही जायेगा। पाँचवें और छठवें में आने में दिक्कत नहीं है, लेकिन प्रांरभ अवस्था में जायेगा तो सातवाँ ही बनेगा।

भो ज्ञानी! यहाँ जो वैराग्यभाव कह रहे हैं, वो दो दृष्टि से लेना। निश्चय स्वरूप से हटने को वैराग्यभाव कह रहे हैं, यहाँ वैराग्यभाव से मिथ्यात्व में जाना नहीं है। आत्मा से बाहर, मैं पूजा करूँ, मैं सामायिक करूँ, प्रतिक्रमण करूँ, ये वैराग्यभाव है; परन्तु है अंतरात्मा, बहिरात्मा नहीं है। ज्ञानियो! तत्त्व को सम्यक् जानो। छठवाँ गुणस्थान, पाँचवें गुणस्थान से हमेशा उत्कृष्ट रहता है। कदाचित् मुनिराज अपने आवश्यक से च्युत हो गये, श्रद्धा से च्युत हो गये, तो भी वैराग्यभाव है। दूसरी दृष्टि में गुणस्थान नहीं रख रहे हैं। जो निश्चय-व्यवहार आवश्यक से रहित है, वो वैराग्यभाव है। उनका गुणस्थान पहला भी हो सकता है। श्रद्धा ही नहीं है तो वे द्रव्यवेश क्यों धारण करेंगे? वे तो दोनों का निषेध कर रहे हैं। व्यवहार छोड़ चुके हैं, वो भी नहीं कर रहे और निश्चय में तो हैं ही नहीं। व्यवहार कर्तव्यों को भी नहीं कर रहा। वो कहता है कि वेश है। अपना भोजन-पानी किया, आराम से रह रहे हैं, जीवन निकाल रहे हैं, कोई श्रद्धा नहीं है। जब व्यवहार की क्रिया होगी, उस समय निश्चय की क्रिया नहीं होगी। जब निश्चय क्रिया होगी, उसमें व्यवहार क्रिया का अभाव नहीं है, परन्तु विकल्प नहीं है, गौण है। जब वे निश्चय चारित्र में बैठे होंगे, तब व्यवहार चारित्र उनके पास नियम से है। जब व्यवहार चारित्र में बैठे होंगे तब निश्चय चारित्र की परिणति उनके अंदर रहेगी। वही

व्यवहार व्यवहार है जिसमें निश्चय में जाने का भाव है। जिसमें निश्चय में जाने का भाव नहीं है, उसे जिनवाणी व्यवहार नहीं मानती। चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव भोग भी भोगता है तो ऐसी दृष्टि रखता है जैसे चोर पुलिस के द्वारा पकड़ा गया है और वहाँ जो काम कराया जाता है वह करता है, लेकिन करने की भावना नहीं है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान कषाय से प्रतिबद्ध हुआ जीव चाहता नहीं है कि मैं भोग भोगूँ, लेकिन उससे सहन नहीं हो रहा है। जैसे खुजली खुजलाने वाले को जब सहन नहीं होता है तो खुजा ही लेता है। ऐसे-ही सम्यग्दृष्टि जीव उसे आनंदपूर्वक नहीं मान करके, औषधि रूप मान करके, सेवन करता है। अब कोई छल ग्रहण कर ले तो उसकी भूल है। औषधि स्थान, इसका तात्पर्य आसक्त नहीं होगा, लिप्त नहीं होगा, जैसे कि भोजन कर रहे हैं, एक क्षुधा के शमन के लिये कर रहा है, दूसरा स्वाद के लिये भोजन कर रहा है। दोनों में आस्रव का अभाव नहीं है, परन्तु अभिप्राय में बहुत अन्तर है। उस अभिप्राय के कारण ही आर्त्त-रौद्रध्यान करके भी सम्यग्दृष्टि प्रथम नरक के नीचे नहीं जाता। यह अभिप्राय की महिमा है। आर्त्त-रौद्रध्यान करके मरण करने वाला नारकी या तिर्यंच होता है, लेकिन सम्यग्दृष्टि नहीं होता, क्योंकि उसका अभिप्राय श्रद्धारूप नहीं है।

भो ज्ञानी! निर्मल निर्ग्रन्थ योगी प्रतिक्षण/प्रतिपल अपने आप में जाग्रत रहता है। जब मरुस्थल में पड़ी मछली तड़पती है, तब अग्नि पर पड़ी मछली कैसे जीवित रह पायेगी? ऐसे-ही शुभोपयोगी निर्ग्रन्थ योगी तड़पता है कि मैं कब शुद्धोपयोग में प्रवेश करूँ। उसे शुभ उपयोग उपादेय नहीं झलकता। अशुभोपयोग से बचने के लिये शुभोपयोग में लीन रहता है। वह निर्ग्रन्थ श्रमण शुभोपयोग को उपाधि नहीं समझ रहा है। अशुभोपयोग में मेरा प्रवेश न हो जाय, इसलिये शुभोपयोग को उपाधि स्वीकार कर रहा है, परन्तु दृष्टि यही बनाकर रखता है कि प्रभु! कब मैं शुद्धोपयोग की दशा को प्राप्त करूँ।

जो निर्ग्रन्थ श्रमण भावों से नीचे गिरता है, वह किसी भी गुणस्थान तक (पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठवें में भी) जा सकता है। उनके परिणामों की क्षमता कहाँ से कहाँ पहुँचा रही है। भो चेतन आत्मा! शुभोपयोग, शुद्धोपयोग करते-करते नहीं कहो, स्व उपयोग होते-होते हो जाता है। अगर आपके कपड़े उतरवा दिये जायें तो आपको लगेगा मुझे नंगा कर दिया। शर्म आयेगी। अब कपड़े उतरे वर्षों व्यतीत हो गये तो पता ही नहीं चलता कि हम कपड़े पहने हैं या नहीं। देखना, ये दशा चारित्र की है, ये दशा परिणति की है। अब महसूस ही नहीं होता कि कपड़े हैं या नहीं। सब सहज है। ऐसे-ही वो शुभ क्रियायें भी सहज हो जाती हैं। उस सहजता में जो विशुद्धि बनती है, वही शुद्धोपयोग में ले जाती है। जैसे इस मंदिर में हम विराजे हैं तो सब सहज हो गया। अब आप दूसरे मंदिर में जाओ तो वहाँ कितनी व्यवस्थाएँ चाहिये पड़ती हैं। अलगपना-सा लगता है। और कुछ दिन रुक जाओ तो सब सहज

लगने लगता है। ऐसे-ही जो जीव प्रथम गुणस्थान से निकलता है, उसकी विशुद्धि क्यों बढ़ती है? क्योंकि वह नये स्थान पर आ रहा है और वही जीव जब चौथे गुणस्थान में रम जाता है, फिर अपूर्वपन क्यों नहीं होता? सब सहज हो गया। इसका तात्पर्य ये मत मान बैठना कि दीक्षा लेने के समय जो विशुद्धि होती है वह जीवन में कभी नहीं आती। यह मिथ्या कथन है। यदि ऐसा मान लें कि ऐसी विशुद्धि कभी नहीं आती तो कभी श्रेणी नहीं माड़ सकेगा, ऊपर नहीं उठ सकेगा। इसलिए सामान्य कथन को सिद्धान्त मत बना देना।

भो ज्ञानी! जो नीचे गिर रहा है, उसे तो कह देना कि वैराग्य की प्रथम अनुभूति कितनी बढ़िया थी। पर ये मत कह देना कि ऐसी तो जीवन में कभी आ ही नहीं सकती, नहीं-तो काम बिगड़ गया, रास्ता बन्द हो गया, मोक्षमार्ग बन्द हो जायेगा। दीक्षा के समय जो अनुभूति थी, वह वैराग्य अनुभूति थी, चारित्र-अनुभूति नहीं थी। वैराग्य-अनुभूति का फल चारित्र है और चारित्र-अनुभूति का फल निर्वाण है, मोक्ष है।

भो ज्ञानी! बिना आलम्बन के चिन्तन नहीं बनता। छोटा-सा आलंबन लेकर विशालधारा रूप बन जाता है, वो चिन्तन की धारा होती है। छठवाँ गुणस्थान कह दिया, छठवाँ गुणस्थान बहुत विशाल है। असंख्यातलोकप्रमाण परिणाम हैं। छठवें गुणस्थान में बैठा जीव किसी को डाँट रहा है, कोई शास्त्र पढ़ रहा है, कोई जीव ग्रन्थ लिख रहा है, एक जीव शिष्यों को आदेश कर रहा है। अब परिणामों की तारतम्यता और वैसे कर्मबंध की व्यवस्था युगपत् चल रही है। कोल्हू में आपने तिल डाल दी तो तेल निकल रहा है, खली निकल रही है, जो झांस आ रही है वह सत् है। ऐसे ही यह आत्मा है। उसकी सत् अवस्था शुद्धोपयोग की दशा है और परमसत् अवस्था सिद्ध पर्याय है। भो ज्ञानी! पुद्गल के संयोग के बिना शुद्धात्मा को समझा नहीं जा सकता है। आप जो भी समझ रहे हो, पुद्गल के द्वारा। व्यवहार के द्वारा व्यवहार का भी पूरा कथन नहीं किया जा सकता। कोई छद्मस्थ व्यवहार को पूरा नहीं कह सकता। जो आप भोजन कर रहे हो, व्यवहार से निश्चय से, उसका स्वाद बता सकते हो? मिश्री मीठी है कैसी मीठी है, ये नहीं बता सकते हो। चख कर देख लो। आत्मा कैसी है? अवक्तव्य है। मिथ्यात्व को बता सकते हो, कैसा होता है जिस मिथ्यात्व का आप व्याख्यान करते हो?

योगी नित्यं सहज परमावश्यककर्म प्रयुक्तः
संसारोऽस्थप्रबलसुखदुःखाटवीदूरवर्ती।
तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठः
स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठः॥कलश 258॥

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव अध्यात्म भाषा से बहिरात्मा और अंतरात्मा के

लक्षण कह रहे हैं। जो योगी नित्य ही सहज परमावश्यक कर्म से युक्त है, प्रयोग करता है, वो संसार में उत्पन्न हुई प्रबल सुख-दु:ख रूपी जो अटवी है, उससे दूर हो जाता है। जो निरन्तर आत्मनिष्ठा में निष्ठ हैं, वे ही अंतरात्मा हैं। जो स्वआत्मा से भ्रष्ट होते हैं एवं जो बाह्य तत्त्व में निष्ठ हैं, वे बहिरात्मा हैं। यहाँ उत्तम अंतरात्मा ही विवक्षित है। गौणरूप से मध्यम और जघन्य अंतरात्मा भी आ जाते हैं, क्योंकि वे भी आत्मतत्त्व की भावना करने के कारण व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित हैं। जो आत्मतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र से रहित हैं, वे बहिरात्मा हैं।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 150वीं गाथा में बहिरात्मा व अंतरात्मा की व्याख्या कर रहे हैं। बहिर्जल्प और अंतर्जल्प के विषय में रहनेवाला बहिरात्मा है। जितने लोगों से मिलोगे, उतने जल्प बढ़ेंगे और जितने जल्प बढ़ेंगे, उतने स्वयं से हटोगे। अंतरंग के विकल्प क्यों हो रहे हैं? हे योगियो! जनसम्पर्क से विकल्पों की ग्रन्थि होती है, इसलिए संसर्ग को छोड़ दो, बहिर्विकल्प छोड़ दो। अंतर्विकल्प से तात्पर्य आत्मविकल्प से नहीं है, मन में उत्पन्न होने वाले विचार से है। विकल्प कहीं से भी आ रहे हों, वो अंतर्विकल्प हैं, अंतर्जल्प हैं। दुनियाँ के विकल्प, बाह्य विकल्प में रहोगे तो बहिर्जल्प में शुभ-उपयोग भी नहीं बनता है और अंतर्विकल्प में रहोगे तो शुभोपयोग बन जायेगा, शुद्धोपयोग नहीं बनेगा। अंतर-बहिर्जल्प में जो है, वह बहिरात्मा है। जो जल्प में वर्तन नहीं करते, वे अंतरात्मा हैं। जो जिनलिंग को ध ारण करके अंतरंग व बहिरंग जल्प में निवास कर रहे हैं, उन्होंने दीक्षा तो ली है मात्र पुण्यकर्म की आकांक्षा से। ये बहिर्जल्प हो गये। हम स्वाध्याय कर रहे हैं, इतने सारे लोग सुन रहे हैं, सब कहेंगे कि कितना बढ़िया स्वाध्याय है। ऐसा जल्प कर रहा है और मन में सोच रहा है कि सत्कार मिलेगा। अशन, शयन, गमन स्थान आदि में सत्कार आदि के लोभ में अंतर्जल्प में मन को लगाते हैं वे बहिरात्मा जीव हैं। स्वात्म ध्यान में पारायण होकरके, जो पूर्णरूप से अंतर्मुख होकरके, प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त विकल्पों को जान करके, उसमें प्रवृत्त नहीं होते हैं, वे ही परम तपोधन साक्षात् अंतरात्मा हैं। ये शुद्धोपयोग की दशा है।

भो ज्ञानी! यदि आप सम्यग्दृष्टि हो, चौथे गुणस्थान में हो और आप व्यापार कर रहे हो, तो न आगम गलत कहेगा और न समाज गलत कहेगी, क्योंकि आप गृहस्थ हैं। यदि आप ब्रह्मचारी हो जाते हो और सप्तम प्रतिमाधारी हो जाते हो और आप व्यापार कर रहे हो, दूसरे के संबंध स्थापित करा रहे हो, तो आप निंदनीय हो जाओगे।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

गाथा 150

नियमदेशना

भो बन्धुओ! आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि निश्चय आवश्यक की लीनता के अभाव में जो निश्चय की बात करके व्यवहार आवश्यक को छोड़ रहा है और निश्चय आवश्यक में प्रवेश नहीं कर पा रहा है, वह पथिक बहिरात्मा है। जो अंतरंग व बहिरंग निश्चय व व्यवहार दोनों आवश्यकों से रहित है, वह परसमय है। व्यवहारदृष्टि से षट् आवश्यक कर्तव्यों को कर रहा है, वह व्यवहार से स्वसमय में और निश्चय से परसमय में है। जहाँ पंचपरमेष्ठी की आराधना को परसमय कहा गया हो, वहाँ भोगों की लीनता को स्वसमय कैसे कहा जा सकता है? जो जीव पंचपरमेष्ठी की भक्ति को परगत कह रहा हो, परगत तत्त्व है स्वगत तत्त्व नहीं है, वहाँ भोगों की लीनता को स्वगत तत्त्व कैसे कहा जा सकता है? इसलिए उभयदृष्टि से समझने की आवश्यकता है। निश्चयनय यह नहीं कहता कि व्यवहारसंयम को छोड़ दो। जो यह कह रहा है कि व्यवहारसंयम को छोड़ दो, तो यह निश्चय संयम की अवहेलना है, अध्यात्म का अवर्णवाद है। निश्चयनय यह कहता है कि व्यवहार में जीते-जीते बहुत दिन हो गये, अब स्वरूप में जाओ। यह किसे कह रहे हैं? जो व्यवहार में जी रहा है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार रत्नत्रय में जी रहा है, कि नहीं? हाँ, जी रहा है।

भो ज्ञानी! जिसे आप व्यवहार कहते हो, कुन्दकुन्द स्वामी की दृष्टि में ये सब व्यर्थ की बातें हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पालन, उसका नाम व्यवहार है और दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लीनता का नाम निश्चय है। भो आत्मन्! भेदज्ञान कहने मात्र से भेदज्ञान नहीं हो जाता और भेदज्ञान जहाँ हो गया, वहाँ से सम्यग्दर्शन प्रारम्भ होता है। भेदज्ञान नहीं है तो सम्यक् दशा भी नहीं है। जिसे आप व्यवहार सम्यक्त्व कह रहे हो, वह भेदज्ञान के प्रकट होने पर ही प्रकट होता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव जब सद्गुरु के चरणों में पहुँचता है, तत्त्व-देशना को सुनता है, सुनने के उपरांत श्रद्धान्वित होता है, तब वह मिथ्यात्व के तीन टुकड़े करता है। भेदविज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव की निर्जरा होती कि नहीं ?स्थान गिनाये हैं 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' में। मिथ्यादृष्टि जीव के भी कर्मों की निर्जरा होती है, वो कैसी होती है? गुणश्रेणी होती है। उस गुणश्रेणी निर्जरा का ही प्रभाव है कि मिथ्यात्व के तीन टुकड़े होते हैं। करणानुयोग का सहारा लिये बिना द्रव्यानुयोग को समीचीन नहीं समझा जा सकता है। अब आप बताओ कि आप लोग किसमें बैठे हो? व्यवहार में, कि निश्चय में? जो जहाँ नहीं है, उसे वैसा मान लेना 'भास' कहलाता है। व्यवहाराभास, निश्चयाभास।

भो ज्ञानी! निश्चय को निश्चय कहो, व्यवहार को व्यवहार कहो; लेकिन ध्यान रखना, नय तो नय है, नय पदार्थ नहीं है, वस्तु को समझने की विवक्षा है, शैली है। शैली को ही वस्तु मान लिया तो सब गड़बड़ हो जायेगा। अभी यही हो रहा है। द्रव्य तो निश्चय व व्यवहार

से मुक्त त्रैकालिक है और यदि नहीं है तो द्रव्य नामक कोई वस्तु नहीं है। देखना, ये पैन है, किस नय से? व्यवहारनय से पैन संज्ञा आपने दी है। ये पुद्गल है, किस नय से? निश्चयनय से। पैन संज्ञा पर-उपाधिक है। आप कह सकते हो कि व्यवहार चलाने के लिये इसको पैन संज्ञा दी है। ये पैन है कि पुद्गल? यह भी व्यवहार है। जिसे आप पुद्गल कह रहे हो, वह स्वयं क्या कह रहा है? यह स्वयं में कुछ है कि नहीं? जो है, सो है। वो निश्चय है, भूतार्थ है। यह पैन मेरा है, भूतार्थ है कि अभूतार्थ है? यह दोनों हैं। महाराज जी के पास गये थे, एक पैन मिल गया, आनंद हुआ है। भिन्न द्रव्य के मिलने पर, असत्यार्थ की प्राप्ति पर तुझे इतना आनंद आ रहा है, तो सत्यार्थ/भूतार्थ निजद्रव्य की झलक होगी तो कितना आनंद आयेगा? ये सब झूठे आनंद हैं, फिर भी सत्यार्थ हैं, ऐसी श्रद्धा होनी ही चाहिये।

भो ज्ञानी! असत्यार्थ में सत्यार्थ होता है , अभूतार्थ में भूतार्थ होता है। विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से ये पैन मेरा है, भूतार्थ है; लेकिन सजातीय सद्भूत की अपेक्षा ये पैन मेरा नहीं है। ये भूतार्थ है। ये भी भूतार्थ है और वो भी भूतार्थ है। अब बताओ, अभूतार्थ बचा क्या? जहाँ जो जैसा नहीं है, वैसा कह देना ही अभूतार्थ है। इसलिए परमार्थदृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक द्रव्य भूतार्थ व अभूतार्थ है, लेकिन परम निश्चय भूतार्थ ही है, अभूतार्थ कोई वस्तु है ही नहीं। प्रत्येक वस्तु भूतार्थ है। पर का सम्बन्ध आप लगाते हो तो आप ही भूतार्थ कहते हो, आप ही अभूतार्थ कहते हो। द्रव्य न अपने आपको भूतार्थ कहता है, न अभूतार्थ कहता है। इसे पैन किसने कहा ? संज्ञा किसने दी है? आपने संज्ञा दी है और आप ही संज्ञा को समाप्त कर रहे हो। संसार का प्रत्येक द्रव्य अपने आप में नित्य, अवक्तव्य, टंकोत्कीर्ण है। आप कह रहे थे कि ये मेरा नहीं है, यही तो तेरापना है। टंकोत्कीर्ण, परमपारिणामिक ज्ञायकस्वभावी ये भगवती-आत्मा है। अभी तू नहीं है। तेरी शुद्ध पर्याय है सिद्ध पर्याय। अशुद्ध पर्याय टंकोत्कीर्ण नहीं है। जैसे टाँकी से उत्कीर्ण करने पर पाषाण प्रतिमा बन जाता है, वह प्रतिमा मिटती नहीं है, इसी प्रकार से जब सर्व कर्म बाहर निकल जाते हैं, तो यह आत्मा टंकोत्कीर्ण ज्ञानस्वभावी सिद्ध हो जाती है। यह विशेषण सिद्धों का है। जब आप आत्म-दृष्टि से देखोगे तो प्रत्येक द्रव्य टंकोत्कीर्ण है, क्योंकि पररूप कभी परिणत नहीं होता है और पर्यायदृष्टि से प्रतिक्षण परिवर्तन होता है।

अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि यह स्वतंत्र आत्मा, स्वच्छ आत्मा त्रैकालिक मल से रहित है। यह आत्मा कभीभी कर्ममल से लिप्त है ही नहीं। जो दिख रहा है, वह चर्मचक्षु से दिख रहा है। वह शरीर है, देखनहारा नहीं है।

अण्णोणं पविसंता दिंता ओगास-मण्ण-मण्णस्य।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति॥7 पंचास्तिकाय॥

कर्म आत्मा में बद्ध है, आत्मा कर्म से युक्त है, सब सही है, लेकिन फिर भी आत्मा अमल है, क्यों ? क्योंकि कभी भी आत्मा कर्मरूप नहीं है। आज तक आत्मा संसार में रह रही है, फिर भी कर्मरूप नहीं हुई और कर्म आत्मारूप नहीं हुआ। इस दृष्टि से आत्मा कभी भी मलमय हुई ही नहीं, पर संश्लेष सम्बन्ध की अपेक्षा से आत्मा मलमय है। व्यवहार पक्ष वाले भी इसको व्यवस्थित ढंग से नहीं कहते और निश्चय पक्ष वाले व्यवस्थित कह देंगे तो काम बिगड़ जायेगा उनका। जबकि दोनों बातें व्यवस्थित ढंग से कहना चाहिए। आत्मा का कर्म से अनादि से संश्लेष सम्बन्ध है। आत्मा का कर्म से अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है। संश्लेष सम्बन्ध की अपेक्षा से आत्मा अनादि से बद्ध है, मलिन है, परन्तु आत्मा कर्मरूप त्रैकालिक न हुई है और न होगी। और जिस दिन हो जायेगी, उस दिन आत्मा नाम की वस्तु समाप्त हो जायेगी। जीव की स्वतंत्र त्रैकालिक सत्ता का विनाश होता ही नहीं है। आवरण है, वो हट जाता है। मेघों में सूर्य कब नष्ट होगा ? मेघ सूर्य को नष्ट नहीं करते, आच्छादित करते हैं। आत्मा के केवलज्ञान गुण को यदि कर्म नष्ट करेंगे, फिर तो पुद्गल की ताकत ज्यादा हो गई, आत्मा की ताकत कम हो गई। जड़कर्म आत्मा के केवलज्ञान गुण को ढाकते भर हैं। अभव्य जीव का भी केवलज्ञान गुण नष्ट नहीं होता, वो आच्छादितपना कभी हटेगा नहीं। इसलिए ध्यान रखना, गुणों का विनाश नहीं है, गुणों पर आवरण है, पर उपचार से विनाश कह दिया जाता है। नष्ट/विनाश उसे कहते हैं जो पुनः प्रकट न हो, जैसे जला हुआ बीज।

भो ज्ञानी! जो षट्गुणी हानि-वृद्धि हो रही है, स्वभाव व विभाव उभयरूप होती है। स्वभाव द्रव्य में स्वभावरूप होती है, विभाव द्रव्य में विभावरूप होती है। अर्थ गुण पर्याय का जो परिणमन है, यह ध्यान रखना कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल इनमें स्वभावरूप होता है, परन्तु जीव और पुद्गल में स्वभाव-विभावरूप होता है। व्यंजन पर्याय मात्र दो द्रव्यों में ही होती है, जीव और पुद्गल में। धर्म, अधर्म, आकाश और काल में अर्थ पर्याय ही होती है। जिसमें व्यंजन पर्याय होती है, उसमें स्वभाव व विभाव दोनों रूप होती है। अर्थ पर्याय इतनी सूक्ष्म है, वो वचनगोचर नहीं है। जो व्यंजन पर्याय है, उसमें षट्गुणी हानि-वृद्धि रूप परिणमन होगा कि नहीं ? 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' में ज्ञान मार्गणा में हानि-वृद्धि का कथन किया है।

मति-श्रुतज्ञान जीवद्रव्य का गुण है, उसमें षट् हानि-वृद्धि रूप परिणमन होगा। अर्थ-गुणपर्याय, व्यंजन गुणपर्याय, विभाव अर्थपर्याय, स्वभाव अर्थपर्याय, विभाव गुणव्यंजन पर्याय, स्वभाव व्यंजन गुणपर्याय। द्रव्य में जो प्रतिक्षण परिणमन हो रहा है, ये किसके द्वारा हो रहा है ? जो आप जान रहे हो, वह अर्थपर्याय नहीं है, वो व्यंजन पर्याय है। जिसे आप नहीं जान पा रहे हो, वो अर्थपर्याय है। मति, श्रुत आदि ये विभाव गुण व्यंजन पर्याय हैं। जीवद्रव्य का केवलज्ञानदर्शन स्वभाव गुण-व्यंजन पर्याय है। जीवद्रव्य की 84 लाख योनियाँ हैं, वह विभाव-गुण-व्यंजन पर्याय है। चरमशरीर से किंचित न्यून जो सिद्ध पर्याय है, वो जीवद्रव्य की स्वभाव-गुण-व्यंजन पर्याय है।

पुद्‌गलद्रव्य में जो परमाणु है, यह स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन पर्याय है। दो स्पर्श, एक रस, एक गंध, एक वर्ण, ये पुद्‌गल द्रव्य की स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय है। शेष (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) द्रव्यों में स्वभाव पर्याय ही होती है जो सूक्ष्म अर्थ पर्याय है। स्वभाव-स्वभाव में ही परिणमन करते हैं, वचन के गोचर नहीं हैं। जीवद्रव्य और पुद्‌गल द्रव्य, इन दोनों में उभयरूप पर्याय होती है। शेष द्रव्यों में मात्र एक अर्थात् स्वभाव अर्थ पर्याय ही होती है।

भो ज्ञानी! तत्त्व की चर्चा को स्वरूप की प्राप्ति मत मान लेना। स्वरूप की प्राप्ति में तत्त्वचर्चा भी नहीं है। स्वरूप की प्राप्ति का पाथेय तत्त्वचर्चा है। जो आप लोग अध्यात्म का आनंद लूट रहे हो, वो वास्तव में चर्चा की अनुभूति है। जिसे आप स्वानुभव कहते हो, वो शब्दों का स्वानुभव है। स्वरूप का स्वानुभव तो वचन-अगोचर है। शब्द स्वभाव नहीं है। स्वभाव की प्राप्ति का माध्यम तो जिनवाणी है, पर जिनवाणी भी स्वभाव नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने जिस समयसार को नमस्कार किया है, वो समयसार ग्रन्थ नहीं है।

नमः समयसराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे॥ आत्मख्याति टीका॥

सम्पूर्ण भावों से परे जो चिद्‌ज्योति है, उसको नमस्कार किया है। तत्त्वज्ञान का कभी 'निषेध' मत करना, लेकिन तत्त्वज्ञान का सम्यक् 'निवेश' जरूर करना। तत्त्वज्ञान का निषेधा करके, विपरीत कथन करके सम्यग्दृष्टि बन जाओगे क्या ? जिनवाणी का अवर्णवाद नहीं होगा क्या? इसलिए उभयपक्ष से कथन करो।

भो ज्ञानी ! उभय आवश्यक रहित मुनिराज बहिरात्मा हो सकते हैं। निर्ग्रन्थ मुनि कैसा भी हो, उसे षट् आवश्यक पालन करना है। चाहे सातिचार करे। एक सभा में विद्वानों ने षट्आवश्यकों पर बहुत उपदेश दिये। मैंने कहा कि जो विद्वान षट्आवश्यक का पालन करते हैं, अलग हो जायें। कोई नहीं दिखा। सब शान्त हो गये। कोई पूजा करता था नहीं, आहार देने की फुर्सत मिलती थी नहीं। उन्होंने षट्आवश्यक को कभी कर्तव्य माना ही नहीं कि हमें भी करना चाहिए। उनके लेख पढ़ोगे तो ऊँचे उपदेश मिलेंगे कि इनको ऐसा होना चाहिए, लेकिन वो कभी नहीं कहेंगे कि निज को कैसा होना चाहिए। भैया ! कब तक दूसरों के कपड़े धोते रहोगे ?

भो ज्ञानी ! रही दान देने की बात। माँ चक्की पीसने से पहले एक मुट्ठी अनाज मटके में डाल देती है। दान हुआ कि नहीं ? आहारदान के लिए ऐसा नहीं कि महाराज आयेंगे तब देंगे। मंदिर चले जाओ, जो श्रावक दिखे उसे भोजन करा दो यदि आपके दान देने के भाव बन रहे हैं। आपने चौका लगाया, महाराज नहीं आये, तो किसी देशव्रती, अणुव्रती, पाक्षिक श्रावक आदि किसी को बुलाकर आहार करा दो। यदि तुम नहीं बुला रहे हो तो इसका तात्पर्य है कि तुम दान नहीं दे रहे हो। दान की भावना नहीं है, सब चौका लगा रहे हैं इसलिए अपन भी लगा लो। महाराज बीमार हो गये तो यथायोग्य उकाली, काढ़ा, औषधि दे दी, तो औषधि दान हो गया। महाराज को आहार देने में विवेक रखो कि महाराज बीमार नहीं पड़ें। ऐसा नहीं कि महाराज रस ले लो, फल ले लो, और मीठा ले लो सब एकसाथ। कभी भी सब महाराजों को आहार देने का विकार मत करो, अर्थात् एक चौके से दूसरे चौके में फेरी मत लगाओ। दाता का संतोष नामक गुण होता है, उसका पालन करो। जब भी आहार देने की इच्छा हो, किसी सम्यग्दृष्टि को बुलाकर आहार करा दो, वह पात्र है। जीव सम्यग्दृष्टि है कि नहीं, इसको नापने का पैमाना आचार्य समंतभद्र स्वामी के पास है।

श्रद्धानं परमार्थाना-माप्तागम-तपोभृताम्।
त्रिमूढ़ापोढ-मष्टाङ्गं सम्यग्दर्शन-मस्मयम्॥ 4 र. क. श्रा.॥

आप तो इतना देख लो कि देव-शास्त्र-गुरु का भक्त है, तीन मूढ़ताओं से रहित है, 25 दोषों से रहित सम्यक्त्व का पालन कर रहा है, वह पात्र है। तुम अरहंतदेव की पर्याय को पूज रहे हो, गुण तुम्हें दिखते नहीं है। ये जो भगवान् विराजे हैं, ये पत्थर ही हैं। द्रव्य निक्षेप, स्थापना निक्षेप है, गुणों का आरोपण है। भो ज्ञानी ! जब हम गुणों का आरोपण पाषाण में

परमेश्वर के रूप में कर सकते हैं, तो चेतन में हम सम्यग्दृष्टि कैसे नहीं देख सकते? 'पद्मनंदी पंचविंशतिका' में लिखा है कि पंचमकाल में श्रावक को साधु की सेवा करने से चतुर्थकाल के साधु की सेवा का फल मिलता है। कैसे? जैसे वे साधक थे, ऐसे ही ये साधक हैं, वही वेश है जो जिनेद्रदेव का है। इसलिए आप कोई अन्य कल्पना करना नहीं। उनकी अंतरंग की जैसी परिणति होगी, उसका वैसा फल आपको भोगने को नहीं मिलेगा। साक्षात विराजे हैं, निक्षेप की भी आवश्यकता नहीं है। वर्तमान में आप जो अरिहन्त, सिद्ध की पूजा कर रहे हो, वो उपचार से है। गुरु तो साक्षात विराजमान हैं। 'तिलोयपण्णत्ति' में स्पष्ट उल्लेख है कि कटिंग वाली प्रतिमा सिद्ध प्रतिमा नहीं है। मध्यकाल में कहीं परम्परा चली होगी। प्रतिष्ठाग्रंथों के अनुसार अष्ट प्रातिहार्य रहित, लांछन रहित, केशविन्यास रहित प्रतिमा सिद्ध प्रतिमा होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी 'समयसार कलश' में कह रहे हैं कि

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम्॥

जो निर्ग्रन्थ योगी हैं, वे स्वेच्छा से अनेक प्रकार के विकल्पजालों से रहित हैं, विशाल नय जाल हैं जो नय पक्षों की कक्षाओं के समूह का उल्लंघन करने वाले हैं। स्वरूप जो है वो नय पक्ष नहीं है। समयसार जो है, वो न निश्चय है न व्यवहार है। आत्मानुभूति परानुभूति नहीं है और परतंत्र भी नहीं है, स्वतंत्र है। ऐसा कभी मत सोचना कि अब तो मैं आत्मानुभूति करके ही उठूँगा। यह सहजस्वरूप की अवस्था है और निश्चित मिलेगी। जैसे दूध गर्म है मैं इसको ठण्डा करके ही छोडूँगा। अरे भाई! तुम उसको अग्नि से उतार लो और उसको छोड़ दो, स्वतः ठण्डा हो जायेगा। वास्तव में लोगों ने स्वानुभव को समझा नहीं है और शुद्धोपयोग को भी नहीं समझ पा रहे। वे ताकत लगाते हैं। ताकत लगा करके तो तुम माला नहीं फेर सकते हो, धर्मध्यान नहीं कर सकते हो। जिससे विकल्प हो रहे हैं, उनको हटा दो। आप शांत हो खाली होकर देखो, फिर आपकी समझ में आ जायेगा कि मैं कुछ हूँ और जितना खाली छोड़ते जाओगे उतना ही ऊपर उठते जाओगे। वो स्वेच्छा शब्द कह रहा है और इच्छा से शुद्धोपयोग करोगे तो होने वाला नहीं है। इच्छा का मार्ग नहीं है, यह सहजस्वरूप है, सहज है।

भो ज्ञानी! किसी को क्रोध सता रहा हो, काम सता रहा हो, वासनायें सता रही हों, वो दुःखी भी है। इस विषय के कारण तुम जितना उसको रोकने का प्रयास करोगे सो तेरा मन

बार-बार वहीं जायेगा। आप कुछ समय के लिए अपने आपको स्वतंत्र छोड़ दो और उस स्थान से हट जाओ। यह अनिवार्य है 48 मिनट के लिए। क्योंकि कषाय का काल एक अंतर्मुहूर्त का होता है। इतना समय दे दो तो तुम्हारा विकार अपने आप शांत हो जायेगा। विकार उत्पन्न करने के लिए भी शक्ति चाहिए पड़ती है। कोई दस उपवास कर ले, अब तुम कहो कि ये सुन्दर कन्या खड़ी हुई है, इंद्रिय भोग भोगो। शक्ति ही नहीं है। आप स्वच्छंद, स्वतंत्र छोड़ दो, कुछ छेड़ो मत। भोजन मत दो, पानी मत दो, कषाय के हेतु को भी मत बुलाओ, स्वतंत्र छोड़ दो तो अपने आप सब हो जायेगा, फिर कहना सहज होता है। बलवान नहीं है तो क्या हुआ, निमित्त है। द्वार पर बैठे पिल्ले को जरा पुचकार देना और वहीं बैठ जाना, वह आपको चाटने लगेगा। और आँख तरेर कर देखना, तो वो धीरे-से खिसक जायेगा। उपेक्षा किसी को पसंद नहीं है। ऐसे-ही तुम कषायों को उपेक्षित कर दो, अपने आप सबकुछ होगा।

भो ज्ञानी ! अंतरंग-बहिरंग जो समरसी भाव है, एक रस ऐसा स्वभाव है, ऐसी अनुभूति अपने आप में, जो तत्त्व को जानने वाला तत्त्ववेदी है, प्राप्त कर लेता है। तत्त्ववेदी एक अपने भाव को प्राप्त कर लेता है। अपने जीवन में उसी तत्त्व की आराधना करना जिस तत्त्व की शक्ति के लिए आप आते हो। तत्त्वज्ञान तो बहुत हो जायेगा, पर तत्त्वदृष्टि कठिन होती है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

नियमसार

गाथा 151 कलश 259, 260

उत्थानिका : धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान से युक्त अंतरात्मा और ध्यान से रहित श्रमण बहिरात्मा है।

गाथा : जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो, बहिरप्पा इदि विजाणीहि॥ 151 ॥

संस्कृत छाया : यो धर्म्यशुक्लध्यानयोः परिणतः सोऽप्यन्तरङ्गात्मा।
ध्यानविहीनः श्रमणो बहिरात्मेति विजानीहि॥ 151 ॥

अन्वयार्थ : (यः) जो (धर्म्यशुक्लध्यानयोः) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान से (परिणतः) परिणत है (सः अपि) वह भी (अंतरङ्गात्मा) अन्तरात्मा है और (ध्यानविहीनः श्रमण) ध्यान से रहित श्रमण (बहिरात्मा) बहिरात्मा है (इति विजानीहि) ऐसा तुम समझो।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् ने पूर्व गाथाओं में संकेत दिया था कि जो जीव प्रमाद से युक्त होकरके आवश्यक कर्तव्यों में प्रमाद कर रहा है, वह बहिरात्मा है। व्यवहार दृष्टि से व्यवहार आवश्यक और निश्चय दृष्टि से निश्चय आवश्यक और मोक्षमार्ग के लिए दोनों आवश्यक ही अनिवार्य हैं। व्यवहार के बिना आवश्यक कर्तव्यों के निश्चय आवश्यक की सिद्धि नहीं होती है। उस आवश्यक की सिद्धि के लिए आवश्यक हैं। एकमात्र तेरी आत्मा अवश है, बाकी सब परवश हैं। जो कुशल क्रिया है, उनमें अनादर का भाव आ जाना 'प्रमाद' है। कुशल क्रिया यानि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत क्रिया। बड़ा आश्चर्य है कि सबकुछ त्यागने के बाद भी, कुछ अवशेष नहीं बचने के बाद भी, पता नहीं जीव के परिणाम कहाँ लगे होते हैं कि उसके कारण अपने आवश्यक कर्तव्यों को छोड़ देता है, जबकि उसे मालूम है कि अब उसे कुछ करने को नहीं बचा है। आपको साधना ही तो करना है, और-कुछ नहीं करना है। साधना करने के लिए सर्वत्र रहा जा सकता है। ख्याति पूजा की दृष्टि जीव को साधना से भगा देती है। ये ध्यान रखना, आवश्यक में जो ढील आ रही है, इसका मतलब कहीं-न-कहीं कमजोरी अवश्य है।

भो ज्ञानी! करते रहना आवश्यक नहीं है। अवश्य करना है, वो आवश्यक है। आदत में आ गया तो आदत में आने के बाद भी उसमें उत्साह रहना चाहिए। नवीन-नवीन अनुभव इसमें आये, नवीन-नवीन झलकन हो। यदि आपने प्रतिदिन पूजा करना प्रारम्भ कर दिया है, अब तो आप सहज हो गये हो। रोज आये, पूजा करके चले गये, उसमें भी आपको लगे कि आज कुछ विशेषता आनी चाहिए। यदि वो नहीं आ पर रही है, तो फिर यह मानना चाहिए कि अब तो क्रिया पूरी हो रही है। कभी-कभी क्या होता है कि ये अब आदत में है, यदि मैं छोड़ता हूँ तो लोग क्या कहेंगे? इसलिए अब कर तो लो, मन नहीं लग रहा है फिर भी। वहाँ व्यवहार आवश्यक भी बहिर्भाव हो गया। वहाँ व्यवहार ही नहीं बचा, व्यवहार से भी बाह्य हो गया। व्यवहार वही है जो भाव से युक्त है। यह ध्यान रखना, भाव से रहित व्यवहार भी व्यवहार नहीं है।

कुमुदचंद्र स्वामी 'कल्याणमंदिर स्तोत्र' में लिखते हैं 'यस्मात् क्रिया फलन्ति न भावशून्याः' जो क्रिया भाव से शून्य है, वो फल प्रदान नहीं कर पाती। इसलिए यहाँ पर कहा गया है कि आवश्यक कर्तव्यों में प्रमाद मत करो। जो व्यवहार आवश्यक में प्रमाद कर रहा है, उसके पास निश्चय तो कभी आयेगा नहीं। व्यवहार क्रिया करते-करते जो सहजस्वभाव है, कषाय की मंदता है, वो सहजरूप निश्चय से प्राप्त होते हैं। 'मैं व्यवहार में समय नहीं लगाना चाहता हूँ, ये अज्ञान दशा है। अब मैं अपना समय व्यवहार को नहीं देना चाहता हूँ, मैं तो अपना समय निश्चय को देना चाहता हूँ।' आप समय जो निश्चय को देने कह रहे हो, वह भी तो व्यवहार है। 'अब मैं निश्चय को समय दूँगा, व्यवहार को बहुत दे दिया है।' अभी आपने निश्चय व्यवहार को समझा नहीं है। आपसे पूछा, सामायिक कर ली? बोले, रोज तो तुम्हारे साथ करते हैं। आवश्यक आपका था या हमारा ? कहके आप एहसान जता रहे हो। यथाख्यात चारित्र की अपेक्षा वह बहिरात्मा है और सामान्य रूप से संज्जवलन लोभ है। उसको आप अशुभ अर्थात् आर्त्तध्यान में मत जाने दो। वो सामान्य रूप से जा रहा है तो स्वरूप की अपेक्षा अंतरात्मभाव है। 7वें गुणस्थान की अपेक्षा वो बहिरात्मभाव कहलायेगा और 6वें गुणस्थान की अपेक्षा वो अंतरात्मा में है। जैसा कि व्यवहार आवश्यक को रहा है तो उसे बहिरात्मा कह रहे हैं, वो 7वें गुणस्थान की अपेक्षा बहिरात्मभाव कह रहे हैं। 6वें गुणस्थान की अपेक्षा वो अंतरात्मा ही है।

भो ज्ञानी! शुद्धोपयोग की अपेक्षा से शुभोपयोग बहिरात्म भाव है, लेकिन अशुभोपयोग

की अपेक्षा से शुभोपयोग अंतरात्म भाव ही है। सम्यक्त्व के सद्‌भाव में यदि आप प्रमाद करते हो तो आचार्य आपको दुरात्मा कहेंगे क्योंकि सम्यक्त्व अपेक्षा से आप जघन्य अंतरात्मा हो, लेकिन चारित्र में तुम्हारे दोष लगा रहा है इसलिए आपको बहिरात्मा कहा है। सम्यक्त्व की विवक्षा से प्रथम, द्वितीय, तृतीय गुणस्थान वाला बहिरात्मा है। सम्यग्दृष्टि जीव को पुण्य की आंकाक्षा का भाव रहना ही चाहिए। परन्तु कैसा? 'मैं पापों से बचने के लिए पुण्य कर रहा हूँ।' सम्यग्दृष्टि जीव का उद्‌देश्य तो अंतरंग में प्रतिक्षण मोक्षपुरुषार्थ पर ही रहता है, फिर भी वह बहिरात्मा नहीं है, लेकिन निश्चयनय की अपेक्षा से उसे भी बाह्य कह दिया है। आप स्वाध्याय कर रहे हो तो आपको अच्छा कहा जायेगा, लेकिन आप कब तक शास्त्र पढ़ते रहोगे, इन पोथियों में कब तक उलझे रहोगे? 'परमार्थ प्रकाश' आपसे कहेगा ये पोथियाँ कब तक पकड़े रहोगे? पोथियों से मोक्ष हो जायेगा क्या? अहो मुनि! पोथियों के पढ़ने से, पोथियों को लादने से यदि मोक्ष होता तो आज तक कितने विद्वानों को मोक्ष हो जाना चाहिए था।

अन्यथा वेदपाण्डित्यं, शास्त्रपाण्डित्यमन्यथा।
अन्यथा परमतत्त्वं लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा॥23 प. प्रकाश॥

वेद का पाण्डित्य भिन्न है, शास्त्रों का पाण्डित्य भिन्न है और आत्मा का पाण्डित्य भिन्न है क्योंकि आत्मपाण्डित्य के लिए बहुत शास्त्र का पाण्डित्य अनिवार्य नहीं है, क्योंकि वो तो स्वरूपलीनता है। मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान से लेकर तृतीय गुणस्थान तक बहिरात्मा ही है। प्रथम गुणस्थान से तृतीय गुणस्थान तक सभी जीव बहिरात्मा ही हैं। चतुर्थ गुणस्थान से अंतरात्मा प्रारम्भ होता है, वो भी जघन्य। और देशव्रती और मिथ्यादृष्टि जीव व्रत भी धारण कर लेगा, उसे जिनवाणी व्रती नहीं मानती क्योंकि स्पष्ट लिखा है कि "निःशल्यो व्रती"।

भो ज्ञानी! आवश्यक कर रहा है, इसमें कौनसा ध्यान होगा? स्वाध्याय चल रहा है, इसमें कौन-सा ध्यान होगा? व्यवहार से कहा धर्म्यध्यान है, लेकिन ध्यान तो ध्यान है, स्वाध्याय तो स्वाध्याय है, प्रतिक्रमण तो प्रतिक्रमण है। ठीक है, निश्चयनय से ये सब एक ही हैं। वही ध्यान है, वही प्रतिक्रमण है, वही प्रत्याख्यान है। निश्चयनय सबको एकरूप देखता है।

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकम्।
ज्ञानज्योतिः प्रकटित निजाभ्यन्तरङ्गान्तरात्मा
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श॥259 कलश॥

टीकाकार आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज आभ्यन्तर स्वरूप को प्राप्त करने की प्रेरणा देते हुए कलश में कह रहे हैं कि जो भव के भय को करने वाले हैं, उन बाह्य और आभ्यंतर जल्प को उन्होंने छोड़ दिया है। और अंतरंग, बहिरंग से नित्य ही स्मरण कर रहे हैं किसका? जो चिद् चमत्कार मात्र एक है, जो समसमयी है। जिसने ज्ञानज्योति से अपने आभ्यन्तर स्वरूप को प्रकट किया है, जिनका मोह क्षीण हो गया है, ऐसे योगी अद्भुत परमतत्त्व को अंतरंग में देख लेते हैं। ये 12वें गुणस्थान की चर्चा है। कभी-कभी अध यात्मशास्त्र और गुणस्थान का ज्ञान नहीं होने से सब जगह चौथा गुणस्थान लगा लेता है। कभी-कभी 13वें गुणस्थान तक की दृष्टि अपने में घटित कर लेता है। यहाँ पर आचार्य महाराज ने क्षीण मोह शब्द जोड़ दिया है। यहाँ 16 कषाय का अभाव करने वाले सम्यग्दृष्टि का कथन है, अनंतानुबंधी कषाय का अभाव करने वाले का कथन नहीं है। परम तत्त्व अर्थात् निज शुद्धात्मा और पारिणामिक परम तत्त्व यानि सिद्ध भगवान्।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 151 में कह रहे हैं कि जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान से युक्त है, परिणत है, वह भी अंतरात्मा है। ये 7वें गुणस्थान से प्रारम्भ होगा क्योंकि निर्विकल्प धर्म्यध्यान 7वें गुणस्थान में होता है और शुक्लध्यान 8वें गुणस्थान से प्रारम्भ होकर 12वें गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक चलेगा। 13वें और 14वें गुणस्थान में उपचार ध्यान है। इस अपेक्षा में 6वें गुणस्थान तक बहिरात्मा। यहाँ बहिरात्मा से तात्पर्य मिथ्यादृष्टि नहीं है। जो निश्चय स्वरूप से रिक्त है, वो मात्र द्रव्यलिंगधारी है।

भो ज्ञानी! एक देशव्रती है, प्रतिमाधारी है, उस जीव के परिणाम अव्रतरूप चल रहे हैं, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि है या क्षायिक सम्यग्दृष्टि मान लो, उस देशव्रती को हम भावलिंगी कहें कि द्रव्यलिंगी? जिस गुणस्थान का वेश बनाया है उस गुणस्थान के भाव तुम्हारे नहीं है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह द्रव्यलिंगी है। कुछ लोग कह देते हैं कि सम्यग्दर्शन हो गया तो वह भावलिंगी है। यहाँ सम्यग्दर्शन से तात्पर्य नहीं है, गुणस्थान संबंधी लेना। **जिस गुणस्थान का वेश है तो भाव भी उस गुणस्थान के होना चाहिये।** 6वें गुणस्थान में यदि 5वें गुणस्थान के भाव आ रहे हैं तो करणानुयोग कहेगा द्रव्यलिंगी हो। जिस गुणस्थान का वेश है उस गुणस्थान के भाव नहीं हैं तो सम्यग्दर्शन होने पर भी द्रव्यलिंग है उस गुणस्थान की अपेक्षा। यदि आपने भावलिंग को सम्यक्त्व मात्र से लगाया तो अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को भी महामुनि कहना पड़ेगा। सम्यग्दर्शन संयम नहीं है, सम्यग्दर्शन चारित्र नहीं है। चारित्र में

सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्व में चारित्र हो सकता है, लेकिन सम्यक्त्व चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यक्त्व श्रद्धा गुण की पर्याय है।

भो ज्ञानी! सम्यक्त्व अपेक्षा 4थे गुणस्थान तक भावलिंगी ही कहा। 4थे गुणस्थान का द्रव्यलिंगी आरती उतार रहा है, पूजा कर रहा है, पाठ कर रहा है, लेकिन अंतरंग में श्रद्धा नहीं है चतुर्थ गुणस्थान संबंधी, तो चरणानुयोग कहेगा द्रव्यलिंगी मात्र है। वहाँ करणानुयोग कहेगा 7 कर्म की प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम साथ में है तो भाव सम्यग्दृष्टि अन्यथा मात्र द्रव्य सम्यग्दृष्टि। जैसे द्रव्यलिंगी और भावलिंगी मुनिराज होते हैं, ऐसा श्रावकों में भी होता है। 11वें गुणस्थान से गिरकर जीव 4थे में आ सकता है या नहीं? आप बताओ, उसके सम्यक्त्व में गड़बड़ी थी क्या? नहीं। सम्यक्त्व की गड़बड़ी है, पर 4थे से ऊपर में सम्यक्त्व का दोष नहीं है। उसमें चारित्र का दोष है, कषाय का दोष है, क्योंकि ऊपर के गुणस्थान में भी कषाय शेष रहती है। प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, संज्जवलनादि। चतुर्थ गुणस्थान मात्र अनंतानुबंध और दर्शनमोहनीय सापेक्षी। सम्यक्त्व की अपेक्षा द्रव्यलिंग बनता है। मिथ्यात्व की अपेक्षा द्रव्यलिंग बनता है सम्यक्त्व के अभाव में; लेकिन सर्वथा यह मत कहना कि सम्यक्त्व से च्युत हो गया। सम्यक्त्व से च्युत नहीं हुआ है, परन्तु उस गुणस्थान संबंधी विशुद्धि नहीं है इसलिए द्रव्यलिंगी है। यदि ऐसा नहीं कहोगे तो आचार्य महाराज व्रती को दुरात्मा नहीं लिखते। शुद्धोपयोग में ले जाने के लिये वे बार-बार उत्साहित कर रहे हैं कि आप आगे बढ़ो, इसी में मत लगे रहो।

'प्रवचनसार' में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं 'हे मुनि! जब आप शुद्धोपयोग से च्युत हो, तो उस समय आप श्रावकों को पूजा, दान आदि का धर्मोपदेश करो।' और आगे फिर कहते हैं कि ये मुनि की चर्या नहीं है। यहाँ ये क्यों कहा? 'आपको शुद्धोपयोग में जाना है, अतः यहाँ मत उलझो, आगे चलो।' दोनों अपेक्षा रखते हैं। द्रव्यलिंग तो ग्रैवेयक तक ले जाता है। द्रव्यलिंग में सम्यक्त्व हो या न हो, कोई आवश्यक नहीं है, लेकिन भावलिंग में नियम से सम्यक्त्व होगा ही और चारों धर्म्यध्यान होंगे। आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय। आगम में कहा गया कि पंचमकाल में ध्यान नहीं होते, तो लोगों ने अर्थ लगा लिया कि फिर धर्मात्मा भी नहीं होते, मुनि भी नहीं होते, श्रावक भी नहीं होते। इन बातों से कुन्दकुन्द स्वामी को लगा कि बड़ा अनर्थ हो गया। इधर आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने 'ज्ञानार्णव' में लिख दिया कि जैसे आकाश-पुष्प, गधे का सींग किसी भी देश में किसी

भी काल में नहीं होते, उसी प्रकार से श्रावक का ध्यान किसी भी काल में नहीं होता। आचार्यमहाराज को लगा कि कहीं लोग अनर्थ न कर लें। जब श्रावक को ध्यान नहीं होता, तो श्रावक संज्ञा बची कहाँ? तो उन्होंने बड़ा सहज कथन किया कि जो उत्तम संहनन में उत्तम ध्यान होता है, उस ध्यान का निषेध किया है। धर्म्यध्यान आदि का निषेध नहीं किया है। इसलिए पंचमकाल में भी धर्म्यध्यान आदि होता है। ऐसा कथन कुन्दकुन्द स्वामी ने 'अष्टपाहुड' ग्रन्थ में किया है।

आज भी धर्म्यध्यान होता है साधु के। जो ऐसा नहीं मानता है, वो मिथ्यादृष्टि है। अर्थात् कुन्दकुन्द स्वामी के काल में भी ऐसे लोग हो चुके थे जो एकान्त में जीना प्रारम्भ कर चुके थे। यदि कुन्दकुन्द स्वामी के पाँचों ग्रन्थ पढ़ लिये जायें तो कोई शंका नहीं रहे।

आचार्यभगवन् गाथा 151 में कह रहे हैं कि ध्यान से विहीन श्रमण बहिरात्मा है। 'समयसार' जी में आचार्यभगवन् ने प्रतिक्रमण को विषकुंभ लिखा है और वही आचार्यभगवन् अगली गाथा में अमृतकुंभ लिख रहे हैं। विवक्षा समझना। शुभोपयोग के लिये अमृतकुंभ है और शुद्धोपयोग के लिये विषकुंभ है। अपेक्षा लगाना। आचार्यभगवन् ने 'समयसार' जी की गाथा संख्या 8 में लिखा है

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं॥ स. सार. 8॥

शुद्ध के लिये शुद्ध का उपदेश करो और जो अशुद्ध है उनको व्यवहार का उपदेश करो क्योंकि वे अपरमार्थ भाव में ठहरे हुये हैं, परमार्थ भाव में स्थिर नहीं हैं, उन्हें व्यवहार का उपदेश देकर निश्चय को समझाओ। जहाँ क्रम भंग हुआ, वहाँ जीव श्रद्धा और संयम दोनों में च्युत हुआ। श्रद्धा गई तो संयम अपने आप चला गया। जो शुद्ध में ठहरा है, उसके लिये क्या उपयोग करें? जो शुद्ध की योग्यता रख रहा है, उसको **शुद्ध** का उपदेश करो। हमारा कर्तव्य है कि उसे योग्यतानुसार, क्रमिक पढ़ाना चाहिये। यदि आप क्रम से ज्ञान नहीं कराओगे, भले ही आपके पास कितना भी ज्ञान हो, पढ़नेवाला या तो स्वयं को पागल महसूस करेगा या फिर पढ़ानेवाले को पागल महसूस करेगा।

भो ज्ञानी! यदि आपने अत्यन्त कठिन विषय किसी सामान्य व्यक्ति को दे दिया तो उसका सिर भन्नाता है। उसकी जो सरल ग्रहण करने की क्षमता थी, वो नष्ट होने लगती है, क्योंकि उसने उतनी ताकत लगा दी जितनी उसकी सामर्थ्य नहीं थी। आपकी सिकाई गर्म

पानी की बोतल से होनी थी और आपने बिजली का आयरन लगा दिया, तो क्या होगा? अब वो बोतल काम में नहीं आ रही है क्योंकि सिकने वाले तन्तु ही नष्ट हो गये। इसलिए औषधियाँ बहुत होते हुये भी वैद्य की आवश्यकता पड़ती है। सही औषधि के सही प्रयोग के लिये वैद्य की आवश्यकता होती है। मोक्षमार्ग के सही प्रयोग के लिये गुरु की आवश्यकता पड़ती है।

भो ज्ञानी! मध्यकाल में वस्त्रधारियों की संख्या में वृद्धि हो चुकी थी। वे मठ मंदिर बनाके संस्थाएं स्थापित करके मुनि मानते थे। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'अष्ट पाहुड' में लिखा है कि वस्त्र उतारे बिना सिद्धि नहीं होती है। जो वस्त्र उतारे बैठे हुये मुनि हैं, इनसे क्यों कहोगे बिना नग्न हुये मोक्ष नहीं होता?

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे, जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे॥अ. पा. 23॥

जिनेन्द्र भगवान् के शासन में तीर्थंकर भी क्यों न हो, वस्त्र धारण करके सिद्धि प्राप्त नहीं कर पायेंगे। नग्नता ही मोक्षमार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है। उन्मार्ग में जाओगे तो उन्मार्गी ही बनोगे। तुम्हारी भावना भी वैसी बनेगी। इतनी सारी आम्नायें/पंथ बन चुके हैं, निरपेक्ष होकर सोचना, क्या सभी सच हैं? कौन-सा पंथ अपने आपको झूठा कहता है? अत: जब तक पंथ-निरपेक्षता नहीं आयेगी, तब-तक आप मोक्षमार्गी नहीं हो। जो भिन्न-भिन्न आम्नायें चल रही हैं, वे अनादि नहीं हैं, बनाई हुई हैं। जो बनाया होता है, वो सत्य नहीं होता। जो सत्य है, वो अनादि है। आम्नाय यानि परम्परा। नई-नई आम्नायें खड़ी हो जाती हैं, इसमें मूल खोखला हो जाता है, मात्र फूल ही दिखते हैं, जो कुछ समय उपरान्त झड़ जाते हैं।

भो ज्ञानी! बहिरात्मभाव को जाने बिना आत्मभाव को कैसे प्राप्त करोगे और अंतरात्मा बने बिना परमात्मा कैसे बनोगे? इसलिए ज्ञानदृष्टि से बहिरात्मभाव उपादेय दृष्टि है। जानने के भाव से उपादेय है, पर ग्रहण करने के भाव से हेय है। बहिरात्मा जानोगे, तभी तो तजोगे। पर जानना हेय नहीं है। ज्ञान कहीं हेय होता नहीं है, ज्ञान तो उपादेय है। निजात्मा के आश्रय से धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान दोनों उपादेय हैं। स्वात्मा पराश्रित नहीं है। यहाँ पर साक्षात् अंतरात्मा भगवान् क्षीणकषायी हैं, क्योंकि निश्चित रूप से उन भगवान् के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी राजयोद्धा विलय को प्राप्त हो चुके हैं। इसी कारण से ये स्वाभाविक चैतन्य विलासरूप अति अपूर्व आत्मा का, शुद्ध निश्चय धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दोनों के द्वारा, नित्य ही, ध्यान करते हैं। इन दोनों ध्यान से जो विहीन है, वह

द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमण बहिरात्मा है, ऐसा जानना चाहिये। तात्पर्य यह कि निश्चय धर्म्यध्यान-शुक्लध्यान से रहित को अध्यात्म की भाषा में द्रव्यलिंगधारी कहा है और आगम भाषा में सम्यक्त्व युक्त तद्गुणस्थान संबंधी परिणामों से युक्त जीव भावलिंगी है, द्रव्यलिंगी नहीं है। द्रव्य सहित भावलिंग है। सातवें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान है और आठवें गुणस्थान से शुक्लध्यान है एक दृष्टि से। दूसरी दृष्टि ये है कि जहाँ तक साम्परायिक आस्रव है, वहाँ तक धर्म्यध्यान माना है और सविकल्प माना है। सविकल्प इसलिए कह दिया कि सकषाय है और जहाँ कषाय का अभाव है, वहाँ उन्होंने शुक्लध्यान माना है। इस अपेक्षा से 11वें गुणस्थान से शुक्लध्यान प्रारम्भ होता है और 10वें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान चलता है।

भो ज्ञानी! इस टीका से ध्वनित हो रहा है कि उन्होंने उपशम भाव को प्रधानता नहीं दी है, उन्होंने क्षायिक भाव को प्रधानता दी है, क्योंकि उनकी दृष्टि यह है कि वहाँ पर निश्चित गिरना है। हम गिरने वाली नहीं, चढ़ने वाली बात कर रहे हैं। इस अपेक्षा से 'नियमसार' में जो कथन चल रहा है वह 7वें से 12वें तक का कथन है, इसके नीचे का कथन नहीं है। दो आचार्यों ने दो कथन किये हैं। निश्चय धर्म्यध्यान 7वें गुणस्थान से 10वें गुणस्थान तक। किन्हीं आचार्य ने 7वें गुणस्थान से निर्विकल्प ध्यान और 8वें गुणस्थान से शुक्लध्यान माना है।

कश्चिन्मुनिः सततनिर्मलधर्म्यशुक्ल—
ध्यानामृते समरसे खलु वर्ततेऽसौ।
ताभ्यां विहीनमुनिको बहिरात्मकोऽयं
पूर्वोक्तयोगिनमहं शरणं प्रपद्ये ।। कलश 260।।

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ऊपर कहे गये कथन की पुष्टि कलश के माध्यम से कर रहे हैं। अध्यात्मशास्त्र में पिस्टप्रेषण को दोष नहीं माना जाता। अध्यात्म शास्त्र का दूसरा नाम भावना ग्रन्थ है। सिद्धान्त ग्रन्थों में पिष्टप्रेषण नहीं किया जाता, वह कह दिया जाता है कि पूर्व में जैसा कहा था। जो मुनि हमेशा निर्मल धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान रूपी अमृत में समरस वर्तन करते हैं, वे अंतरात्मा हैं। जो निश्चय धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान से रहित हैं, वे बहिरात्मा हैं। आचार्यमहाराज निश्चय धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान को महिमामंडित कर रहे हैं। मैं अन्तरात्मा योगी की शरण को प्राप्त होता हूँ।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 152 कलश 261

उत्थानिका : कौन श्रमण वीतराग चारित्र में आरूढ़ है

गाथा : पडिकमणपहुदिकिरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिदे, समणो अब्भुट्ठिदो होदि॥152॥

संस्कृत छाया : प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां कुर्वन् निश्चयस्य चारित्रम्।
तेन तु विरागचरिते श्रमणोऽभ्युत्थितो भवति॥152॥

अन्वयार्थ : (निश्चयस्य चारित्रं प्रतिक्रमण प्रभृति क्रियां) निश्चयनय के चारित्ररूप प्रतिक्रमण आदि क्रिया को (कुर्वन्) करता हुआ (श्रमणः) श्रमण (तेन तु) उसी से (विराग चरिते) वीतराग चारित्र में (अभ्युत्थितः भवति) आरूढ़ हो जाता है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने निश्चय परम आवश्यक अधिकार में यह संकेत दिया कि व्यवहार दृष्टि और निश्चय दृष्टि दोनों दृष्टि को समझ करके योगी अपने आवश्यक कर्तव्यों में लीन हो जाता है। जो शुक्लध्यान और निर्विकल्प धर्म्यध्यान इन दोनों से युक्त है, वही अंतरात्मा है। उस ध्यान से रहित अवस्था बहिरात्मभाव है। निश्चय नय से जहाँ पर सविकल्प धर्म्यध्यान है, वहाँ पर भी अंतरात्मभाव ही है, बहिरात्मभाव नहीं है। इस विवक्षा से ऐसा मत लेना कि जो निर्विकल्प ध्यान में नहीं हैं वे बहिरात्मा ही हैं यानि मिथ्यादृष्टि। ऐसा यहाँ कथन नहीं है। यहाँ बहिरात्मभाव से तात्पर्य है स्वरूपलीनता का अभाव। उसी दृष्टि से यहाँ कथन चल रहा है, न कि बहिरात्मभाव से, मिथ्यात्व गुणस्थान से। आचार्य पद्मप्रभमलधारि देवने ऐसे-ही योगी की वंदना की है जो शुक्लध्यान और निर्विकल्प धर्म्यध्यान में लीन है। अब मात्र निश्चय के स्वरूप को कहते हैं। इसका तात्पर्य विभाव का नाश नहीं कर रहे हैं। व्यवहारनय का कथन करने के पश्चात आचार्यमहाराज केवल शुद्ध निश्चयनय का कथन कर रहे हैं। यहाँ शुद्ध निश्चयनय का कथन है, लेकिन व्यवहारनय का अभाव नहीं है, गौण किया है।

बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम्।
सुधियां न समस्त्येष संसाररमणीप्रियः ॥कलश 261॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं कि एक अंतरात्मा है दूसरा बहिरात्मा है, ऐसा भाव सुधी के लिये नहीं होता है। जो अंतरात्मा-बहिरात्मा भाव की बात कर रहे हैं वे कुधी ही हैं। वे स्वरूप में लीन नहीं हैं। अंतरात्मा-बहिरात्मा का विकल्प कुधी के होता है, सुधीजनों में ऐसा विकल्प नहीं होता है। निर्विकल्प ध्यान में लीन योगी को यह भी विकल्प नहीं होता है कि मैं शुद्धोपयोग में जाता हूँ, शुभोपयोग में जाता हूँ। शुद्ध उपादेय है, अशुद्ध हेय है, ऐसा विकल्प जब तक तेरे पास है, तब-तक तू शुद्धोपयोग में नहीं है।

'परमात्म प्रकाश' में आचार्य योगीन्दुदेव लिखते हैं कि चेला, चेली, चटाई, पाटा, पोथी, कमण्डलु, पिच्छी आदि मोक्षमार्ग नहीं है। स्वरूपलीनता ही मोक्षमार्ग है। आचार्यमहाराज को लगा कि कहीं कोई गलत ग्रहण न कर ले, इसलिए उन्होंने कहा कि चेला-चेली मोक्षमार्ग में आचार्य के लिये हेतु कैसे? आचार्यपरमेष्ठी के लिये वो मोक्ष के हेतु नहीं है, लेकिन आचार्यपरमेष्ठी उनके लिये मोक्ष के हेतु हैं। जब जीव के अंतरंग में तीव्र वात्सल्य भाव उमड़ता है और प्राणिमात्र के कल्याण की दृष्टि उमड़ती है, सराग संयम के काल में, उस समय चेला-चेली को शिक्षा-दीक्षा प्रदान करते हैं जिससे ये भी मोक्षमार्ग में लगे रहें, लेकिन उससे अपने हित की आकांक्षा न रखें। उनका हित हो जाय, मात्र निमित्त मात्र हैं, हित तो उनके परिणामों से होगा। परन्तु आचार्यपरमेष्ठी के लिये चेला-चेली तीव्र पुण्यास्रव के हेतु बन जाते हैं। उनका होना पुण्य का हेतु नहीं है, उन्होंने इतने सारे लोगों को पाँच पाप छुड़ाये हैं, इतने सारे लोगों को संयम पर लगाया है जिससे पुण्यास्रव हो रहा है। उनके लिये परम्परा से साधन में साधन का कारण बन जाता है, लेकिन निर्वाण तो निज के शुभ और शुद्ध परिणाम से ही होगा।

भो ज्ञानी! कमण्डलु, पिच्छिका, शास्त्र आदि मोक्ष के साधन नहीं हैं, लेकिन वे भी मोक्ष के साधन बन जाते हैं। कमण्डलु शौच का उपकरण है, पिच्छी संयम का उपकरण है। साधन के साधन होने के कारण इनको साधन कहा जाता है, लेकिन अंतरंग साधन तो तेरा निज का परिणाम ही होगा। आप जिस आसन पर बैठकर साधना कर रहे हो वो आपकी साधना के लिये निमित्त-कारण है, परन्तु निःशेष और निजासन पर बैठोगे तभी संयम साधना होगी। ये सब बाहरी साधना हैं। फर्शी चटाई आदि मात्र बैठने का साधन हैं, निज में बैठने के साधन

नहीं हैं। निज में बैठने के लिये कोई फर्श, चटाई आदि की आवश्यकता नहीं है, कोई आसन, पाटे की आवश्यकता नहीं है।

भो ज्ञानी! रागभाव को संसार-रमणी प्रिय है, लेकिन अंतरात्मभाव को संसार-रमणी प्रिय नहीं है। जिन्हें संसार-रमणी प्रिय हो, वे बहिरात्मभावों के विकल्प में जियें। ये भावलिंगी, ये द्रव्यलिंगी, ये मिथ्यादृष्टि, ये सम्यग्दृष्टि, इन बातों के करने से तेरा मोक्षमार्ग प्रशस्त नहीं होगा। ऐसे विकल्प में जी रहा है कि ये अंतरात्मा, ये बहिरात्मा, ये द्रव्यलिंगी, ये भावलिंगी, अब बहिरंग भाव को छोड़ता हूँ, अब मैं अंतरात्मा होता हूँ। ये बात कहने की क्या आवश्यकता है? अरे भाई! अभी तू कुछ नहीं कर रहा है, तू व्यर्थ की चर्चा कर रहा है। 'महाराज श्री! मैं पूजा करना चाहता हूँ, पूजा के भाव आ रहे हैं।' पूजा कैसे करनी चाहिये? 'मैं तो उत्कृष्ट पूजा करना चाहता हूँ। जब भी मैं पूजा करूँगा, उत्कृष्ट पूजा ही करूँगा।' अब करोगे कब? 'जब फुर्सत मिल जायेगी।' बातें ही करते रहोगे।

एक सज्जन बोले, महाराज श्री! मुनि बनने के भाव हो रहे हैं, लेकिन मैं उत्कृष्ट मुनि ही बनूँगा। 'ये बहुत अच्छी बात है, कब बन रहे हो?' पहले मैं उत्कृष्ट गुरु की तलाश कर लूँ। पूछा, 'कहीं मिले?' बोले, अभी तक तो नहीं मिले हैं। अब बताओ, वह उत्कृष्ट मुनि कब बनेगा? आचार्यमहाराज ने कहा कि व्यर्थ के विकल्पों में पड़े हो। इन विकल्पों से हटो, स्वभाव में स्थिरता लाओ, निश्चित स्थान को देखो। एक बात का ध्यान रखना, मोक्ष न तो गुरु से मिलता है, न शास्त्र से मिलता है, ये सब तो निमित्त हैं। चाहे उत्कृष्ट गुरु मिल जाये, मध्यम गुरु या जघन्य गुरु मिल जाये, तुम्हारी जैसी परिणति होगी वैसी दशा होगी। उत्कृष्ट गुरु तीर्थंकर भगवान् होते हैं, मध्यम गुरु गणधर परमेष्ठी होते हैं और जघन्य गुरु सभी आचार्य परमेष्ठी होते हैं। वर्तमान में संयम की अपेक्षा से भी जघन्य हैं, क्योंकि इस समय उत्कृष्ट संयम हो नहीं रहा है। पंचमकाल में उत्कृष्ट संयम होता नहीं है। उत्कृष्ट संयम अर्थात् यथाख्यात चारित्र। कोई अपने को महापुरुष कहें तो आगम में 169 महापुरुष कहे गये हैं और वे हो चुके हैं। पंचमकाल में महापुरुष होते नहीं हैं। ये हो सकता है कि सामान्यजनों में तुम विशेष पुण्यात्मा हो, पर आपको 'महापुरुष' की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। शलाका पुरुष ही महापुरुष संज्ञा को प्राप्त होते हैं। महापुरुष यथाख्यात चारित्र उत्कृष्ट चारित्र वाले होते हैं। सामायिक आदि जो चारित्र हैं, उत्कृष्ट चारित्र नहीं है। हाँ, उनमें उत्कृष्ट हो सकते हो। चर्या में सहजता आना चाहिये, निर्मलता आना चाहिये, निर्दोषता आना चाहिये। लेकिन उत्कृष्टता शब्द के अहम् में चले गये तो जघन्यता भी नहीं पनपती है। जो संयम की उत्कृष्टता की बात

करते हैं, वे संयमी नहीं होते, अनुभवशील नहीं होते। गुरु अनुभवी होते हैं। सोने के लिये पाटे का उपयोग नहीं करना है तो चटिका (चटाई) या घास ले लो। आगम में घास का निषेध नहीं है।

भो ज्ञानी! संस्तर चार प्रकार के होते हैं। पट संस्तर, फलक संस्तर, तृण संस्तर, मृत्तिका संस्तर। पट यानि पाटा, फलक यानि शिला, तृण यानि घास, मृत्तिका यानि मिट्टी। संस्तरों का उपयोग अपनी संहनन शक्ति और काल को देखकर करना चाहिए। कोई भी संस्तर हो, सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के पूर्व उनका मार्जन कर लेना चाहिए। जो उपकरण उपयोग में कम आता है उसमें जीव उत्पत्ति की संभावना ज्यादा रहती है। 'मूलाचार' में कथन है कि जो शास्त्र उपयोग में आ रहे हैं उनका तो मार्जन होगा ही, लेकिन जो रखे हुये हैं उनको भी देखते रहना चाहिए। ज्यादा सामग्री रखने से परिग्रह का दोष तो आयेगा ही।

भो ज्ञानी! उद्दिष्ट की परिभाषा 'मूलाचार' में आई है कि साधु को पता नहीं होना चाहिए कि मेरे आहार कहाँ होंगे और श्रावक को भी पता नहीं होना चाहिए कि मेरे यहाँ आज कौन से महाराज आयेंगे। इसलिए आप कितने ही चौके लगाओ, महाराज का उद्दिष्ट का त्याग पूर्णरूपेण पल रहा है। यदि महाराज ये सोचके जायें कि हम उनके यहाँ जायेंगे, तो फिर महाराज को दोष लगेगा। दूसरी दृष्टि, मैंने आज नियम लिया कि वे व्यक्ति जहाँ खड़े होंगे। भाग्य से वे नहीं खड़े थे, तो उपवास हो गया। ये व्रत-परिसंख्यान है।

आहार व्यवस्था में कई प्रकार के दोष आते हैं। कुछ में अन्तराय होता है, कुछ में अन्तराय एवं प्रायश्चित्त दोनों होते हैं। बाल आ गया तो अन्तराय। हड्डी या जीव आ जाये तो अंतराय एवं प्रायश्चित्त। तरबूज आदि लाल रंग के होने के कारण इनका निषेध किया है। रंग के कारण रक्त-जैसा होने के भाव बन गये और वह लेता जा रहा है, तो वह अभक्ष्य हो गया। गढंत ले रहा है तो मांस के भाव आ गये। कढ़ी ले रहा है तो मल के भव आ गये। तो ये अभक्ष्य है। अभक्ष्य का त्याग तो होता ही है, भक्ष्य का भी त्याग किया जा सकता है। आपने जितनी सीमा कर ली, उत्तम है, परन्तु सीमा के बाहर की वस्तु अभक्ष्य हो गई, ऐसा न कहें। त्यागी वस्तु का त्याग तो करना चाहिए।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 152 में कह रहे हैं कि निश्चयनय के चारित्ररूप प्रतिक्रमण आदि जो क्रिया है, उसको करता हुआ श्रमण उसी के द्वारा वीतराग

चारित्र में आरूढ़ हो जाता है। परम वीतराग चारित्र में स्थित परम तपोधन के स्वरूप को यहाँ पर कह रहे हैं। जिस योगी ने सांसारिक व्यापार का परित्याग कर दिया है, उसकी एकमात्र आकांक्षा है कि भगवन्! मेरा पुनर्भव न हो। जिसने सम्पूर्ण ऐहिक आकांक्षा का परित्याग कर दिया है, ऐसा वीतरागी, सामायिक में बैठा निर्ग्रन्थ, ही महा मुमुक्षु है। जिन्होंने अच्छी तरह से सम्पूर्ण इंद्रियों के व्यापार का त्याग कर दिया है। क्योंकि जब तक इंद्रियविषयों का त्याग नहीं हो रहा है, तो 'मुमुक्षु' संज्ञा नहीं है। यह ध्यान रखना कि यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों एकसाथ चल रहे हैं। 'नियमसार' में मुमुक्षु संज्ञा श्रमण की ही है, श्रावक की नहीं है। श्रावक तो साधना के साधन हैं। क्षुल्लक, ऐलक बनकर साधनात्मक भाव बढ़ रहे हैं, शिक्षाव्रतों का पालन हो रहा है, मुनिचर्या का अभ्यास हो रहा है। क्षुल्लक आदि को महाराज के बाद आहारचर्या को निकलना चाहिए। छुल्लक जी के लिये पिच्छी रखने का कोई विशेष उल्लेख नहीं है, ऐलक जी के लिए है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो महामुमुक्षु ऐहिक व्यापार से रहित होकर, सकल इंद्रियों के व्यापार को छोड़कर, निश्चय प्रतिक्रमण आदि उत्तम क्रिया में संलग्न रहते हैं, इससे वे अपने स्वरूप में परम वीतराग चारित्र में स्थित होते हैं। ऐसा जानना चाहिए।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 153 कलश 262, 263

उत्थानिका : वचन संबंधी समस्त व्यापार स्वाध्याय है

गाथा : वयणमयं पडिकमणं, वयणमयं पच्चक्खाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं, तं सव्वं जाण सज्झायं॥ 153॥

संस्कृत छाया : वचनमयं प्रतिक्रमणं वचनमयं प्रत्याख्यानं नियमश्च।
आलोचनं वचनमयं तत्सर्वं जानीहि स्वाध्यायम्॥ 153॥

अन्वयार्थ : (वचनमयं प्रतिक्रमणं) वचनमय प्रतिक्रमण (वचनमयं प्रत्याख्यानं) वचनमय प्रत्याख्यान (नियमः च) वचनमय नियम तथा (वचनमयं आलोचनं) वचनमय आलोचना (तत्सर्वं) उन सबको (स्वाध्यायं जानीहि) तू स्वाध्याय जान।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने संकेत दिया कि निश्चय क्रिया के अभाव में व्यवहार क्रिया को भूल जाना, ये सबसे बड़ी अज्ञानता है। निश्चय को भाषा का विषय बना लिया, जबकि वो भावों का विषय था। भावों के विषय को भाषा में लाकर समझ लिया कि भाषा के माध्यम से शायद निश्चय हो जाये, जबकि निश्चय तो पूर्ण मौन का ध र्म था, जहाँ कोई भाषा की आवश्यकता नहीं है। वचनवर्गणाओं को पूर्ण समाप्त करने की आवश्यकता है। उस मार्ग को जीव ने भाषाओं का विषय बना डाला। यदि आत्मा के वास्तविक स्वरूप का वेदन करना चाहते हो तो वाणी से ही नहीं अपितु मन से भी मौन हो जाओ। मौन होकर वेदन करो। वही निश्चय प्रतिक्रमण है, वही निश्चय परम आवश्यक है, कर्तव्य है, स्वरूप की लीनता है। बिना वैराग्य के श्रमणत्व नहीं और बिना श्रमणत्व के स्वरूपलीनता नहीं है।

आचार्यभगवन् ने 152 नं. की कारिका में कहा था कि वैराग्य में स्थित हुये बिना, चारित्र में स्थित हुये बिना श्रमण परम आवश्यक क्रिया को प्राप्त नहीं होता है। पं. दौलतराम जी ने 'छहढ़ाला' में लिखा है, वहाँ ज्ञान से तात्पर्य अभेद रत्नत्रय से है, तीन गुप्तियों से है। वहाँ शास्त्र के ज्ञान से प्रयोजन नहीं है। यहाँ शास्त्रज्ञानियों की चर्चा नहीं है, वहाँ त्रिगुप्ति से युक्त

मुनि की चर्चा है। जितने कर्मों का क्षय एक अज्ञानी जीव हजार करोड़ वर्षों में करता है, उतने कर्मों का क्षय तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानी क्षण भर में कर लेता है। त्रिगुप्ति कब होगी ? जब निर्ग्रन्थ दशा होगी। बिना निर्ग्रन्थ दशा के त्रिगुप्ति नहीं, बिना त्रिगुप्ति के 'ज्ञानी' संज्ञा नहीं। बिना ज्ञानी संज्ञा के कर्मों की क्षपणा नहीं। यहाँ शास्त्रज्ञानी की चर्चा नहीं है। नहीं तो ये जीव सम्पूर्ण विषयों की लीनता के साथ शास्त्र प्रवचन करता रहे, सम्पूर्ण भोगों को भोगता रहे और कर्मों की निर्जरा करता रहे। ऐसा आगम में कहीं नहीं लिखा और ऐसा होता भी नहीं है।

भैया! प्रवृत्ति, प्रयोग और उपयोग इन तीन शब्दों का ध्यान रखना। प्रवृत्ति अर्थपरक है। प्रवृत्ति अंतरंग और बहिरंग प्रवचन पर है। प्रयोग यह कि मुख से जिनवाणी कह रहा है। उपयोग अंतिम दिन का है कि मेरी विदाई कैसी होगी? बगुले का योग देखो, वो तो स्थिर दिख रहा है, वर्ण सफेद है, लेकिन प्रयोग काला है। उसकी दृष्टि में मछली दिख रही है। ऐसे ही जब व्याख्यान कर रहा हो, एकत्व व अनेकत्व की चर्चा चल रही हो और दृष्टि में यह झलक रहा हो कि देखो लोग हमसे प्रभावित हो रहे हैं कि नहीं? तो दृष्टि तुम्हारी बगुले की है। जैसी दृष्टि होगी, वैसा आस्रव, बंध, निर्जरा होगी। देह से सबकुछ होने लग गया होता तो देह के धर्म की चर्चा करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। वाणी मोक्ष का हेतु नहीं है, तेरे परिणाम बंध या मोक्ष के हेतु हैं। जब तक तू त्रिगुप्तिधारी नहीं बनेगा, तब तक जिनशासन में अध्यात्मविद्या का ज्ञानी नहीं है। अध्यात्म व्याख्यान का ज्ञानी वही हो सकता है, अध्यात्म रस का ज्ञानी वही है, जो त्रिगुप्ति से युक्त है। जिनागम में व्याख्यानवाचस्पति की पूजा नहीं है, चारित्रचक्रवर्ती की पूजा है। व्याख्याता की आराधना नहीं की जाती, उनका सम्मान होता है, आदर होता है, लेकिन आराधना तो चारित्र की ही है। वाणी के धनी की पूजा नहीं होती, चारित्र के धनी की पूजा होती है। जिसने वैराग्य के बल से मिथ्यात्व और दर्शनमोह, चारित्रमोह का अभाव कर लिया है, वही वंदनीय, पूजनीय, आराधनीय है। वही 'ज्ञानी' संज्ञा को प्राप्त होता है।

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक्शील मोहो
यः संसारोद्भवसुखकरः कर्म युक्तो विमुक्तेः।
मूले शीले मलविरहिते सोऽयमाचारराशिः
तंवंदेऽहं समरससुधासिन्धुराकाशशाङ्कम्॥262 कलश॥

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि मैं कोरे ज्ञानचंद्र को नमस्कार नहीं करता हूँ। जो समता के सिंधु हैं, जिनके अंतरंग में समरस रूपी अमृत झर रहा है, पूर्ण चन्द्रमा के तुल्य जो हैं, उस आत्मा की मैं वंदना कर रहा हूँ। लेकिन वह आत्मा पूर्ण चंद्र होती कब है ? जिन्होंने दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय को नष्ट कर दिया है। जब तक दर्शन में मलीनता है, चारित्र में मलीनता है, तब तक वीतराग शासन में वंदनीय नमस्कार अवस्था नहीं होती है। यदि आप रागवश, मानवश उनका बहुमान करना चाहते हो तो मिथ्यात्व का पोषण कर रहे हो। जिन्होंने दर्शनमोह और चारित्रमोह का शमन कर लिया है, ऐसी आत्मा ही वंदनीय, आराधनीय, पूज्यनीय है। जिस जीव का सम्यक्त्व न झलकता हो, चारित्र न झलकता हो, बाह्य क्रिया असम्यक् नजर आ रही हो, बाह्य चारित्र जिसका मिथ्या झलक रहा हो, उस जीव को आप वंदनीय दृष्टि से देखते हो तो गृहीत मिथ्यात्व का पोषण करते हो।

भो ज्ञानी! कोई अपने आप को भगवान कहे, द्रव्यदृष्टि से माना जा सकता है, लेकिन इस पर्याय को आप भगवान कहें, वस्त्र-आभूषण से युक्त अवस्था में स्वयं को परमेष्ठी के आराधक मानते हुए वही द्रव्य स्वयं में झलकायें, जनसामान्य आपकी वंदना प्रारंभ कर दे और आप उसको कुछ न कहें, ध्यान रखना, आप गृहीत मिथ्यात्व का प्रचार कर रहे हो। जिनवाणी का कितना प्रचार होगा, ये नहीं कहा जा सकता, लेकिन मिथ्यात्व का प्रचार तो सामने झलक रहा है। ब्रह्मचारी को कोई नमोस्तु कहे तो उनका कर्तव्य बनता है कि उसे तुरन्त मना करना चाहिए। क्यों ? क्योंकि नमोऽस्तु पंचपरमेष्ठी का होता है। इंद्रनंदी नीतिशास्त्र में लिखा है कि जिसकी वंदना की जो पात्रता है उसको वही बोले। ऐसा नहीं कि ब्रह्मचारी जी, क्षुल्लक जी, ऐलक जी, आर्यिका माता को नमोस्तु शब्द से उच्चारित करें। वे इच्छामि, वंदामि के अधिकारी हैं। नमोऽस्तु के अधिकारी एकमात्र पंचपरमेष्ठी हैं। जिसकी जैसी पात्रता हो, वैसी वंदना करो। भक्ति का अतिरेक भी मिथ्यात्व में डाल देता है। पिता को आपने पिता मानके चरण छुये, ठीक है; परन्तु पिता को भगवान मानके चरण छुये, यह मिथ्यात्व है।

भो ज्ञानी! जो जैसा है, वैसा मानने में दिक्कत नहीं है। केशलुंचन मुनिमहाराज के होते हैं। सूकर आदि तिर्यंच के बाल हाथ से भी खींचे जायें तो वे केशलुंचन नहीं कहलाते हैं क्योंकि वहाँ परमार्थदृष्टि नहीं है, संसारदृष्टि है। वहाँ पीड़ादृष्टि, व्यापारदृष्टि है। यहाँ चारित्रदृष्टि है, अहिंसादृष्टि है। आगम में शब्दों को सुनिश्चित कहा है। अध्यात्मशास्त्रों के शब्द सिद्धान्तशास्त्रों में नहीं मिलेंगे।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि एक गृहस्थ-अवस्था है, एक योगी अवस्था है और दोनों की वंदना प्रतिवंदना में अंतर होता है। पूज्यता, अपूज्यता में अंतर है। आगम में आशीर्वाद तक में अंतर दिया है। सभी जीवों को एकसा आशीर्वाद नहीं दिया जाता है। एक चाण्डाल ने आकर नमोऽस्तु किया तो उसे समाधिरस्तु नहीं कहा जायेगा। उसे पापक्षयरस्तु, तेरे पापों का क्षय हो कहा जायेगा। धर्ममार्ग पर लगे हुए से धर्मवृद्धिरस्तु, आपके धर्म की वृद्धि हो, कहा जायेगा।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि आत्मा जो अतुल महिमा से युक्त है, जिसने दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय को नष्ट किया है, संसार के सुखों को करने वाले कर्मों को जिसने छोड़ दिया है, जो मुक्ति का मार्ग है, ऐसे मल से रहित चारित्र में स्थित होता है। इस कलश में आचार्यभगवन् चारित्र की प्रधानता से कथन कर रहे हैं। मल से रहित, शील से युक्त चारित्र में जो योगी-अवस्था है, उसको मैं नमस्कार करता हूँ। योगीभाव को नमस्कार करते हैं। योगी-भाव बिना योगी-अवस्था घटित नहीं होता है।चाहे आप अवस्था को नमस्कार करें, चाहे भावों को नमस्कार करें, चाहे उनकी पर्याय को करें, चाहे उनके गुणों को करें, चाहे द्रव्य को करें, लेकिन तीनों एक ही होंगे।

कुंदकुंद स्वामी गाथा 153 में सामायिक में पाठ करने को सामायिक स्वीकार नहीं करते, वो स्वाध्याय है, क्योंकि वह वचनपूर्वक है। कुन्दकुन्द स्वामी सामायिक उसे कहते हैं जो बिल्कुल मौन होती है। वचनपूर्वक प्रतिक्रमण, वचनपूर्वक प्रत्याख्यान, वचनपूर्वक आलोचना, वचनपूर्वक नियम ये सभी स्वाध्याय हैं निश्चय से। यदि मुखपूर्वक वृत्ति चल रही है तो व्यवहार से भी स्वाध्याय है। सामायिक के काल में पाठ कर रहे हैं, ग्रन्थ नहीं, सामान्य पाठ को भी उन्होंने स्वाध्याय में ले लिया है। सर्वार्थसिद्धि, नियमसार आदि ग्रन्थ में एकीमुख (एकाग्र होना) स्वाध्याय कहा गया है। आप कितने भी धीरे बोलो, स्वयं की भी और दूसरों को भी चित्त की एकाग्रता भंग होती है। इसलिए सब स्वाध्याय में रख दिया जितने वचन के व्यापार हैं। जब तक अपन को ज्ञान नहीं होता, तब तक लगता है कि हम ठीक कर रहे हैं।

भो ज्ञानी ! द्वेष परिणामों को हर व्यक्ति संक्लेशता कहता है। बोलता है संक्लेश भाव आ गये। आप बहुत खुश हो रहे हो, ये संक्लेश भाव है या नहीं ? व्यक्ति ने रोने को, दु:खित होने को क्लेश माना है, पर प्रसन्न होने को क्लेश नहीं मानता, जबकि वो भी क्लेश है। दु:खित होना तो क्लेश है ही, प्रसन्न होना भी क्लेश है। क्योंकि जहाँ दु:खित हो रहा है, वहाँ

द्वेष लग रहा है और जहाँ प्रसन्न हो रहा है, वहाँ राग लग रहा है। जहाँ राग/द्वेष हो, उसका नाम क्लेश है। हास्य भी एक कषाय है। जहाँ कषाय है, काषायिक भाव हो, काषायिक परिणति हो, सब क्लेश है। प्रसन्नता भिन्न है, अह्लाद भिन्न है। भक्ति में अह्लाद होता है, प्रसाद होता है। प्रसादभाव सम्यग्दृष्टि जीव का लक्षण है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा। संक्लेश परिणाम होने पर सामायिक की स्थिति नहीं बनेगी। आपको मनपसंद व्यक्ति मिल गया, मनपसंद वस्तु मिल गई, किसी ने पूछा 'कैसा चल रहा है ?' बोले, 'बहुत प्रसन्न हूँ।' जबकि आप प्रसन्न नहीं हो, राग कषाय से समाविष्ट हो। वो राग कषाय हट जायेगी तो आपको इष्ट-अनिष्ट सामने दिखेंगे। जहाँ रागभाव है, वहाँ आपको कुछ इष्ट नजर आयेंगे, कुछ अनिष्ट नजर आयेंगे। वो जब तक रहेंगे तब तक न सामायिक है, न समता है। वहाँ तो वचनपूर्वक स्वाध्याय भी नहीं है। वचनपूर्वक स्वाध्याय भी वहीं होता है जहाँ स्वबोध होता है। अंतरंग की ओर जाता है। इसके बिना नियम की पूर्ति हो सकती है, लोकदृष्टि हो सकती है, परन्तु अंतरंग दृष्टि में तो अह्लाद ही होगा, वो स्वाध्याय है।

भो ज्ञानी! वचनपूर्वक जितना व्यापार है, वो आपका अंतरंग भाव नहीं है, वह तो बाह्य परिणति है। सात प्रकार के प्रतिक्रमण कहे गये हैं। देवसिक, रात्रिक, ईर्यापथ, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक, उत्तमार्थ। उत्तमार्थ प्रतिक्रमण अंतिम प्रतिक्रमण होता है। जब सल्लेखना में आरूढ़ होता है, उस समय जिनालय, उद्यान आदि प्रशस्त/निर्मल प्रदेश पर सल्लेखना कराने के पूर्व उत्तमार्थ प्रतिक्रमण होता है। जीवनभर में जो भी गलती हुई हो, उस दिन पूरा प्रायश्चित्त होता है, वो उत्तमार्थ प्रतिक्रमण होता है। खंण्डहर में, जहाँ कौये आवाज कर रहे हों, कबूतर घूम रहे हों, ऐसे शुष्क प्रदेश में निर्यापकाचार्य को उत्तमार्थ प्रतिक्रमण नहीं कराना चाहिए। साधक की सल्लेखना निर्मल हो, इस दृष्टि से श्रेष्ठ स्थान चुनना चाहिए। भावों की निर्मलता का क्षेत्र होना चाहिए।

आपने किसी आगम में नहीं पढ़ा होगा कि श्मशान घाट पर स्वाध्याय करना चाहिए। ध्यान करने, सामायिक करने का कथन तो आता है। स्वाध्याय के लिए श्मशान घाट नहीं, प्रशस्त स्थान चाहिए, क्योंकि जिनवाणी का उच्चारण होगा, द्रव्यश्रुत की अविनय होगी, क्षेत्र शुद्धि नहीं होगी। आप कोई तंत्र सिद्धि नहीं कर रहे हो, आत्मसिद्धि कर रहे हो। णमोकार मंत्र भी श्मशान घाट पर मन में ही पढ़े। आगम में सात जगह मौन रहने का उल्लेख आता है। उसका उद्देश्य मात्र इतना ही है कि द्रव्यक्षुत की अविनय न हो जाय। भोजन करते समय

बात करना, बुलाना भाषावर्गणा ही है। किसी भाषा का शब्द होगा और जो शब्द है, सब द्रव्यश्रुत है।

जो आचार्य सल्लेखना कराते हैं, वे निर्यापकाचार्य कहलाते हैं। जो प्रतिक्रमण आदि का बोध कराते हैं, उन्हें भी निर्यापकाचार्य कहते हैं। 'आपका प्रतिक्रमण हुआ या नहीं ? चलो, प्रतिक्रमण करें।' आगम का मार्ग यही है कि पचासों साधु भी क्यों न हों, षट् आवश्यक कर्तव्य एक स्थान पर करने का आदेश है। अलग-अलग करने का आदेश नहीं है। एक स्थान पर ही आप सब क्रिया करेंगे। हो सकता है कि किसी को प्रमाद सता रहा हो, अकेला होगा तो छोड़ भी सकता है। सबके साथ होगा तो एकसाथ करेगा। इसलिए 'निर्यापकाचार्य' शब्द दिया है। निश्चयनय की अपेक्षा से वीतराग निर्विकल्प ध्यान में स्थित साधु के लिए वचनरूप क्रियाएँ ग्राह्य नहीं हैं। जब तक ये क्रियायें हैं, तब तक सब स्वाध्यायरूप ही हैं।

मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां सर्वदातः समस्तां
निर्वाणश्रीस्तनभरयुगाश्लेषसौख्यस्पृहाढ्यः।
नित्यानंदाद्यतुलमहिमाधारके स्वस्वरूपे
स्थित्वा सर्वं तृणमिव जगज्जालमेको ददर्श॥263 कलश॥

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव निजात्मध्यानी साधु का स्वरूप कहते हैं। हे भव्यो! तुम सम्पूर्ण वचन-रचना को हमेशा के लिए छोड़ दो यदि निर्वाण स्त्री के पुष्ट स्तन युगल के आलिंगन के सुख को चाहते हो तो। नित्यानंद आदि अतुल महिमा के धारक ऐसे अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ। इस लोक के सम्पूर्ण जगत्जाल को तृण के समान देखो। तृण, उसमें आग लग गई, प्रकाश दिखा, नष्ट हो गया। तृण पर पड़ी ओस की बूंद को सूखने में समय लगता है, पर आयु की बूंद नष्ट होने में समय नहीं लगता। आपके देखते-देखते कितने जीव आये और चले गये। कोई बताने भी नहीं आता कि हम यहाँ पर हैं। युद्ध में जीव लड़ रहा है, मृत्यु को प्राप्त होने पर युद्धभूमि से योद्धाओं के शरीर को उनके पक्ष वाले उठा ले जाते हैं। संस्कार भी करते हैं, सम्मान भी देते हैं। ये बताओ, सम्मान किसका हो रहा है? जो सम्मानीय था, वो चला गया और जिसका सम्मान हो रहा है, वह सम्मानीय नहीं है।

भो ज्ञानी! पिता की मृत्यु हो गई तो बढ़िया विमान बनाया जा रहा है, सजाया जा रहा है, सिक्के बरसाये जा रहे हैं। संसार की माया विचित्र है। जब जी रहे थे तो आपसे 50 पैसे मांगे थे, आपने मना कर दिया था। जब जी रहे थे तो फटे कपड़े में रखे थे, अब नया कपड़ा

लेकर आ रहे हो। इससे लगता है कि मरना ही अच्छा है क्योंकि अच्छा सम्मान होता है, मंदिर में वेदियाँ, धर्मशाला में कमरे बनवाये जाते हैं। इतना सब देखकर भी वैराग्य नहीं होता। मरना ही है तो शान्ति के साथ समाधिपूर्वक मरो।

भो ज्ञानी! जो त्रैकालिक चैतन्य आत्मा थी, उसको छोड़कर पुद्‌गल को त्रैकालिक द्रव्य मान बैठा है। वो त्रैकालिक अध्रुव पर्याय तुझे दिख जाये तो त्रैकालिक ध्रुव परमात्मा तुझे दिखने लग जाये। त्रैकालिक अध्रुव पर्याय पर दृष्टि नहीं जा रही है, उस पर्याय को ही त्रैकालिक ध्रुव जान रहा है। कहता जरूर है कि मैं ज्ञाता-दृष्टा, चिन्मय, चेतन स्वरूप हूँ, पर से मैं पृथक् हूँ, भिन्न हूँ; लेकिन ये सब कहने की बात है। लगता है कि राग की दृष्टि बड़ी विचित्र है, वह सबकुछ भुला देती है। उसी में जीव आनंद मनाता है। सामने नहीं दिखे तो द्वेष, सामने दिख गये तो राग, चले गये तो क्या बचा? न राग न द्वेष। अच्छा बताओ, द्वेष शरीर के प्रति था? यदि कोई तुम्हें शत्रु का मुर्दा शरीर पकड़ा दे तो पकड़ लोगे क्या? बोले, 'नहीं। अब इससे क्या शत्रुता?' भैया! जिससे शत्रुता थी, वो तो मरा ही नहीं, पकड़ लो उसे जाकर। अतः भैया! नवीन कर्म बन्ध मत करो। विवेक से चिन्तन करो। यही स्वाध्याय का सार है।

परियट्ठणा य वायण पडिच्छणाणु पेहणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होदि सज्झाओ॥ 455 मूलाचार॥

आचार्य महाराज पांच प्रकार के स्वाध्याय बता रहे हैं। परिवर्तन अर्थात् पढ़े हुए को बार-बार दुहराना। वाचना अर्थात् शास्त्र पढ़ना। पृच्छना अर्थात् पूछना। अनुप्रेक्षा अर्थात् बार-बार चिन्तन करना। धर्मकथा अर्थात् त्रेसठ शलाकापुरुषों के चरित्र को पढ़ना या उपदेश देना। आपको ग्रन्थ आदि न मिले तो प्रभु के चरणों में खड़े होकर स्तुति पढ़ना स्वाध्याय है। मंगलाचरण पढ़ना 'स्वाध्याय' है। अगर कुछ न बने तो णमोकार मंत्र की माला फेरना भी 'स्वाध्याय' है। वह भी नहीं बने तो 'ऊँ ऊँ' का जाप कर लेना, वह भी स्वाध्याय है। स्वाध्याय को परम तप इसलिए कहा है कि शेष तप करने की सामर्थ्य तो छूट जाती है, पर स्वाध्याय करने की सामर्थ्य रही आती है। अंतिम समय में ऊँ का जाप करते रहोगे तो अंतिम स्वाध्याय के साथ तुम्हारे प्राण निकल जायेंगे। अतः ग्रन्थ पढ़ना, जाप देना, सब स्वाध्याय है। वह कर्मनिर्जरा करायेगा। वचनपूर्वक प्रतिक्रमण, वचनपूर्वक प्रत्याख्यान, वचनपूर्वक नियम आदि, वे सब-के-सब स्वाध्याय हैं। आलोचना आदि भी स्वाध्याय के अन्तर्गत आते हैं। स्वाध्याय कर्मनिर्जरा का हेतु है। असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा स्वाध्याय से होती है।

भो ज्ञानी! जब कोई जीव आपको दु:खित दिखे, मिथ्यात्व में जा रहा हो, उसको समझाना 'भैया! राजमार्ग यह है। तुम धर्म मत छोड़ो।' तुम्हारा धर्म-उपदेश स्वाध्याय है। आवश्यक नहीं कि मंच लगेगा तब स्वाध्याय होगा। एक व्यक्ति को भी आपने समझा दिया तो आपका धर्मोपदेश स्वाध्याय हो गया। आप मार्ग में जा रहे थे, साथ वाले को पौराणिक कथा सुना दी, आपका समय अच्छा कट गया। आप जिह्वा-रथ पर बैठकर मार्ग में तत्त्व की रोचक चर्चा कर रहे हो तो आपका मार्ग भी तय हो गया और आपकी धर्मकथा भी हो गई। स्वाध्याय भी हो गया और अशुभ प्रवृत्ति से भी बच गये।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 154

उत्थानिका : शक्ति अनुसार ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करो।

गाथा : जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जो जदि, सद्दहणं चेव कादव्वं॥ 154॥

संस्कृत छाया : यदि शक्यते कर्तुं अहो प्रतिक्रमणादिकं करोषि ध्यानमयम्।
शक्तिविहीनो यावद्यदि श्रद्धानं चैव कर्तव्यम्॥ 154॥

अन्वयार्थ : (यदि कर्तुम् शक्यते) यदि करना शक्य हो सके तो (अहो) अहो साधु! (ध्यानमयम्) ध्यानमय (प्रतिक्रमणादिकं) प्रतिक्रमण आदि (करोषि) करो (यदि शक्तिविहीनः) यदि शक्ति हीन हो तो (यावत् श्रद्धानं च एव) तब तक श्रद्धान को ही (कर्तव्यं) करना चाहिए।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! कुन्दकुन्दस्वामी ने निश्चय परम आवश्यक अधिकार में ऐसा कथन किया कि वचनपूर्वक की गई सभी प्रवृत्ति स्वाध्याय है। वह स्वाध्याय निश्चय व व्यवहार की दृष्टि से दो प्रकार का है। स्वरूपलीनता निश्चय स्वाध्याय है। ग्रन्थ वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मोपदेश व्यवहार स्वाध्याय है। आत्मलीनता भावश्रुत है और बाकी सब द्रव्यश्रुत है। भावना भावश्रुत नहीं है। शुद्धोपयोग की दशा ही वास्तव में भावश्रुत है।

आजकल कुछ जीव जो आगम को उथले-उथले जान रहे हैं, वे चौथे गुणस्थान में अपने आपको श्रुतकेवली मानते हैं। वे 'समयसार' की गाथा संख्या 9 एवं 10 का उदाहरण देते हैं, जबकि वहाँ स्पष्ट लिखा है–

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा॥ 9 स. सार॥

समयसार ग्रन्थ में बार बार नहीं कहा जायेगा कि मैं सप्तम गुणस्थान को कह रहा हूँ, मैं चौथे गुणस्थान की बात नहीं कर रहा हूँ। समयसार की दूसरी गाथा में लिखा है कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है, वह स्वसमय है। समयसार का विषय ही स्वसमय का विषय

है। जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित नहीं है, वह परसमय है। परसमय का विषय समयसार में नहीं है। स्वसमय में लीन जीव की चर्चा है। आचार्य जयसेन महाराज ने उसको स्पष्ट कर दिया है। शिष्य ने प्रश्न किया कि भगवन्! आज पंचमकाल में भी श्रुतकेवली होना चाहिए? उन्होंने कहा जैसा पूर्व में पूर्वाधिकार का ज्ञान था वैसा आज नहीं है। जैसा शुक्लध्यान होता था, वैसा आज नहीं है। इसलिए पंचमकाल में वर्तमान में श्रुतकेवली नहीं हैं।

अध्यात्मशास्त्रों में यह कथन नहीं किया जाता है कि किसके लिए कथन कर रहे हैं। मूलग्रन्थ में कहीं नहीं मिलेगा। समयसार जी में कहीं नहीं मिलेगा कि ये श्रावक की अपेक्षा से या मुनि की अपेक्षा से कथन है। टीकाकार यह लिखते हैं। एक सज्जन आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज के पास आये और बोले, 'कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' में यह कहाँ लिखा है कि यह मुनियों के लिये है?' आचार्य महाराज बोले, 'टीकाकार को भी समझ लो।' पुनः बोले, 'मूल में कहाँ कहा है? मूल में तो वह सीधा कह रहे हैं आत्मा को जानो, आत्मा में लीन हो तो स्वसमय है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित रहो। पुनः बोले, 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ। मेरा ज्ञान सम्यक् है। सम्यक् आचरण/चारित्र है तो स्वसमय हो गया।' आचार्य श्री बोले, 'सम्यक्त्व अपेक्षा स्वसमय हो और श्रुतरूप की अपेक्षा स्वसमय में नहीं हो। सम्यक्त्व अपेक्षा मिथ्यात्व है परसमय और सम्यक्त्व स्वसमय माना जाता है। लेकिन जैसी स्वानुभूति अभेदरत्नत्रय की होती है वैसी आप मान लोगे तो सब गड़बड़ हो जायेगा।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव वर्तमान में स्वसमयलीनता को स्वीकारते ही नहीं हैं। ये तो सभी मानते हैं कि वर्तमान में शुक्लध्यान होता नहीं, पर शुक्लध्यान का ध्यान करने में कोई दोष नहीं है। आगम ज्ञात तो करना चाहिए। आज केवलज्ञान चाहिए। ज्ञान करने से श्रद्धान बढ़ता है। सम्यक् को दृढ़ करने के लिए आगमग्रन्थ हैं। आगमग्रन्थों में जो लिखा है, वो सत्य नहीं है, ऐसा मत कह देना। श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए आगम का अध्ययन तो करना, लेकिन आगम में जो-जो लिखा है, वो सब अपने ऊपर घटित मत कर लेना अन्यथा आपको 14वां गुणस्थानवर्ती भगवान कहना पड़ेगा। आगम में जो लिखा है, वो यथार्थ है।

आज श्रावक श्रद्धान तो बना नहीं पा रहे हैं और अनुभूति की बातें कर रहे हैं। देव-शास्त्र-गुरु पर तो विश्वास नहीं है, उनको हटा रहे हैं और कह रहे हैं कि हम शुद्धात्मा में जा रहे हैं। ये कोरी-कोरी बातें करोगे तो उपहास के पात्र बनोगे और होता ऐसा ही है। यहाँ

बड़ी लम्बी-लम्बी बातें कर रहे थे और चाट के ठेले पर खड़े थे।

भैया! धर्म के लिए मत करो, परन्तु कम-से-कम ऐसा करो कि धर्म की रक्षा हो जाए। आपने व्रत लिया है, तो 24 घण्टे तुम्हारे परिणाम निर्मल रहते हैं क्या ? जब तुम्हारे परिणाम खराब हुए, तभी व्रत तोड़ देते हो क्या ? व्रत मत तोड़ देना, प्रायश्चित ले लेना। लेकिन ऐसा मत कहना कि अब तो परिणाम चले ही गए, अब खा लेना चाहिए। अभी अतिक्रमण हुआ है, व्यतिक्रम नहीं हुआ है, अनाचार नहीं हुआ है, अभी तुम संभल जाओ। किसी अज्ञानी की बात में आ करके कि परिणाम तो हो ही गये हैं, अब खा लो, ज्ञानी! ऐसा मत करना। उससे आपका अहित तो होगा ही, चार लोगों के सामने आपने नियम लिया था तो धर्म की हँसी आपने कराई।

गाथा 154 में, आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी बिना लाग-लपेट के कह रहे हैं कि जितनी तुम्हारी सामर्थ्य है, प्रतिक्रमण आदि करना चाहिए। पूरी सामर्थ्य लगाकर निर्विकल्प ध्यान आदि में लगना चाहिए। शक्ति नहीं है तो ऐसा मत कहना कि अब होता नहीं है। ये कहना कि मुझमें शक्ति नहीं है। अपनी कोटि में सबको मत गिनना। मैं 10 उपवास नहीं कर सकता हूँ तो यह मत कह बैठना कि अब इस युग में कोई 10 उपवास नहीं कर सकता अथवा यह शंका मत कर बैठना कि छुपकर पानी आदि ले लेते होंगे। इतनी श्रद्धा तो बनाओ कि कोई मायाचारी नहीं करेगा। संयम की अवहेलना करना बहुत बड़ा मिथ्यात्व है। निर्विकल्प ध्यान में पहुँचने में बहुत ताकत लगती है। परिणाम यदि गलत रास्ते पर जा रहे हों तो आप शरीर को मत ले जाना, इतना तुम्हारा पुरुषार्थ चल जायेगा। परिणाम तुम्हारे बार-बार नहीं मान रहे हैं तो कहना कि तुम जाओ, हम नहीं जायेंगे। थोड़ा हठग्राही बनना पड़ेगा। तब ही परिणामों को अपने आप लौटना पड़ेगा। आप जा रहे थे, रास्ते में ठेले पर अमरूद रखे थे और मन में आ गया कि आज अमरूद खाना है, राह चलते अमरूद खाना है। यदि आज अमरूद का त्याग है तो अब वह विचार नहीं आयेंगे। यही उपाय है। यदि यह सोचकर बैठ गये कि अभी तो खा लो, बाद में परिणामों को सँभाल लेंगे, तो ये परिणाम कभी सँभलने वाले नहीं हैं। परिणाम नहीं सँभल रहे हैं तो माला फेरने लगो, जाप देने लगो, स्वाध्याय करने लगो। यदि परिणाम ज्यादा बिगड़ने लग जायें, तो चार व्यक्तियों के बीच पहुँच जाओ, बातें करने लगो। अति अशुभ में जा रहे हो तो उसमें किंचित अशुभ स्वीकार है। परिणाम बहुत कलुषित हो रहे हैं तो बेटों से दुकान की बात पूछ लेना। लोभ में बड़ी-बड़ी कषाय मंद हो जाती है। लाभ की बात में बड़े-बड़े दु:ख नष्ट हो जाते हैं। आगम में लिखा है कि अकुशल

भाव आ रहे हों तो अपने इष्ट का चिन्तन करो, उपयोग बदल जायेगा; पर असाता का बन्धा नहीं करना, अपने उपयोग को धर्म में बदल देना।

भैया! ध्यान के लिए बहुत ताकत लगती है, ज्ञान के लिए ताकत नहीं लगती। चिन्तन के लिए ताकत नहीं लगती। एक हजार उपवास और एक मुहूर्त के ध्यान में कर्मों की निर्जरा बराबर होती है। उपवास की अपेक्षा से ध्यान में सामर्थ्य ज्यादा होती है। पूजा में आप पढ़ते हो ''कीजे शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना श्रद्धा धरे'' शक्ति को छिपाओगे तो चोर कहलाओगे। मुनिमहाराज बनने की सामर्थ्य है और आप नहीं बन रहे हो, तो अपने वीर्य की चोरी कर रहे हो, अपनी शक्ति पर डाका डाल रहे हो, उसको पर में व्यय कर रहे हो। शक्ति नहीं है तो ज्यादा मत करना, नहीं-तो संक्लेशता बढ़ेगी। संक्लेशता होगी तो कर्म का बन्ध होगा, कर्म हानि की जगह वृद्धि होगी। इसलिए जितनी शक्ति है उतना करो। जैनदर्शन जबरदस्ती नहीं करता।

भो ज्ञानी! पहले ताकत श्रद्धा में लगती है, फिर ध्यान में लगती है। दुनियाँ में रहकर दुनियाँ से हटकर बैठ पाना, उसका नाम ध्यान है। सबके बीच में रहकर, सबसे भिन्न अपने आपको स्वीकार करे श्रद्धा में लाना सम्यक्त्व है। सिगड़ी रखी जा रही है, फिर भी हिल नहीं रहे हैं, इसका नाम ध्यान है। शुद्धनिश्चय धर्म्यध्यान रूप प्रतिक्रमण आदि ही करना चाहिए। मुक्ति-सुन्दरी को देखो, आनंद तो वास्तव में प्रथम दर्शन में ही आता है। जब डोली से बहू उतरती है, तो लोग पैसा देकर बहू का चेहरा देखते हैं। अहो ज्ञानी! यदि सुन्दरी का चेहरा देखना है तो मोह के परदे को हटाओ, निज सुन्दरी दिखेगी। आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि प्रथम दर्शन में आनंद है, द्वितीय दर्शन में अनुभव होगा। सम्यक् प्रकट होते ही उसकी संज्ञा अपूर्वकरण दी है, क्योंकि जैसा अपूर्व आनंद प्रथम में होता है, द्वितीय क्षण में वह नहीं होता है। भेद स्वरूप ऐसे निश्चय प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त और प्रत्याख्यान प्रमुख शुद्धनिश्चय क्रिया ही करना चाहिए यदि संहनन शक्ति का प्रादुर्भाव है तो। ऐसे शार्दूल स्वरूप श्रेष्ठ मुनि जिन्होंने निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय ध्यान, निश्चय सामायिक को प्राप्त कर लिया है, मुख से परमागम का शुद्धात्म रस का मकरंद टपक रहा है, जिन्होंने सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़ दिया है, एकमात्र शरीर ही जिनका परिग्रह बचा है। कहाँ के चेला-चेली आदि ? सबको छोड़ दिया है। जिन्होंने अपने शरीर को ही परिग्रह मान लिया है, उनके लिए कह रहे हैं। यदि इस दग्धकालरूप पंचमकालरूप कलिकाल में तू शक्तिहीन है। ऐसा शक्तिहीन शरीर मिला है कि

पर्वतों पर नहीं बैठ पा रहे हैं, उत्कृष्ट ध्यान नहीं हो रहा है, लेकिन निज परमार्थ तत्त्व के प्रति जो स्वरूप है, उस पर श्रद्धान कर।

भो ज्ञानी! वर्तमान में परमशुद्ध दशा की प्राप्ति नहीं होती, पर यह नहीं है कि पंचमकाल में मुनि नहीं होते। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि इस दग्धपंचमकाल में हम हैं, लेकिन वह अनुभूति नहीं है, इसलिए हमें परमागम की श्रद्धा करना चाहिए।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 155 कलश 264

उत्थानिका : साक्षात् अंतर्मुख हुये योगी को शिक्षा दे रहे हैं

गाथा : जिणकहियपरमसुत्ते, पडिकमणादिय परीक्खदूण फुडं।
मोणव्वदेण जोदे णियकज्जं साहदे णिच्चं॥

संस्कृत छाया : जिनकथितपरमसूत्रे प्रतिक्रमणादिकं परीक्ष्य स्फुटम्।
मौनव्रतेन योगी निजकार्यं साधयेन्नित्यम्॥155॥

अन्वयार्थ : (जिकथितपरमसूत्रे) जिनकथित परमसूत्र में (प्रतिक्रमणादि) प्रतिक्रमण आदि की (स्फुटं परीक्ष्य) प्रगटरूप से परीक्षा करके (योगी मौन व्रतेन) योगी मौनव्रतपूर्वक (निजकार्यं नित्यं) निज कार्य को नित्य ही (साधयेत्) सिद्ध करे।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार में परम आवश्यक अधिकार की गाथा संख्या 154 में संकेत दिया कि यदि सामर्थ्य है तो निश्चय शुद्धरूप प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, ध्यान आदि करें। यदि सामर्थ्य नहीं है, शक्ति से विहीन है, तो श्रद्धान करे। जिसमें सामर्थ्य नहीं है जिस कारण संयम का उत्कृष्ट पालन नहीं कर पा रहा है, वह तो मोक्षमार्गी है; लेकिन जो पालन भी नहीं कर पा रहा है और श्रद्धान भी नहीं कर पा रहा है, वो संसारमार्गी है। शक्ति है तो करो और शक्ति नहीं है तो श्रद्धान करो। श्रद्धावान जो जीव है, वह भी अजर-अमर पद को प्राप्त कर लेता है। जो श्रद्धावान होगा, वह नियम से अर्द्धपुद्गल परावर्त्तन के अंदर-अंदर मोक्ष चला जायेगा। ध्यान चित्त की एकाग्रता है। भूत में हुये दोषों का निराकरण, वो प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमणपूर्वक ध्यान, ध्यानपूर्वक प्रतिक्रमण नहीं। जिसको ध्यान हो गया, उसे प्रतिक्रमण का विकल्प कहाँ? जब तक दोषों का निराकरण नहीं होगा, तक-तक ध्यान नहीं होगा।

भो ज्ञानी! साधु की चर्या निश्चित होती है। ऐसा नहीं है कि कभी भी सामायिक करने बैठ जाओ, कभी भी ध्यान करने बैठ जाओ। पहले स्वाध्याय करो, स्वाध्याय के उपरान्त प्रतिक्रमण। स्वाध्याय से यह महसूस होगा कि ये दोष मेरे अंदर हैं, फिर उन

दोषों के निराकरण के लिये प्रतिक्रमण किया, इसके उपरान्त साधु सामायिक करने बैठते हैं।

भो ज्ञानी! यहाँ प्रतिक्रमण से तात्पर्य शुद्धोपयोग है। यहाँ व्यवहार की चर्चा नहीं है, निश्चय की चर्चा है। इस दग्धकाल पंचमकाल में निज परमात्मतत्त्व पर श्रद्धान करना चाहिये, क्योंकि इस काल में परमशुद्ध अवस्था की प्राप्ति बहुत कठिन है, ऐसा आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव का अभिप्राय है, उसी बात को कलश में कह रहे हैं।

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
न मुक्तिमार्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधिया
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम्॥कलश 264॥

इस असार संसार में, ये पाप बहुल पंचमकाल है, जिसमें लोगों के परिणाम ऋजु तो बहुत कम होते हैं, कठोर-ही-कठोर दिखते हैं। कलुषित भाव हैं, परिणाम कलुषित आते हैं, इस कारण आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि धर्म-आराधना करते-करते वहाँ बीच में मेरा-तेरा झलकता है। अब बताओ, धर्म्यध्यान कितना है और आर्त्त रौद्रध्यान कितना है? ऐसा मत मान बैठना कि हम मंदिर जी में आकर बैठ गये तो धर्म्यध्यान में आ गये। यदि मंदिर जी में बैठकर धर्म्यध्यान होता है, तो मंदिर में बहुत सारे चूहे घूमते हैं, बिल्ली, सर्प आदि घूमते हैं, इन सबको धर्म्यध्यान मानना पड़ेगा। 'सम्मेदशिखर तीर्थ में तो सभी मोक्ष चले जायेंगे।' ये ध्यान रखना कि धर्मक्षेत्र में आने से धर्म नहीं हो जाता है। जहाँ धर्मात्मा होते हैं, वह क्षेत्र धर्मक्षेत्र बन जाता है। पहले तीर्थ बने कि तीर्थभूत आत्मा पहले पहुँचे? जो रत्नत्रय से मंडित आत्मा थी, वो तीर्थ थी, उस तीर्थभूत आत्मा के जहाँ संस्कार हुये हैं, सो वह भूमि तीर्थ कहलाने लगी। तीर्थंकर भगवान् के जब तक पंचकल्याणक नहीं होते हैं तब-तक वह सामान्य स्थान रहता है। कल्याणक के बाद वह तीर्थ हो जाता है।

भो ज्ञानी! कुछ लोग सोचते हैं कि हम तो धर्म के लिये कषाय कर रहे हैं। लेकिन ये ध्यान रखना, अग्नि चाहे चंदन की हो, चाहे नीम की, काम दोनों का एक ही होता है, जलाना। इसी प्रकार से यदि किसी धर्मस्थान में कषाय आ रही है तो जितने अंश में तुम्हारी कषाय चल रही है, उसमें आपका अहित तो निश्चित है। दण्डक राजा ने

500 मुनियों को घानी में पेल दिया। वहाँ से एक मुनिराज निकले तो श्रावक हाथ जोड़कर खड़ा हो गया, बोला, आप इस स्थान से विहार न करें। मुनिराज ने पूछा, क्यों? बोला, प्रभु! यहाँ के राजा ने 500 मुनियों को घानी में पेल दिया है। ऐसा सुनकर उनका वात्सल्य भाव उमड़ा कि ओहो! 500 मुनिराज घानी में पेल दिये? अशुभ भाव तो नहीं था, लेकिन द्वितीय क्षण में तीव्र क्रोध आ गया, अशुभ तेजस पुतला निकला और दण्डक नगर को जलाकर खाक कर दिया और वापस आकर उनको भी जला दिया। उनको गुस्सा क्यों आया था? धर्म के निमित्त से आया था, फिर भी धर्म नहीं रहा, गुणस्थान गिरा, गति बिगड़ी। ये ध्यान रखना कि राग की तीव्रता में विवेक नहीं रहता है। उसे आप दोषी मत कहना, क्योंकि दोष कषाय का था और कषाय के आवेग में जीव विवेक खो देता है। 500 मुनिराज तो सल्लेखना करके, जैसी जिसकी परिणति थी, स्वर्गादि गये, उनकी शुभ गति हुई; परन्तु जिनके मन में उनके प्रति वात्सल्य आया, बचाने के भाव हुये, उनके परिणाम बिगड़े, गति बिगड़ी। अतः ध्यान रखना, धर्मस्थान धर्म नहीं है। वे आयतन हैं और आयतन धर्म हो जायेंगे तो मोक्षपुरुषार्थ निरर्थक हो जायेगा।

भो ज्ञानी! चाहे भवन में बैठो चाहे वन में बैठो, लेकिन स्वदृष्टि नहीं है तो कुछ नहीं होने वाला है। संसार असार है, कलिकाल चल रहा है, इसलिए जितना सँभलकर चल सकते हो, चलो। इस संसार में तुम सबको खुश नहीं कर पाओगे और सबके साथ खुश नहीं रह पाओगे। सबको अपने मन के अनुसार चला नहीं पाओगे और चलाने का पुरुषार्थ करना अज्ञानता ही होगी। सभी जीवों का क्षयोपशम अपना-अपना है। अपने परिणाम कलुषित करना हो तो सुधारो सबको।

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

आपके गृहस्थान आदि में कोई दोष हो गया, पाप हो गया, कषाय भाव आ गया, तो पुण्यक्षेत्र में कम कर लेते हो। परन्तु पुण्यक्षेत्र में किया हुआ पाप वज्रलेप के समान होता है। निधत्ति निकाचित कर्म का बन्ध पुण्यक्षेत्र में ही होता है। पुण्यक्षेत्र अर्थात् देव, शास्त्र, पंचपरमेष्ठी, नवदेवता आदि का स्थान। इसी कारिका को दूसरी दृष्टि से कहा गया है।

अन्य लिङ्गेन कृतं पापं, जिनलिङ्गेन विनश्यति।
जिनलिङ्गेन कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति॥

किसी जीव ने अन्य भेष में पाप किया है तो जिनलिंग में उसको नष्ट कर दिया जाता है और कहीं जिनलिंग से पाप हो गया तो वज्रलेप हो जाता है। ये दृष्टि श्रावक, साधु दोनों के लिये आचार्यों ने कही है। आप धर्मक्षेत्र में गये हो, मन नहीं लगे तो दर्शन करके निकल जाओ, लेकिन वहाँ बैठे-बैठे कलुषित भाव मत करना, क्योंकि वहाँ कलुषित भाव करोगे तो वज्रलेप होगा।

भो ज्ञानी! तीव्र भाव से, मंद भाव से, ज्ञात भाव से, अज्ञात भाव से, शक्ति विशेष से कर्म का आस्रव-बंध होता है उसमें कोई रिश्ता, नाता, सम्बन्ध नहीं चलेगा। जिसको होगा, उसी को होगा और जितने अंश में कषाय होगी, लेश्या होगी, वैसा बन्ध होगा। विशुद्धि अंश होंगे तो वैसा होगा। इसलिए सँभलने की आवश्यकता प्रतिक्षण है। आचार्य महाराज ने शुद्धात्मतत्त्व की दशा का स्पष्ट निषेध कर दिया है। वो तो आपको हो नहीं रहा है, श्रद्धान मात्र है और वो भी गड़बड़ हो गया तो चारों तरफ से गये।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं कि काल कलि है, विलासी है। आप धर्मात्मा दिखते हैं, पर अंतरंग में विलासता बहुत है और पाप की बहुलता है। पंचमकाल में मोक्ष नहीं होता, साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है। यह पापरूप दोषरूप काल है। जिनेन्द्रदेव को भी इस पंचमकाल में मोक्ष नहीं होता है, सामान्य लोगों की बात तो छोड़ दो। पंचमकाल में साक्षात् तीर्थंकर भी होते तो उनका भी मोक्ष नहीं होता, क्योंकि ये काल ही दग्ध काल है। वैसे भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में पंचमकाल में तीर्थंकर होते नहीं हैं, इसलिए इस काल में अध्यात्म ध्यान नहीं होता है। निर्मल बुद्धि से होने वाला निर्मलध्यान पंचमकाल में नहीं होता है। इसलिए भव के भव को हरने वाला निज आत्मश्रद्धान जो स्वीकृत है, उसे स्वीकार करो। जो श्रद्धा है, उसकी ही श्रद्धा करो, क्योंकि श्रद्धा भी चली गई तो कुछ नहीं बचेगा। किसी गरीब को एक माह का वेतन मिला 1000 रुपये। उसमें भी इतना मन चला कि ये शौक करना है, सब शौक कर लिये, अब क्या बचा उसके पास? ऐसी-ही पंचमकाल की आत्माओ! आप गरीब हो। ऐसे दग्धकाल में भी आपको देव-शास्त्र-गुरु मिल गये और उसमें भी तुम्हें शौक चढ़े नाना प्रकार के और उन शौकों में तुम चले गये तो शौक-ही-शौक बचेगा, और-कुछ

नहीं होने वाला, क्योंकि ये पापबहुल काल है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव जब ग्रन्थ पर टीका लिख रहे होंगे तो उनको अपना आयुकर्म दिख रहा होगा। ऐसे दग्धकाल में जब निर्मल भाव हों और काल कम मिले, तो जीव को खिन्नता आती है। खूब भूख लगी हो, भोजन कम मिले, तो खिन्नता आती है। भोजन बहुत हो और भूख न लगे, तो भी खिन्नता आती है। दोनों बातें हैं। यही दशा जीव की है। उसे काल खोटा मिला, कभी भाव बने तो आयु नहीं बची। यदि आयु बची तो भाव नहीं बन रहे। अधिकतर ऐसा होता है कि जब आयु थी तब संयोग नहीं मिले, भाव नहीं बने और अब संयोग मिल रहे हैं, तो कह रहे हैं महाराज! अब फँस चुके हैं, अब कुछ बनता नहीं है। भैया! जितना बने उतना कर लो। जितनी शक्ति है उतना कर लो। जब समझ में आ गया है, तो अब समय मत निकालो। जब समझ नहीं आई थी तो जो समय निकल गया, निकल जाने दो। कुछ व्यक्ति समझकर भी नहीं समझना चाहते, क्योंकि समझ लेंगे तो छोड़ना पड़ेगा। किसे समझ में नहीं आ रहा है? महाराज! समझ में तो बहुत पहले आ गया था कि हमने संसार में फँस कर ठीक नहीं किया, लेकिन अब क्या करें? फँस ही गये। अरे भाई! कितना ही दुर्बल हाथी दलदल में फँसा हो, वह निकलने का प्रयास तो करता है। जो जानके लौटना नहीं चाहे, उसे लौटाया नहीं जा सकता।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 155 में कह रहे हैं, हे योगी! जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये परम शुद्ध सूत्र के अनुसार प्रतिक्रमण आदि की प्रकट रूप से मौनपूर्वक परीक्षा करो। आवश्यक क्रियाओं में बोलने से बचना चाहिये। पूजा आदि भी कर रहे हो तो स्थिर होकर करना चाहिये। ये नहीं कि ये डिब्बी इधर रखो, वो सामान उधर करो। आपको जो रखना हो पहले रख लो, फिर प्रतिज्ञाबद्ध हो जाओ कि जब-तक पूजा करूँगा अन्य कुछ नहीं करूँगा। धनंजय के पुत्र को, जिसको सर्प ने काट लिया था, पत्नि ने मंदिर में सामने लाकर रख दिया, लेकिन वे पूजा से नहीं हटे। पूजा करने के पश्चात् कहते हैं प्रभु! मुझे अपने बेटे की चिन्ता नहीं है, चिंता आपके शासन की है। लोग कहेंगे कि जिनेन्द्रभक्त की ये स्थिति? उसने गंधोदक लेकर पुत्र पर छींटा डाला तो पुत्र, जो सर्प के जहर से मूर्छित था वह, उठकर बैठ गया। जब कठोर श्रद्धा होगी, तभी भक्ति फलित होगी।

भो ज्ञानी! आचार्य महाराज कह रहे हैं कि अपने परिणामों की परीक्षा करो। जो तुमने प्रतिक्रमण पाठ किया है, वो परिणति से हुआ है या यूँ ही हुआ है? पाठ तो आपने कर लिया कि इतनी लाख योनियाँ, इतने कोटि जीव, इतने इसमें, और आपको खुजली उठी तो वहीं तुरन्त खुजा डाला। खुजली जीवाणु के होने से होती है। यदि जीवाणु नहीं होते तो खुजली नहीं होती है और आप कहते जा रहे थे 'एक इंद्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय आदि जीवों का हमसे जो विघात हुआ हो वो ''तस्स मिच्छामि मे दुक्कडं'' और इधर जीव मर गये हैं। कहना अलग विषय होता है। एक योगी को खुजली उठे तो उत्कृष्ट मार्ग यह है कि सहन करे। यदि सहन नहीं हो रहा है, तो खुजाना प्रारम्भ नहीं करें। पहले पिच्छी से मार्जन करे, फिर हल्के से सहलाये। दुष्टतापूर्वक क्रिया नहीं करें। पीड़ा सहन नहीं हो रही है, तो दुष्टवृत्ति से नहीं, सहजतापूर्वक धीरे-धीरे सहलाये। ये है प्रतिक्रमण का शोध, प्रतिक्रमण की परीक्षा। अन्यथा पाठ तो हो जायेगा, ठीक है, भो ज्ञानी! पर वो पाठ भी उनसे श्रेष्ठ है जो पाठ भी नहीं कर रहे हैं। जब तक पाठ करेंगे, तब-तक पाँच पापों से तो बचेंगे। द्रव्य प्रतिक्रमण भी भाव प्रतिक्रमण का हेतु बन जायेगा। जिन्होंने कहा कि मन नहीं लग रहा है, अब तो हमें नहीं करना है। जब मन लगेगा तब करेंगे। ज्ञानी! ऐसा नहीं। इसलिए मन न भी लगे तो भी करना। यदि कोई दिवालिया हो जाये तो भी दुकान मत बेचना, क्योंकि पुनः बैठ सकते हो। दुकानरहित हो गये तो फिर दर-दर फिरोगे। भावसंयम नहीं भी है, तो किसी अज्ञानी की बात में आकर द्रव्यसंयम मत छोड़ देना। द्रव्यसंयम तेरे पास रहेगा तो भाव संयम आते देर नहीं लगेगी। भावसंयम से गिर भी गया तो बदनामी नहीं होगी। द्रव्यसंयम साथ में छोड़ दिया तो तेरे द्वारा धर्म की हँसी होगी और तू भी कहीं का नहीं बचेगा।

भो ज्ञानी! भाव प्रतिक्रमण किसका हो रहा है, किसका नहीं हो रहा है, ये देखने कोई नहीं जाता। भावसंयम को मापने का मापदंड नहीं है। भावसंयम तो छोड़ो, द्रव्य संयम किससे मापोगे? चर्या से। कोई प्रथम गुणस्थान में बैठा है और पंडित जी आ गये सो माला फेर रहे, नापो चर्या से। चले गये, सो अपने काम में लगे हैं, नापो चर्या से। घर में वैसे बैठे रहते हैं और कोई बाहर का आ जाये तो कितने अच्छे से बैठ जाते हैं। घर में वैसे कपड़े पहने रहते हैं; बाहर जाये, मंदिर जाये, तो अच्छे पहन लेते हैं। हम कितने रूप बदलते रहते हैं। ये सब बाह्य हैं। स्वयं के लिये कितना कर रहे हो?

यह स्वयं को मालूम हो जाता है। ये स्वयं की परीक्षा चल रही है, ये स्वयं की परीक्षा है। स्वयं परीक्षक हो, स्वयं निरीक्षक हो, स्वयं विद्यार्थी हो, स्वयं परीक्षार्थी हो। अब आप परीक्षा करो, अंक स्वयं दो। अंक कैसे देना है? ऐसी विधि करो कि सुबह जागते से शुरू हो जाना। शौचक्रिया को गये 10 मिनट। मंजन, स्नान आदि किया1 घंटा। पेपर पढ़ने में 20 मिनट, मंदिर 20 मिनट, ऑफिस जाने की तैयारी आधा घंटा, आदि। इसी तरह 24 घंटे का चार्ट बनाना, फिर देखना कि स्वयं के लिये, देह के लिये, देह संबंध के लिये कितना समय दिया है। पूरा जीवन देह और देह-संबंध के लिये निकाला है, देही को नहीं-के-बराबर समय दिया है। अब विचारो, कितना समय शुभोपयोग में लगा है? शुद्धोपयोग की बात नहीं कर रहे हैं। मंदिर में भी विपरीत व्यक्ति दिख गया तो आर्त्त-रौद्रध्यान हो गया। अब सोचो हमने धर्म के लिये कितना समय दिया है? तब समझ में आयेगा कि हम कितने धर्मात्मा हैं। अभिषेक, पूजन करते समय किसी ने आपके मन का नहीं किया तो उसी समय आपने बरसना शुरू कर दिया, ऐसा नहीं कि बाहर में बाद में चर्चा कर लेते। यह नहीं समझ रहे हो कि किनके सामने कहाँ बरस रहे हैं। तीर्थंकर भगवन्त के अभिषेक के समय एक छोटा बालक साथ में पहुँचा। उससे धोके से कलश गिर गया। उससे तो पानी का कलश गिरा, परन्तु तुम्हारे समता का कलश गिर गया। ज्ञानियो! बहुत सँभलने की जरूरत है।

भो ज्ञानी! गुरु सबकुछ दे देंगे, पर अंदर के भावों की परीक्षा तो तुझे स्वयं ही करनी पड़ेगी। कोई किसी के मूर्ख कहने से मूर्ख नहीं हो जाता, पंडित कहने से पंडित नहीं हो जाता। वाणी से विद्वत्ता का पता चल जाता है। ध्यान रखना, किसी के कहने से कोई अज्ञ नहीं हो जाता, विज्ञ नहीं हो जाता। 363 मत हैं, सभी भगवान् महावीर को नहीं मानते हैं। उनके नहीं मानने से भगवान् महावीर मिट नहीं रहे हैं। कोई किसी को भगवान् कहने लग जाये तो वह भगवान् नहीं हो जाता।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि आप अपने परिणामों की परीक्षा कर लो। जो मैं कथन कर रहा हूँ, वह साक्षात् अरहंतदेव के मुखकमल से विनिर्गत है। ये अंतर्मुख योगियों के लिये कहा जा रहा है, उनको शिक्षा दी जा रही है। अरहंतदेव के मुख-कमल से निकले हुये समस्त पदार्थ जिसमें गर्भित हैं, ऐसे चतुर्वचनों से संदर्भित द्रव्यश्रुत में कही गई शुद्ध निश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमण आदि उत्तम

क्रिया को जानकर केवल स्वकार्य में तत्पर होते हैं, ऐसे परम योगीश्वर प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त वचन-रचना को छोड़कर, सर्व प्रकार के परिग्रहों के प्रसंगों को छोड़कर, एकीभूत होकर, मौन से युक्त होकर, समस्त अज्ञानीजनों के द्वारा निंदा किये जाने पर क्रोध नहीं करते हैं। कहनेवाला पशु के समान विवेकहीन अज्ञानी है, पर आप तो विवेकवान हो? इसलिये उसके वचनों को सुनकर अपने चेहरे पर शिकन नहीं लाना चाहिये। योगी को बिना क्षोभित हुये निर्वाण-सुन्दरी के सुख को प्रदान करने वाले निजकार्य की ही सदैव साधना करना चाहिये। भैया! तुम सच्चे कुशल व्यापारी बन जाना। जैसे कुशल व्यापारी ग्राहक की सब बात सहन कर लेता है। आज सामान देखकर कुछ नहीं ले जाये, पर फिर भी व्यापारी सोचता है कि झगड़ा करने से क्या फायदा? कल आयेगा तो ले जायेगा। इसी तरह जब-तक कुशल व्यापारी नहीं बनोगे, तो मोक्षमार्ग नहीं चल पायेगा। आपको अपना निज कार्य अर्थात् मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करना दिखना चाहिये।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 156 कलश 265, 266

उत्थानिका :वचनविषयक व्यापार के अभाव के हेतु का कथन

गाथा :णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥156॥

संस्कृत छाया :नानाजीवाः नानाकर्मः नानाविधा भवेल्लब्धिः।
तस्माद्वचनविवादः स्वपरसमयैर्वर्जनीयः॥156॥

अन्वयार्थ : (नानाजीवाः) नाना प्रकार के जीव हैं (नानाकर्मः) नाना प्रकार के कर्म हैं (नानाविध लब्धिः) और नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं (तस्मात्) इसलिए (स्वपर समयैः) स्व एवं पर समय यानि आगम में (वचनविवादः) वचन-विवाद (वर्जनीयः) वर्जित करना चाहिये।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रन्थराज नियमसार में परम निश्चय आवश्यक अधिकार में कथन करते हुये संकेत दे रहे हैं कि राजमार्ग यही है कि योगी निश्चय प्रतिक्रमण आदि ध्यान में लीन हो। यदि सामर्थ्य नहीं है तो श्रद्धा रखें। लेकिन इसके बाद भी कोई जीव आक्रोश आदि से युक्त होकरके अशुभवचन भी कह दे तो भी अपने साम्यभाव का त्याग न करें। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव आत्मतत्त्व की साधना का उपाय दो कलशों के माध्यम से बता रहे हैं। हे योगी! यदि संसार में सभी जीवों की प्रज्ञा समान होती तो फिर भेदभाव क्यों होता। उनका जैसा क्षयोपशम होगा, वैसी प्रज्ञा होगी। स्वर, यशकीर्ति, अपयश आदि सब नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं। लोग अच्छा बोलना चाहते हैं परन्तु अच्छा बुलता नहीं है। किसी का सुभग नामकर्म का उदय चल रहा है तो आपको उससे बात करने की इच्छा होती है। आचार्य महाराज यहाँ समझा रहे हैं कि हे योगी! संसार में विचरण करना, परन्तु संसार की परिणति को लेकर मत चलना, अन्यथा संस्सृति का अभाव नहीं होगा। इसलिए छोड़ दो।

हित्वा भीतिं पशुजनकृतां लौकिकीमात्मवेदी
शस्ताशस्तां वचनरचनां घोरसंसार कर्त्रीम्।

मुक्त्वा मोहं कनकरमणी-गोचरं चात्मनात्मा
स्वात्मन्येव स्थितिमविचलां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः ॥कलश 265॥

आत्मज्ञानी मुमुक्षु अज्ञानीजनों द्वारा की गई लौकिक भीति को तथा घोर संसार को करने वाली प्रशस्त और अप्रशस्तरूप वचन-रचना को छोड़ देता है। योगी को स्वसमय की अंतिम कसौटी सिखा रहे हैं। अब तो मार्ग में उपसर्ग कम होते हैं। चतुर्थ काल में उपसर्ग ज्यादा होते थे, क्योंकि एकलविहार की आज्ञा थी। अनियत विहार होते थे, श्रावक साथ में नहीं चलते थे। मध्यकाल में राजाश्रय बहुत ज्यादा हो चुका था। जिस दर्शन ने शासन को प्रभावित कर लिया, उसने अपने दर्शन का प्रचार किया और दूसरे दर्शन का ह्रास किया।

चतुर्थकाल में जंगलवास था, वहाँ कोई उपसर्ग करने आ गया तो बचानेवाला कौन था? भगवान महावीर जब पुरुरवा भील की पर्याय में थे, तो वह मुनिराज पर बाण छोड़ रहा था। अब बताओ, मुनिराज क्या करते? यदि विसंवाद करते तो परिणाम क्या होता? समाधि भंग थी और पर्याय नियम से बिगड़ती। इसी बात को आचार्यमहाराज कह रहे हैं पंचमकाल के साधुओं से, कि जो दुर्जन लोग हैं, पशु-जैसी वृत्ति जिनकी है, ऐसे लोगों के द्वारा यदि कोई उपसर्ग आदि किया जाता है, तो उनको छोड़ दो। जो प्रशस्त, अप्रशस्त वचन की रचना है, जो घोर संसार को करनेवाली है, उसको भी छोड़ दो। चतुर्थकाल में भी सबको एकलविहार और जंगलवास की अनुमति नहीं थी। अनुमति हेतु उत्तम संहनन के साथ आत्मबली, आगमबली, चिरदीक्षित, साधना-वृद्ध आदि भी होना चाहिये। मात्र उत्तम संहनन है, परन्तु आत्मबली, आगमबली आदि नहीं है, तो भी एकलविहार की अनुमति नहीं थी। पंचमकाल में पहले हेतु उत्तम संहनन का ही अभाव है। कोई उपसर्ग/परीषह आ जाये तो सहन नहीं कर पाओगे। अकेले में साधना भंग हो सकती है और शिथिलाचार भी बढ़ता है। एकलविहार में शिथिलाचार बढ़ता ही है। ऊपर कहे गुण होने पर एकलविहार की आज्ञा चतुर्थकाल के लिये है, पंचमकाल के लिये नहीं है। 'मूलाचार' में पंचमकाल के लिये यह लिखा है कि मेरा शत्रु भी क्यों न हो, तो-भी एकलविहार न करें। सब ग्रन्थों में एकलविहार का निषेध है। उस काल में एकलविहार होता था, किसी क्षेत्र में किसी ने उपद्रव कर दिया तो वहाँ शांति से खड़े रहे।

आगमबली से तात्पर्य जैनागम के तीव्रज्ञाता से है। श्रुत धर्म आगम से तात्पर्य चारों अनुयोगों के ज्ञाता से है, प्रकाण्ड विद्वान से है। किसी प्रकार का व्यक्ति आ सकता है। एक ने शास्त्रार्थ में ब्राह्मण को बता दिया कि तुम पूर्व में गीदड़ की पर्याय में थे। जब-तक आपको जैनागम का ज्ञान नहीं है तो किसी भी बाहरी व्यक्ति से प्रश्नोत्तर न करें, ये आगम की आज्ञा है, क्योंकि उसने आपसे तर्क सहित प्रश्न किया और आप उत्तर नहीं दे पाये तो जिनमुद्रा की हँसी होगी। आगम में निर्देश है कि जो श्रुतबली हैं, प्रश्नकर्त्ता को उनके पास ले जाओ और कहो कि हम भी साथ में चलते हैं। तीर्थंकर के समवसरण में वादी-प्रतिवादी मुनिराज अलग होते थे। एक संघ में हजारों मुनि रहते थे, उन सबकी व्यवस्थायें रहती थी, सबके कार्य अलग-अलग रहते थे। सभी काम सभी को नहीं दिये जाते थे। नहीं-तो संघ-व्यवस्था बिगड़ती एवं जिनशासन की अवहेलना भी हो सकती थी।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि जिनशासन की प्रभावना के लिये ये सब ठीक है, पर निज प्रभावना के लिये इन सबको भी छोड़ दो। प्रशस्त-अप्रशस्त वचन-रचना जो घोर संसार को करने वाली है, उसको छोड़ दो। सबसे ज्यादा राग कनक और कामिनी में जाता है क्योंकि इन दो के बल पर संसार चलता है। इनके राग को भी छोड़ दो। अपनी आत्मा में स्थित होकर योगी अविचलता को प्राप्त करता है, वही मुमुक्षु मुक्ति को प्राप्त करता है। आचार्यमहाराज कलश 266 में पुनः कह रहे हैं—

भीतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं
मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम्।
आत्मप्रवादकुशलः परमात्मवेदी
प्राप्नोति नित्यसुखदं निजतावमेकम्॥कलश 266॥

हे योगी! लौकिक भय को छोड़ दो। यह ध्यान रखना कि निर्भय नहीं बनोगे तो कभी सत्य नहीं बोल पाओगे। लालची बनोगे तो सत्य नहीं बोल पाओगे। किसी व्यक्ति से बंधोगे तो सत्य नहीं बोल पाओगे। क्रोध, लोभ, हास्य, भय आदि के कारण व्यक्ति झूठ बोल देता है। यह साधु को समझा रहे हैं। यहाँ यह सब सामग्री समाप्त हो चुकी है। चाहे कोई कितना भी जोर दे, साधु अनुवीचि भाषण करे अर्थात् शास्त्र के अनुसार बोले। पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने प्रथमानुयोग ग्रन्थों का अनुवाद किया है, लेकिन

एक भी शब्द अपने मन से नहीं लिखा है। हरिवंश पुराण, पद्मपुराण, महापुराण आदि में जैसा था, वैसी ही हिन्दी की है। 53 क्रियाओं का जहाँ कथन था वहाँ 53 क्रियाओं का ही कथन किया है। आचार्य जिनसेन ने जैसा लिखा है, वैसा उन्होंने लिखा। यदि वे अपने अनुसार लिखते तो अनिह्नवाचार का पालन नहीं होता। इसका पालन नहीं करने से ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म का आस्रव-बंध होता है। यदि दो पुराणों में विपरीत उल्लेख है तो भी आप अपना निर्णय मत देना। जैसे हरिवंश पुराण और पांडव पुराण में कीचक के नरक/स्वर्ग जाने का उल्लेख आता है। उत्तरवर्ती सिद्धान्त एवं दक्षिणवर्ती सिद्धान्त में भी थोड़ा अंतर है। सिद्धशिला उत्तान है कि अवतान है। कुछ चीजें ऐसी हैं कि हम आगम मानकर स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन सत्य यह है कि भगवान् महावीर की सत्यवाणी हम तक नहीं पहुँची। जिसको जैसा याद रहा, वैसा संकलन हुआ है।

भो ज्ञानी! 'न्यायकुमुदचंद्र' में प्रतिक्रमणत्रय की टीका में लिखा है कि भगवान् आदिनाथ के एवं भगवान् महावीर स्वामी के शिष्यों को पूरा प्रतिक्रमण करने का आदेश है, लेकिन बीच के तीर्थंकरों के शिष्यों को उतना ही प्रतिक्रमण करना होता है जितना दोष होता है। तीर्थंकर शासन में चारित्र में (चरणानुयोग में) अंतर आ गया, क्योंकि भगवान् महावीर के शिष्य, आप सामने देख ही रहे हैं, जिनवाणी सामने होने पर भी नहीं मानते, वक्रहृदयी हैं। आदिनाथ स्वामी के शिष्य अति सरल थे। अति सरलता और वक्रता में संयम में शिथिलाचार बढ़ता है। अजितनाथ से लेकर पारसनाथ तक के शिष्य सहजस्वभावी थे। भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य 13 प्रकार के चारित्र का पालन करते हैं। इसके पहले के 8 प्रकार के चारित्र का पालन करते थे, ऐसा 'मूलाचार' में कथन आया है। अष्ट-प्रवचन-मातृका को भी चारित्र में लिया है।

भो ज्ञानी! जीव के परिणाम और काल व्यवस्था को देखकर चरणानुयोग चरणशील है। चरणानुयोग में कभी विकल्प मत करना, विसंवाद नहीं लाना। तुम्हारे दादाजी दो घंटा खड़े होकर पूजा करते थे। आज तुम्हारे बेटे एक घंटा खड़े होकर पूजा करने में कहते हैं कि पैर दर्द कर रहे हैं। अब या तो उनकी पूजा छुड़वा दो या बिठाल दो, क्या उचित है? बिठालना उचित है। तुम खड़े होकर पूजा नहीं कर पा रहे हो तो बैठकर कर लो, लेकिन पूजा मत छोड़ना। चरणानुयोग चरणशील होता है, हर काल में बदला

है। जो चरणानुयोग को लेकर विवाद में बैठ जायेगा, वो कभी स्वभाव में नहीं जा पायेगा। पूरा आगम परिणामों की निर्मलता के ऊपर है। अज्ञानी इतना नहीं समझ पाता है। वो सोचता है कि हमारे मंदिर में सब खड़े होकर ही पूजा करें। अब बेचारे वृद्ध तो पूजा से गये। यह विचार नहीं कर पा रहे हो कि कुछ दिन में तुम्हारा स्वयं का भी नम्बर आने वाला है। भैया! जैसी जिसके शरीर की स्थिति है, वैसे खड़े होकर या बैठकर पूजा करो। सामायिक भी शारीरिक स्थिति के अनुसार बैठकर या लेटकर की जा सकती है। परन्तु लेटकर अशक्य अवस्था में ही होगी, सामान्य अवस्था में नहीं।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ में वृद्धसेवा नामक अधिकार है। वृद्धों के शरीर में वासना वाले हार्मोंस समाप्त हो जाते हैं। वे हार्मोंस निर्मित नहीं होते हैं जिनसे वासना टपकती है। शरीर में झुर्रियाँ पड़ रही है, इंद्रियाँ शिथिल हो चुकी हैं। इन लोगों के साथ तुम रहोगे तो तुम्हारी युवा वाली इंद्रियाँ वृद्ध हो जायेंगी। अतः वृद्धों का साथ कभी मत छोड़ना। तुम वृद्ध होकर भी युवाओं के साथ रहोगे तो तुम्हारी कषायें युवा हो जायेंगी। जहाँ के माहौल में सुबह से शाम तक स्वाध्याय आदि चल रहा हो, तो जो भी आयेगा उसके भाव भी वैसे हो जायेंगे, भले ही वह आगम से दूर रहा हो। अतः युवाओं! कभी भी वृद्धों की अविनय मत करना।

भो ज्ञानी! जिनवाणी के प्रति जितनी तुम्हारी श्रद्धा बढ़ेगी, ज्ञान उतना ज्यादा बढ़ेगा। जब तीव्र श्रद्धा उमड़ती है तो अलौकिकपना आता है, वो ही क्षयोपशम का हेतु बन जाता है। जैनदर्शन की भाषा में, विशुद्धि स्थान बढ़ गया तो नियम से क्षयोपशम बढ़ेगा।

आचार्यमहाराज टीका में कह रहे हैं कि पशुरूप मनुष्यों को जानकर, संपूर्ण लौकिक वचनों के जल्प को छोड़कर, आत्मप्रवाद नामक पूर्व में कुशल, परमात्मज्ञानी, नित्य सुखदायी ऐसे निजतत्त्व को प्राप्त कर लेता है। 14 पूर्वों में एक आत्मप्रवादपूर्व होता है। इसमें पूरा अध्यात्म का कथन होता है। जो संसारी-लोकप्रपंचों से दूर रहते हैं, वे ही निर्विकल्प ध्यान कर सकते हैं और आत्मतत्त्व की सिद्धि कर पाते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 156 में कह रहे हैं कि इस संसार में नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं। बहुत मुण्ड-मुण्ड हैं, सबकी मतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। सभी की लब्धियाँ भिन्न-भिन्न हैं, क्षयोपशम भिन्न-भिन्न हैं। तीर्थंकर के समवसरण में बैठे सभी जीव एक-से ज्ञाता नहीं हो जाते हैं। एक गुरु के चरणों

में बैठे सभी शिष्य एक-से ज्ञानी नहीं बन पाते। यदि कोई समाधान चाहता है तो उसे सहज दे दो और नहीं चाहता है तो आप मौन ले लो, क्योंकि आप उसको बदल नहीं सकते जिसकी धारणा विपरीत हो गई हो। 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में आचार्य अकंलकदेव कहते हैं

पराभिप्राय निवृत्यशक्यत्वात्॥7॥

दूसरे के अभिप्राय को बदलना बड़ा कठिन होता है। आप निमित्त बन सकते हो, लेकिन उसका अभिप्राय तभी बदलेगा जब उसका उपादान निर्मल होगा। किसी के यहाँ मृत्यु हो जाये तो कितना भी समझाओ, वे नहीं समझते हैं। जब उनकी कषाय मंद होती है, तो अपने आप समझकर अपने घर के काम शुरू कर देते हैं। रामचंद्र जी भैया लक्ष्मण के शव को लिये घूम रहे, सभी ने समझाया, यहाँ तक कि देवों ने भी समझाया, तो भी समझ में नहीं आया और जब छह माह पूरे हो गये, सो अपने आप समझ में आ गया। ऐसा ही संसार है।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमदेशना

गाथा 156

भव्य बन्धओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार के परमआवश्यक अधिकार की 156वीं गाथा में संकेत दिया, अहो ज्ञानियो! लोक में जीव अनंत हैं और संपूर्ण जीवों के कर्म भिन्न हैं, नाना हैं और सभी की लब्धियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। सभी के क्षयोपशम भिन्न-भिन्न हैं। एक जीव एक ही जिनेन्द्रदेव की देशना को कामशास्त्र के रूप में देखता है और दूसरा उन्हीं जिनेन्द्रदेव की देशना को धर्मशास्त्र के रूप में देखता है। द्रव्य एक है, दृष्टियाँ अनेक हैं। द्रव्य एक है, द्रव्य से होने वाले बन्ध अनेक हैं। जहाँ ममत्व भाव है, वहाँ बन्ध और जहाँ निर्ममत्व भाव है, वहाँ निर्बन्ध है। जब सबके क्षयोपशम भिन्न-भिन्न हैं, तो-फिर क्यों शास्त्रार्थ कर रहे हो? आप समझा ही सकते हो, लेकिन किसी को बदल नहीं सकते हो। अरहंतों ने समझाया, पर बदले स्वयं के उपादान से। वाणी निमित्तभूत मात्र है, बदलाव उपादानभूत है। जिनविम्ब निमित्त है, सम्यक्त्व तो उपादान की योग्यता है। उपदेश निमित्त है, बदलाव उपादान है। यदि वाणी से बदलते होते तो मरीचि को बदल जाना चाहिए था।

आचार्य अकलंक महाराज ने 'राजवार्तिक' में लिखा है कि पर के अभिप्राय को बदलना अशक्य है। आचार्यों ने न्यायग्रन्थों में अन्य दर्शनों का खूब डटके खण्डन किया है। उनका उद्देश्य बड़ा गहरा था। वो समझते थे कि जिसकी भवितव्यता विकृत हो चुकी है, उसको कोई सुधार नहीं सकता। लेकिन जिनकी भवितव्यता निर्मल है, लेकिन लगार के कारण बिगड़ रहे हैं, वे नहीं बिगड़ पायें इसलिए आचार्यों ने स्पष्ट खंडन किया है। आप्तमीमांसा, आप्तपरीक्षा, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयरत्नमाला, न्यायदीपिका, अष्टसहस्री, सत्यशासन परीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि जैनन्याय के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

आचार्यभगवन् ने 'नियमसार' में व्यवहार चारित्र का कथन किया है कि श्रमणों को ऐसे चलना चाहिये। सब सिखाया। उसके बाद भी जीव नहीं मानता है तो फिर क्या करोगे?

सत्त्वेषु मैत्रिं गुणिषु प्रमोदं, क्लिटेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपतीत वृत्तो, सदा ममात्मा विदधातु देव॥भा.द्रा.॥

यह विपरीत वृत्ति वाले के लिये समझा रहे हैं। स्वयं का सुत भी आपकी बात नहीं मानता है, तो ज्यादा मत समझाओ। इससे संक्लेशता बढ़ेगी। आचार्य वीरसेन स्वामी के एक शिष्य ने कुमार्ग चलाया। उसने अपने गुरु आचार्य वीरसेन स्वामी की बात नहीं मानी और स्त्रियों को दिगम्बरी दीक्षा देनी प्रारम्भ कर दो, पर वो पंथ चल नहीं पाया, क्योंकि ऐसे पंथ चल नहीं पाते हैं।

आचार्यमहाराज शुद्धोपयोग की ओर ले जाने को प्रेरित कर रहे हैं। आप पर की चिन्ता छोड़ दो। सल्लेखना के काल में आचार्यपद छोड़ने का मुख्य कारण यही है। सल्लेखना के काल में आचार्यपद छोड़ दिया जाता है। उत्तमार्थ काल है संन्यास काल छः काल कहे गये हैं। गणपोषणकाल, शिक्षाकाल, भिक्षाकाल, आत्मसंस्कार काल। सल्लेखना काल, उत्तमार्थकाल। बारह वर्ष पहले आचार्यपद छोड़ देना चाहिये। इस पंचमकाल में बिना ग्रह-नक्षत्र दिखाये, ज्योतिष ज्ञाता के अभाव में दीक्षा नहीं लेना चाहिये। 'भगवती आराधना' में इसका विवरण है। यह निमित्ताधीन चर्चा नहीं है। भो ज्ञानी! निमित्त यह कब कहता है कि मैं कार्य करता हूँ और उपादान यह कब कहता है कि मैं बिना निमित्त के हो जाता हूँ? योग्यता उपादान की ही होती है, लेकिन निमित्त के सहयोग के बिना काम होता भी कब है? अन्यथा जिनवाणी, शास्त्र, जिनालय, गुरु इन सबका अभाव मानना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! नरकगति में नारकियों के सम्यक्त्व उत्पत्ति का हेतु, मनुष्यगति में मनुष्यों के सम्यक्त्व की उत्पत्ति का हेतु जब आगम आपसे कहेगा देव, शास्त्र, गुरु हैं। यद्यपि संपूर्ण जीवों के अंतरंग हेतु तो सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और बहिरंग हेतु अलग-अलग गतियों के लिये अलग-अलग हैं। इसी को आत्मभूत लक्षण अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। आत्मभूत लक्षण है उत्पादन की योग्यता और निमित्तभूत लक्षण है बहिरंग। साध्य-साधन, कार्य-कारण, सहभावी-क्रमभावी ये सब जैनदर्शन के शब्द हैं। सहभावी-क्रमभावी जहाँ घटित होता है, वही वस्तुव्यवस्था है। मैत्री नाम की एक स्त्री है। उसके चारों पुत्र काले हैं और वह गर्भवती भी है। एक भैया कह रहे हैं कि इसके

गर्भ में बैठा पुत्र भी काला है, क्योंकि चार काले हैं। आप जो कथन कर रहे हो, हेतु घटित कर रहे हो। जो-जो मैत्री के पुत्र होंगे, वे सब काले ही होंगे, इसमें तुम्हारा सहभाव नियम भी नहीं बनता और क्रमभाव नियम भी नहीं बनता। क्रमभाव यानि क्रम से जैसे चार हुये हैं, इसी क्रम से यह होगा, घटित नहीं होता और सहभाव का होता है अविनाभाव। उन पुत्रों का इस पुत्र के साथ अविनाभाव संबंध है क्या? नहीं है। इसलिए इसमें व्याप्ति घटित नहीं होती। न सहभाव नियम बनता है, न क्रमभाव नियम बनता है। जो गर्भस्थ शिशु है, वो गोरा भी हो सकता है। इसलिये हेतु वह देना चाहिये जो घटित होता हो। निमित्त वही होता है जो उपादान को तुरंत प्रभावित करता है। जो उपादान को प्रभावित नहीं करता है, आगम उस निमित्त को निमित्त स्वीकार नहीं करता।

भो ज्ञानी! कितनी ही चर्चा कर लो। एक कार्य के लिये अनेक कारण चाहिये पड़ते हैं। और कुछ ऐसे कारण हैं जो सहज प्राप्त हैं और कुछ ऐसे कारण होते हैं जिन्हें आपको पुरुषार्थपूर्वक इकट्ठा करना पड़ता है और जिनकी तीव्र आवश्यकता है, सहज मिलते हैं आपको। आप जी रहे हैं भोजन या पानी से या दोनों से? पर्युषण आदि में बहुत से लोग 10-10 दिन बिना भोजन-पानी के रहते हैं, पर बिना वायु के आप जीवित नहीं रह सकते हो, वो सहज प्राप्त होती है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के पाँचवें अध्याय के इस सूत्र को देखें।

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्॥त. सूत्र. 19/5॥

शरीर, वचन, श्वासोच्छ्वास यह पुद्गल का जीव पर उपकार है। इसीलिये निमित्त को हऊआ मत बना देना। निमित्त को अत्यन्त हीन भी मत बना देना और इतना महत्त्व भी मत दे देना कि उपादान की योग्यता को क्षति पहुँचे और इतना हीन भी मत कर देना कि उसके अभाव में कार्य पूर्ण होने लग जाये।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं। कोई किसी को विज्ञ नहीं बनाता, कोई किसी को अज्ञ नहीं बनाता। जीव चलना चाहे तो धर्मद्रव्य उदासीन निमित्त है, ठहरना चाहे तो अधर्मद्रव्य उदासीन निमित्त है। जीव चलना या रुकना नहीं चाहे तो धर्म या अधर्मद्रव्य निमित्त नहीं है। वह चलने या रुकने को कहने वाला नहीं है। 155वीं गाथा पूर्ण निर्विकल्प होने के लिये प्रेरित कर रही है। कहीं गुरु को यह

अहं न आ जाय कि जब तुम हमारे पास आये थे तो तुमको कुछ नहीं आता था और अब कितनी लम्बी-लम्बी बड़ी-बड़ी बातें कर रहे हो। तुम हमारा तनिक भी उपकार नहीं मानते जबकि हमने तुमको इतना ज्ञान दिया है। आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि हे योगी! उस जीव का ऐसा नियोग था कि आप निमित्त बन गये। उसका नियोग नहीं होता तो ऐसा नहीं होता। तुम एक पागल को पढ़ाकर दिखाओ यदि आप ज्ञान देते हो? इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आप निमित्त नहीं बने थे। शिष्य का कर्त्तव्य उपकार मानना ही होता है और गुरु का कर्तव्य अकर्तृत्व भाव ही होता है। अपने मान-सरोवर को सुखाने के लिये ऐसे ही सोचना चाहिये, अन्यथा ये भाव आयेंगे कि हमने आपको पढ़ाया था, समझाया था और आप हमको भूल गये। नहीं, प्रभु! आपका उपकार तो स्वीकार है, परन्तु मेरी प्रज्ञा नहीं होती तो आप कैसे सिखा सकते थे? नेत्रविहीन को दर्पण कैसे दिखा पाओगे? दर्पण में चेहरा तो दिखता है, पर उसी को दिखता है जिसके नेत्र हैं। स्वयं के नेत्र नहीं हैं तो चेहरा नहीं दिखेगा। इसी प्रकार से, यदि स्वयं की प्रज्ञा नहीं है तो गुरु और शास्त्र कुछ नहीं कर सकते। पर ध्यान रखना, बिना दर्पण के चेहरा दिखता नहीं है, बिना गुरु और जिनवाणी के ज्ञान मिलता नहीं है।

भो ज्ञानी! नाना प्रकार के जीव हैं, उनमें संसारी और मुक्त जीव हैं, भव्य और अभव्य जीव हैं। मुक्त क्यों नहीं हो पाये? क्योंकि अमुक्ति के भावों से छूटे ही नहीं, भाव ही नहीं बनाये। नारी नहीं छूट रही, राग नहीं छूट रहा, इससे तो अच्छा है कि मोक्ष की इच्छा करो, दीक्षा ले लो। फिर 'नियमसार' कहेगा कि अब मोक्ष की इच्छा भी मत करो। पर नियम के अभाव में मोक्ष की इच्छा का अभाव मत कर बैठना, सम्यक्त्व की बात करना। जब जीव काम पीड़ा से ग्रसित होता है, उसे कुछ भी नहीं सुहाता। उसके लिये मोक्ष की इच्छा क्या, भगवान् के दर्शन करने की इच्छा भी परम अमृत है। कोई व्यक्ति अपने भवन में बैठा हो और खोटे विचार आ रहे हों, उस समय उसे मंदिर का शिखर दिख जाय तो उस समय भाव आता है कि धिक्कार हो मुझ पापी के लिये, आपके सामने भी खोटे परिणाम आ रहे हैं। उन खोटे परिणामों को छोड़ नहीं पा रहा है। पुरुषार्थ वह करो जो समीचीन है। पुण्य छोड़ने का पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता है। पुण्य तो स्वयमेव छूटता है, पुण्य कभी छोड़ा नहीं जाता। पुण्यप्रकृतियाँ 14वें गुणस्थान में छूटती हैं, वो सहज छूटती हैं। 13वें तक पुण्य चलता है। आप कितना भी

हल्ला करो, वो छोड़नेवाला नहीं है। शुद्धोपयोग में भी तीव्र पुण्य का आस्रव होता है। आस्रव का अभाव 14वें गुणस्थान में होता है, इसके पहले नहीं होता है। शुद्धोपयोग की दृष्टि यह नहीं कहती कि तुम पुण्यास्रव छोड़ दो। वो तो चलेगा ही। शुद्धोपयोग की दृष्टि यह कहती है कि मैं निज स्वभाव में लीन रहूँ, और-कुछ नहीं कहते कि पुण्य को छोड़ो, पाप को छोड़ो। वो तो यह कहता है कि मैं निज में रहूँ। पाप छूट गया, पुण्य हो रहा है, पुण्य होने का विकल्प भी नहीं होना चाहिये। दशवें गुणस्थान तक तो कषाय है। कषाय को यह नहीं कहना कि पाप का हेतु है। कषाय आस्रव का हेतु है। कषाय की तीव्रता पापास्रव का हेतु है, कषाय की मंदता पुण्यास्रव का हेतु है। जैसे-जैसे कषाय की मंदता बढ़ेगी, वैसे-वैसे पुण्यास्रव बढ़ेगा।

भो ज्ञानी! योग से पुण्य का आस्रव भी होता है, पर मिथ्यात्व से जो पुण्यास्रव होगा वो संसार का कारण ही होगा। मिथ्यादृष्टि पाँच पापों से लिप्त है तो पापास्रव ही होगा। मिथ्यादृष्टि भी जब पुण्यक्रियाओं में लीन होता है तो उसे भी पुण्यास्रव होता है। यदि सिर्फ पाप-आस्रव ही मानेंगे, तो ग्रैवेयक तक कैसे पहुँचा पायेंगे? देवगति पुण्यप्रकृति है, कि पाप प्रकृति? पुण्य प्रकृति है। मिथ्यादृष्टि देव भी बनता है। संसारीजीव भव्य, अभव्य होते हैं। संसारीजीव त्रस और स्थावर होते हैं। त्रस में दो, तीन, चार, पाँच इंद्रिय होते हैं। पाँच-इंद्रिय के दो भेद हैं—संज्ञी और असंज्ञी। स्थावर के पाँच भेद हैं—वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी और वनस्पति। भावी काल में स्वाभाविक अनंतचतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादिक गुणों से होने योग्य भव्य होते हैं, इनसे विपरीत अभव्य हैं। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म के भेद से कर्म अनेक प्रकार के हैं। लेकिन भव्य, अभव्य का निर्णय आप नहीं करना, इसका निर्णय केवली भगवान् करेंगे। मोक्षमार्ग किसी व्यक्तिविशेष की व्यवस्था नहीं है। मोक्षमार्ग निज के परिणामों की व्यवस्था है।

भो ज्ञानी! कर्म, मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति के भेदों से अथवा तीव्रतर, तीव्र, मंद और मंदतर रूप उदय के भेदों से अनेक प्रकार के हैं। जीवों को सुख की प्राप्ति हेतु लब्धि काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्य इन भेदों से पाँच प्रकार की हैं। इसलिए परमार्थ ज्ञाताओं को स्व और पर के समय संप्रदायों में विवाद नहीं करना चाहिये। जब जीव के तीव्र भाव चलते हैं, उस समय कोई नहीं समझा सकता है। ज्ञान आदि भी मंद उदय में समझ में आते हैं, तीव्र उदय में कुछ भी समझ में नहीं आता

है। अत: आपको विवाद नहीं करना चाहिये। जैसा आपको सूझे, वैसा आप करो। लेकिन स्व समय में शास्त्र का विवाद नहीं करना, यदि आत्मकल्याण करना चाहते हो तो। जिनशासन की प्रभावना की दृष्टि से अपना पक्ष तो रखना, लेकिन परपक्ष तुम्हारी बात मान ही ले, ऐसा नियम नहीं है। परन्तु अपना पक्ष सहज और समीचीन भाव से रखना।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 157 **कलश 267**

उत्थानिका : दृष्टान्त की प्रमुखता से सहजतत्त्व की आराधना की विद्या

गाथा : लद्धूण णिही एक्को, तस्स फलं अणुहवेदि सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेदि चइत्तु परतत्तिं॥57॥

संस्कृत छाया : लब्ध्वा निधिमेकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन।
तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं भुङ्क्ते त्यक्त्वा परततिम्॥57॥

अन्वयार्थ : (एक: निधिं लब्ध्वा) जैसे कोई निर्धन निधि को पाकर (सुजनत्वेन) सुजनरूप से गुप्त रूप से (तस्य) उसके (फलं अनुभवति) फल का अनुभव करता है (तथा) वैसे ही (ज्ञानी) ज्ञानीजन (परततिं) परजनों के समुदाय को (त्यक्त्वा) छोड़कर (ज्ञाननिधिं भुङ्क्ते) ज्ञाननिधि का अनुभव करता है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 156वीं गाथा में परम समता स्वभाव की लीनता के लिये सूत्र दिया। अहो मुमुक्षु! नाना जीवों को समझाने में अपने अमूल्य समय को नष्ट मत कर, एक को ही सँभाल। यदि तूने एक जीव को सँभाल लिया, तो विश्व सँभल जायेगा। जिस जीव ने कैवल्य को प्राप्त किया है, उस जीव ने अपने आपको सँभाला है। अपने आप को सँभाला, तो विश्वज्ञाता बन गया। उनकी देशना से विश्व को सँभलने का उपाय मिल गया। जब तक यह विकल्प रहता है कि विश्व को सँभालना है, तब-तक योग नहीं सँभलता, उपयोग नहीं सँभलता। जिसका योग, उपयोग नहीं सँभला होता है, वो कैवल्य को प्राप्त नहीं कर पाता है। योग सँभालो, उपयोग सँभालो। वो सँभल गया तो सयोगकेवली बन जायेगा।

संक्षेप में मोक्षमार्ग की कोई परिभाषा है तो योग-उपयोग का निर्मल हो जाना ही मोक्षमार्ग है। योग-उपयोग की अशुभ वृत्ति का अभाव हो जाना, शुभोपयोग है। योग-उपयोग की चंचलता का अभाव हो जाना ही शुद्धोपयोग है। योग का परम

औदारिक हो जाना और उपयोग का क्षायिक हो जाना, यही अरहन्त-अवस्था है। संपूर्ण योगों का अभाव हो जाना सिद्ध-अवस्था है।

भो ज्ञानी! जहाँ योग सँभला होगा, वहाँ नियम से निश्चय-व्यवहार चारित्र होगा। बिना निश्चय-व्यवहार के न योग सँभलता है न उपयोग सँभलता है। वही परम निर्ग्रन्थ दशा है। ये सब पराश्रित नहीं हैं, ये सब स्वाश्रित हैं। मोक्षमार्ग स्वाश्रित ही है और मोक्ष परम स्वाश्रित है। राग-द्वेष, मोह वे भी स्वाश्रित हैं। विभाव भाव का स्वाश्रितपना छोड़ दो, स्वभाव-भाव के आश्रय में आ जाओ, बस, तेरा मोक्ष मुठ्ठी में है। भो चेतन आत्मा! कहीं नहीं खोजो, निज में खोजो। तेरा चेतन ही प्रभु है।

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकरः
तथा कर्मानेकविधमपि सदा जन्मजनकम्।
असौ लब्धिर्नाना विमल जिनमार्गे हि विदिता
ततः कर्त्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वादवचनम्॥कलश 267॥

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में बार-बार यही कह रहे हैं कि विकल्पजाल का प्रमुख हेतु वचन-प्रलाप है। जीवन में जहाँ वचन-प्रलाप हुआ, वहाँ विकल्पजाल पड़ा। पहले तो बोलने के लिये सोचता है जीव, बोलते-बोलते सोचता है जीव, बोलने के बाद सोचता है जीव। त्रैकालिक अवस्था चलती है। आक्रोश भाव है तो अशुभ सोचता है और निर्मल भाव है तो शुभ बोलने के लिये सोचता है। अशुभ बोल दिया तो पश्चात्ताप में सोचता है और निर्मल भावों में बोला तो सोचता है कि हमने कितना अच्छा बोला। हे योगी! तू संपूर्ण द्वंद्वों से मुक्त हो जा। ये व्याख्यान-आदि भी द्वंद्व हैं। व्याख्यान देना सबसे बड़ा द्वंद्व है। अच्छा हो रहा है कि बुरा हो रहा है? एक बात एक को अच्छी लग रही है, वह बात दूसरे को बुरी लग रही है। एक ही काल में कितने मित्र बन रहे हैं, कितने शत्रु बन रहे हैं। आप बोल रहे थे, सहज देखना, यह वाणी तो ऐसी है जैसे मेघ का बरसा पानी। जिसके घड़े कच्चे रखे हैं, उससे पूछो। जिसकी फसल सूख रही है, उससे पूछो। मिथ्यादृष्टि के प्राण सूखते हैं जिनेन्द्रदेव की वाणी को सुनकर और सम्यग्दृष्टि की खेती हरियाती है जिनेन्द्रदेव की वाणी सुनकर। सर्वज्ञदेव की वाणी सुनकर जिनके मन में आह्लाद हो, वो तो किसान की खेती है, सम्यग्दृष्टि है और जिनेन्द्र सर्वज्ञ की वाणी सुनकर जिनके प्राण सूखने लग जायें, समझ

लो यह मिथ्यादृष्टि है, कुंभकार है।

श्रावकाचार में आचार्यों ने स्पष्ट लिखा है कि तत्त्व की प्रतीति मिथ्यादृष्टि के लिये नहीं होती है। जिसको जिनेन्द्र की वाणी, सर्वज्ञ की देशना, गुरुवाणी सुनने के भाव आते हैं, वो जीव निर्वाण को प्राप्त हो जाता है और जिसे जिनेन्द्र की वाणी सुनने के भाव नहीं आते, उनकी भवितव्यता बहुत दूर है। तत्त्वज्ञान जरूर सुनना चाहिये।

भो ज्ञानी! किसी नये स्थान पर जाओ तो लगता है कि यहाँ क्या विशेषता है। विदिशा में भगवान् शीतलनाथ के तीन कल्याणक हुये, समन्तभद्रस्वामी की साधना स्थली, लोहाचार्य की तपस्थली है। अपरिचित बनके जिओगे तो बहुत परिचय होगा और परिचित हो जाओगे तो उदासीनता आयेगी। इसलिये मुमुक्षु जीव को प्रतिक्षण अपने स्वरूप का अपरिचित होकर परिचय करना चाहिये। जिसको शास्त्रों में पढ़ लिया, फिर खोज कम हो जाती है। दर्शनीय स्थानों के बोर्ड सर्वत्र लगा दिये जायें तो उसका रहस्य फैल जाता है। कुछ स्थानों पर बोर्ड नहीं होना चाहिये। पार्श्वनाथ भगवान् के ऊपर फण, बाहुवली स्वामी की प्रतिमा पर बेल आदि बनी हो और कुछ लिखा न हो, तो पहलीबार देखनेवाला इसका रहस्य जानना चाहता है। सोचता है कि बाकी के 23 तीर्थंकरों पर फणावली क्यों नहीं है? पास में कोई खड़ा हो तो पूछता है 'पार्श्वनाथ भगवान् पर फणावली क्यों?' भैया! भगवान् पार्श्वनाथ पर उपसर्ग हुआ था, उस समय धरणेन्द्र आदि उपसर्ग दूर करने उपस्थित हुये थे। एक क्षण में पार्श्वनाथ भगवान् का चरित्र झलक जाता है। बाहुवली स्वामी पर बेलें क्यों? उन्होंने घनघोर तपस्या की थी, एक साल तक निश्चल खड़े रहे थे, बेलें चढ़ गईं थी, पक्षियों ने घोंसले बना लिये थे कानों में, जीव-जन्तु शरीर पर रेंगते थे, फिर भी नहीं हिले। अज्ञानी कहेगा कि परिग्रह बना दिया। ज्ञानी कहेगा धन्य है निर्मल दशा को। ये सब परिग्रह नहीं है, वे बेलें कह रही हैं।

दियंबरो जो ण च भीइ-जुत्तो, ण चांबरे सत्तमणो विसुद्धो।
सप्पादि-जंतुष्फुसदो ण कंपो, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं॥ 6 गोम्मटेश थुदि॥

अहो! दिगम्बर साधक भय से युक्त नहीं है। अम्बर नहीं है जिनके शरीर पर, दिशा ही अम्बर है। एक वर्ष पर्यन्त उपवास से खड़े रहे, सर्पादि जन्तु शरीर पर चढ़ गये, फुंकार मार रहे हैं, फिर भी प्रभु कंपित नहीं हो रहे हैं, ऐसे गोम्मटेश स्वामी को मैं नित्य नमस्कार करता हूँ।

भो ज्ञानी! पल्लवग्राही ज्ञान हर समय घातक होता है। एक ने अपना चिंतन दौड़ाकर कहा कि बेलें चढ़ाकर भगवान् को परिग्रही बना दिया। ज्ञानी! आवरण होने का नाम परिग्रह नहीं है। कोई आवरण डाल दे तो वह उपसर्ग है। जैसे गुरुदत्त महाराज को कपिल ब्राह्मण ने रुई से लपेट दिया था और अग्नि लगा दी थी, उन्हें केवलज्ञान हो गया था। बाहुबली स्वामी पर ये उपसर्ग भी नहीं था, ये प्रकृति का सहज परिणमन था। एक स्थान पर कोई स्थिर हो जाये तो अंकुर होना सहज है और लम्बे समय में बेल ऊपर चढ़ जाना सहज है। धन्य हो आपकी निर्विकल्प दशा को। पुद्गल पर पुद्गल चढ़ा था। आप तो चढ़ाये हो, वहाँ तो चढ़ गया था। इतना अंतर है। ये आपने बुद्धिपूर्वक स्वीकार किया है।

पल्लवग्राही ज्ञान से तात्पर्य है कि हर ग्रन्थ के दो चार दस पृष्ठ पढ़ लिये और बोले सब ग्रन्थ पढ़ लिये हैं जबकि वास्तव में ज्ञान किसी ग्रन्थ का नहीं हुआ। कुछ बातें सुन लीं इधर-उधर से, व्याख्यान देना सीख लिया, बन गये ज्ञानी। वास्तविक ज्ञानी बहुत गंभीर होता है, क्योंकि उसे मालूम रहता है कि किस अपेक्षा से कथन किया है। वो कभी विकल्प नहीं करता है, विवाद भी नहीं करता है। वह जानता है कि जो णमोकार पढ़ रहे हैं, इन सबका आगे कल्याण निश्चित है। अभी ये भटकती आत्मा हैं। जब-तक मिथ्यात्व कषाय की गंध है, तब-तक तो भटकन रहेगी। जैसे-जैसे ये हटती जायेगी, वो आगे बढ़ते जायेंगे। विद्वान इनके प्रति निर्मल भाव रखता है। अविद्वान होगा वो साम्यता नहीं लायेगा, वो पक्ष लायेगा। पक्ष मोक्षमार्ग नहीं है, साम्यभाव का नाम मोक्षमार्ग है।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि यह जो वचनों के कारण होने वाले बहुत प्रकार के विकल्प हैं, वे सब संसार का कारण होते हैं। अनेक प्रकार के कर्म नये-नये जन्म को करने वाले कर्मों के जनक होते हैं। इस लोक में नाना विकल्प हैं और उनकी लब्धियाँ भी नाना हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव के निर्मल शासन में यह प्रसिद्ध है कि स्वसमय और परसमयों के साथ वचन-विवाद मत करो। उपदेश करो, पर वाद-विवाद मत करो।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 157वीं गाथा में बड़ी गहरी बात कह रहे हैं कि मौन हो जाओ, विवाद मत करो और क्या करें? छुप जाओ। कैसे? जैसे कोई सिक्का सड़क पर दिख जाये तो पैर रखकर धीरे-से निकाल लेते हो कि कोई देख न ले। धीरे-से

घर भग जाते हैं और वहाँ जाकर टार्च में देखेगा, बड़ी लाइट भी नहीं जलायेगा, देखो कैसा है। और यदि हीरा हो तो फिर क्या। उसका अंदर-ही-अंदर गुप्त रूप से उपयोग करता है। आचार्य-महाराज कह रहे हैं हे मुनि! अब तुम छुप जाओ, ज्ञान लेके भग जाओ और एकान्त में बैठ जाओ, वहाँ देखो कि कैसा है मेरा आत्म-हीरा। जैसे कोई एक जीव निधि को प्राप्त करके, संपत्ति को प्राप्त करके उसके फल का अनुभव करता है, कैसे? परजनों की भीड़ को छोड़कर करता है, क्योंकि लोग बँटा लेंगे, हल्ला करेंगे। ऐसे-ही ज्ञानी परसमुदाय की भीड़ को छोड़कर निज ज्ञानस्वभाव को भोगता है। यहाँ पर दृष्टान्त के माध्यम से सहज तत्त्व की आराधना-विधि को कहा है। सहज तत्त्व की आराधना करना चाहते हो तो बाहर की दुनियाँ में बैठने की कोई आवश्यकता नहीं है। न बहुत पढ़ने की आवश्यकता है, न बहुत जानने की आवश्यकता है। बस, निज को जान लो, निज को पढ़ लो तो बहुतकुछ/सबकुछ जान लिया। ऐसा नहीं कि निज को नहीं पढ़ा जा सकता। प्रतिक्रमण के परिणाम पढ़िये। अब देखो मैं कहाँ जा रहा हूँ? मंदिर की ओर, भगवान् की ओर, धर्म की ओर, नारी की ओर, पुत्र की ओर, मित्र की ओर, दुर्जन की ओर, सज्जन की ओर, विपरीतता की ओर, एकान्त की ओर, अज्ञान की ओर, किधर बढ़ रहे हैं?

अहो ज्ञानी! जिनवाणी क्या कह रही है? कृत, कारित, अनुमोदना लगाओ। कहीं विपरीत मार्ग का प्रदर्शन चल रहा है और आप कहें मैं तो सिर्फ खड़े-खड़े देख रहा था, पर जिनशासन कहेगा कि तेरा काययोग वहाँ गया, तूने मिथ्यात्व का पोषण किया। क्यों गये? आप देख रहे थे तो उसका मान बढ़ रहा था। अतः इन सबको छोड़कर निज में रहो।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 157 **कलश 268, 269**

भव्य बन्धुओ! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने दृष्टान्त के द्वारा गाथा 157 में सहज रूप से समझाया है कि जिस प्रकार से कोई हीरों को प्राप्त करके अपने घर में बैठ कर उसका आनंद प्राप्त करता है, उसी प्रकार से मुमुक्षु जीव परम तपोधन निज ज्ञान को प्राप्त करके एकान्त में बैठकर उसका वेदन किया करते हैं। उस द्रव्य के लिये परद्रव्य को लाने का विचार नहीं करते हैं। इसी बात को आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के माध्यम से समझा रहे हैं।

अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेकः
लब्ध्वा पुण्यात्काञ्चनानां समूहम्।
गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्तसङ्गो
ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति॥कलश 268॥

इस लोक में लोक का कोई एक व्यक्ति पुण्य से सोनादि को प्राप्त कर गुप्त होकर रहता है। बाह्य द्रव्य की प्राप्ति लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है। ये पुण्यकर्म है। विभूति पुण्य के योग से मिलती है, लेकिन विभूति पुण्य नहीं होती है। जो यह कहता है कि यह तो सहज मिला है, वो सिद्धान्त के विरुद्ध बोल रहा है। वैभव से ममत्व नहीं रखना। वैभव श्रेष्ठ है, पर कर्मसिद्धान्त के अनुसार कहना। चक्रवर्ती की विभूति, तीर्थंकर की विभूति, यह सहज संयोग नहीं है, ये पुण्य का सहयोग है। परिग्रह पाप है, इस सिद्धान्त को प्रचारित करने के लिये कुछ विद्वानों ने मूल कर्मसिद्धान्त को तोड़ दिया। परिग्रह पाँचवाँ पाप है और किसी ने कहा पुण्य के योग से मिलता है। उन्हें पुण्य के योग से मिलता है। पाप पुण्य से मिलता है, यह वचनशैली है, वाक्पटुता है। श्रोता को घुमाया जा सकता है। पाँचवाँ पाप परिग्रह और वह पुण्य से मिलता है तो मैं पुण्य क्यों करूँ जिससे पाप मिले? ऐसा वक्तव्य एक बहुत उच्चवक्ता ने दिया। पूरा सिद्धान्त देखा। पुण्य का सबसे प्रबल हेतु क्या है? सम्यग्दर्शन।

भो ज्ञानी! जो आत्मा को पवित्र करे, उसे पुण्य कहते हैं, यह 'सवार्थसिद्धि' कारिका की परिभाषा है। तो पाँचवें पाप को पुण्य कैसे कहें? जिनवाणी पाँचवें पाप को पुण्य

नहीं कहती है; परन्तु जो भो उपभोग की सामग्री प्राप्त होती है, वो जीव के पूर्व पुण्य के सहयोग से प्राप्त होती है। वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम, लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम, भोग-अंतराय कर्म का क्षयोपशम, उपभोग-अंतराय कर्म का क्षयोपशम, इनकी प्राप्ति हो रही है, ये पाप से हो रही है कि पुण्य से हो रही है? ये पाप का फल है कि पुण्य का फल है? ये जो आपको सामग्री मिली है, मनुष्यपर्याय मिली है, यह भी एक वैभव है। उच्च कुल गोत्र मिला है, आप धनपति बने हो, दरिद्र कुल में नहीं जन्में हो, इनका हेतु क्या है? ये पाप का उदय है क्या? नहीं। इसलिये सम्यग्दर्शन कहा। सम्यग्दर्शन से बड़ा पुण्य संचय कहाँ से आयेगा? एक सम्यग्दृष्टि जीव क्या दरिद्रता में जन्म लेगा? दरिद्र कुल में जन्मा सम्यग्दृष्टि तो हो सकता है, लेकिन सम्यग्दृष्टि दरिद्रकुल में नहीं जन्मता।

ओजस्तेजो-विद्या-वीर्ययशो-वृद्धि-विजय-विभव-सनाथाः।
महाकुला-महार्था, मानवतिलका भवन्ति दर्शन-पूताः ।। र. क. श्रा. 36।।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी कह रहे हैं ओजवान, तेजवान, विद्यावान, बलवान, वीर, वैभव, महाकुल, महाविभूति वाला, आर्य मनुष्यों में तिलक अर्थात् चक्रवर्ती, कौन होता है? जो सम्यग्दर्शन से पवित्र है। जनसामान्य को हम व्याख्यान तो दें, पर ऐसा व्याख्यान न दें कि जिससे उसकी धारा ही बदल जाये। जो पैसा आ रहा है, वो तो वास्तव में पुण्य का उदय चल रहा है, पर जिस तरीके से आ रहा है, वो पुण्य नहीं है। कोई व्यक्ति कत्लखाना खोलकर सोचे कि इससे पैसा आ रहा है, तो उसकी यह सोच गलत है। वास्तव में तेरा ऐसा उदय चल रहा है कि तू जो करेगा उससे मिलेगा। बाबड़ी में पटक दिया, वहाँ हीरे-मोती मिल गये। कूप में डाल दिया, वहाँ रक्षा हो गई, देवों ने रक्षा की। भूत-बंगला अर्थात् यक्षों के स्थान पर छोड़ दिया, वहाँ यक्षों ने रत्नों के थाल दे दिये। ये सोच बदल लेना चाहिये कि इसके बिना हमारा काम नहीं चलेगा। काम इससे नहीं चल रहा है, काम तेरा पुण्य से चल रहा है।

भो ज्ञानी! जिस जीव के तीव्र अशुभ परिणाम चल रहे हैं और पापानुबंधी पुण्य चल रहा है। उसके पापरूप परिणाम हो रहे हैं। उसका कुमति ज्ञान काम कर रहा है, कुश्रुत काम कर रहा है। सम्यग्दर्शन, मंद कषाय, सम्यक्त्वाचरण, स्वरूपाचरण इस सबसे पुण्य का संचय होता है, पुण्य का परिणमन तद्रूप होता है।

सरागसंयम संयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य॥त. सूत्र. 20/5॥

सराग संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा, बालतप इन सबसे पुण्यसंचय होता है और उससे देवायु का आस्रव होता है। देवायु पुण्यप्रकृति है कि पाप प्रकृति है? पुण्य प्रकृति है। आगे उमास्वामी महाराज कह रहे हैं ''सम्यक्त्वं च।'' (6 त. सू.) और सम्यग्दर्शन से भी देवायु का आस्रव होता है। देशव्रती नहीं है और है भी। दोनों बातें ध्यान रखना। सम्यग्दृष्टि है, महाव्रती नहीं है, तब भी मरण करके स्वर्ग ही जायेगा। उनका कोई-और स्थान नहीं है यदि आयुबंध नहीं किया है तो। नियम से देव ही बनेगा। चाहे मनुष्य हो चाहे तिर्यंच हो, सम्यग्दृष्टि है तो नियम से देव होगा यदि आयुबंध नहीं किया है तो। आयुबंध करने के पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त किया है तो भोगभूमि का तिर्यंच या मनुष्य बनेगा। जो जीव भोगभूमि का तिर्यंच अथवा मनुष्य है, वो नियम से देव बनता है चाहे वो सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि हो। वह मंद कषाय के पुण्य से बन रहा है, सो भवनत्रिक आदि में भी जा सकता है, लेकिन सम्यक्त्व सहित जो जीव है, वह वैमानिक ही बनेगा, भवनत्रिक में नहीं जायेगा। यदि भवनत्रिक में जा रहा है तो इसका तात्पर्य है कि सम्यक्त्व छूट गया है।

प्रथम नरक विन षट् भू जोतिष वान भवन षड् नारी।
थावर विकलत्रय में नहीं उपजत समकितधारी ।। छहढ़ाला।।

सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम नरक को छोड़कर अन्य छह नरकों में, व्यंतर, ज्योतिष भवनवासी देव, नपुंसक, नारी, स्थावर, विकलत्रय में जन्म नहीं लेता है। कर्मभूमि का मनुष्य भी नहीं बनता है। कर्मभूमि से मरके मनुष्य सम्यग्दृष्टि जीव कर्मभूमि में कहीं मनुष्य नहीं बनेगा। वह नियम से स्वर्ग जायेगा। आयुबंधक है तो भोगभूमि में जायेगा। शची इंद्राणी ने सम्यक्त्व सहित साधना की, लेकिन सम्यक्त्व की विराधना के कारण पुनः शची बनी। लेकिन अन्तर्मुहूर्त में देवों में सम्यक् की योग्यता होती है। मनुष्यों में आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त लगते हैं, नारकियों में अन्तर्मुहूर्त लगता है सम्यक्त्व की योग्यता प्राप्त करने में। शची इंद्राणी मिथ्यादृष्टि नहीं होती, लेकिन लोक में जितनी स्त्रियाँ होती हैं, वो नियम से जन्म से मिथ्यादृष्टि होती हैं। अपर्याप्तक अवस्था में मात्र देवगति ऐसी है जिसमें उपशम सम्यक्त्व रहता है। शेष तीन गतियों में अपर्याप्त अवस्था में उपशम सम्यक्त्व नहीं रहता, क्योंकि सम्यग्दृष्टि स्त्रीपर्याय में जाता नहीं है।

भो ज्ञानी! पुण्य को हेय मान करके और सम्यग्दृष्टि को इतना महत्त्व देकर यह मत कह देना कि सम्यक्त्व के योग से पुण्य से विभूति मिल रही है। यह निषेध मत करना। चक्रवर्ती को जो विभूति प्राप्त होती है, वह मिथ्यात्व की आराधना से नहीं मिलती, वो सम्यक्त्व की आराधना से मिलती है। यदि वही जीव उत्कृष्ट साधना कर लेता, आराधना कर लेता, तो वह तीर्थंकर भी बन सकता था। परन्तु साधना में कमी रही। पुण्य-पुण्य में अंतर डालते जाना। जो आपको बाह्य द्रव्य मिल रहा है, वो लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मिल रहा है। परन्तु उस लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम को प्राप्त करके भूल मत जाना। उस पुण्य को भोग में लगा दिया तो पाप का हेतु बनेगा। पुण्य तो देव-शास्त्र-गुरु आदि की आराधना का फल है। पुण्य का द्रव्य यानि साता का द्रव्य और फल यानि भोगसामग्री। यदि आपने पुण्य के द्रव्य को भोगसामग्री में लगा दिया, तो वह आगामी पाप का हेतु है। उसी पुण्यफल को आपने दान, शील, तपस्या आदि में लगा दिया तो पुण्य का हेतु है। निर्मल शरीर, उत्कृष्ट संहनन, निरोग शरीर, यह सब पुण्य का फल है, पुण्य नहीं है। शरीर में फोड़ा हुआ है, यह पुण्य है कि पाप है? यह न पुण्य है, न पाप है। यह तो पाप का फल है। यदि उसमें संक्लेशता की तो वो पाप का बीज भी बन जायेगा और आपने विशुद्धता रखी तो पुण्य का बीज बन जायेगा। अंतरंग दृष्टि डालें तो परिणाम पुण्य-पाप का बीज है।

भो ज्ञानी! न पुण्य से द्वेष करो, न पुण्यक्रिया से द्वेष करो। पुण्य को अत्यन्त महिमामंडित मत करो। अगर संसार के ही सुख भोगना है, निकलना ही नहीं है संसार से, तो अच्छे से रहो संसार में। जहाँ आगम में पुण्य को महिमामंडित किया गया है, उसका उद्देश्य मोक्षमार्ग का ही है, संसारमार्ग का नहीं है। इतना वैभव, विभूति, राज्य प्राप्त किया और उसको सड़े हुये तृण के समान छोड़कर दिखा रहे हैं। तुम तो जरा-से वैभव को नहीं छोड़ पा रहे हो। तुम जरा-से पुण्य के फल में लिपटे हो। एक स्त्री मिल गई, एक मकान मिल गया, उसी में प्रसन्न हो रहे हो। 'प्रवचनसार' की भाषा में, वह पुण्य हमें उपादेय नहीं है जिससे पापों का संचय हो। पुण्य के योग से वैभव मिला, पुण्य के योग से शरीर मिला, इंद्रियाँ मिली। वैभव से अहम् बढ़ा, अहम् से कर्म बढ़ा, कर्म से संसार बढ़ा। पुण्य ने तुम्हें क्या दिया? पुण्य ने तुम्हें संसार दिया। ऐसा पुण्य हमें नहीं चाहिये। लेकिन वह पुण्य हमें चाहिये जिससे निरोग शरीर, स्वस्थ

इंद्रियाँ मिलें, संयम के भाव उत्पन्न हों, संयम साधना से मोक्ष की प्राप्ति हो। तुम्हारे पास दोनों द्रव्य हैं, अब आप निर्णय करो।

भो ज्ञानी! पुण्यभाव प्रशस्त भाव है, पुण्यभाव संसार नहीं है। पुण्य के फल में राग, वह संसार है। पुण्यभाव संसार हो जायेगा तो णमोकार मंत्र की माला नहीं फेर पायेंगे।

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्य हेउ होइ जह वि णिदाणं ण कुणइ॥भावसंग्रह॥

सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं होता, वह मोक्ष का ही हेतु है यदि निदान नहीं करता है तो। संसार का हेतु भोगाकांक्षा है, पुण्य नहीं। उस पुण्य के फल की प्राप्ति का जो हेतु बन रहा है, वो संसार का मूल हेतु है। सम्यग्दृष्टि जीव भव प्राप्त करने के लिये पुण्य नहीं करता है। आचार्य महाराज कह रहे हैं, हे योगी! तू शुद्ध निश्चयनय की ओर दृष्टिपात कर, वही लक्ष्य बनाकर चल। अशुभ से बचने के लिये पुण्यकर्म तो करना, लेकिन पुण्यकर्म में उलझने के लिये पुण्यकर्म नहीं करना और दृष्टि रखना शुद्धोपयोग की। यह कथनशैली है। तुमको पुण्य छोड़ना नहीं पड़ेगा। जब शुद्धोपयोग में चले जाओगे तो स्वयं छूट जायेगा, सब क्रियायें छूट जायेंगी। आप मुनि बन गये और बार-बार भाव कर रहे हो कि ऐसे पुण्यकार्य करवाना है। इनमें कब तक उलझे रहोगे? अब निज के भावों को और सँभालो। स्थूल क्रियाओं से उनको हटाओ। फिर कहेंगे कि जाप करो। फिर कहेंगे कि कब-तक जाप करोगे? ध्यान करो पंचपरमेष्ठी का। फिर कहेंगे कि कब-तक पर का ध्यान करोगे? अब तुम निज का ध्यान करो। ये क्रमिक व्यवस्था है।

विरला णिसुणहि तच्चं, विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहिं तच्चं, विरलाणं धारणा होदि॥2/279 का.अनु.॥

कार्तिकेय स्वामी कह रहे हैं कि विरले जीव तत्त्व को जाननेवाले हैं, विरले सुननेवाले हैं। जानने-सुनने वाले बहुत मिल जायेंगे, पर तत्त्वों को समझनेवाले बहुत न्यून हैं और समझनेवाले मिल जायें, पर तत्त्वों पर चलनेवाले करोड़ों में एक हैं। भैया! पुण्य की व्यवस्थायें भिन्न-भिन्न हैं। जब आप निस्पृह वृत्ति में बैठेंगे, समझदार दृष्टि से बैठेंगे, तो यही ध्यान रखना कि प्राप्त पुण्य के उदय से पर में लीन मत होना। यह पुण्य उपादेय

नहीं है। लक्ष्य उपादेय नहीं बनाना। लक्ष्य की वस्तु को व्यक्त करना कोई आवश्यक नहीं है। लक्ष्य की वही वस्तु को व्यक्त करना जो व्यक्त करने के लायक हो। जिन्होंने पाप छोड़े नहीं हैं और पुण्य छोड़ बैठे, वे पुण्य नहीं छोड़ते। वास्तव में पुण्य का फल तो चाह रहे हैं। जो द्रव्य रखा है, उसको चाह रहे हैं। परन्तु प्रमादी होकर भगवान् की पूजा छोड़ देते हैं। आचार्य वादीभसिंह सूरि कह रहे हैं-

पुण्यफलां मेच्छंति
पापं कुर्वन्ति नित्यः॥क्ष. चूड़ा॥

संसार के प्राणी पाप के फल को चाहते नहीं है, परन्तु नित्य पाप कर रहे हैं। पुण्य फल को चाहते हैं, लेकिन पुण्य करना नहीं चाहते, मात्र फल चाहते हैं। सज्जनों का प्रयास संपूर्ण प्राणियों का कल्याण होता है। वे सामान्य जीवों को भी ऊपर ले जाना चाहते हैं। इसलिये आचार्यमहाराज कहते हैं, नहीं भैया! ऐसा करो कि पहले आप पाप से बचो। यदि पाप से बच जाओगे तो पुण्य के उदय से प्रज्ञा मिलती है। पाप के उदय में बुद्धि काम नहीं करती है। जो थका व्यक्ति है, उससे आप बोलते हो भैया! थोड़ा आराम कर लो, फिर हम आपसे मिलेंगे। पाप के फल में जीव इतना थका होता है, परेशान होता है कि उसको सत्क्रिया सत् समझ नहीं आती। उससे कह रहे है कि तुम पुण्य करो। पुण्य जब कर लेगा तो स्वस्थ हो जायेगा, स्वस्थ होगा तो चिन्तन स्वस्थ होगा।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जैसे कोई स्वर्णादि को पा करके छुप कर बैठ जाता है और अकेले में उसका आनंद लेता है कि कितना अच्छा द्रव्य मुझे मिला है। ऐसे ही परिग्रहरहित निर्ग्रन्थ तपोधन ज्ञान को प्राप्त कर एकान्त में बैठकर ज्ञान की रक्षा करता है। स्वरूप की रक्षा कर, इसी को आगे बढ़ाते हुये, अगला कलश कह रहे हैं।

त्यक्त्वा सङ्गं जननमरणातङ्क हेतुं समस्तं
कृत्वा बुद्धय हृदयकमले पूर्णवैराग्यभावम्।
स्थित्वा शक्त्या सहजपरमानंदनिर्व्यग्ररूपे
क्षीणे मोहे तृणमिव सदा लोकमालोकयामः॥कलश 269॥

पहले पुण्य की महिमा गा दी, अब कह रहे हैं परिग्रह छोड़ दो। क्यों? जो

जन्म-मरणरूपी आतंक/व्याधि का कारण है, ऐसे संपूर्ण परिग्रह को छोड़ दो। अपने हृदयकमल में पूर्ण वैराग्यभाव भरके जन्म दो, फिर छोड़ दो, तो प्रसन्न रहोगे। कोई जेब से एक रुपया निकाल कर ले जाय तो दुःख होता है, परन्तु पाँच रुपया मंदिर की गुल्लक में डालकर प्रसन्नता होती है। स्वयं छोड़ने से दुःख नहीं होता है, छूट जाय तो दुःख होता है। महाराज अपनी इच्छा से घर-परिवार छोड़ते हैं तो दुःख नहीं होता है और तुम्हारे यहाँ एक सदस्य भी गुजर जाय तो रोते हो। इसलिये आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि पूर्ण वैराग्यभाव हृदयकमल में स्थित करके, स्वाभाविक परमानंदमय निराकुलरूप ऐसे अपने स्वरूप में शक्तिपूर्वक स्थित होकर, मोह के क्षीण हो जाने पर, इस समस्त लोक को नित्य ही तृण के समान देखते हैं। भो ज्ञानी! पुण्य के फल में कब-तक लीन रहोगे और पाप की परिणति को कब-तक करते रहोगे? इन दोनों से रहित अवस्था ही शुद्ध अवस्था है।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 158 **कलश 270, 271**

उत्थानिका : परमावश्यक अधिकार का उपसंहार

गाथा : सव्वे पुराणपुरिसा, एवं आवासयं कादूण।
अपमत्तपहुदिठाणं, पडिवज्ज य केवली जादा॥158॥

संस्कृत छाया : सर्वे पुराणपुरुषा एवमावश्यकं च कृत्वा।
अप्रमत्त प्रभतिस्थानं प्रतिपद्य च केवलिनो जाताः॥158॥

अन्वयार्थ : (सर्वे पुराणपुरुषाः) सभी पुराणपुरुष (एवं) इस प्रकार से (आवश्यकं च कृत्वा) आवश्यक को करके (अप्रमत्त प्रभृतिस्थानं) अप्रमत्त आदि गुणस्थानों को (प्रतिपद्य) प्राप्त करके (केवलिनः जाताः) केवली भगवान् हो गये हैं।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व गाथा में यह संकेत दिया था कि अमूल्य द्रव्य को प्राप्त करके दरिद्री एकान्त में जाकर उसका उपयोग करता है। ऐसे-ही वह परम मुमुक्षु तपोधन अपने ज्ञानस्वरूप को प्राप्त करके एकान्तस्वरूप में जाकरके उसका अनुभवन करते हैं। परजन उसे देख न लें, यह दृष्टि रखता है वह दरिद्री। काम विकारीभाव मेरे अमूल्य धन का अपहरण न कर लें, ऐसी दृष्टि रखकर तपोधन निज में गुप्त होकरके, एकान्त स्वभाव में जाकरके उसका अनुभवन करते हैं। यही मुनियों की अलौकिक वृत्ति है। आचार्यभगवन् गाथा सं. 158 में कह रहे हैं—जितने पुराणपुरुष हुये हैं, वे सभी इन आवश्यकों की प्राप्ति से हुये हैं। जितने पुराण-पुरुष होंगे, वे आवश्यकों को करके ही होंगे और जितने पुराणपुरुष हो रहे हैं, वे आवश्यकों के द्वारा ही हो रहे हैं। ये त्रैकालिक ध्रुव सत्य है। 'वारसाणुवेक्खा' में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जितने पुरुष मोक्ष गये हैं, भविष्य में जायेंगे, वर्तमान में जा रहे हैं, वे सभी इन बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से ही गये हैं। आवश्यक की स्थिरता अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा के चिन्तन के अभाव में आवश्यक विस्मृत हो जाते हैं और अनावश्यक में जीव की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो जाती है। इसलिये वैराग्य निर्मल रहेगा तो आवश्यक निर्मल

होंगे। अगर वैराग्य में निर्मलता नहीं रहेगी, तो आवश्यक स्थिर नहीं रह पायेंगे।

इस गाथा द्वारा संपूर्ण शंकाओं का समाधान करते हुये कह रहे हैं कि पूर्व में जितने पुराणपुरुष अर्थात् महापुरुष हुये हैं, आवश्यक को करके, अप्रमत्त आदि गुणस्थानों को प्राप्त करके, हुये हैं। यहाँ चतुर्थ, पंचम, षष्टम गुणस्थान की चर्चा नहीं है। अप्रमत्त से प्रारम्भ किया है। सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होता है, वहाँ से मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। लेकिन जब स्वरूप-अवस्था की चर्चा करेंगे, तो प्रमत्त नहीं, अप्रमत्त दशा का ही व्याख्यान करेंगे अर्थात् निश्चय दृष्टि से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ है। निर्विकल्प सप्तम गुणस्थान से ही होता है, इसमें कोई शंका की आवश्यकता नहीं है। भरत, ऐरावत, विदेह क्षेत्रों से जितने शिव को गये हैं, जायेंगे, जा रहे हैं, वे सब आवश्यक क्रिया से ही होंगे।

भो ज्ञानी! निश्चय और व्यवहार अप्रमत्त आदि से लेना। छठवाँ गुणस्थान तो रहेगा ही, परन्तु अप्रमत्त से चर्चा प्रारम्भ होगी। अप्रमत्त दशा होगी तो नीचे के गुणस्थान स्वतः ही होंगे, परन्तु सिद्धि की प्राप्ति उपरिम-उपरिम स्थानों से ही होती है। जो चरमशरीरी होते हैं, वे 10वें से सीधे 12वें में जाते हैं, वे ग्यारहवें गुणस्थान में नहीं जायेंगे। क्षपक श्रेणी माढ़ने वाला सीधे 12वें में जाता है। अप्रतिपाती है। जो उपशमश्रेणी माढ़ रहा है, वो 11वें में जाता है, प्रतिपाती है, गिरना निश्चित है। हल्का-सा राग भी घातक हो जाता है। हमारे तीन भाइयों का क्या होगा? इस राग ने सर्वार्थसिद्धि में रख दिया। परन्तु भो ज्ञानी! जो सर्वार्थसिद्धि में देव हुआ, वो छठवें गुणस्थान से नहीं जा सकता है। ये ध्यान रखना, छठवें गुणस्थान में झूलने वाला सर्वार्थसिद्धि नहीं पहुँच रहा है। उस समय 6वाँ गुणस्थान आ गया, लेकिन वे मुनिराज श्रेणी माढ़ रहे थे, परन्तु क्षपकश्रेणी को नहीं माढ़ पाये भाई के राग में। अतः वह राग नहीं करना जिसके कारण ये आत्मा संसार में रुले। वहाँ धर्मानुराग को भी हेय कह दिया शुद्धोपयोग की दशा में। इसको कह करके अपने को स्वच्छंद मत कर लेना। ये सब चर्चा 6वें गुणस्थान तक है।

भो ज्ञानी! अप्रमत्त दशा में जीव सहज चल रहा है, सहज हो रहा है, सहज प्राप्ति है। उन्हें न तो यह विकल्प है कि मैं किसको कर रहा हूँ, किसको छोड़ रहा हूँ। वो तो हो रहा है। कर्त्ताभाव भी है, करणभाव भी है, कर्त्ताभाव भी नहीं है, करणभाव भी नहीं है। रागादिक भाव न हों तो कर्म का क्षयोपशम क्या करेगा? कर्म का क्षयोपशम न हो तो रागादिक भाव किसमें होगा? निर्बंध आत्मा में कर्म का क्षय या क्षयोपशम नहीं होता। निर्बन्ध आत्मा में रागादिक भाव भी नहीं होते। बंधआत्मा में ही क्षय,

क्षयोपशम है। बंध आत्मा में ही रागादिक भाव हैं। इसलिए जो बन्ध है, वो क्षय या क्षयोपशम से युक्त है। रागादिक भावों से मुक्त जो निर्बन्ध है, वो मात्र सिद्ध परमेश्वर है। वहाँ न क्षय है, न क्षयोपशम है। क्षायिक भी नहीं है। कर्म अपेक्षा कहें तो भाव का ही अभाव है। लब्धियाँ हैं। इसलिए परमपारिणामिक अवस्था मात्र है।

भो ज्ञानी! केवली किसी से कुछ कहते नहीं हैं। व्यवहारनय से तो सबकुछ कह रहे हैं, जान रहे हैं, देख रहे हैं, पर निश्चय नय से वे स्वयं में हैं। जब कोई दूसरे के विषय में सोचेगा तो वह स्वसमय में नहीं होगा, क्योंकि उसे सोचने का भी समय नहीं है। समय को समय नहीं है। समय को समय नहीं तो स्वसमय में नहीं रहा। आवश्यक में यदि पर को सोचने लगे तो व्यवहार आवश्यक को भी नहीं सोच पाओगे। व्यवहार आवश्यक करते-करते भी भूल जाओगे। जब तुम अपने को भूल जाते हो तो दुनियाँ की याद आती है। निर्विकल्प ध्यान अप्रमत्त यतीश्वर के ही होते हैं जो बाह्य व्यापार से विमुक्त हैं, जिनलिंग को धारण किये हुये हैं। नहीं-तो आप वस्त्र धारण किये हुये को अप्रमत्त दशा मान बैठो। यदि आपने वस्त्रधारी को निर्विकल्प ध्यान में स्वीकार कर लिया, तो आप मूल दिगम्बर आम्नाय से बाह्य हो गये।

भो ज्ञानी! 'मूलाचार' में ''विणयो मोक्खद्वारो'' कहा गया है। विनय भी विवेक से करना। पंचपरमेष्ठी, नवदेवता की विनय करना। ऐसा नहीं है कि पुत्र ने पिता के पाँव पड़ लिये तो मोक्ष हो जायेगा। ये लोकाचार है, मोक्षमार्ग नहीं है। विपरीत का विनय भी मोक्षद्वार नहीं है, वो विनय-मिथ्यात्व है। भगवान मुनिसुव्रतनाथ के काल में सबसे ज्यादा विनय-मिथ्यात्व का प्रचार हुआ है। भगवान् शीतलनाथ के समय कुदान की परंपरा प्रारम्भ हुई, इसके पहले खोटे दान नहीं होते थे। कन्यादान, भूमिदान, गोदान, स्वर्णदान इन दानों की परंपरा धर्म के विरहकाल में हुई। सम्राट जैन था, पात्रों को दान दिया करता था। उसका हृदय परिवर्तित कैसे किया जाये, ऐसा विचार कर विधर्मियों ने एक विपरीत ग्रन्थ लिखकर, पुरानी पेटी में रखकर, जमीन में गाड़ दिया। कुछ समय के पश्चात् कहा कि राजपुरोहित को स्वप्न आया है। वह स्वप्न राज्यसभा में घोषित किया गया कि एक अनुपम ग्रन्थ खेत में गड़ा हुआ है। राजसाक्षी में उसको निकाला गया और फिर राजसभा में उसकी वाचना हुई। उसमें लिखा था कि भूमिदान करने से बैकुन्ठ में भूमि की प्राप्ति होगी। कन्यादान करने से स्वर्ग की अप्सरायें प्राप्त होती हैं। स्वर्णदान करने से स्वर्णमयी महल की प्राप्ति होती है। सब दानों का कथन कर

दिया। परिणाम निकला कि शीतलनाथ भगवान् के काल में कुदान/विपरीत दान की परम्परा प्रारम्भ हो गई।

भो ज्ञानी! कोई प्राचीन ग्रन्थ लाकर कहे कि यह प्रमाणिक है, तो पहले अन्य ग्रन्थों से मिलान कर लेना। इसके बाद आप चर्चा करेंगे तो आपकी श्रद्धा इधर से उधर नहीं होगी, अन्यथा विपरीत-मिथ्यात्व में चला जायेगा, गृहीत मिथ्यात्व में चला जायेगा। फिर इतना संक्लेशित हो जाता है कि जान करके भी उसे छोड़ नहीं पाता है।

परम आवश्यक अधिकार का उपसंहार करते हुये कह रहे हैं स्वात्माश्रित निश्चय धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान स्वरूप, बाह्य आवश्यक आदि क्रिया से प्रतिपक्ष शुद्ध निश्चय परमावश्यक रूप ऐसे साक्षात् अपुनर्भवरूपी ऐसी श्रेष्ठ नारी जो अनंग है, अशरीरी है, सुख का कारण है, उससे सभी पुराणपुरुष जिनमें से तीर्थंकर परमदेवादि जो स्वयंबुद्ध होते हैं और कोई बोधितबुद्ध हुये हैं, ये सभी अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त गुणस्थानों के बीच में आरूढ़ होते हुये केवलज्ञानधारी भगवान् हुये हैं। वे सभी परमावश्यक स्वरूप आत्मा की आराधना के प्रसाद से ही हुये हैं, ऐसा जानना चाहिये।

भो ज्ञानी! बाह्य क्रिया 6वें गुणस्थान तक और निश्चय का प्रारम्भ 7वें गुणस्थान से होता है। जहाँ निश्चय है, वहाँ व्यवहार तो रहेगा। जहाँ व्यवहार है, वहाँ निश्चय हो भी सकता है नहीं भी हो सकता है। जब जीव निश्चय में स्थिर होगा, तो व्यवहार का विकल्प नहीं होगा। लेकिन ऐसा मत कहना कि निश्चय में होगे तो मुनिव्रत समाप्त हो जायेगा। व्यवहार समाप्त नहीं होगा, स्वरूपलीनता होगी। जैसे कोई व्यक्ति सामायिक करता है तो उस काल में उसकी ईर्यासमिति होगी कि नहीं? ईर्यासमिति का अभाव नहीं है, ईर्यासमिति के विकल्प का अभाव है।

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव इस अधिकार का उपसंहार करते हुये आत्मा की आराधना के लिये प्रेरित करते हुये दो कलश कह रहे हैं।

स्वात्माराधनाया पुराणपुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः
प्रध्वस्ताखिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः।
तान्नित्यं प्रणमत्यनन्यमनसा मुक्तिस्पृहो निस्पृहः
स स्यात् सर्वजनार्चिताङ्घ्रिकमलः पापाटवीपावकः॥कलश 270॥

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि निज स्वात्मा की आराधना करके पूर्व में जितने पुराण पुरुष हुये वे सब योगी थे। नारायण, प्रतिनारायण मत लेना। योगी जो मुक्ति को गये हैं, जायेंगे, जा रहे हैं, उनकी चर्चा है। यहाँ गृहस्थों की चर्चा नहीं है। पंचमकाल में अस्ति नास्ति दोनों का कथन करना चाहिये। पुराणपुरुष/योगी अपनी आत्मा की आराधना से अखिल कर्मरूपी राक्षसों के समूह को नष्ट करके अपने ज्ञान से तीनलोक में व्यापक हुये हैं और जिष्णु अर्थात् जयशील हुये हैं, जयवन्त हुये हैं। उनको हमेशा एकाग्रमन होकर नमस्कार करने वाला निस्पृही जीव पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि स्वरूप हो जाता है। वह पापरूपी अटवी को नष्ट कर देता है। वह भी सर्वजनों से पूजित चरणकमल वाला हो जाता है। जो भव्यजीव अपनी आत्मा की आराधना से सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, उनको एकाग्रचित्त से नमस्कार करने वाला भव्य स्वयं भी पूज्य भगवान् बन जाता है।

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपं
नित्यानंदं निरुपमगुणालङ्कृतं दिव्यबोधम्।
चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्यग्ररूपं
लब्ध्वा धर्मं परमगुरुतः शर्मणे निर्मलाय॥कलश 271॥

जिन्होंने कनक और कामिनी को हेयरूप जानकर छोड़ दिया है। जो नित्यानंद रूप हैं, गुणों के अलंकार से युक्त हैं, दिव्य ज्ञान वाले हैं, आकुलता रहित हैं, ऐसे परमात्मा में शीघ्र प्रवेश कर। आचार्यभगवन् साथ में यह भी कह रहे हैं कि जब-तक परमगुरु का आशीष नहीं मिलेगा, तब-तक परम स्वरूप में लीन नहीं हो सकते। परमगुरु सर्वज्ञ देव, अरहंतदेव को कहा गया है, अन्य किसी की परमगुरु संज्ञा नहीं है। ऐसे परमगुरु की शरण को प्राप्त कर निर्मल धर्म को प्राप्त करो। परमगुरु के प्रसाद से तुम निर्मल सुख को प्राप्त कर लोगे। इस प्रकार से अपने मन को प्रेरणा देते हुये कहते हैं कि हे मन! तू परमात्मा में तन्मय होगा तो तू परमात्मा बन जायेगा। अन्यथा बाह्य वस्तुओं में उलझा रहने पर दुःख ही उठाता रहेगा।

सुकविजनों रूपी कमलों के लिये जो सूर्य के समान हैं, पंचेंद्रिय के प्रसार से रहित हैं, गात्रमात्र परिग्रह के धारी, श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चय परमावश्यक अधिकार नामक 11वाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

शुद्धोपयोग अधिकार (12)

नियमसार

गाथा-159 **कलश 220**

उत्थानिका : ज्ञानी कथंचित स्व पर प्रकाशक है।

गाथा : जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥159॥

संस्कृत छाया : जानाति पश्यति सर्वं व्यवहारनयेन केवली भगवान्।
केवलज्ञानी जानाति पश्यति नियमेन आत्मानम्॥159॥

अन्वयार्थ : (व्यवहारनयेन) व्यवहारनय से (केवली भगवान्) केवली भगवान (सर्वं जानति पश्यति) सबकुछ जानते और देखते हैं (नियमेन) निश्चयनय से (केवलज्ञानी) केवलज्ञानी (आत्मानं जानाति पश्यति) आत्मा को जानते और देखते हैं।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रन्थराज नियमसार में अंतिम अधिकार (बारहवें अधिकार, शुद्धोपयोग अधिकार) प्रारंभ करते हुए कह रहे हैं कि यह समस्त कर्मों के क्षय करने हेतुभूत अधिकार है। यहाँ शुद्धोपयोग की मूल व्यवस्था की जो चर्चा है, वह न चौथे गुणस्थान की है और न सातवें गुणस्थान की है। कुछ लोग सोच भी नहीं पाते हैं कि सप्तम गुणस्थान में भी अशुद्धोपयोग होता है। बारहवें गुणस्थान तक अशुद्धोपयोग होता है। अपेक्षा समझना। शुद्ध ज्ञान शुद्ध दर्शन, क्षायिक ज्ञान क्षायिक दर्शन। 'उपयोगो लक्षणम्' जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग क्या ? ज्ञान-दर्शन। शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन उसका नाम शुद्धोपयोग है। क्षायोपशमिक ज्ञान, क्षायोपशमिक दर्शन जो है, वो अशुद्ध है, इस अपेक्षा से 12वें गुणस्थान तक अशुद्धोपयोग और 13वें गुणस्थान में प्रकट होता है शुद्धोपयोग। जब चारित्र अपेक्षा कथन करेंगे तो वहाँ 13वें गुणस्थान में जो शुद्धोपयोग है वह ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से है। वहाँ शुद्ध-अशुद्ध उपयोग तो कहना, अशुभ उपयोग नहीं कहना। जिसे हम अशुद्ध उपयोग कह रहे हैं, वह 1 से 12वें गुणस्थान तक रहता है। यह शुभ-अशुभ का व्याख्यान नहीं है। शुद्ध अशुद्ध की मात्र चर्चा है। 12वें गुणस्थान में क्षायोपशमिक ज्ञान है, मति-श्रुत ज्ञान है। अवधि, मनःपर्यय हो सकता है, पर वह भी क्षायोपशमिक है।

प्रथम गुणस्थान में मति-श्रुत तो होता नहीं। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन ज्ञान होते हैं। वे भी अशुद्ध हैं। जब हम मिथ्यात्व की दृष्टि से देखेंगे तो वे अशुभ भी हैं, अशुद्ध भी हैं। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अशुद्ध भी है और अशुभ भी है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव से लेकर 12वें गुणस्थान तक जीव का जो ज्ञान है, वो अशुद्ध तो है, पर अशुभ उपयोग नहीं है। क्षायोपशमिक होने के कारण सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अशुभ नहीं है 4 थे से 12वें के बीच।

आचार्यभगवन् ज्ञान-दर्शन की चर्चा कर रहे हैं। शुद्धोपयोग यानि क्षायिकज्ञान यानि केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन यानि केवल दर्शन। उपयोग की दृष्टि से देखेंगे तो केवलज्ञान, केवलदर्शन शुद्ध हैं, इसके अलावा हमारे पास जो दर्शन-ज्ञान हैं वो सब अशुद्ध हैं। छद्‌मस्थ अपेक्षा 1 से 3 तक तारतम्य से अशुभ उपयोग, 4 से 6 तक तारतम्य से शुभोपयोग, 7 से 12वें गुणस्थान तक तारतम्य से शुद्धोपयोग और 13, 14 में सिद्ध आदि शुद्धोपयोग का फल। यह विवक्षा परिणतिरूप उपयोग की अपेक्षा से है। यह लक्षणात्मक चर्चा नहीं है। यह परिणति यानि चारित्रात्मक दृष्टि से उपयोग की चर्चा है। यह जो चर्चा कर रहे हैं, 'जीवो उपयोगो लक्षणम्।' तब तो शुद्ध ही शुद्ध है, अशुभ नहीं है। 4 से 6 तक शुभोपयोग की व्यवस्था है। आर्त्तध्यान 6वें तक चलता है, वो आर्त्तध्यान जनितोपयोग में अशुद्धि भी आती है, अशुभ भी बनता है, पर सम्यक्त्व अपेक्षा शुभ ही है। ध्यान अपेक्षा लगाना। सम्यक्त्व में मलिनता नहीं आती, अन्यथा गुणस्थान गिर जाता है। अनंतानुबंधी कषाय आई कि गुणस्थान गया, सम्यक्त्व ही गया। जब उनके सप्तम गुणस्थान बनेगा, तब वीतराग भाव और जब छठवें गुणस्थान में होंगे, तब सराग भाव है।

आगम में स्पष्ट कथन है कि छठवें गुणस्थान से सराग संयम प्रारंभ होता है, वहाँ तो वीतराग संयम का कोई नाम ही नहीं है। पंचम गुणस्थान में तो सराग संयम भी नहीं है, वहाँ संयमासंयम है।

सराग संयम यानि छठवाँ गुणस्थान। सप्तम गुणस्थान से वीतराग संयम प्रारंभ होता है।

'नियमसार' के शुद्धोपयोग अधिकार को सकल कर्म के प्रलय के हेतुभूत कहते हैं। यह पूरा प्रकरण न्यायात्मक है। आचार्यभगवन् गाथा 159 में कह रहे हैं कि केवली भगवान जानते हैं देखते हैं संपूर्ण द्रव्यों को, यह व्यवहारनय से कथन है, लेकिन अभूतार्थ नहीं है। निश्चय नय से केवलज्ञानी आत्मा को जानते और देखते हैं। जानने का जो विकल्प होता है, वो छद्‌मस्थों के होता है। केवली छद्‌मस्थों जैसा विकल्प करके नहीं जानते हैं, नहीं देखते हैं।

वे स्वस्वरूप में लीन हैं। जैसे दर्पण में द्रव्यों के बिम्ब झलकते हैं, फिर भी दर्पण पररूप नहीं होता है, इसी प्रकार केवली ज्ञेयों को जानते हैं, पर केवली ज्ञेयरूप नहीं होते हैं। ज्ञान तो ज्ञान है। ज्ञान ज्ञेयाकार नहीं है। ज्ञान यदि ज्ञेयाकार हो जायेगा तो नानारूपता आ जायेगी। ज्ञान स्वरूप है। दर्पण में झलकना, ये उसकी निर्मलता है, परन्तु दर्पण द्रव्यरूप नहीं होता है। जानते हुए भी, देखते हुए भी यदि हम तद्रूपता मान लेंगे, तो बहुत बड़ा दोष आ जायेगा।

विश्व में शुद्ध द्रव्य भी है, अशुद्ध द्रव्य भी है, तो जाननेवाला वैसा हो जायेगा। अशुद्ध को जानेगा तो अशुद्धरूप हो जायेगा, शुद्ध को जानेगा तो शुद्धरूप हो जायेगा। परन्तु ऐसा नहीं होता है। सन्निकर्ष भाव नहीं है। यदि सन्निकर्ष भाव बनता है तो सर्वज्ञता का अभाव होता है। जो सन्निपात है, वह स्पर्श है, उसका नाम सन्निकर्ष है। विषय कभी भी केवली के ज्ञान में स्पर्शित होने नहीं जाता है। केवली विषय को स्पर्शित होने नहीं देते हैं। केवली के ज्ञान में विषय झलकता है, जैसे कि नेत्र। आप देखना चाह रहे हो, दूसरा आँख खोल ले तो उसकी आँख में आपका प्रतिबिम्ब झलकेगा। किसी भी आँखों की पुतली में देखना, आपका फोटो झलकेगा। उस आँख की निर्मलता है।

आँख में जो-जो द्रव्य दिख रहे हैं, वो सब वहाँ हैं, लेकिन फिर भी दूर हैं। सन्निकर्ष मानने पर अग्नि को उठाकर पहले आँखों पर लगाना पड़े जो सन्निकर्ष आँखों से हो जायेगा वो कभी दिखेगा नहीं। दो का सन्निकर्ष होता नहीं, चक्षु और मन। आँखों में अंजन लगाने पर स्वयं को नहीं दिखता पर दूसरे को दिखता है। सन्निकर्ष का ज्ञान चक्षु नहीं कर पाता और सन्निकर्ष ज्ञान का ज्ञान मन भी नहीं करता है। यदि हम सन्निकर्ष को प्रमाण मान लेते हैं तो सर्वज्ञता की हानि होगी, क्योंकि सर्वज्ञ को भी फिर इंद्रियजन्य ज्ञान होगा। सन्निकर्ष यानि इंद्रियज्ञान और जिसको इंद्रियज्ञान है वहाँ अतीन्द्रिय ज्ञान का अभाव है। इसलिए सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है, सर्वज्ञता (सम्यग्ज्ञान) प्रमाण है। सर्वज्ञता में भी ज्ञेय ज्ञेयरूप है ज्ञान ज्ञानरूप है। ज्ञेय ज्ञानरूप नहीं है। ये ज्ञान की निर्मलता है जो ज्ञेय झलकते हैं। यदि ज्ञेयों से ज्ञान मानते हो, ज्ञेयों के होने पर ही ज्ञान होता है, तो भी अनर्थ हो जायेगा। ज्ञेयों से ज्ञान मानने पर, ज्ञेय सामने होंगे तभी ज्ञान होगा, तो सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होगी।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षा कश्चिद्यथा।

राम को क्या आपने देखा ? सुमेरू पर्वत को क्या आप देख रहे हो ? नंदीश्वर द्वीप क्या आप देख रहे हो ? आपने पिताजी के पिताजी को देखा क्या ? जो सामने नहीं है वो

नहीं है। यह सन्निकर्ष मानते हो, इंद्रिय ज्ञान को, सामने के ज्ञान को ही मानते हो, तो आप जैन नहीं होगे, आप चार्वाक होगे, क्योंकि चार्वाक का सिद्धान्त है कि जो सामने है, वही है। मैं न स्वर्ग जानता हूँ न मोक्ष। दूसरे, सर्वज्ञता के विशद ज्ञान पर भी प्रश्नचिह्न खड़ा हो जाएगा।

गौतम बुद्ध से उनके शिष्य आनंद ने पूछा, 'भन्ते! स्वर्ग, मोक्ष के बारे में समझायें।' तो बुद्ध कहने लगे, 'आपको स्वर्ग-मोक्ष से क्या प्रयोजन? तुम वर्तमान में देखो।' यह कोई समाधान नहीं था। आचार्यभगवन् उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' में "ज्ञातारं विश्वतत्त्वानाम्" लिखकर बौद्धमत का खंडन किया है, क्योंकि उन्होंने अपने शिष्यों को यह कहके बिठाल दिया कि तू क्यों भूत भविष्य की बात करता है? वर्तमान को देख।' इसका तात्पर्य भूत नहीं था क्या ? भविष्य नहीं होगा क्या ? उनको कहना यह चाहिये था कि मुझे भूत-भविष्य का ज्ञान नहीं है। चेला श्रद्धावान होने से बैठ गया।

जो मत तर्कवादी होता है, जैसे जैनदर्शन। आप शिष्य को श्रद्धा से समझा दोगे तो भी यदि उसे शंका होगी तो वह यही कहेगा कि आप अपने कथन को तर्क से घटित करिये। यदि तर्क से घटित कर दिया तो स्वीकार, अन्यथा स्वीकार नहीं है। केवली भगवान जानते हैं, देखते हैं व्यवहार से, मात्र ज्ञान से। आप लोग ज्ञानवान हो कि ज्ञानी हो ? जीव के लक्षण के अनुसार आप ज्ञानी हो। सिद्धान्त आपको ज्ञानवान कहना स्वीकार नहीं करेगा, कारण लाठीवान, धनवान, छत्रीवान आदि यह सब सोपाधिक अवस्था हैं। लाठी जिसके हाथ में है, वह लाठीवान, छत्री जिसके हाथ में है वह छत्रीवान। 'राजवार्तिक', इसके द्वारा वैशेषिक मत का **खंडन** किया गया है। वैशेषिक गुण-गुणी में भेद करता है। आत्मा ज्ञानवान है। जैसे वृक्ष को वसूले से छीला तो वृक्ष अलग है, वसूला अलग है, ऐसे ही आत्मा ज्ञान से जानती है। आत्मा अलग हो गई, ज्ञान अलग। अग्नि उष्णवान है कि उष्ण है ? यदि उष्णवान कहोगे तो अग्निद्रव्य उष्णता को पहले उधार लेकर आता है तो आत्मा ज्ञानवान नहीं। महाराज जी! आप सबको ज्ञानी कहते हो? भाई! ज्ञानी नहीं कहोगे तो क्या कहोगे ? निगोदिया भी ज्ञानी है। ज्ञान तो आत्मा का लक्षण है। उसको वैसा नहीं कहोगे तो असत्य हो जायेगा। यहाँ लक्षणात्मक चर्चा है।

जब सम्यक्त्व की अपेक्षा कथन करोगे तो तीसरे गुणस्थान तक सभी अज्ञानी और चारित्र अपेक्षा कथन करोगे तो चौथा गुणस्थान भी अज्ञानी और सकल संयम की अपेक्षा कथन करोगे तो मुनिमहाराज (छठवें गुणस्थानवर्ती) ज्ञानी, इसके नीचे सभी अज्ञानी।

शुद्धोपयोग की दृष्टि से, समयसार की अपेक्षा से, सातवें गुणस्थान से ज्ञानी, शेष अज्ञानी। शुद्धोपयोग अधिकार केवलज्ञान-दर्शन की अपेक्षा चर्चा करने पर बारहवें गुणस्थान तक सभी अज्ञानी और तेरहवें, चौदहवें, सिद्ध भगवान ज्ञानी।

निश्चयनय से किसको जानते हैं? 'अप्पाणं' अपनी निज आत्मा को। 'अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूप प्रकाशकत्वं कथंचिदुक्तम्।' यहाँ कह रहे हैं कि ज्ञान का स्वरूप स्व-पर प्रकाशक है। परप्रकाशी मात्र नहीं है। वैशेषिक ज्ञान को परप्रकाशी मात्र मानता है, स्वप्रकाशी नहीं मानता है। वह उदाहरण देता है कि नट अपने कंधे पर बैठ करके खेल दिखाता है क्या? वैशेषिक कहते हैं कि ज्ञान जो होता है वह स्वयं को नहीं जानता है, वो दूसरे को जानता है। स्वयं को भी जानेगा तो वो दूसरे के ज्ञान से जानेगा। जैसे नट दूसरे के कंधे पर बैठकर खेल दिखाता है, वैसे-ही ज्ञान जो होता है वो पर से होता है। उन्होंने आत्मा और ज्ञान में भेद कर दिया। जैनदर्शन कहता है कि तू ठीक नहीं कह रहा है। ज्ञान जो होता है, वो नट का खेल नहीं है। ज्ञान प्रदीप-वत् होता है। वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है और पर को भी प्रकाशित करता है। ऐसा नहीं होता है कि अंधेरे में कोई सामग्री उठाने गये तो दीपक ले गये और दीपक को उठाने गये तो दूसरा दीपक ले गये।

वीतराग विज्ञान की कोई भी बात अनिर्णय रूप से कभी नहीं की जाती है, वो निर्णय रूप से की जाती है। सर्वज्ञदेव जो होते हैं, वे छद्मस्थ नहीं हैं, वे सर्वज्ञ ही हैं। वे एक-एक को ही नहीं जानते, अपितु त्रैकालिक पर्यायों को युगपत् जानते हैं। वास्तव में यह व्यवहार कथन है। वे तो निश्चय से स्वयं को ही जानते हैं। आत्मा के गुण को घात करने वाले घातिया कर्म मुख्य शत्रु हैं। आत्मा का जो वास्तविक गुण है केवलज्ञान-दर्शन, अनंत चतुष्टय, उसका घात घातिया कर्म करता है। ऐसे घातिकर्म के ध्वंस हो जाने पर, उसकी विविध विकल्प रूपी सेना के नष्ट हो जाने पर, संपूर्ण निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों को व्यवहारनय से तीनों लोक और तीनों कालवर्ती चराचर संपूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय को एकसाथ युगपत एक ही समय में जानते हैं, देखते हैं वे परम महाराज भगवान् परमेश्वर। इस प्रकार, जो पराश्रित है, वो व्यवहार है। 'पराश्रितो व्यवहारः' जिसमें दूसरों का आश्रय हो, वह सब व्यवहार है।

शुद्धनिश्चयनय से परमेश्वर महादेवाधिदेव, सर्वज्ञ वीतराग के परद्रव्य को ग्रहण करने की अपेक्षा, दर्शनत्व-ज्ञायकत्व की अपेक्षा जो विविध विकल्परूपी सेना की उत्पत्ति के लिए मूल है, जड़ है, ऐसे ध्यान का अभाव हो जाने पर वे भगवान् तीनों काल में उपाधि रहित,

अवधि रहित, नित्य, शुद्ध सहज ज्ञान और सहज दर्शन के द्वारा, निज कारणपरमात्मा को, स्वयं कार्यपरमात्मा होते हुए भी, जानते और देखते हैं। अपना जो ज्ञान है, वह अवधि से युक्त है और सर्वज्ञ का जो ज्ञान है, वह निरवधि है। अरिहन्तदेव अभी कार्यपरमात्मा नहीं हैं, वे कारणपरमात्मा हैं और उनके ज्ञान में निज (कार्य) परमात्मा भी झलकता है। जब चराचर को देख रहे हैं, तो उनकी अपनी सिद्धपर्याय भी झलकेगी। स्वयं की पर्याय भी उनके ज्ञान में है।

ज्ञान का धर्म ही तो स्व-पर प्रकाशकपना है, प्रदीप के समान। घटादिप्रमितेः। प्रमिति अर्थात् जानन क्रिया, प्रमाण अर्थात् जिससे जाना जा रहा है। प्रमेय अर्थात् जानन वस्तु अर्थात् ज्ञेय अर्थात् प्रमाण, जिसके द्वारा जाना जाता है। आत्मा प्रमिति है, आत्मा प्रमति है, आत्मा प्रमेय है, ये निश्चयनय से कथन है। व्यवहारनय से ज्ञान प्रमाण है, आत्मा प्रमति हे। घटादि के जाननेरूप क्रिया से, प्रकाशरूप दीपक भिन्न होते हुए भी, स्वयं प्रकाशरूप होने से, अपने को और पर को प्रकाशित कर देता है। उसी प्रकार से आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होने से, व्यवहारनय से, त्रिलोक और त्रिकाल रूप पर को तथा स्वयं प्रकाशरूप आत्मा को प्रकाशित करता है। यहाँ आत्मा से तात्पर्य अरिहन्त भगवान की आत्मा से है। निश्चयनय से स्वयं से स्वयं का प्रकाश करते हैं। व्यवहारनय से सर्वज्ञ हैं और निश्चयनय से सर्वज्ञ आत्मज्ञ हैं।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्धोपयोग अधिकार में अरहन्त देव के स्वरूप का कथन करते हुए कहा कि निश्चयनय से सर्वज्ञ तो आत्मज्ञ हैं और व्यवहार दृष्टि से वे सर्वज्ञ हैं।

महासेन पंडितदेव, जिन्होंने छ्यानवे पाखंडी मतों से संघर्ष कर, पराजित कर, विजय प्राप्त करके, जो विशाल कीर्ति अर्जित की है, वे भी आत्मा के स्वरूप का कथन ऐसा ही कर रहे हैं-

यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रमितेः पृथक्॥

वस्तु का निर्णय इंद्रियों से नहीं होता है, वस्तु का निर्णय मन से नहीं होता है, वस्तु का निर्णय सम्यग्ज्ञान से होता है। सम्यग्ज्ञान कैसा है ? प्रदीप के समान है, स्व-पर प्रकाशी है। इंद्रियों से वस्तु का निर्णय मान लोगे तो इंद्रियों का निर्णय कभी यथार्थ नहीं होता, क्योंकि इंद्रिय- ज्ञान अस्थाई है। कभी सत्य का निर्णय कर लेता है कभी असत्य का भी निर्णय कर लेता है। सम्यग्ज्ञान यथार्थ है। इंद्रियज्ञान प्रमाण नहीं है, सम्यग्ज्ञान प्रमाण है। आप सोच रहे होंगे कि जो सम्यग्ज्ञान हो रहा है, इंद्रियों से ही तो हो रहा है? नहीं हो रहा है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान इंद्रिय मन के संयोग से तो होता है, लेकिन इंद्रियज्ञान नहीं है। इंद्रियों से ज्ञान होता है, पर इंद्रियाँ ज्ञान नहीं हैं। इंद्रियाँ यदि ज्ञान हो जायेंगी, तो नेत्र बन्द करके तुम किसी विषय का चिन्तन नहीं कर पाओगे जो तुम नहीं जानते।

आप स्कूल गये, कॉलेज गये, घर से पूर्ण सुरक्षित गये थे, लेकिन विषयों में प्रवृत्त हुये। कोई जीव सीधे पाप नहीं करता है। सुनता है, फिर उसको आंशिक अनुभव करता है। जैसे ही उसको अनुभूति में आनंद आने लग गया, फिर उसे कोई नहीं बचा पाता। तीन पदार्थ हैं दृष्ट, श्रुत, अनुभूत। इन तीन से अपनी रक्षा करना अनिवार्य है। आहार को देखने से, उसके उपयोग में जाने से, पेट खाली हो जाने से व्यक्ति को भूख लगती है और चौथा हेतु दिया है कि असाता कर्म की उदीरणा होने पर भूख सताती है। द्रव्य की प्राप्ति होती है साता के उदय से, लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से। असाता के उदय से भूख लग रही थी। असाता का उदय न आए तो भूख लग नहीं सकती। अज्ञानी भोजन को सुख मानते हैं, परन्तु ज्ञानी असाता कर्म का उदय मानते हैं। एक जीव सोच रहा है कि देखो मेरे कैसे असाता कर्म का उदय है

कि मुझे भूख सता रही है। पुण्यात्मा जीव का भोजन कम होता है। पुण्यात्मा जीव को भूख कम लगती है।

बाँध से पानी नहर में होकर खेत में जाता है। खेत वाले सोचते हैं कि पानी बहुत आ रहा है। वास्तव में पानी तो उतना ही है जितना डेम में है। ज्यादा खोल दिया तो ज्यादा आने लगा, कम खोला तो कम आने लगा। वो पानी कहाँ गया ? खेत में। आपकी दृष्टि में खेत में गया तो अगले वर्ष वही बरसेगा। पानी उतना ही रहेगा। वो न कभी कम होगा, न बढ़ेगा। आप यहाँ सर्विस कर रहे थे, कल आपको भोपाल भेज दिया गया, भोपाल वाले को यहाँ भेज दिया गया। संख्या में अंतर नहीं हुआ, मात्र स्थानांतरण हुआ है। लोग सोचते हैं कि यहाँ लोग बहुत बढ़ गये, पर कहीं कम भी तो हुये हैं। इतना मानके चलो कि गति परिवर्तन हो रहा है, जीव परिवर्तन कहीं नहीं हो रहा है। जो सिद्धालय में जायेंगे, वो भी जीव हैं। आप इतनी श्रद्धा बनाके रखो कि कोई मर भी जाये तो तीनलोक के बाहर नहीं जायेगा। त्रस बनेगा तो त्रसनाली के बाहर नहीं जायेगा। स्थावर अर्थात् एकेन्द्रिय हुआ तो तीनलोक के बाहर नहीं जायेगा। द्रव्य मात्र लोकाकाश में है, वह अलोकाकाश में भी नहीं जायेगा। अतः शोक करने का कोई प्रसंग ही नहीं है।

सभी जीवों में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चारों संज्ञायें समान हैं। रोना, खाना, संतान को जन्म देना ये चारों संज्ञायें एक-सी हैं। इतना है कि तारतम्यता अलग हो सकती है, पर संज्ञा तो एक-सी है।

सम्यग्ज्ञान प्रदीपवत् है। वह प्रदीप के समान स्व और पर का निश्चय करानेवाला है तथा जाननेरूप क्रिया से कंथचित् भिन्न है। मैं ज्ञाता हूँ, तो ज्ञान हूँ क्या? मैं जाननेवाला हूँ, तो कर्त्ता हो गया क्या? मैं ज्ञाता हूँ, पेन ज्ञेय है। मैं जाननेवाला हूँ और ये जानने‌योग्य है। पर जनवानेवाला कौन है? उसका नाम ज्ञान है। इसलिये कथंचित किन्हीं प्रमिति से ज्ञान भिन्न नजर आता है, जबकि आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं, अभिन्न हैं। कथनशैली में भिन्नता भी दिखती है। वृक्ष में फल लगे हैं, वृक्ष से पत्ता गिर रहा है, वृक्ष में डाली लगी हुई है, कितनी भिन्नता नजर आ रही हैं। जबकि ये सब वृक्ष है। आत्मा जानती है, कान से सुनती, आँख से देखती, नाक से सूंघती, स्पर्श से स्पर्श करती, रसना से चखती है। आत्मा जैसे भिन्न-भिन्न इंद्रियों एवं पदार्थों से भिन्न-भिन्न ज्ञान कर रही है, जबकि ज्ञाता आत्मा ही है, तो यहाँ पृथकत्व भाव भी है, अपृथकत्व भाव भी है। भिन्नत्व भाव भी है, अभिन्नत्व भाव भी है।

फिर भी ज्ञेय तो ज्ञेय रहेगा, ज्ञान तो ज्ञान रहेगा। सर्वज्ञ तो सर्वज्ञ ही है, वह कभी पररूप नहीं होगा। पर का ज्ञाता होने पर भी ज्ञाता नहीं है। दर्पण प्रतिबिम्बित होने पर भी प्रतिबिम्ब नहीं है। कुयें में आपने आवाज लगाई, वहाँ से तुरन्त प्रतिध्वनित होती है। जो प्रतिध्वनि आ रही है, वो कुये की आवाज है क्या ? कि आपकी आवाज है ? शब्द तेरा धर्म नहीं है। आपने बोला, वहाँ से प्रतिध्वनि हो रही है। कुआँ बोलता नहीं है, वो जड़ है और आपकी आवाज निकल चुकी है, अब वो किसकी वस्तु बची ? जब आप बोल रहे थे, तब तुम्हारी थी। कुये से कोई आवाज आती नहीं है, पर अब आवाज तुम्हारे कानों में स्वयं आ रही है, बताइये वो आवाज किसकी है ? आपकी है न? फिर भी आपकी नहीं है, क्योंकि आप तो मौन हो। उस समय वो वस्तु कौन-सी बची? इससे ध्वनित होता है कि पुद्गल की पर्याय भी पुन: परिणमन करके दूसरी पर्याय को जन्म दे देती है। वे पुद्गल वर्गणायें जो भाषावर्गणायें थी, आपके कण्ठ, तालू, जिह्वा इनके सहयोग से वाणी निकल रही है। वह वाणी निकलने के बाद नष्ट नहीं हुई। कुआँ एक यंत्र है, उसने आपकी वाणी को वापस कर दिया है। यद्यपि तुम्हारा निकला शब्द तो निकल गया, वो आपका नहीं बचा, लेकिन हमने उसको सुरक्षित रखके नष्ट नहीं होने दिया, परिणमन करा दिया, तीसरी पर्याय ने जन्म ले लिया। यह सब पर्याय का परिणमन साथ में चल रहा है। पुद्गल की जो शक्तियाँ हैं, वे पुद्गल को प्रभावित करके अपने रूप परिणमित करा रही हैं। आप यही कहेंगे कि मैंने जो बोला? फिर भी वो आपका नहीं बचा। आपका तो गया, अब तो वो वर्गणा है। वहाँ पर वर्गणा में भी वर्गणा आ रही है।

आपने जब जन्म लिया था तो आप अब भी कहते हो कि मेरा वही शरीर है। वास्तव में वो शरीर नहीं बचा। आपकी चमड़ी में सात परतें हैं, प्रतिवर्ष पतझड़ होता है इनका। नई-नई वर्गणायें आ रही हैं, पुरानी क्षीण हो रही हैं, परन्तु आयुकर्म स्थिर है। वृक्ष स्थिर है, उसमें पुराने झड़ते जा रहे हैं, नये आते जा रहे हैं। वृक्ष तो पूरा नया हो गया।

निश्चयनय से भी ज्ञान में स्व-पर प्रकाशकपना है ही, क्योंकि वह उपराग रहित निरंजन स्वभाव में निरत है। 'स्वाश्रितो निश्चय:' ऐसा कथन है। सहजज्ञान जो है वह संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से आत्मा से भिन्न है, क्योंकि भिन्न नाम और भिन्न लक्षण आदि से कहा जा रहा है। फिर भी वह सहजज्ञान, भिन्न लक्षण से कहे जाने पर भी, परमार्थ से भिन्न नहीं है। इसलिये यह सहजज्ञान आत्मा में होनेवाले दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है

और कारण-परमात्मा-स्वरूप अपनी आत्मा को भी जानता है। लक्षण से भिन्नता नजर आने पर भी वस्तु भिन्न नहीं होती, जैसे मैंने ज्ञान से जाना। भिन्नता नजर आ रही है, लेकिन ज्ञान ही आत्मा और आत्मा ही ज्ञान है। विभक्तता दिखने पर भी अविभक्तता है। पृथक्ता दिखने पर भी अपृथक्ता है। मेरी आँख ने देखा, मेरी नाक ने सूंघा। मेरा-मेरा कहकर तूने दो बना डाले। तूने सूंघा, तूने देखा। तेरी नाक भिन्न है, तेरी आँख भिन्न है। लेकिन ये बताइये कि ये सब किया किसने ? तूने।

सेनापति ने सेना को आदेशित कर दिया और सैनिक ने ऐसा किया, सैनिक ने वैसा किया, परन्तु शत्रु कहता है कि हम सैनिक को नहीं जानते। ये बताओ, सेना किसकी है ? तुम इंद्रियों को दोष देकर स्वच्छंदी मत बन जाना कि क्या करूँ, आँख चली गई, देखने में आ गया। क्या करूँ, कान चले गये, सुनने में आ गया, मैं तो सुनना नहीं चाहता था। तू इतना भोला बन रहा है, विषयों में लिप्त है और कहता है कि वो तो इंद्रिय का विषय था, मैं तो स्वतंत्र था, मैंने कुछ नहीं किया। ठीक है, लेकिन ये तो बताओ कि वे इंद्रियाँ किसमें थी ? उनको प्रेरित कौन कर रहा था ? दोषी इंद्रियाँ नहीं हैं, दोषी तू है। इस कारण से आत्मगत दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जो जानते हैं वे स्वयं की आत्मा को जानते हैं। ऐसे कारणपरमात्मा के स्वरूप को भी जानते हैं, कार्यपरमात्मा को भी जानते हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न कथन होने पर भी अभिन्न इनका स्वामी आत्मा है। जो परमात्मा है, वह भी आत्मा है। जो बहिरात्मा है, वह भी आत्मा है। जो अंतरात्मा है, वह भी आत्मा है। यहाँ कह रहे हैं कि जो ज्ञान है, वह भी आत्मा है और जो दर्शन है, वह भी आत्मा है। जो आत्मा है, वो ही ज्ञान-दर्शन है। ये कारण-कार्य भाव है। कारण-कार्य भाव होने पर भी भिन्नत्व भाव नहीं है, अभिन्नत्व भाव है। मूल बात यह है कि कारण-कार्य भाव होने पर भी ज्ञान से आत्मा की पहचान होती है, कभी-कभी आत्मा से ज्ञान की पहचान होती है। आप पहचान किसी से किसी की कराओ, लेकिन दोनों एक है, समझ की शैली है। चाहे नाक कहो, कान कहो, लेकिन शरीर की बात कहोगे तो सब एक है। व्यवहार से स्व-पर प्रकाशी भिन्नत्व के है और निश्चय से स्व-पर प्रकाशी निज के है। निज का ही ज्ञाता हूँ। अपने ही दर्शन को जानता हूँ, अपने ज्ञान का वेदन करता हूँ। व्यवहारनय से ज्ञानरूप वेदन है। पर को भी जानता है, अपने ही अनंत गुणों को जान रहा है, स्व-पर प्रकाशी है और परद्रव्यों को भी देख रहा है, जान रहा है।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्धोपयोग अधिकार में आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण की चर्चा की, जो स्व-पर प्रकाशी है। ज्ञान तो ज्ञान है, लेकिन वह ज्ञेयरूप नहीं है, ऐसा नहीं है। ज्ञान भी है, ज्ञेय भी है, फिर भी ज्ञेयाकार नहीं है। स्वयं में ज्ञान है, स्वयं में ज्ञेय है। जिसमें ज्ञान है, वह तत्त्व भी है। जिसमें ज्ञान है, वह द्रव्य भी है। अस्तिकाय भी है। ज्ञान पदार्थ भी है। ये सब ज्ञेय हैं निश्चय दृष्टि से और व्यवहार दृष्टि से। दोनों दृष्टियों से हैं। जो स्वयं को नहीं जाने, वह ज्ञान ही नहीं है। जो पर मात्र को जाने, वह ज्ञान ही नहीं है। स्वयं प्रकाशी न हो, परप्रकाशी ही हो, वो दीपक कैसा ? जो स्व-पर प्रकाशी है, वही दीपक है। इसी प्रकार से जो ज्ञान है, स्व-पर प्रकाशी है।

"अनेक स्वाभावानं मध्ये ज्ञानाख्य: परमस्वभावो गृहीत:॥(56 आ. प.) ॥

अनेक स्वभावों के मध्य में ज्ञानस्वभाव परमस्वभाव है और जहाँ ज्ञानस्वभाव का अभाव है, वहाँ कोई भाव नहीं। आत्मा का लक्षण सुख नहीं है, आत्मा का लक्षण वीर्य नहीं है। आत्मा का लक्षण ज्ञान-दर्शन है और जिसमें ज्ञान-दर्शन है, उसमें सुखस्वभाव भी है, वीर्य-स्वभाव भी है, अनंतचतुष्टय भी है। ज्ञान की महिमा का व्याख्यान क्यों? अभी सम्यक्त्व शब्द नहीं जोड़ना, अभी मिथ्यात्व शब्द नहीं जोड़ना। अनंत द्रव्यों से इस जीवद्रव्य को भिन्न करानेवाला कोई है, उसका नाम ज्ञान है। अनेक द्रव्यों से एक द्रव्य को पृथक् कराया जाय जिस गुण से, उसका नाम लक्षण है। "आत्मभूत लक्षणं, अनात्मभूत लक्षणम्"।

जिसके द्वारा तुझे अलग किया जाता है, तेरी सत्ता को बताने वाला कोई है, उसका नाम ज्ञान है। ज्ञान चाहे निगोदिया का हो, चाहे सिद्ध का हो, वो त्रैकालिक है। सम्यग्ज्ञान त्रैकालिक नहीं है, मिथ्याज्ञान त्रैकालिक नहीं है। उसमें सम्यक्त्व गुण प्रकट हो जाता है तो ज्ञान की सम्यक् पर्याय आ गई। मिथ्यात्व गुण होता है तो ज्ञान की मिथ्यात्व पर्याय आ गई। कीचड़ युक्त नाली का पानी और ग्लास का स्वच्छ पानी, स्वभाव की दृष्टि से दोनों शीतल हैं। जो निगोदिया है वो भी ज्ञानी है, जो सिद्धालय में बैठा है वह भी ज्ञानी है। अंतर सिर्फ इतना है कि एक कीचड़ वाला पानी है स्वच्छ पानी है। इसी तरह मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान है। अंतर इतना है कि एक मखमल की डिब्बी में रखा है और दूसरा खदान में पड़ा हुआ है, पर दोनों सोना है। एक किसी के कण्ठ को शोभित कर रहा है तो एक खदान में अपने आप शोभित हो रहा है। निगोदिया का ज्ञान खान में है और केवली का ज्ञान कण्ठ में है, पर दोनों ज्ञान

ज्ञानत्व की अपेक्षा ज्ञान हैं, फिर भी महान् अंतर है। ऐसे-ही पुण्य-पाप आस्रव की अपेक्षा से आस्रव है, दोनों संसार बढ़ाते हैं, फिर भी महान अंतर है। एक परम्परा से मोक्ष का साधान बन रहा है और दूसरा संसार का साधन बन रहा है। जो प्रशस्त है, वह भी आस्रव करा रहा है और जो अप्रशस्त है, वो भी आस्रव करा रहा है।

इस अधिकार में चर्चा शुद्धोपयोग की है, मिलावट की नहीं है। मिलावट कुछ भी नहीं। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि समयसार कलश में ज्ञान के विषय में कह रहे हैं।

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत—
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकारस्वरसभरतोत्यन्तगंभीरधीरं
पूर्ण ज्ञानं ज्वलितमशले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥192॥

जो पूर्ण ज्ञान है, वह अपनी अचल महिमा में लीन रहता है। पर से कोई प्रयोजन नहीं। यह कब प्रकट होगा ? जब बंध का छेद होगा। बंध के छेद के अभाव में वस्तु प्रकट नहीं होती। जब चक्रवर्ती गुफा में प्रवेश करता है, वज्रदण्ड से छेद करता है, तो उसमें इतनी गैस भरी होती है कि गुफा छह माह में ठंडी होती है। जीव छह माह तक एकान्त में जाकर, कषाय की मंदता में ध्यान करे, एकाग्रता में छह माह सतत अभ्यास करे, तो उसको भेदविज्ञान जाग्रत हो सकता है। लोग क्या अर्थ लगा लेते हैं कि छह महीने में एकबार शुद्धोपयोग की झलक आ जाती है। यह सही नहीं है। टीकाकारों ने भी लिखा है कि वो छह महीने तक एकान्त में बैठकर सतत अभ्यास करे तो वह जीव भेदविज्ञान को प्राप्त होता है। ये भेदविज्ञान का अभ्यास है, न कि शुद्धोपयोग की झलक। इसमें एकान्त व मौन अनिवार्य है, तब उसमें अनुभूति होगी, सम्यक् प्रकट होगा, उसी का नाम भेदविज्ञान है। दो में भेद कर लेना ही भेदविज्ञान है। पुद्‌गल मुझसे भिन्न है और मैं पुद्‌गल से भिन्न हूँ। अपने आपको जान लेना ही तो भेदविज्ञान है। अपने भेदविज्ञान से निज आत्मा द्रव्य की पृथकता झलकेगी। आत्मद्रव्य की पृथकता नहीं झलक रही तो भेदविज्ञान की संज्ञा ही नहीं है।

वर्तमान में कोई 'ज्ञान' शब्द से चिढ़ता है, कोई 'आत्मा' शब्द से चिढ़ता है, लेकिन आत्मा शब्द तो वहीं आ गया जहाँ ज्ञान आ गया। भेदविज्ञान में किसका वेदन करेगा ? ज्ञान से किसका वेदन करेगा ? ज्ञान का। किससे करेगा ? वो ज्ञान किसमें है ? भिन्नता किसमें आई ? परद्रव्य से निज आत्मद्रव्य। अनुभव किसका करेगा ? परद्रव्य से भिन्न निज आत्मद्रव्य

की अनुभूति। और उसी समय परद्रव्य का भी वेदन करेगा। यदि परद्रव्य का वेदन नहीं है, तो भेदविज्ञान नहीं है। भेदविज्ञान में तुमने क्या किया? भेदविज्ञान में स्व की अनुभूति स्वरूप और पर की अनुभूति पररूप करेगा। दोनों विकल्प चल रहे हैं। प्रत्येक द्रव्य पारिणामिक भाव से विराजा है, पर एक जीवद्रव्य ही ऐसा है जो अज्ञानी है क्योंकि वो पर के परिणाम को अपना मान बैठा है। जीवद्रव्य को इतना अज्ञान छा गया कि ज्ञानी बनके अज्ञानी बन रहा है। ध्यान रखना, जीवद्रव्य का ज्ञानभाव ही पारिणामिक भाव है और अन्य द्रव्यों का जड़भाव ही पारिणामिक भाव है। वे जड़ कितने श्रेष्ठ हैं, उन्होंने जीव को कभी अपना नहीं कहा; पर यह जीव इतना जड़ हो गया कि पर को अपना कह रहा है। इसलिये इसको भेदविज्ञान करना पड़ता है।

ज्ञानी! भेदविज्ञान की क्या आवश्यकता पड़ गई ? ये ग्रन्थ क्यों लिखे गये ? क्योंकि तू ज्ञानी होकरके जड़ बना है, फिर तुझे भेदविज्ञान करना पड़ रहा है। अहो ज्ञानी! तू भिन्न द्रव्यों से भिन्न है, फिर भी मिथ्या के जार में बन्द है। तुझे इससे निकलना है। पर दृष्टि में ही भेदविज्ञान है। आप भिन्न होकरके भी पर में लीन हो। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जब हम अध्यात्मशास्त्र पढ़ेंगे तभी भेदविज्ञान है। आवश्यकता भेदविज्ञान दृष्टि की है, शास्त्र की नहीं। भेदविज्ञान के शास्त्र पढ़के भी भेदविज्ञानी नहीं बन पाते क्योंकि उनको वो ही राग लग गया कि मैं अध्यात्मशास्त्र जानता हूँ। किसी को करणानुयोग का राग लग गया, किसी को प्रथमानुयोग का। वो अपने आपको भूल जाता है। मान और सम्मान मीठी गोली है।

छह महीने एकान्त में साधना करे तो भेदविज्ञान को प्राप्त कर सकता है। मिथ्यात्व का वेदन किससे करेगा? ज्ञान से। विषयों का वेदन किससे करेगा? ज्ञान से। भगवान के दर्शन की अनुभूति किससे करेगा? ज्ञान से। जिनवाणी का अध्ययन भी ज्ञान से करेगा। स्वयं ज्ञान है तो ज्ञान है। स्वयं ज्ञान नहीं है तो ज्ञान नहीं है। तीर्थंकर जन्म से ही सम्यग्दृष्टि होते हैं। उनके सम्पक्त्वजन्य भेदविज्ञान की बात करने की आवश्यकता नहीं है। भेदविज्ञान का तात्पर्य, सम्यग्दृष्टि बनने से पहले, कषाय की मंदता में जो आत्मभाव और पर भाव आ रहे हैं वे सम्यक् के द्वितीय क्षण की पूर्व व्यवस्था है। जो सम्यक्रूप भाव हैं, वो भेदविज्ञान है। भिन्नत्व भाव का अभाव जिसमें है, वो सम्यक्त्व ही नहीं है। जब तक एकत्व-विभक्त्व भाव नहीं आयेगा, तब तक सम्यक्त्व भाव का उदय नहीं होगा। छद्मस्थ की व्यवस्था भिन्न है और केवली की व्यवस्था भिन्न है। छद्मस्थ को दो उपयोग एकसाथ नहीं होते। उस समय जो

अपूर्व-अपूर्व प्रणति बन रही है, आपके कथन में यही आयेगा। भिन्नत्व भाव क्या करेगा? और भिन्न को नहीं जानेगा, उस जीव ने एक क्षण में पर को पर माना द्वितीय क्षण में स्वयं का वेदन किया, पर उपयोग एक समय में एक ही जगह होगा। कथन में यह जरूर प्रकट करना होगा कि वो वेदन भिन्न-भिन्न का कर रहा है, अन्यथा वह निर्विकल्प ध्यान में जाना कहा जायेगा।

भैया! पेन को जानने में और अगुँली को जानने में समयभेद है, जबकि दोनों सामने एक साथ दिख रहे हैं। जब पेन देखोगे तो अंगुली नहीं, अंगुली में जाओगे तो पेन नहीं। 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' में स्पष्ट कथन है कि एक समय में एक द्रव्य का ही परिणमन भेद यानि अनुभूति होती है। ध्यान रखना, द्रव्य दोनों हैं। जब तू पुद्‌गल में जायेगा, तब चेतन में नहीं होगा। जब चेतन में होगा, तो पुद्‌गल में नहीं होगा। ज्ञाता बनने के बाद ये सब विकल्प तेरे ध्यान में आयेंगे। "विकल्पाश्रुतां" विकल्प जहाँ है, वो श्रुतज्ञान है। जहाँ तक श्रुतज्ञान रहेगा, वहाँ विकल्प रहेंगे। शुक्लध्यान तक विकल्प होते हैं।

ज्ञानी! भिन्नत्व की सिद्धि करते-करते पूरी पर्यायों को नष्ट कर डाला। आपको मात्र अभिन्नत्व स्वभाव की सिद्धि करना है। भिन्नत्व को मात्र जानना है। अपन कहाँ जड़ में लगे हुये हैं? सिद्धं किं सिद्धं? जो सिद्ध हो गये, उनको क्या सिद्ध करना। इतना जान लो कि मैं भिन्न हूँ, पुद्‌गल भिन्न है। मैं में जाओ, पुद्‌गल को छोड़ो। उसकी सिद्धि में मत जाओ, स्वयं की सिद्धि करो। सम्यक्त्व प्रकट होने पर दो गुण प्रकट होते हैं। दर्शन के साथ ज्ञान भी आता है। चारित्र स्वतंत्र है। दर्शन व ज्ञान युगपत हैं, पर चारित्र भजनीय है। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि कर्मबन्ध के विच्छेद से अतुल और अक्षय ऐसे मोक्ष का अनुभव करता है। नित्य उद्योगरूप सहज अवस्था को प्रकट करता है। ऐसा पूर्णज्ञान एकान्त से सर्वथा शुद्ध है और एकाकार रूप स्वरस के कारण अत्यन्त गंभीर और धीर है। जब कर्मबन्ध का अभाव हो जाता है, तब ज्ञान पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है और अपने स्वभाव में ही लीन रहता है। इसी बात को टीकाकार आचार्य पद्‌मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं।

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति।
शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनेशः
तेनाच्चैर्निश्चयेन प्रहतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति॥272 कलश॥

यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि आत्मा विश्व को जानता है। यहाँ ज्ञान नहीं कहा, क्योंकि केवलज्ञान भी होगा तो आत्मा में होगा, इसलिये आत्मा से श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है। लेकिन ध्यान रखना, आत्मा को बतानेवाला पुद्गल है। पुद्गल परमाणु न हो तो विश्व में कोई ज्ञान नहीं हो सकता। पुद्गलद्रव्य न हो तो लोकालोक की व्यवस्था नष्ट हो जायेगी। लोकालोक की व्यवस्था परमाणु से हो रही है। पूरे विश्व का मापदण्ड परमाणु है। वो गमन न करे, उसकी क्रियावती शक्ति काम न करे, तो कालद्रव्य को कैसे जानोगे ? कालाणु व्यवहारकाल को नहीं बता पा रहा है। पुद्गल-परमाणु के अभाव में एक समय का ज्ञान कौन बता रहा है ? चाहे सामान्य ज्ञानी हो, चाहे क्षायिक केवलज्ञानी हो, बिना पुद्गल शब्द के आत्मा का व्याख्यान नहीं कर पायेंगे। आत्मा जड़ से भिन्न है तो पहले जड़ को लाना पड़ेगा। विपरीत धर्म के अभाव से धर्म का अभाव नहीं होगा। जहाँ नास्तिधर्म होगा, वहाँ नियम से अस्तिधर्म होगा। जहाँ अस्तिधर्म होगा, वहाँ नियम से नास्ति धर्म होगा। बिना नास्ति के अस्ति नहीं, बिना अस्ति के नास्ति नहीं।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि यह केवलज्ञान की मूर्तिस्वरूप आत्मा व्यवहारनय से हमेशा विश्व को जानती है। मुक्तिलक्ष्मीरूपी स्त्री के कोमल मुखकमल पर कामपीड़ा तथा सौभाग्ययुक्त चिह्न की शोभा को बढ़ाता है। निश्चयनय से जिन्होंने कर्म-मल/कर्मकालिमा को नष्ट कर दिया है, ऐसे जिनेश्वरदेव अपने स्वरूप मात्र को जान रहे हैं। व्यवहारनय से विश्वज्ञाता हैं और निश्चयनय से स्वज्ञाता मात्र हैं।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

नियमसार

गाथा 160

उत्थानिका : केवलज्ञानी के दर्शन और ज्ञान युगपत् होता है

गाथा : जुगवं वट्टदि णाणं, केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं, जह वट्टदि तह मुणेदव्वं ॥160॥

संस्कृतछाया : युगपद् वर्तते ज्ञानं केवलज्ञानिनो दर्शनं च तथा।
दिनकर प्रकाशतापौ यथा वर्तते तथा ज्ञातव्यम् ॥160॥

अन्वयार्थ : (केवलज्ञानिन:) केवलज्ञानी के (ज्ञानं तथा च दर्शनं) ज्ञान और दर्शन (युगपद्) युगपत् (वर्तते) होते हैं (यथा) जैसे (दिनकर प्रकाश तापौ) सूर्य के प्रकाश और ताप (वर्तते) युगपत् रहते हैं (तथा ज्ञातव्यं) वैसे ही जानना चाहिये।

नियमदेशना

भव्य बंधुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्धोपयोग अधिकार में आत्मा के शुद्धज्ञान शुद्धदर्शन की चर्चा की है। निश्चयनय से यह आत्मा आत्मदर्शी है और व्यवहारनय से स्व-परदर्शी है। आत्मज्ञ है, सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ होकर भी आत्मज्ञ है। संपूर्ण चराचर द्रव्यों की अनंतानंत गुण-पर्यायों को युगपत जानता है आत्मा, यह उसके ज्ञान की विशुद्धता का प्रभाव है। ज्ञेय की तद्रूपता नहीं है। ध्यान रखना, जैसा केवली जानते हैं, वैसा द्रव्य नहीं होता है। जैसा द्रव्य होता है, वैसा केवली जानते हैं, अन्यथा ईश्वर का कर्तृत्व भाव केवली के ज्ञान में आयेगा। त्रिकालवर्ती द्रव्यों की त्रिकालवर्ती द्रव्य-गुण-पर्यायों को युगपत् जानते हैं। जैसा-जैसा हो रहा है, तद्रूप वैसा जानेंगे। लेकिन केवली भगवान जैसा देखेंगे वैसा ही होगा, ये जरूरी नहीं है। जैसा परिणमन द्रव्य का होगा, वैसा केवली देखेंगे। यदि जैसा-जैसा जिसको केवली देखेंगे वैसा-वैसा होगा, तो केवली का ज्ञान क्षायोपशमिक हो जायेगा, क्रमिक हो जायेगा, क्योंकि पर्याय क्रमिक होती है। जैसा-जैसा केवली देखेंगे वैसी-वैसी पर्याय होगी, तो पर्याय केवली के आधीन हो गई और कर्तृत्व दृष्टि आ गई।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, जिस द्रव्य की जैसी पर्याय का परिणमन जिस काल में जैसा होगा, वैसा केवली के ज्ञान में झलकेगा। दर्पण में प्रतिबिम्ब है, लेकिन दर्पण किसी के प्रतिबिम्ब को नहीं बनाता है। जैसा तुम्हारा चेहरा होगा, वैसा दर्पण में झलकेगा। जैसा द्रव्य

का परिणमन होगा, वह परिणमन त्रैकालिक है। छद्‌मस्थ के ज्ञान का विषय नहीं है, पर केवली के ज्ञान में क्रमिक भी झलकता है अक्रमिक भी झलकता है। पर्याय बंधरूप भी होती है अबंधरूप भी होती है। जैसे वर्त्तमान में मनुष्य आयु का उपभोग कर रहे हैं। वो भुज्यमान आयु आपकी चल रही है। किसी जीव ने देवायु का बंध किया वो वर्त्तमान में मनुष्य आयु चल रही है। केवली के ज्ञान में बद्धमान भी झलकेगी और भुज्यमान भी झलकेगी।

कथनशैली में किसी को बांध कर न चलें, द्रव्य की स्वतंत्रता का अभाव न करें। जैसा केवली के ज्ञान में झलक रहा है, वैसा परिणमन हो रहा है। ये सब स्वतंत्र शुद्ध परिणमन चल रहा है। न केवली झलकवा रहे हैं, न द्रव्य झलकवा रहा है। द्रव्य का परिणमन अपने गुणों में है और केवली के ज्ञान का परिणमन अपने गुणों में है। अज्ञानता में ये जीव व्यर्थ के विकल्प में जी रहा है। कोई बंध में जी रहा है, कोई निर्बंध में जी रहा है। लेकिन इन दोनों में ही तेरा कल्याण नहीं है। केवली के ज्ञान से तुम्हारा कल्याण निश्चित है क्या ? आपका कल्याण होने से केवली के ज्ञान में विशदता आती है क्या ? नहीं आती। इतना ध्यान रखना, केवली भगवान ने जैसा कहा है वैसा आप करते चलो, तब कल्याण सुनिश्चित है।

भो ज्ञानी! कथनशैली में भगवान् को बांधकर मत बैठ जाना। भगवान् में बंध भी नहीं जाना। तुम दोनों दृष्टियाँ रखना, क्योंकि यह स्वतंत्र दर्शन है, स्वतंत्र सत्ता का ज्ञापक है। वे क्या कर रहे हैं, कोई प्रयोजन नहीं है। चरणानुयोग आपसे क्या कहेगा वो केवली की वाणी है कि नहीं है। यदि केवली जो देख रहे हैं उसको ही पूर्ण मानके आप चल रहे हो तो केवली का चरणानुयोग आपसे क्या कहेगा? आप स्वच्छंदी हो जाओगे। जीव पर, जान करके, पैर रख दिया, बोले, केवली ने यही देखा है। केवली भगवान ने यह कहा कि नहीं कि तुम ऐसी क्रिया करोगे तो ऐसा बन्ध होगा। करणानुयोग भी है। प्रथमानुयोग कह रहा है कि ऐसे लोगों ने ऐसा किया तो उनका परिणाम ऐसा हुआ। द्रव्यानुयोग आपकी स्वतंत्र सत्ता का ज्ञान करा रहा है, लेकिन प्रकटीकरण नहीं कराता है। द्रव्यानुयोग कभी भी जीव की स्वतंत्र सत्ता को उदित नहीं करता। द्रव्यानुयोग स्वतंत्र सत्ता का ज्ञान कराता है। जब भी स्वतंत्र सत्ता का उदितपना होगा, तो चरणानुयोग से ही होगा। उस अवस्था की परिणति का कथन करने वाला करणानुयोग होगा।

करणानुयोग, कर्मप्रकृतियों का, षट्खण्डागम धवला जी आदि ग्रन्थों से, अध्ययन करके ये मत मान बैठना कि इससे हमारे कर्मों की निर्जरा हो रही है। अध्ययन करने से उसने

कर्मप्रकृतियों का ज्ञान करा दिया है। द्रव्यानुयोग ने आपको स्वरूप का ज्ञान करा दिया है। प्रथमानुयोग ने दूसरे की बातें आपको बता दी हैं, परन्तु कार्यकारी तो चरणानुयोग ही होगा। चरणानुयोग कहेगा कि ऐसे चलो, तदनुकूल आप प्रवृति करोगे तो नियम से करणानुयोग द्रव्यानुयोग की अवस्था को प्राप्त कर लोगे जैसे तीन कम नव कोटि मुनीश्वरों ने प्राप्त किया है। ये मुनिराज 6वें से 14वें गुणस्थान तक के हैं। यह अधिकतम संख्या है। ये सब मुनिराज भावलिंगी हैं। ये मुनिराज जिनकी वंदना करते हैं, द्रव्य सहित भावलिंगियों की है। केवल भावलिंग हो ही नहीं सकता है। सिद्धों की बात मत करो। केवल भावलिंगी मुनि को आप कैसे देखोगे ? मात्र द्रव्यलिंग दिखता है। भावलिंग उन्हीं की स्वयं की अनुभूति का विषय है। श्रुतज्ञान से भावलिंगी के बारे में जो जान रहे हो, वो भी परोक्ष जान रहे हो, अनुभूति नहीं है।

एक असंयमी जीव भी श्रुतज्ञान से एक मुनिराज के 28 मूलगुणों को उनकी चर्या को जान रहा है, लेकिन अनुभव नहीं है। अनुभूति का विषय नहीं है। उसको तो वो मात्र जान रहा है। महाराज समितियों का पालन कैसे करते हैं? लघुशंका, आहारचर्या आदि बाहरी स्थूल बातें ही देख सकते हो, अंदर की बात तो भगवान ही देखते हैं। बाहर के विषय, वो भी स्थूल जान सकते हो, सूक्ष्म नहीं जान सकते हो, क्योंकि पूर्ण निर्दोष चर्या का पालक मिथ्यात्व गुणस्थान में भी विराजमान रह सकता है। सदोष चर्या का पालक सच्चा भावलिंगी मुनि भी हो सकता है। मिथ्यात्व में बैठा हुआ जो निर्दोष चर्या का पालन कर रहा है, वो ग्रैवेयक तक जा सकता है, चारित्र की अपेक्षा से। भावलिंगी प्रथम, द्वितीय स्वर्ग में जा रहा है क्योंकि चर्या में दोष था, पर श्रद्धा में दोष नहीं था। इसलिये वही मोक्षमार्गी है जो पहले दूसरे स्वर्ग में जा रहा है।

कुछ तीर्थंकर के जीव अहमिन्द, सर्वार्थसिद्धि एवं अन्य स्वर्ग से आते हैं, परन्तु भवनत्रिक से नहीं आते। चक्रवर्ती का जीव नरक से नहीं आता, परन्तु तीर्थंकर का जीव नरक से भी आ सकता है। आगामी चौबीसी में कुछ जीव नरक से आकर सीधे तीर्थंकर होंगे। नरकों से कभी स्वर्ग नहीं जाया जाता और स्वर्ग से नरक नहीं जाया जाता। ये सिद्धान्त है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 160 में कह रहे हैं कि छद्‌मस्थों का ज्ञान-दर्शन क्रमिक होता है, दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है। बारहवें गुणस्थान तक छद्‌मस्थ अवस्था रहती है। 13वें गुणस्थान में कैवल्य अवस्था है। केवली का ज्ञान, केवली का दर्शन

युगपत् होता है। आप जानते हो कि पहले दर्शन होगा, फिर ज्ञान होगा, परन्तु क्षायिक ज्ञानी के क्रम का अभाव है। केवली का ज्ञान क्रम और करण दोनों से रहित होता है। करण यानि इंद्रियाँ। क्रम यानि एक के बाद एक। छद्मस्थों का ज्ञान क्रम और करण से सहित होता है। आपके लिये श्रुत उपादेय है। आप श्रुतज्ञान की बात को केवलज्ञान में देखना चाहते हो, यह बहुत बड़ी भूल चल रही है। हम इस पदार्थ के बाद इस पदार्थ को जानेंगे, ऐसा विकल्प केवली के ज्ञान में नहीं आता। जो विकल्पात्मक है, वो श्रुतज्ञान है और जो निर्विकल्प है, वह केवलज्ञान है।

सर्वज्ञ की चर्चा जैनियों मात्र के लिये नहीं, सबके लिये है, अन्यथा सर्वज्ञ अज्ञानी हो जायेंगे। सर्वज्ञ सम्पूर्ण विश्व के समस्त पदार्थों को एकसाथ जानते हैं। अध्यात्मशास्त्र के अनुसार, जन रहा है। जीव की शक्ति इतनी विराट है जिसके ज्ञान में सारा विश्व झलक रहा है। दर्पणवत्। आचार्य अमृतचन्द स्वामी कहते हैं "दर्पणतल इव सकला, प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र"। संपूर्ण विश्व हस्तामलकवत। हाथ पर रखे हुये पूरे आँवले के समान झलकता है, वही सर्वज्ञ है। आपको तो आँवला वही दिखता जो हाथ से दबा नहीं है, पर सर्वज्ञ को दबा हुआ भी झलकता है।

सर्वज्ञ के ज्ञान और दर्शन युगपत होता है, जैसे सूर्य का प्रकाश एवं प्रताप एकसाथ होता है। पहले प्रकाश होता है, फिर प्रताप होता है। आपके घर में अंधेरा था, पहले दीपक जलाओगे कि अंधकार भगाओगे? दीपक जलाओगे तभी तो अंधेरा भगेगा, प्रकाश होगा। जैसे दीपक का जलना और प्रकाश का होना युगपत् होता है, ऐसे-ही केवलदर्शन और केवलज्ञान युगपत होते हैं, इनमें समयभेद नहीं है। केवलज्ञान-केवलदर्शन युगपत् वर्तन करता है, उसको दृष्टान्त रूप से कहते हैं। किसी एक काल में विद्यमान मेघ के प्रक्षोभ का अभाव होने पर, बादलों के विघटन होने पर आकाश में स्थित हुये सूर्य का प्रकाश और ताप एकसाथ होता है। उसी प्रकार से तीर्थाधिनाथ भगवान् परमेश्वर के तीनों जगत और त्रिकालवर्ती स्थावर और जंगम रूप द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक ज्ञेय पदार्थों में समस्त विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन एकसाथ होते हैं। संसारी जीवों के दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है, ऐसा जानना। छद्मस्थ के दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है, केवली जैसा नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' जी में सोने का दृष्टान्त दिया है। किट्टिमा से युक्त स्वर्ण जैसे धोंकनी से धोकने पर शुद्ध हो जाता है, किट्टिमा बाहर निकल जाती है। जब

तक किट्टिमा है, तबतक सोना शुद्ध नहीं है। जब सोना खदान में था, वहाँ सोना भिन्न नहीं था, किट्टिमा भिन्न नहीं थी। युगपत थी। प्रक्रिया करने पर किट्टिमा अलग हो जाती है, सोना अलग हो जाता है। इसी प्रकार से स्वर्णपाषाण के समान यह अशुद्ध आत्मा है, इसमें कर्म-किट्टिमा है, ध्यान-अग्नि है। ध्यान की अग्नि पर जब ये आत्मा तपती है, तो कर्म-कालिमा पृथक् हो जाती है और शुद्ध सोना रूपी आत्मा प्रकट हो जाती है। जब तक प्रकट नहीं होती, तब तक परद्रव्य के मिश्रण से वह अशुद्ध ही कहलाता है, सोपाधिक है। सोपाधिक अवस्था होने से अशुद्ध कहलाता है, अन्यथा शुद्धता अशुद्धता का भेद नहीं होगा।

आचार्य देवसेन स्वामी 'आलाप पद्धति' ग्रन्थ में कहते हैं–

कर्मोपाधिनिरेपक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः यथा संसारीजीवःसिद्धसदृक् शुद्धात्मा ॥47।।

कर्मोपाधि से निरपेक्ष, सभी संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्धात्मा हैं। लेकिन सर्वदा शुद्ध स्वभावी ही कहेगा तो संसार का अभाव होगा और मोक्ष का भी अभाव होगा। इसलिये बंधपूर्वक मोक्ष होता है, निर्बन्धपूर्वक मोक्ष नहीं होता। जब आत्मा कर्मकिट्टिमा से युक्त होगा, उस समय इसके द्रव्य-गुण-पर्याय तद्रूप अशुद्ध होंगे और जब वही किट्टिमा भिन्न हो जाती हैं, तब शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय मात्र बचता है, आत्मा का परिणमन भिन्न हो जाता है। इस समय आत्मा में कर्म-नोकर्म का बंध है। ये बंध जिस समय तक रहेगा, तब तक इसकी मिश्रध ारा बहती है और मिश्रधारा में क्षायोपशमिक दर्शन होता है, क्षायोपशमिक ज्ञान होता है। क्षयोपशम का नाम ही मिश्र है। अत्यन्त अभाव होने पर भी संश्लेष-स्वभाव है।

अत्यंताभाव का तात्पर्य है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य-गुण-पर्याय रूप नहीं होता। अत्यंताभाव यह नहीं कहता कि मिश्रण नहीं है। अशुद्धि का अभाव नहीं करा रहा है। अत्यन्ताभाव यह कहेगा कि जीव कभी पुद्गल नहीं होगा, पुद्गल जीवरूप परिणमन नहीं करेगा। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव है। परन्तु संश्लेष का अभाव नहीं है। यह संश्लेष संबंध तुझे विकार उत्पन्न करा रहा है, विकारों को जन्म दे रहा है, कषायों को जन्म दे रहा है। संसार की भोग व्यवस्था में तल्लीन ये तेरा संश्लेषण संबंध कितना विकारी हो चुका है ? उसे आप भिन्न मानते हो। उसे जीवद्रव्य का स्वभाव नहीं मानते। जड़ में कषाय होती नहीं है। यह कषायभाव विभाव है। जिसे आप विभाव कह रहे हो, यह द्रव्य की अशुद्ध अवस्था है। यदि द्रव्य अशुद्ध नहीं होगा, तब तक विकार भाव, विभाव भाव आयेंगे नहीं। शुद्ध घृत को पानी में डाल देना, मट्ठे में डाल देना, वह हमेशा शुद्ध रहेगा। ऊपर आ जायेगा।

मट्ठे से जो मक्खन निकला था, वह शुद्धाशुद्ध अवस्था थी। अरहन्त अवस्था शुद्धाशुद्ध अवस्था है क्योंकि चार कर्म गये, चार कर्म अवशेष हैं।

भो ज्ञानी! मक्खन के गोले को मट्ठे में डालोगे तो डूब जायेगा। परन्तु मक्खन को तपाकर घी बनाकर उसी मट्ठे में डालोगे तो डूबेगा नहीं, ऊपर उतराएगा। मक्खन में अर्द्धशुद्धता थी, घी में पूर्ण शुद्धता है। अरहन्त अवस्था अर्द्धशुद्धता है, सिद्ध अवस्था पूर्णशुद्ध अवस्था है। इन दोनों से रहित जो अवस्था है, वह अशुद्ध अवस्था ही है जीवद्रव्य की। अन्यथा विभाव व्यंजन पर्याय कहाँ लगाओगे ? विभाव व्यंजन पर्याय शुद्ध की नहीं, अशुद्ध की होती है। मति-श्रुतज्ञान जीवद्रव्य का अशुद्ध गुण है।

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥13 द्र.सं.॥

क्या आप जीवसमास हो, मार्गणास्थान हो, गुणस्थान हो? किसमें हो आप ? नय वस्तु नहीं है। वस्तु में नय लगाये जाते हैं। शुद्ध निश्चयनय द्रव्यदृष्टि से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं। परन्तु द्रव्य से उसी दिन शुद्ध होंगे जिस दिन आठ कर्मों से रहित होंगे। द्रव्यदृष्टि से आप शुद्ध हो, यही दृष्टि आपका ध्येय बनना चाहिये। पर ज्ञेय तो शुद्ध भी होगा और अशुद्ध भी होगा। जब तक अशुद्ध को ज्ञेय नहीं बनाओगे, तब तक शुद्ध को प्राप्त करोगे कैसे ? जब तक गुण-दोष मालूम नहीं होंगे, तब तक आप किसको ग्रहण करोगे, किसको छोड़ोगे?

द्रव्यदृष्टि से जीव त्रैकालिक शुद्ध है, पर वर्तमान में जो संसारी जीवद्रव्य है, वह अशुद्ध है। नहीं तो "संसारिणो मुक्ताश्च" सूत्र समाप्त हो जायेगा। उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में वस्तु का यथावत् निरूपण किया है। आप द्रव्यदृष्टि का ध्यान बनाये रखना। ये ध्यान का विषय है, श्रद्धान का भी विषय है, ज्ञान का भी विषय है। ये अभी पूर्णभूत ज्ञेय नहीं है। ज्ञेय अभी भी अशुद्ध ही दिख रहा है। आत्मानुभूति अशुद्ध की ही होती है 12वें गुणस्थान तक। गुण व पर्याय के समूह का नाम द्रव्य है। जैसा द्रव्य होगा, वैसी पर्याय होगी। जैसी पर्याय होगी, वैसा द्रव्य होगा। दृष्टि भिन्न है, द्रव्य भिन्न है। नय पदार्थ नहीं है, नय समयसार नहीं है।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

गाथा 160 कलश 273-276

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने दर्शन और ज्ञान उपयोगों के बारे में चर्चा की शुद्धोपयोग अधिकार में और यह संकेत दिया कि छद्मस्थ जीवों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है और केवली के दर्शन-ज्ञान युगपत होता है। इसी को 'प्रवचनसार' जी में कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं।

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥61 प्र.सार॥

जो ज्ञान है, पदार्थों के अन्त को प्राप्त हो चुका है। पदार्थ कितना भी गहरा हो, ज्ञान उसकी तलहटी में पहुँच जाता है। ज्ञान सुमेरू की जड़ से नीचे भी प्रवेश कर जाता है। कलकल भूमि निगोद के द्रव्यों को भी जानता है। ये मत मान बैठना कि ढाईद्वीप में ही मनुष्य हैं, यहीं तक केवली का ज्ञान है। लोकालोक में जितने ज्ञेय हैं, केवली सबको जान रहे हैं। केवली की दृष्टि भी समस्त लोकालोक तक विस्तृत है। ऐसा नहीं है कि अलोक मात्र को जानते हों अथवा लोक मात्र को जानते हों। समस्त लोकालोक को जानते हैं। केवली भगवान के सर्व अनिष्ट नष्ट हो चुके हैं और जो संपूर्ण इष्टों को प्राप्त हो चुके हैं ऐसा केवली भगवान का ज्ञान होता है। संसार के शत्रु भी उनका कुछ नहीं कर पायेंगे। शत्रु शत्रुभाव मान रहा है, शत्रु कह भी रहा है, लेकिन शत्रु की शत्रुता भी नहीं चल पाती है। सांसारिक दृष्टि से जितने मिथ्यामत हैं वे सब अरहन्तदेव के शत्रु हैं। वे अरहन्तदेव की आलोचना करते रहते हैं। लेकिन अरहन्त का कुछ बिगाड़ नहीं पाते हैं। तीर्थंकर महावीर के शासन में भी छह मिथ्यामति स्वयंभू तीर्थंकर थे।

मिथ्यादृष्टि देव तो ऐसे भी होते हैं जो अरहन्त बिम्बों की पूजा कुलदेवता मान करके करते हैं। यदि ये कहा जाय कि जितने मिथ्यादृष्टि हैं वे सब अरहन्त विरोधी हैं, तो विदेहक्षेत्र में मिथ्यात्व घटित नहीं होगा। कारण विदेहक्षेत्र में द्रव्य मिथ्यात्व नहीं होता, भाव मिथ्यात्व होता है। तीर्थंकर के शासनकाल में द्रव्य मिथ्यात्व नहीं होना चाहिए था, कुलिंगों के मंदिर नहीं होना चाहिए थे, लेकिन ये हुंडावसर्पिणी काल का प्रभाव है कि आदिनाथ स्वामी के शासनकाल में कुलिंग का प्रचार उनके नाती मारीचि के द्वारा हो चुका था।

विदेहक्षेत्र में गृहीत मिथ्यात्व नहीं होता, अगृहीत मिथ्यात्व विराजमान है। शत्रु होना

शत्रुता का कारण नहीं है। शत्रु घातक नहीं है, यदि तुम्हारे भावों में शत्रुता नहीं है तो। यह जीव ऊपरी-ऊपरी बात को तो गृहीत मिथ्यात्व में डाल देता है। जरा भी तुमने पंचपरमेष्ठी के विरुद्ध क्रिया की, तो गृहीत मिथ्यात्व। किसी भैया जी के प्रवचनों से आप प्रभावित हो गये और केशर लगाकर नये कपड़े पर उनके पाँवों की छाप ले ली और उसको तथा उसके चित्र को ग्रन्थों जैसा सुरक्षित रख रहे हो, यह मिथ्यात्व ही है। कोई वस्त्रधारी के चरणों के चित्र (छापे) ले रहा है, कोई नमोस्तु कह रहा है और ये मना भी नहीं कर रहा है, तो आपकी इच्छा के अनुसार होने के कारण मिथ्यात्व ही है। वैसे किसी के भी चरण-छापे दिगम्बर आम्नाय में मान्य नहीं है।

आपने भले ही तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया और आपको परम्परा में जरा भी राग रहेगा तो जिनवाणी की भाषा में गृहीत मिथ्यात्व तो पल रहा है। जिनेन्द्र, जिनवाणी, गुरु को पूजते-पूजते भी मिथ्यात्व होता है यदि आपने विपरीत कार्य किया तो। हम सामान्य पुण्यक्रियाओं में तो मिथ्यात्व को प्रवेश करा देते हैं और वास्तव में जो मिथ्यात्व की क्रिया है उनको आपने पुण्य में रख दिया, बहुमान में रख दिया। कल्याणक किसके होते हैं? तीर्थंकर के। जयंतियाँ किसकी होती हैं? जिनके जन्म का अन्त हो गया है। पंचमकाल में जीव सम्यग्दर्शन सहित उत्पन्न नहीं होता है। अब यदि आप अपनी जयंति मना रहे हो तो क्या उद्देश्य है ? लोकाचार को छोड़ो। ये लोकगद्दी नहीं है, ये मोक्ष को ले जानेवाली गद्दी है।

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि॥ 44 द्र.सं.॥

नेमिचद्र सिद्धांतचक्रवर्ती 'द्रव्यसंग्रह' में कह रहे हैं कि जो छद्मस्थ जीव होते हैं, उनको दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। छद्मस्थों के दोनों उपयोग एकसाथ नहीं होते हैं, परन्तु केवली भगवान् के वे दोनों उपयोग युगपत् (एकसाथ) ही होते हैं।

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव केवलज्ञानी भगवान के चरणों की शरण ग्रहण करते हुये चार कलश कह रहे हैं-

वर्तेते ज्ञानदृष्टि भगवति सततं धर्मतीर्थाधिनाथे
सर्वज्ञेऽस्मिन् समंतात् युगपदसदृशे विश्वलोकैकनाथे।
एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्
तेजोराशौ दिनेशे हतनिखिलतमस्तोमके ते तथैवम्॥273 कलश॥

सर्वज्ञ भगवान् में ज्ञान और दर्शन सब तरफ से युगपत् रहते हैं। जो धर्मतीर्थ के नाथ

हैं, धर्मतीर्थ को चलानेवाले हैं, उनका ज्ञान और दर्शन एकसाथ होता है। ऐसे सर्वज्ञ भगवान्, जो विश्व के नाथ हैं, विश्व को प्रकाशित करनेवाले हैं। जैसे सूर्य अपने तेज के पुंज स्वरूप अखिल तिमिर-समूह को नष्ट करता है, इस सूर्य में उष्णत्व और प्रकाश एकसाथ जगत के जीवों को दिखता है, वैसे-ही ज्ञान और दर्शन केवली के युगपत् प्रकट होते हैं।

सद्बोधपोतमधिरूह्य भवाम्बुराशि—
मुल्लंघ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता।
तामेव तेन जिननाथपथाधुनाहं
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानाम्॥274 कलश॥

हे जिनेन्द्रदेव! आपने क्या किया? आप सद्बोधरूपी जहाज में बैठकर, संसाररूपी समुद्र को पार कर, सहसा, शाश्वतपुरी में पहुँच गये हैं। सद्बोध अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय जहाज में आरूढ़ होकर भवरूप का आप उल्लंघन कर गये और शाश्वतपुरी को प्राप्त कर लिया अर्थात् भवों से छुटकारा पा लिया। हे प्रभु! मैं भी आपके द्वारा चलाये गये मार्ग से शाश्वत नगरी को प्राप्त करने जा रहा हूँ, क्योंकि इस संसार में (लोक में) उत्तम पुरुषों के लिये और कोई अन्य शरण नहीं है।

एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः
कामं कान्तिं वदनकमले संतनोत्येव कांचित्।
मुक्तेस्तस्याः समरसमयानङ्गसौख्यप्रदायाः
को नालं शं दिशतुमनिशं प्रेमभूमेः प्रियायाः॥275 कलश॥

आचार्यभगवन् उपमा अलंकार के माध्यम से समझा रहे हैं। देव एक है। अनेक होकर भी एक ही है। जो भी अनेक हैं, वे एक हैं। सर्वज्ञ एक हैं। विश्व में अनंतानंत देव हैं। सर्वाधिक संख्या ज्योतिषक देवों की है। वे सब हमारे आराध्य नहीं हैं, पूज्य नहीं हैं, हमारे वंदनीय भी नहीं हैं। वंदनीय/पूजनीय एकमात्र सर्वज्ञदेव हैं। वे केवलज्ञान रूपी सूर्य से युक्त हैं, वे जिनेन्द्र जयवन्त हों। वे समरसमयी अनंग सुख को प्रदान करने वाली ऐसे उस मुक्तिसुन्दरी के मुखकमल पर अद्भुत कांति को विस्तृत करते हैं, उसे निरन्तर सुख प्रदान करते हैं। वे अरहन्तदेव (सर्वज्ञ) अपने समरसी भावरूपी मुक्ति-अंगना को हर समय प्रसन्न रखते हैं अर्थात् निज में हर समय तल्लीन रहते हैं।

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुखपद्मे जगाम सः
अलिलीलां पुनः काममनङ्गसुखमद्वयम्॥276 कलश॥

वे जिनेन्द्रदेव मुक्तिकामिनी के मुखकमल के प्रति भ्रमर-लीला को धारण करते हैं। जैसे भौंरा पुष्प के चारों ओर मड़राता है, ऐसे-ही संसारी रागी प्राणी का सबकुछ छूट जाय, लेकिन नारी के मुख को नहीं छोड़ता है। यहाँ आचार्यमहाराज ने मुक्तिकन्या के मुख को कमल और अरहन्त देव को भ्रमर की उपमा दी है। वे उसको छोड़ना नहीं चाहते हैं। मुक्ति-अंगना, जो अद्वितीय अनंग सुख (आत्मिक सुख) देती है, उसमें लीन रहते हैं।

भो ज्ञानी! जीव का ज्ञान स्व-पर प्रकाशी होता है, पर दर्शन आत्मप्रकाशी ही है। आत्मतत्त्वों को ग्रहण करता है। निर्विकल्प को ग्रहण कर रहा है। सत्ता मात्र ग्राही है। सत्ता के दो भेद हैं, महासत्ता, अवान्तर सत्ता। एक में द्रव्यदृष्टि है, दूसरे में पर्यायदृष्टि है। जहाँ महासत्ता है, वहाँ अवान्तर सत्ता ही रहती है। जहाँ अवान्तर सत्ता है, वहाँ पर भी महासत्ता होगी। सामान्य जो है, वो द्रव्य होता है। विशेष जो है, वो पर्याय होती है। महासत्ता सामान्य है और अवान्तर सत्ता विशेष है। जो शिंशिपा अर्थात् शीशम है, वो वृक्ष है कि नहीं ? है। जो आम है, वो वृक्ष है कि नहीं ? है। आम के वृक्ष में शीशम है कि नहीं ? नहीं है। वृक्षत्व की अपेक्षा से सामान्य है, पर शीशम, आम ये विशेष हैं। जो विशेष है, उसमें नियम से सामान्य होता है और जो सामान्य है, उसमें नियम से विशेष होता है । प्रत्येक द्रव्य में सामान्य-विशेष भाव होता है। सामान्य-विशेष से रहित जो पदार्थ को मानता है, उसको आगम खर-विषाणवत् कहलाता है। जैसे गधे के सींग।

भो ज्ञानी! जो द्रव्य होगा, उसमें नियम से पर्याय होगी। संतति अपेक्षा पर्याय अनादि है, द्रव्य भी अनादि है। परम्परा अपेक्षा द्रव्यपर्याय भी अनादि है। वर्तमान अपेक्षा पर्याय सादि है। द्रव्य की सुनिश्चित रूप से कोई-न-कोई पर्याय रहेगी। पर्यायदृष्टि से द्रव्य अनित्य है। ये पर्याय मेरी नहीं है, यह कहना भी सत्य है। ये पर्याय मेरी है, यह कहना भी सत्य है। इस पर्याय को अपना नहीं मानेगा तो मनुष्यपर्याय का वेदन कौन कर रहा है और कौन-सी पर्याय का वेदक है तू? वेद-वेदक भाव वर्तमान में तेरा क्या है ? मनुष्य है। लेकिन इस मनुष्यपर्याय को तू त्रैकालिक मान कर मत बैठ जाना, नहीं-तो 'पज्जयमूढ़ा' हो जायेगा। यदि इस पर्याय को शाश्वत मानके राग कर बैठा तो "पज्जय मूढ़ा परसमया" हो जायेगा, यानि मिथ्यादृष्टि हो जायेगा। तो फिर क्या है ? पर्याय द्रव्य में जा रही है। मेरा द्रव्य परिणामी तो है, पर पर्याय नहीं। द्रव्य परिणामी नहीं होगा तो पर्याय नाम की कोई वस्तु नहीं होगी। जो-जो पर्याय है, वह द्रव्य का ही परिणमन है। सोने का कुंडल है। कुंडलाकार अवस्था किसकी है? सोने की है। जब वह सोना मिटेगा, मिटने से तात्पर्य अभाव से नहीं है, परिणमन से है। वही कुंडल

जब परिवर्तित होगा तो अगूँठी बन जायेगा। स्वर्ण द्रव्य ध्रौव्य है, लेकिन ध्रुव यह नहीं कहता है कि मुझमें परिणमन नहीं होता है। ध्रुव की परिभाषा यदि परिणमन रहित होगी तो कूटस्थ हो जायेगा। यदि जीवद्रव्य में परिणमन नहीं मानोगे, तो पर्याय नाम की कोई वस्तु नहीं होगी।

जीवद्रव्यस्य विभाव-व्यंजनपर्यायः नर-नरकादिया।

जीवद्रव्य की विभाव-व्यंजन पर्याय नहीं मानने पर चौरासी लाख योनियों में भटकने की बात कहना व्यर्थ हो जायेगा। भो ज्ञानी! नय तो विवक्षा मात्र है, वस्तुव्यवस्था है। नय व्यवस्था नहीं है। वस्तुव्यवस्था को समझने के लिये नयव्यवस्था है। यदि हम वस्तुव्यवस्था नहीं करेंगे, तो चार गतियों के दुःख की चर्चा व्यर्थ है। वस्तुव्यवस्था को समझने के लिये नयव्यवस्था है। इसको न मानने के कारण बड़ी भूल हो रही है। वस्तुव्यवस्था से मैं मनुष्य हूँ, नय व्यवस्था से नहीं। नय व्यवस्था से मैं अरहन्त भी हूँ, सिद्ध भी हूँ, लेकिन वस्तुव्यवस्था से इस समय तो मैं मनुष्य जीवसमास में हूँ, मनुष्य गति मार्गणा में हूँ, मनुष्य पंच इंद्रिय जाति में हूँ, त्रस पर्याय में हूँ, छठवें सातवें गुणस्थान में हूँ। इन विभिन्न रूपों के बीच एक चिद्रूप हूँ। एकोदेवो। इसको आत्मभूत मानते हो तो मिथ्यात्व है। पर्याय को पर्याय नहीं कहोगे, तो द्रव्य का कथन कैसे बनेगा ? पर्याय को पर्याय समझो, द्रव्य को द्रव्य समझो। विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से पिच्छी, कमंडलु आदि मेरे हैं। व्यवहार से मेरा क्यों ? क्योंकि मैं इसका उपयोग करता हूँ, उपकरण हैं।

मैं किसी गाँव में गया और पंडित जी अचानक पहुँचे और भाव आते हैं कि अपने पंडितजी आ गये, फिर भी मिथ्यात्व नहीं होगा, क्योंकि वह स्वजातीय जीवद्रव्य है, पर मेरा स्वरूप नहीं है। उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से पुत्र, दारादि मेरे हैं। स्वजातीय-विजातीय असद्भूत व्यवहारनय से देह, दुर्ग, राष्ट्र आदि मेरे हैं। वस्तुव्यवस्था शाश्वत है और नय व्यवस्था तात्कालिक है। तद्समय के जो भाव हैं, वो ही नय है। तद्समय के जो परिणाम हैं, वो ही नय है। ज्ञाता के अभिप्राय का नाम ही नय है। अर्थात् नय एकदेश होता है। वस्तु व्यवस्था एकदेश नहीं, सर्वदेश होती है। यदि ज्ञाता का विपरीत अभिप्राय है तो मिथ्यानय, समीचीन अभिप्राय है तो सम्यक्नय।

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवाया।
जावदिया णयवाया तावदिया चेव परसमया॥ स.सुत्तं॥

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

गाथा 161

नियमसार

उत्थानिका : यह आत्मा के स्व-पर प्रकाशकपने संबंधी विरोध कथन है

गाथा : णाणं परप्पयासं, दिट्ठी अप्पप्यासया चेव।
अप्पा सपरपयासो, होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि॥161॥

संस्कृत छाया : ज्ञानं परप्रकाशं दृष्टिरात्मप्रकाशिका चैव।
आत्मा स्वपरप्रकाशो भतीति हि मन्यसे यदि खलु॥161॥

अन्वयार्थ : (ज्ञान परप्रकाशं च) ज्ञान परप्रकाशी है और (दृष्टिः आत्मप्रकाशिका एव) दर्शन आत्मप्रकाशी ही है तथा (आत्मा स्वपरप्रकाशः भवति) आत्मा स्व और पर का प्रकाशक होता है (यदि इति हि खलु मन्यसे) यदि तुम ऐसा ही निश्चित मानते हो तो ठीक नहीं है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने ग्रन्थराज नियमसार जी में शुद्धोपयोग अधिकार की 161वीं गाथा में यह संकेत दिया कि ज्ञान सर्वथा परप्रकाशी और दर्शन सर्वथा आत्मप्रकाशी अभीष्ट नहीं है। ज्ञान आत्मप्रकाशी भी है, परप्रकाशी भी है। दर्शन आत्म-प्रकाशी भी है और परप्रकाशी भी है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का यह अभिमत है। अन्य ग्रन्थों में यह कहा गया है कि निर्विकल्प जो होता है, वो दर्शन है और सविकल्प जो होता है, वह ज्ञान है। परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी एवं पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि इसको स्याद्वाद से स्वीकार करो। ज्ञान परप्रकाशी मात्र नहीं, आत्मप्रकाशी भी है। दर्शन आत्मप्रकाशी मात्र नहीं, परप्रकाशी भी है। अन्यथा आप नेत्र आदि से परद्रव्य को नहीं देख पायेंगे। नेत्र उपकरण मात्र हैं लेकिन देखने की सामर्थ्य आत्मा की है, इंद्रिय आलम्बन है।

शुद्धोपयोग की दशा निर्विकल्प है, वह स्वदृष्टि है, आत्ममुखी है, लेकिन वहाँ पर यह सोचना कि आत्मा मात्र का चिन्तन चलता है। चिन्तन से शून्य शुद्धोपयोग होता नहीं है। चिन्तन जो विकल्प है, पर विकल्पों से परे है इस दृष्टि से। लेकिन विकल्प नहीं मानोगे तो शुक्लध्यान पर्याय से पर्यान्तर, द्रव्य से द्रव्यान्तर, गुण से गुणान्तर ये एक-एक का चिन्तन चलता है। यह सारा-का-सारा अवधिज्ञान का विषय नहीं। ध्यान जो भी है, वो श्रुतज्ञान का

विषय है। अंतर इतना है कि जैसे सामान्य चर्चायें स्थूलरूप से आ रही हैं, ऐसे नहीं होता। वो अन्तरजल्प चलता है। वहाँ भी विकल्प है। बाह्य प्रपंचों से रहित, बाह्य विकल्पों से रहित होने के कारण इसको निर्विकल्प कहा जाता है। आत्मविकल्प तो होगा, आत्मसंवेदन तो करेगा, क्योंकि ज्ञान ऐसा होगा। ऐसा तो नहीं है कि ज्ञान के अभाव में ध्यान हो रहा हो। ज्ञान सविकल्प होता है कि निर्विकल्प ? जहाँ ज्ञान का उपयोग चल रहा है, वहाँ सविकल्प। "सविकल्प ज्ञानं, निर्विकल्पः दर्शनं"। ज्ञान सविकल्प और दर्शन निर्विकल्प होता है। छद्मस्थों के दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता। यहाँ दर्शन से तात्पर्य सम्यग्दर्शन वाला दर्शन नहीं है। यहाँ ज्ञान के पूर्व सत्ता-अवलोकन दर्शन है, वह निर्विकल्प है।

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि॥ 44 द्र. सं.॥

ज्ञान की एकाग्रता का नाम ध्यान है। ज्ञान की एकाग्रता जहाँ आ गई तो फिर उपयोग जायेगा कहाँ ? क्योंकि उपयोग ही आत्मा का लक्षण है, वह ज्ञान-दर्शन है। पूज्यपाद स्वामी ने चित्त की एकाग्रता नहीं लिखी, उन्होंने ज्ञान की एकाग्रता को ध्यान कहा। यदि वे चित्त की एकाग्रता बनाते तो उन्हें दो परिभाषा बनानी पड़ती। 12वें गुणस्थान तक चित्त की एकाग्रता ठीक थी, परन्तु 13वें गुणस्थान में तो चित्त है ही नहीं, अब ध्यान की क्या परिभाषा बनायेंगे ? तो उन्होंने कहा कि ज्ञान की एकाग्रता ही ध्यान है। उमास्वामी महाराज का कथन भी ठीक है, उनकी दृष्टि में 12वें गुणस्थान तक ध्यान होता है। एक बात का ध्यान रखना, ध्यान वास्तव में 12वें गुणस्थान तक ही होता है, 13वें, 14वें में औपचारिक कथन है, क्योंकि जहाँ चित्त ही नहीं है, वहाँ ध्यान नहीं है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इसका भी स्पष्टीकरण 9वें अध्याय में किया है। जहाँ वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, वहाँ वस्तु का ध्यान किया जाता है। जब तक जीव को कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती, तब तक ध्यान चलता है। ध्यान का फल कैवल्य प्राप्त हो चुका है, अब किसका ध्यान ? वहाँ तो केवलज्ञान है, अनुभवन दशा की लीनता है। जब तक द्रव्य नहीं मिलता, तब तक द्रव्य का चिन्तन होता है। द्रव्य के मिलने के बाद चिन्तन नहीं किया जाता, द्रव्य का अनुभवन किया जाता है। शुद्ध-उपयोगी भगवती-आत्मा 12वें गुणस्थान तक नहीं मिलती और 13वें गुणस्थान में जब मिल जाती है तो भगवती आत्मा का ध्यान नहीं किया जाता, अनुभवन किया जाता है। भगवती-आत्मा अर्थात् केवलज्ञान से युक्त आत्मा।

यहाँ जो शुद्धोपयोग का कथन चल रहा है, वो 12वें गुणस्थान का चल रहा है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धोपयोग सम्बन्धी आगमज्ञान होता है और आगम से शुद्धोपयोग का ज्ञान होता है, श्रद्धान होता है, परन्तु अनुभवन नहीं होता, क्योंकि चारित्र से अविनाभावी संबंध है। मिथ्यादृष्टि जीव को अंगों का ज्ञान हो जाता है, लेकिन उसका ज्ञान वैसा ही है जैसे कैसेट में भरा था, वैसे निकल जाता है, पर श्रद्धा का विषय नहीं बनता। कैसेट में शास्त्र भरे और निकले, स्वयं का कुछ नहीं होता है। लेकिन कैसेट सुनकर जीव अपने भाव निर्मल कर लेता है। ऐसे-ही अंगधारी मिथ्यादृष्टि के उपदेशों को सुनकर अनेक मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं, मोक्ष तक जा रहे हैं, परन्तु वो तो पुल के समान है। पुल से अनेक पार हो रहे हैं, परन्तु पुल तो जहाँ है वहीं है। भो ज्ञानी! अपने को पुल नहीं, नौका बनना है, जो स्वयं भी तिरती है और दूसरों को भी तिराती है। सम्यग्दृष्टि काठ की नौका के समान है और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान सेतु के समान है जो दूसरे को पार करा देता है पर स्वयं खड़ा रहता है।

12वें गुणस्थान में बैठी आत्मा अशुद्ध तो है, लेकिन वह आत्मा कर्मातीत अवस्था का ध्यान कर रही है। अध्यात्मशास्त्र की अपेक्षा वो भी शुद्धोपयोग में है, परन्तु सिद्धान्त अशुद्ध ही कहेगा। अशुद्ध अवस्था में भी शुद्ध अवस्था का ध्यान किया जा सकता है और करना भी चाहिये। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं जिन्हें सोने के आभूषण बनवाने हैं उन्हें शुद्ध सोने का ही चिन्तन करना होगा। जिनको लोहे के बनवाने हैं उन्हें लोहे का ही चिन्तन करना होगा। जिसे परम शुद्ध दशा की प्राप्ति करना है वह संसारी आत्मा निर्विकल्प आत्मा का अनुभवन करे।

कल्पना का अनुभवन भी बहुत गहरा होता है। कोई लड़की वाला लड़के को देखने गया, साथ में लड़की का फोटो ले गया। फोटो लड़के के परिवार वालों को दी। फोटो लड़के के हाथ लग गई। अभी पत्नी नहीं बनी है, कन्या है, लेकिन उस चित्र को देखकर कल्पना में डूब गया। नारायण कृष्ण के जीव को देखो, रुक्मणी के चित्र को देखकर कल्पना में डूब गये। बड़े-बड़े युद्ध चित्रों को देखकर हुये हैं। ध्यान देना, वहाँ चित्र मात्र था, स्त्री नहीं थी। उस जड़ चित्र को देखकर चित्त विचलित हो गया। चित्र कल्पना में, स्वप्न में आपको स्त्री से मिला रहा है। स्वप्न छोड़ो, जाग्रत अवस्था में भी इतना मनोरंजित कर रहा है कि शरीर की धातु का क्षरण हो गया। यह कल्पना की ही महिमा है।

भो ज्ञानी! ध्यान में ओम का ध्यान कराते हैं, शिखरजी की वंदना कराते हैं, अरिहन्त

का ध्यान कराते हैं। ये कल्पना ही तो है। कल्पना में ही जीव परमतत्त्व का अनुभवन कर लेता है। एक क्षण की ध्यान उष्णता आपको शुद्ध दशा का चिन्तन करा देती है। उस कल्पना से भी कर्म झरते हैं, यह भी सत्य है। जैसे यह मनुष्यपर्याय है, ये स्वतंत्र है, जैसे ही आयु पूरी होगी, यह छूट जायेगी, पर द्रव्य तो किसी न किसी पर्याय में रहेगा। पर्याय से युक्त ही द्रव्य दिखेगा।

आत्मा ज्ञान-दर्शन विशेष गुण से ही युक्त है। उसमें जो ज्ञान है, वो शुद्ध आत्मा के प्रकाश में असमर्थ होने के कारण परप्रकाशक ही है, यदि ऐसा है, तो दर्शन निरंकुश हुआ केवल अभ्यंतर में ही आत्मा को प्रकाशित करता है और इस तरह से आत्मा ही स्व-पर प्रकाशक है, हे जड़मति शिष्य! यदि तू दर्शन शुद्धि के अभाव में ऐसा मानता है तो तुझसे बड़ा कोई जड़ नहीं है, मूर्ख नहीं है। दर्शन की शुद्धि का अभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन का अभाव। तू जिनवाणी को एकांकी मान कर बोल रहा है। आचार्यभगवन्तों के सामने मिथ्यात्व आ चुका था। कोई अपने को शुद्ध मानता था, कोई बुद्ध मानता था, कोई कुछ मान बैठा था। आचार्यमहाराज दु:ख प्रकट करते हुये कह रहे हैं कि तुम्हें आगम के विरुद्ध बोलने में कष्ट नहीं होता क्या?

भो ज्ञानी! जो अविरुद्ध स्याद्वाद देवता है, उसकी अच्छी तरह से उपासना करो, यानि अनेकान्त का सहारा लो। स्याद्वाद में जो ज्ञान है, वह परप्रकाशी है, ऐसा मत कहो और ऐसा भी मत कहना कि स्याद्वाद दर्शन में केवलदर्शन शुद्धात्मा मात्र को देखता है। ऐसा कहने वाला मिथ्यादृष्टि कि दर्शन शुद्धात्मा को ही देखता है, ज्ञान पर को ही देखता है। आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि अनेक धर्मों का आधार है। व्यवहारपक्ष में भी ज्ञान केवल परप्रकाशी नहीं है, क्योंकि सदा बाहर स्थित रहने के कारण उसका आत्मा होने से वह सर्वगत भी नहीं रहेगा। इस कारण से वह ज्ञान ही नहीं होगा। वह मृगतृष्णा के जल के समान अर्थात् मरीचिका के समान प्रतिभास मात्र रहेगा। दर्शन के विषय में भी कहते हैं कि उसी प्रकाश से दर्शन भी केवल अभ्यंतर के ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि चक्षु सदा सब देखता है, लेकिन अपने भीतर स्थित पुतली को नहीं देखता है। इसलिये ज्ञान और दर्शन इन दोनों में स्व-पर प्रकाशपना अविरुद्ध ही है। इस कारण से ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला आत्मा ही स्व-पर प्रकाशक है, ऐसा जानना चाहिये।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

गाथा 162 कलश 277

नियमसार

उत्थानिका : पूर्वसूत्र में कथित पूर्वपक्ष का सिद्धान्त संबंधी कथन, ज्ञान और दर्शन भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

गाथा : **णाणं परप्पयासं, तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।**
ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥162॥

संस्कृत छाया : **ज्ञानं परप्रकाशं तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम्।**
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥162॥

अन्वयार्थ : (ज्ञानं परप्रकाशं) ज्ञान परप्रकाशी है (तदा) तब तो (ज्ञानेन दर्शनं भिन्नं) ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध हुआ (दर्शनं पदद्रव्यगतं न भवति) क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत अर्थात् परद्रव्यों का प्रकाशक नहीं होता है (इति वर्णितं तस्मात्) ऐसा पूर्व में वर्णन किया है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् नियमसार के शुद्धोपयोग अधिकार में, आत्मा के जो गुण हैं ज्ञान और दर्शन, उसके विषय में संकेत दे रहे हैं। आत्मा स्व-पर प्रकाशक ही है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान परप्रकाशी है और दर्शन स्वप्रकाशी है। इसी की पुष्टि करते हुये आचार्य अमृतचन्द्र सूरि भी कह रहे हैं।

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं,
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्ति विस्तारपीत-
ज्ञेयाकारं त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥4 प्र. सार टीका॥

जिसने कर्मों को छिन्न-भिन्न कर दिया है, वह भगवती-आत्मा भूत, भविष्यत और वर्तमान अर्थात् त्रिकाल के संसार के समस्त पदार्थों को युगपत जानता हुआ भी मोहनीय कर्म के अभाव होने से पररूप नहीं होता है। यह जीव मोहनीय के सद्भाव में ही परपदार्थों को अपना जानता-मानता है। मोह के कारण अपना विवेक खोकर पर में ही लीन हो जाता है। वह भगवती आत्मा ज्ञप्ति के विस्तार से समस्त ज्ञेयाकारों को जानता है। तीनलोक-संबंधी

समस्त पदार्थों को पृथक् और अपृथक् उद्योतित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति-रूप आत्मा मुक्त ही रहता है। वह स्व और पर को भिन्न-भिन्न जानता-मानता है। टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव इसी विषय को कलश में स्पष्ट कर रहे हैं-

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्गतं ज्ञेयजालम्।
दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा
ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम् ॥277 कलश॥

ज्ञान एक सहज परमात्मा को जानकर लोकालोक को प्रगट करता है। इस त्रिलोक में जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं, सबको विषय बनाता है। ज्ञान स्व और पर समस्त पदार्थों को जानता है। नित्य शुद्ध क्षायिक दर्शन भी स्व और पर सभी को साक्षात् विषय करता है। यह आत्मा ज्ञान और दर्शन दोनों के द्वारा संपूर्ण स्व और पर विषयक ज्ञेय समूह को जानता है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान पर को ही जानता है और दर्शन स्व को ही जानता है। आचार्यमहाराज एक एकान्त का खंडन कर रहे हैं।

ज्ञान और दर्शन भिन्न-भिन्न नहीं हैं, इस बात को आचार्य कुन्दकुन्द देव गाथा संख्या 162 में स्पष्ट कर रहे हैं। ज्ञान को परप्रकाशी मानने से ज्ञान जो है वह दर्शन से भिन्न हो जायेगा, क्योंकि दर्शन परद्रव्यों का प्रकाशक नहीं होता है, ऐसा पहले कह चुके हैं। ज्ञान और दर्शन दोनों आत्मा के लक्षण हैं। व्यवहार से भी दोनों भिन्न नहीं हैं। निश्चय से ज्ञान और दर्शन ही आत्मस्वरूप हैं। दोनों को पूर्व गाथाओं में आत्मा ही कहा गया है। कोई एकान्त से कथन करते हुये कहता है कि आत्मा परप्रकाशी है, उसी के निरसन के लिये आचार्यभगवन् ने इस गाथा में कथन किया है।

यदि ज्ञान को सिर्फ परप्रकाशी माना जाय या सिर्फ परप्रकाशी हो, तो ऐसे इस ज्ञान से दर्शन भिन्न होगा, क्योंकि ज्ञान परप्रकाशी और स्वप्रकाशी दर्शन का संबंध कैसे होगा ? नहीं होगा। कोई कहे कि सहयाद्रिपर्वत जो पश्चिम में है और विन्ध्य पर्वत जो पूर्व में है, इन दोनों का आपस में संबंध नहीं है। गंगा भागीरथी नदी जो पूर्व में हिमालय से निकलती है उसका श्रीपर्वत जो पश्चिम में है उससे क्या संबंध है ? अर्थात् नहीं है।

यदि ये मानें कि आत्मा में सिर्फ दर्शन ही स्थित है, जो कि निराधार है, क्योंकि ऐसा

मानने पर ज्ञान की शून्यता ही हो जायेगी। अथवा जहाँ-जहाँ ज्ञान जायेगा वे सभी द्रव्य चेतनरूप हो जायेंगे, अतः त्रिलोक में कोई भी अचेतन पदार्थ नहीं सिद्ध होगा। इससे महान दूषण का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा क्योंकि त्रिभुवन में चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के द्रव्य हैं। इस दूषण से बचने के लिए यदि तुम ऐसा कहो कि ज्ञान केवल परप्रकाशी नहीं है, तब दर्शन भी केवल स्वप्रकाशी नहीं है, आत्मगत नहीं है, ऐसा ही कहना होगा। इसलिये सिद्धान्त के अनुसार भी ज्ञान और दर्शन कथंचित् स्व-पर प्रकाशी हैं। इसी की पुष्टि करते हुये महासेन पंडितदेव भी कह रहे हैं।

ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन्।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥

ज्ञान से आत्मा न भिन्न है और न अभिन्न है, किन्तु कथंचित् भिन्नाभिन्न है, क्योंकि पूर्व और अपर दोनों अवस्थाओं में जो व्याप्त हुआ ज्ञान है, सो यह आत्मा है। ऐसा जानना चाहिए।

आचार्यमहाराज स्पष्ट कर रहे हैं कि आत्मा ज्ञान मात्र नहीं है। आत्मा दर्शन मात्र नहीं है। आत्मा दोनों से युक्त है। अतः आत्मा स्व-पर विषय को जानता और देखता अवश्य है, आत्मा में संज्ञा के भेद से ज्ञान और दर्शन भेद हो गया है, परन्तु परमार्थ से विचार करने पर अग्नि और उष्णता के समान भेद नहीं है। निश्चय से आत्मा दर्शन-ज्ञानरूप ही है, एकरूप ही है, उसको पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 163 में कह रहे हैं कि यदि आत्मा को परप्रकाशी माना जाय, तो आत्मा से दर्शन भिन्न हो जायेगा। क्योंकि दर्शन परगत द्रव्य नहीं है। दर्शन स्वस्वरूप होने के कारण आत्मा को दर्शन से अलग कहना पड़ेगा। आत्मा भिन्न द्रव्य और दर्शन भिन्न-भिन्न हो जायेगा, जबकि ऐसा नहीं है।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

गाथा 163 कलश 278

नियमसार

उत्थानिका : एकान्त से आत्मा पर प्रकाशी नहीं है।

गाथा : अप्पा परप्पयासो, तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥163॥

संस्कृत छाया : आत्मा परप्रकाशस्तदात्मना दर्शनं भिन्नम्।
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात्॥163॥

अन्वयार्थ : (आत्मा परप्रकाशः) यदि आत्मा परप्रकाशी है (तदा) तब तो (आत्मना दर्शनं भिन्नं) आत्मा से दर्शन भिन्न हो जायेगा (दर्शन परद्रव्यगतं न भवति) क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं है (इति वर्णितं तस्मात्) ऐसा पूर्व सूत्र में वर्णन किया गया है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रन्थराज नियमसार के शुद्धोपयोग अधिकार में ज्ञान और दर्शन के विषय में संकेत करते हुये कह रहे हैं कि ज्ञान से आत्मा न भिन्न है और न अभिन्न है। कथंचित् भिन्नाभिन्न है। यदि ज्ञान को मात्र परप्रकाशी कहा जाय और दर्शन को स्वप्रकाशी कहा जाय तो दोनों भिन्न-भिन्न होने के कारण आत्मा का स्वभाव नहीं ठहरेंगे। इसी बात को टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव कलश में स्पष्ट कर रहे हैं-

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्
ताभ्यां युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम्।
संज्ञाभेदादघकुलहरे चात्मनि ज्ञानदृष्ट्योः
भेदो जातो न खलु परमार्थेन वह्न्युष्णवत्सः॥278 कलश॥

आत्मा एकान्त से ज्ञान नहीं है, उसी प्रकार पूर्व में एकान्त से ज्ञान के परप्रकाशी होने का खंडन किया था, वैसे-ही अब आत्मा सिर्फ परप्रकाशी है, उसका उसी प्रकार खंडन हो जाता है। क्योंकि भाव और भाववान एक ही अस्तित्व से बनते हैं। जैसे भाव होते हैं, वैसे ही उनका धारक भाववान होता है। ज्ञान आत्मा में होता है। जब ज्ञान स्व-परप्रकाशी है, तो

आत्मा भी स्व-पर प्रकाशी होगा। पहले ज्ञान को परप्रकाशक मानने पर दर्शन को भिन्न कहा है और यहाँ आत्मा को परप्रकाशक कहने पर उससे ही दर्शन भिन्न हो जायेगा।

भो ज्ञानी! यदि आत्मा परगत द्रव्य नहीं है, ऐसा कहोगे, तो दर्शन भी अभिन्न रहेगा। आत्मा को स्व-पर प्रकाशी कहने से दर्शन को भी आत्मा से अभिन्न समझना चाहिये। अतः आत्मा निश्चितरूप से स्व-पर प्रकाशी है, ऐसा जानना चाहिये। जैसे धर्म और धर्मी एकस्वरूप होते हैं, भिन्न-भिन्न नहीं होते हैं। अग्नि जहाँ होगी, वहाँ उष्णता होगी। जहाँ उष्णता होगी, वहाँ अग्नि होगी। धर्म से धर्मी कभी अलग नहीं होता है। आत्मा धर्मी है, क्योंकि वह अतिशय रूप ज्ञान और दर्शन से युक्त है। ज्ञान और दर्शन जो धर्मी है, उसके बिना आत्मा जो धर्म है, उसका अस्तित्व संभव नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

॥भगवान महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 164 कलश 279

उत्थानिका : व्यवहारनय से ज्ञान-दर्शन परप्रकाशी है, अतः आत्मा भी परप्रकाशी है।

गाथा : णाणं परप्पयासं, ववहारणयेण दंसणं तम्हा।
अप्पा परप्पयासो, ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥164॥

संस्कृत छाया : ज्ञानं परप्रकाशं व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात्।
आत्मा परप्रकाशो व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ॥164॥

अन्वयार्थ : (व्यवहारनयेन) व्यवहारनय से (ज्ञानं परप्रकाशं) ज्ञान परप्रकाशी है (दर्शनं तस्मात्) इसलिये दर्शन भी परप्रकाशी है (व्यवहारनयेन) व्यवहारनय से (आत्मा परप्रकाशः) आत्मा परप्रकाशी है (दर्शनं तस्मात्) अतः दर्शन भी परप्रकाशी है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार जी ग्रन्थ में शुद्ध उपयोग अधिकार के अन्तर्गत यह संकेत दिया कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है, दर्शनस्वभावी है। दर्शन स्व-पर प्रकाशी है, ज्ञान स्व-पर प्रकाशी है और आत्मा भी स्व-पर प्रकाशी है, क्योंकि ज्ञान-दर्शन आत्मा का धर्म है। आत्मा से रहित ज्ञान-दर्शन नहीं है। ज्ञान-दर्शन से रहित आत्मा नहीं है, अग्नि उष्णतावत्। जैसे अग्नि में उष्णता, जल में शीतलता। यदि दर्शन को परप्रकाशी ही माने, तो आत्मा जड़स्वभावी हो जायेगी। ज्ञान कहीं से लाना पड़ेगा, दर्शन कहीं से लाना पड़ेगा और आत्मा कोई भिन्न होगी। सत्ता, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से भिन्नता है, लेकिन स्वरूपदृष्टि से भिन्नता नहीं है। इसी बात को आचार्य पद्मप्रभमलध ाारिदेव कलश में कह रहे हैं-

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञानदृग्धर्मयुक्तः
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यम्।
सम्यग्दृष्टि र्निखिलकरणग्रामनीहारभास्वान्
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया संस्थितां ताम् ॥279 कलश॥

जो गुण होता है, वो धर्म कहलाता है और जो गुणी होता है, वो धर्मी कहलाता है। अग्नि धर्मी है, उष्णता धर्म है और जहाँ धर्म धर्मी रहते हैं, उसका नाम पक्ष है। पक्ष यानि शरीर। शरीर धर्म धर्मी से युक्त होता है। धर्म कभी भी धर्मी से भिन्न नहीं होता है। आत्मा धर्मी है, ज्ञान-दर्शन उसका धर्म है। वह आत्मा में अचलरूप से स्थित है। जिस तरह से बर्फ को पिघलाने के लिये सूर्य की किरणें होती हैं, उसी तरह से सम्यग्दृष्टि जीव इंद्रियरूपी ज्ञान को, इंद्रियों के विषय को पिघलाने के लिये सूर्य के समान है। वो जीव जिसने इंद्रिय-व्यापार के हिम को पिघला दिया है, सहज अवस्था से युक्त जो मुक्ति है उसको प्राप्त कर लेता है। जब तक इंद्रिय-ग्राम रूपी हिम का पिघलन नहीं होगा, तबतक शुद्धात्मतत्त्व में स्थिरपना संभव नहीं है। हिमालय पर्वत बर्फ से आच्छादित हो तो तीर्थवंदना नहीं हो पाती है। जैसे ही बर्फ पिघलती है, तीर्थ खुल जाता है, लोग वंदना करने पहुँच जाते हैं। उसी प्रकार से आत्मतीर्थ के ऊपर विषय-भोगों की बर्फ आच्छादित है। ज्ञान-दर्शनरूपी सूर्य का प्रकाश जैसे ही पड़ता है, वह बर्फ पिघलने लगती है, आत्मतीर्थ का अवलोकन हो जाता है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 164 में व्यवहारनय से ज्ञान, दर्शन और आत्मा के विषय में बता रहे हैं। व्यवहारिकजनों को व्यवहारिक भाषा में ही समझाना पड़ता है। उनको व्यवहारिक भाषा में नहीं समझाया जाय तो वो निश्चय को समझ नहीं पायेंगे, वस्तु-तत्त्व को समझ नहीं पायेंगे। मैं पेन को प्रत्यक्ष रूप से देख रहा हूँ। सिद्धान्त इसे परोक्ष रूप कहेगा। यदि व्यवहारी जन से परोक्ष कहा जायेगा तो वो आपको झूठा कहेगा, क्योंकि उसे सिद्धान्तों का पता नहीं है। सिद्धान्तों का प्रतिपादन श्रद्धावान के सामने करना। पहले श्रद्धावान बना लेना, फिर सिद्धान्त प्रतिपादित करना। आपने श्रद्धावान बनाया नहीं और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना शुरू कर दिया, तो समय भी जायेगा, सिद्धान्त भी जायेगा और उसको कुछ मिलेगा नहीं। इसलिये पहले उसे व्यवहारिक बातें बताओ, फिर धीरे-धीरे सिद्धान्त की ओर ले जाओ। सिद्धान्त समझ लेगा तो उसकी श्रद्धा अचल होगी, उसको कोई डिगा नहीं पायेगा। यदि आपने व्यवहारिक ज्ञान तक ही छोड़ दिया तो वो कहेगा कि आपने छल किया। आपने व्यवहारिक ज्ञान बताने के बाद स्थान पर तो खड़ा कर दिया, पर सिद्धान्त का स्पर्श नहीं कराया, तो आपने उसके साथ छल किया।

एक मुमुक्षु जीव मोक्षमार्ग की ओर जा रहा है, उसे आपने प्रारम्भ अवस्था का ज्ञान करा दिया, चलने की क्रिया भी बता दी, चलना भी सिखा दिया, यह ठीक है; लेकिन कहाँ जाना

चाहिये, ये नहीं बताया, अब वो क्या करेगा ? वह चलेगा और थक जायेगा तो कहीं-न-कहीं बैठेगा, अथवा अपने अनुसार कोई मार्ग मार्गी को चुन लेगा। आज जीव धर्म से क्यों भटक रहा है ? क्योंकि एक पक्ष तक तो हम ज्ञान पिला देते हैं, चरणानुयोग का ज्ञान तो हमने उसे करा दिया, लेकिन उसे कहाँ स्थिर होना चाहिये था, नहीं बताया। वहाँ जब नहीं पहुँचता है, तो फिर वो जीव प्रपंचों में अपना स्थान बना लेता है। आखिर जीवन में करे क्या?

भो ज्ञानी! क्षयोपशम की धार जब बढ़ती है, तो उस शरीर में वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम बढ़ता है। किसी के शरीर में बहुत ताकत होती है। यदि उसका सदुपयोग नहीं किया तो वो पूरे शरीर की शक्ति को भोग-वासना में लिप्त होकर लगा देता है। उसको कलम दे दो तो साहित्य की रचना कर देगा, उसको तलवार दे दो तो संहार कर देगा। यदि आपने उसको अध्यात्म दे दिया तो आत्मा को परमात्मा बना लेगा। बजाने की कला नहीं है तो सितार घूरे पर है और जिसको उपयोग करने की कला है तो मधुर ध्वनि है। बस यही तुम्हारी पर्याय के साथ हो रहा है। यदि पर्याय का जीवन बजाना सीख लिया होता तो आज तुम प्रभु बनके पुज रहे होते, घूरे पर न होते। तुम्हारे साथ खेलने वाला सिद्ध बन गया और तुम कहाँ हो? ये दोष किसका है? सितार का दोष नहीं है, तुम्हारे पास कला नहीं थी। धर्म तो है, धर्मी भी है, पर पहचान नहीं थी। आवाज देना उसका धर्म था। आवाज जिससे आ रही है, वो धर्मी है। परन्तु धर्म धर्मी को समझ नहीं पा रहे हो, इसका नाम तुम्हारी कला की दृष्टि का अभाव है।

आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं कि व्यवहार से व्यवहार पक्ष को समझना भी अनिवार्य है। परन्तु ध्यान रखना, निश्चय पक्ष को समझने के लिये पुरुषार्थहीनता नहीं है। काललब्धि ा नियत है। होनहार पर काल नियत का आरोपण मत कर देना। पुरुषार्थ करने पर कार्य सिद्ध न हो, वहाँ काल नहीं है तो लगा देना। अबुद्धिपूर्वक निष्ट-अनिष्ट हो रहा है, वो तुम्हारा दैव है, नियति है, वो ही काललब्धि है। लेकिन बुद्धिपूर्वक जो निष्ट-अनिष्ट हो रहा है, वो तुम्हारा पुरुषार्थ है। जब पुरुषार्थ करने पर कार्य सफल न हो, वहाँ कहना कि ऐसी होनहार थी। कुछ किया नहीं, इसके पहले होनहार कहके बैठ गये, तो उल्टा ही होगा। इसलिये पुरुषार्थ तो करना, पुरुषार्थहीन मत होना। पुरुषार्थ करने पर भी सफलता न मिले तो बेहाल मत होना।

ज्ञान परप्रकाशी है, ऐसा व्यवहारनय का कथन है। व्यवहारनय से दर्शन भी परप्रकाशी है। जब दोनों परप्रकाशी हैं, तो आत्मा ज्ञान-दर्शन से शून्य होती है क्या? नहीं। तो आत्मा

भी परप्रकाशी है। ज्ञान-दर्शन आत्मा में हैं, इसलिये आत्मा भी परप्रकाशी है। यह व्यवहारनय की सफलता को दर्शाते हुये कहते हैं। यहाँ जो सकल कर्मों के क्षय से प्रकट होने वाला सकल विमल केवलज्ञान है, वह पुद्गलादि मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतनरूप परद्रव्य और उनकी गुण-पर्याय के समूह का प्रकाशक कैसे है ? क्योंकि आपने कहा कि व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशी है। ज्ञान से तात्पर्य मात्र मति-श्रुत नहीं, कैवल्य तक लेना। व्यवहार जो भी होता है, पराश्रित होता है और निश्चय स्वाश्रित होता है। श्रुतबुद्धि भी कथंचित पराश्रित है, क्योंकि श्रुतबुद्धि ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से होती है और मतिज्ञानपूर्वक होती है। मतिज्ञान इंद्रिय-मनपूर्वक होता है। केवलज्ञान स्वाश्रित मात्र होता है। एकदेश रूप से अवधि व मनः-पर्यय ज्ञान भी स्वाश्रित है। निश्चयदृष्टि से। अखंड ध्रुव से मात्र केवलज्ञान स्वाश्रित है।

दर्पण निर्मल है, दर्पण में निर्मलता के लिये पर की आवश्यकता नहीं है। दर्पण निर्मलता में पराश्रित नहीं है, पर प्रतिबिम्बित करने में पराश्रित ही है। स्वभाव स्वाश्रित है, लेकिन उसमें प्रतिबिम्ब तभी पड़ेगा जब कोई प्रतिबिम्बवान सामने आयेगा। केवली स्वाश्रित हैं, ध्रौव्य हैं, अखंड हैं, फिर भी पराश्रित हैं, क्योंकि जब भी केवली के ज्ञान में ज्ञेय आयेंगे तो पर होंगे, तभी आयेंगे। परसापेक्षी अपेक्षा से केवली भी पराश्रित हैं। यदि यह शब्द नहीं जोड़ोगे तो केवली के ज्ञान में अनंत ध्रौव्यों का परिणमन झलकेगा नहीं। परन्तु पराधीनरूप पराश्रित मत कह देना। द्रव्य को विकृत करने वाला द्रव्य नहीं है। स्वद्रव्य को विकृत करने वाला परद्रव्य ही होता है। विकृत होने की योग्यता स्व में है।

एक ग्रामीण खन्ती का पानी पी रहा है क्योंकि उसको ज्ञान नहीं है और शहरी उसमें निर्मली डालकर पी रहा है क्योंकि वह विवेकी है। समल नहीं पी रहा है, निर्मल पी रहा है। पानी दोनों हैं। ध्यान रखना, जबतक शहर का साफ पानी पीने को नहीं मिल रहा है तबतक ग्राम का पानी नहीं छोड़ देना, अन्यथा तू मर जायेगा। यही शुद्धोपयोग और शुभोपयोग की दशा है। शुभोपयोग मिश्रित पानी है, शुद्धोपयोग शुद्ध पानी है। ग्राम अर्थात् छठवाँ गुणस्थान तक और शहर अर्थात् सप्तम गुणस्थान। जब तक सराग अवस्था है, तब तक मिश्रित पानी पीना ही पड़ेगा।

भो ज्ञानी ! बिना व्यवहार के तुम केवली भगवान् से कुछ नहीं ले सकते हो। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जो मैं लिख रहा हूँ, वह भी व्यवहार है और जहाँ से लिख रहा हूँ, वो भी व्यवहार है। अनुभूति अवक्तव्य है और जो वक्तव्य है, वो कथन चल रहा है। अनुभव के बाद

जो प्रकट हो रहा है, वो वचन में आ रहा है, कथन में आ रहा है। केवली जान रहे हैं केवलज्ञान से, पर केवली की जो वाणी मेरे पास आई, वह श्रुतज्ञान है। 'केवली का जानना' शब्द जो कह रहे हैं, वो व्यवहार है। केवली जान रहे हैं, ऐसा नहीं कहोगे तो सर्वज्ञता की हानि हो जायेगी। 'तत्त्वार्थसूत्र' में उमास्वामी महाराज कहते हैं कि जो संपूर्ण द्रव्यों की चर-अचर द्रव्य-गुण-पर्याय को जान रहे हैं, वे केवली भगवान् हैं। व्यवहार में जान रहे हैं, ऐसा ही कहना पड़ेगा, नहीं-तो आप सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं कर पाओगे।

भो ज्ञानी! लोक में सभी जीवों का ज्ञान एक-सा नहीं होता। ज्ञेय ज्ञान का हेतु नहीं, प्रकाश ज्ञान को हेतु नहीं, पदार्थ ज्ञान का हेतु नहीं। कर्म के क्षयोपशम की योग्यता ही जीव के ज्ञान की वृद्धि-हानि का हेतु है। यदि पदार्थ ज्ञान का हेतु बन जायेगा, तो पदार्थ एक-से सबसे सामने हैं, ज्ञान एक-सा होना चाहिये? पर होता नहीं। पिता के द्वारा चार पुत्रों को बराबर धन देने पर भी कुछ समय पश्चात् धन कम या अधिक हो जाता है। यह क्षयोपशम की योग्यता है, पिता का क्या दोष ? भो ज्ञानी! पर का निमित्त मानना, पर उपादान की योग्यता का अभाव नहीं कर देना। माँ सब बेटों को एकसाथ दूध पिलाती है, फिर भी कोई मोटा, कोई पतला, कोई सामान्य है। ये जीव का स्वयं का कर्म का क्षयोपशम है।

भो ज्ञानी! व्यवहार पराश्रित है, इस वचन से व्यवहारनय की अपेक्षा से ऐसा है, इसलिये दर्शन भी वैसा है। तीर्थंकर का जब जन्म होता है तो तीनों लोकों में विक्षोभ अर्थात् प्रसन्नता और आनंद उत्पन्न हो जाता है। नारकी जीव को भी एक मुहूर्त के लिये सुख मिलता है। साढ़े बारह करोड़ नगाड़े बजते हैं, सौ इंद्रों के द्वारा वंदना की जाती है। ऐसे तीर्थंकरदेव केवली भगवान कारणपरमात्मा नहीं, कार्यपरमात्मा हैं। वे भी परप्रकाशक हैं व्यवहारनय से। इसलिये व्यवहारनय के बल से इनका केवलदर्शन भी परप्रकाशी है, ऐसा जानना चाहिये। पर ध्यान रखना, व्यवहार पराश्रित होता है और निश्चय स्वाश्रित होता है।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

गाथा 164

समयदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्धोपयोग अधिकार में ऐसा व्याख्यान किया है कि ज्ञान-दर्शन निश्चयनय से आत्मप्रकाशी है तथा व्यवहारनय से परप्रकाशी है। व्यवहार पराश्रित होता है, निश्चय स्वाश्रित होता है। व्यवहारदृष्टि से केवली भगवान् का ज्ञान भी पराश्रित है। निश्चयदृष्टि से मति-श्रुतज्ञान भी स्वाश्रित है। शुद्धोपयोग की अपेक्षा से स्वयं को जानता है, स्वयं का ही वेदन करता है। व्यवहारनय से केवली भगवन के ज्ञान को पराश्रित कहना उचित है, क्योंकि जो भी वो जानते हैं, वो परद्रव्यों को भी जानते हैं निज द्रव्य के साथ। व्यवहार दृष्टि से परद्रव्य ही झलकता है। निश्चयदृष्टि से मात्र स्वयं को ही जानते हैं। ज्ञेय जो भी है, उभयरूप है। स्वद्रव्य भी नाना ज्ञेयों में एक ज्ञेय है। आप स्वयं ज्ञेय हैं कि नहीं ? हैं! ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य पदार्थ। दीपक परप्रकाशक है, स्वप्रकाशी भी है। प्रकाशभूत अनेक द्रव्यों में वह दीपक स्वयं भी एक द्रव्य है। जब वह अन्य द्रव्य को प्रकाशित करेगा, उस समय स्वयं का प्रकाशितपना भी हो रहा है। ऐसे-ही ज्ञान जब दूसरे को जानता है, ज्ञान से दूसरे को जाना जाता है, उस काल में वह ज्ञान स्वयं को जानता है।

भो ज्ञानी! जब जीव भिन्न द्रव्य का वेदन करता है, उस समय में स्वद्रव्य का भी वेदक है। भिन्न द्रव्य का जो वेदन चल रहा है, वेदन करने वाला कौन है ? स्वयं जीव है। वेदकृत भाव है, वो निज वेदक भाव से भिन्न होके वेदन कर रहा है कि अभिन्न होके कर रहा है? जैसे ये पेन आपने देखा। पेन लिखने के काम आता है, ये आप जान रहे हो, देख रहे हो, वेदन कर रहे हो। चित्त को एकाग्र करने के लिये बहुत विषयों की आवश्यकता नहीं है, अल्प विषय से भी एकाग्र हो सकता है। पर हम इतना समय भी नहीं दे पाते हैं। या तो अध्ययन में लगाते हैं या फिर किसी अन्य कार्य में लगाते हैं। चित्त को एकाग्र करने में समय चाहिये। आपने मीठा खाया, उसके बाद नमकीन खाया, लेकिन शीघ्र ही नमक का स्वाद नहीं आ रहा है, जबकि उसमें नमक था। एक दो ग्रास के पश्चात् नमक का स्वाद आता है। किसी व्यक्ति के 15 दिन का नमक का त्याग है, उस बीच कोई नमकीन वस्तु आ जाये, तो उसको तुरन्त भान नहीं होता है, द्वितीय क्षण में भान होता है और वह तब अंतराय करता है। किसी का बहुत दिन से मीठे का त्याग है, अचानक मीठा खाने पर भान नहीं होता है, बाद में कहता है कि मीठा है। अंतराय कर दिया। बात को गहरे में समझो। जब रोज के भौतिक भोग का

उपयोग करते हुए भी जीव उसका शीघ्र वेदन नहीं कर पाता, तो जिसका तूने आज तक भोग नहीं किया, उसका शीघ्र वेदन करना चाहता है, कैसे संभव है भोग भोगते हुये? जब मुख की मिश्री का स्वाद समाप्त हो जाता है, तब नमकीन का स्वाद प्रारंभ होता है, जब मुख साफ हो जाता है। ऐसे ही जब तेरा विषयों का स्वाद समाप्त होगा, तब आत्मा का स्वाद प्रारंभ होगा। जब तक विषयों का स्वाद साफ नहीं हो रहा है, तब तक आत्मा का स्वाद नहीं आ रहा है। जितने में साफ होने वाला होता है, तब तक तुम दूसरा विषय रख देते हो तो मौका मिल नहीं पाता है। सामायिक में जब मन लगने का समय आया, इतने में घड़ी में समय समाप्त हो गया, तो उठके खड़े हो गये। सामायिक का स्वाद आया कहाँ? क्योंकि विकल्प दूसरे काम का था।

भो ज्ञानी! सब विकल्पों से मुक्त होकर साधना करो। सब द्वंद्वों से परे होकर साधना करोगे तो साधना का आनंद आयेगा। आनंद का समय आने को था, पर आपने दूसरा विघ्न/विकल्प खड़ा कर दिया। अग्नि बुझने को हो रही थी, आपने फिर से कुरेद दिया। काषायिक भाव उपशमन को प्राप्त हो रहे थे, आपने कुरेद दिया। साधना करते-करते 15-20 साल हो गये, पर परिणामों में और परिणति में अंतर नहीं दिख रहा है, बात क्या है ? घर छोड़ने का काल, साधना का काल इतना हो गया, लेकिन विषय छोड़ने का काल तो एक मुहूर्त का भी नहीं हुआ है। विभाव परिणति छोड़ने का काल तो एक मुहूर्त भी नहीं होने दे रहे हो तो फिर आनंद कैसे आयेगा ? इसलिये हे तपोधन! बिल्कुल एकान्त में चले जाना। आपको हटके रहना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! ज्ञान-दर्शन का वेदन यानि स्वयं के वेद-वेदक भाव का वेदन नहीं कर पा रहे हो। यहाँ तक कि आज जीव दु:ख का भी वेदन नहीं कर पा रहा है, सुख की बातें छोड़ो। पिता की मृत्यु पर अच्छे से रो नहीं पा रहा है। इधर पिता की मृत्यु होती है, शोक के क्षण कुछ सोचता है, उधर फोन आ जाता है कि एक करोड़ का लाभ हुआ है, अब बताओ, पिताजी की मृत्यु का शोक कहाँ आ पाया ? शाम को पिताजी की मृत्यु हुई और सुबह बेटा हो गया, तब क्या करोगे? आप पिताजी के शोक को हटाओगे, कि पुत्र के शोर को हटाओगे ? न पिताजी के शोक का आनंद लूट पा रहा है, न पुत्र के प्रसन्नता का आनंद लूट पा रहा है। ये दशा है आपके साथ। शोक आनंद इसलिये कह रहा हूँ कि आर्त्तध्यान में भी आनंद आता है। वो सोचता है कि अब संसार में कुछ नहीं बचा। जो कुछ था, सब चला गया। इतना तन्मय

हो जाता है। आर्त्तध्यान में आनन्द नहीं आता तो करता ही क्यों ? उसमें भी अच्छा लगता है। ऐसे-ही रौद्रध्यान की महिमा है। किसी से झगड़ा हो जाये तो सोचता है कि मैं इसके साथ ऐसा करूँगा वैसा करूँगा। पता नहीं कहाँ-कहाँ तक पहुँच जाता है। तलवार, भाले सजाकर रख रहा है। पर है कुछ नहीं, रौद्रध्यान कर रहा है।

पंचपरमेष्ठी के प्रति जो राग है, उसका नाम प्रशस्त राग है। परन्तु कोई जिनवाणी भी उठाके ले जाये और हम उसके बारे में रोते हैं, विकल्प करते हैं, तो आर्त्तध्यान ही बनेगा। जिनवाणी की अविनय न हो, विनय हो। जिनवाणी की विनय करना प्रशस्त राग है, परन्तु वियोग में विलखना आर्त्तध्यान (अप्रशस्त राग) ही है। कोई सोचता है कि मैं ही मंदिर की रक्षा/सेवा कर सकता हूँ, और-कोई नहीं कर सकता, तो मृत्यु के पश्चात् मंदिर में साँप बन सकता है। ये तो सोचो कि तेरे पहले रक्षा/सेवा होती थी कि नहीं ? वियोग में अप्रशस्त भाव लगता है। इसलिये छठवें गुणस्थान तक आर्त्तध्यान कहा है।

भो ज्ञानी ! अब मिश्री खा रहा है तो नमक का स्वाद तुरंत नहीं आता। यही दशा जीव के साथ होती है। जब शुभोपयोग अशुभोपयोग की तीव्रता में होता है और शुभोपयोग के क्षेत्र में पहुँचता है तो-भी शुभोपयोग का वेदन नहीं कर पाता और जब वेदन होने का काल आता है, इतने में घर चला जाता है। एक घंटे को मंदिर आये, पूजन, माला आदि किये, जब स्थिर होने का समय आया, तो एक घंटा पूरा हो गया, घड़ी कहती कि घर चलो, समय हो गया। पुनः समझना। 10 मिनट के ध्यान के लिये लगभग दो घंटे चाहिये। अध्ययन करने भी बैठो तो 10-15 मिनट मन बनाने में लगता है। करणानुयोग की भाषा में ये जीव चला, विश्राम किया, विशुद्ध हुआ, फिर अगला काम किया। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव जब भद्र परिणामों से युक्त हुआ, तो तीव्र पुरुषार्थ चल रहा था। ये चला, फिर अंतर्मुहूर्त विश्राम करता है। विश्राम करने के बाद विशुद्ध होता है और विशुद्ध होने के बाद अगले कर्म की प्रकृति का क्षय करता है। ये है सिद्धान्त की भूमिका और प्रत्येक जीव के साथ ऐसा होता है, चाहे व्यावहारिक कार्य हो चाहे पारमार्थिक कार्य हो।

भो ज्ञानी ! जब तक योग को स्थिर नहीं करोगे, तब तक उपयोग स्थिर नहीं होगा। योग में चंचलता है तो उपयोग को स्थिर नहीं कर पाओगे। आप किसी बड़े घराने के लड़के को शादी हेतु देखने गये, सब अच्छा था, परन्तु उसको सफेद दाग था। जब तुम्हारी दृष्टि दाग पर पहुँचती है, तब तुम्हारे परिणाम कैसे होते हैं ? जिनवाणी कहेगी कि यह अभिषेक, पूजन,

आहारदान नहीं कर सकता। आदेश कठोर है, पर सिद्धांत पकड़ोगे तो बहुत अच्छा महसूस होगा। इसका योग अशुभ है, योग अशुभ होने से उपयोग में विकृति है। जब भाव निर्मल नहीं है, मानसिक तनाव है, तो काया शुद्ध होने पर भी मन उसका अशुद्ध है। आपसे कोई भूल हो गई जीवन में, और उस भूल को छिपाना चाहो तो तुम्हारा उपयोग अशुभ होगा।

लोगों ने अशुभ का अर्थ अब्रह्म मात्र में जाना। धनसंचय करना, इतने में ही लगा लिया। ये तो अशुभ है ही, पर मन में मोक्षमार्ग के विपरीत जो नाना संकल्प-विकल्प हो रहे हैं, ये सब अशुभ हैं। शुभोपयोग तो मात्र पंचपरमेष्ठी पूर्वक ही होता है। कुछ लोगों ने सामाजिक कर्त्तव्यों को धर्म मान लिया है। वे दायित्व सामाजिक हो सकते हैं, लेकिन वे धर्म नहीं हैं। आगम के अनुसार शुभोपयोग की दशा उतनी ही है जितने में तुम्हारे परिमाणों में पंचपरमेष्ठी झलकें। सामाजिक, धार्मिक कार्यों में सहयोग करने पर भी शुभोपयोग नहीं बनता है, क्योंकि व्यवस्था करने वाले चिल्लाते हैं, परेशान होते हैं।

धर्म में भी आक्रोश ठीक नहीं है। दंडक राजा ने 500 मुनियों को घानी में पेल दिया था। एक मुनिराज उस मार्ग से निकले, तो श्रावक ने इस मार्ग से विहार करने को मना किया। उन्होंने पूछा, क्यों ? बोले, यहाँ के राजा ने 500 मुनिराजों को घानी में पेल दिया है। उनको मुनिराजों के प्रति बहुत वात्सल्य आया और उस वात्सल्य भाव से उनको इतना क्रोध आया कि अशुभ तेजस पुतला निकला और बारह योजन की दंडक नगरी को जला दिया और वापस आकर उनको भी जला दिया। आगम में उतना ही धर्म कहा है जितने में कषायों में उपशमता आये। हमें किसी को ऐसा नहीं सुधारना है कि हमारा ही बिगाड़ हो जाये।

भो ज्ञानी! कोई व्यक्ति बहुत पीड़ित है और उसकी दया से तुम रोते हो, तो जैनागम कहेगा कि अशुभ कर्म का आस्रव होगा। महाराज! तो दया धर्म किसे कहेंगे ? भैया! जो दु:खी था, पीड़ित था, उसी के सामने तुम रोने लगे, तुम्हारी आँखों के आँसू देखकर वो भी रोने लगा, तो तुमने उसका दु:ख कम किया या बढ़ाया है? कुंदकुंद स्वामी 'पंचास्तिकाय' में कह रहे हैं कि यदि दया का अर्थ रोना हो गया, तो शोक का अर्थ क्या होगा ? यदि दया का अर्थ दूसरे को देखकर दु:खित होना हो गया, तो फिर शोक किसे कहेंगे ? रोने से सिर की धातु आँसू का क्षरण होता है, उससे शरीर में शिथिलता आती है, चाहे दु:ख से रोओ चाहे सुख से रोओ। पीड़ित को देखकर रोना तुम्हारा धर्म नहीं था। महाराज को बहुत कष्ट है, तकलीफ है, अंतराय हो गया, यह कहकर आप उनको याद दिला करके और-कष्ट दे रहे

हो। तुम्हारा कर्त्तव्य बनता है कि यदि पीड़ा है तो वैद्य को दिखाते। इसका नाम दया है। दया करना सेवा करना, हाय-हाय मत करना। सब संसार के जीव हैं, याद मत दिलाना।

आत्मा का आत्म स्वभाव है कि वो पुद्गल से चिपकी होने पर भी पुद्गल को स्वीकार नहीं करती। बोले, 'कर्म लगे हैं।' ये बोले, 'लगे हैं तो लगे रहने दो। कौन हमारे हैं?' इसी का नाम भेदविज्ञान है। पहले कर्म नहीं हटते, पहले कर्मों की उपेक्षा होती है। इतना सोच और बना लेना कि ऐसा किया तो कर्म बँध गये। ठीक है, बँध गये तो बँध गये। लेकिन बँधे कर्मों को सोचकर जो रो रहे हैं, वे अभिनव कर्मों का बन्ध कर रहे हैं। जबकि ये जानना चाहिये कि छूटने का क्या उपाय है और उसे करना चाहिये। ज्ञानीजन यही करते हैं।

जयति विजितदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि-
प्रविलसदुरुमालाभ्यर्चिताङ्घ्रिर्जिनेन्द्रः।
त्रिजगदजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते
सममिव विषयेष्वन्योन्यवृत्तिं निषेद्धुम्॥श्रुत बिन्दु॥

श्रुतबिन्दु में आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जिन्होंने दोषों को विजय कर लिया है, दोषों से जो रहित हो चुके हैं, ऐसे मनुष्यलोक (मर्त्यलोक) के मनुष्येन्द्र एवं देवलोक के इंद्र के मुकटों में लगे हुये प्रकाशशील, अनर्घ्य मालाओं से अर्चित हैं चरण युगल जिनके, ऐसे जिनेन्द्र भगवन्त जयवन्त हों। विषयों में परस्पर में प्रवेश न करने पर भी त्रिलोक में लोकाकाश-अलोकाकाश में युगपत् व्याप्त हो रहे हैं। वे ज्ञेयों को जानते हैं, पर ज्ञेय में प्रवेश नहीं करते हैं। ज्ञेय ज्ञान में प्रवेश नहीं करता है, अन्यथा ज्ञान भी जड़ हो जायेगा और जड़ ज्ञेय भी ज्ञान हो जायेंगे। जैसे कलम जड़द्रव्य है और आपके नेत्र उसमें चले जायें तो दूसरे द्रव्यों को कहाँ देख पायेंगे? ज्ञान तो ज्ञान है, ज्ञेय तो ज्ञेय है। ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं है और ज्ञेय ज्ञानरूप नहीं है। ज्ञेय तो ज्ञेय रहेगा, ज्ञान तो ज्ञान रहेगा। ज्ञेय कभी ज्ञानरूप वर्तन नहीं करेगा और ज्ञान कभी ज्ञेयरूप वर्तन नहीं करेगा, फिर भी वर्तनरूप दिखेगा। जब तू ज्ञेय को देखता है तो तेरा उपयोग ज्ञेयरूप हो जाता है। जैसा द्रव्य दर्पण के सामने आता है, दर्पण तद्रूप झलकता है। दर्पण प्रतिबिम्बित होने पर भी प्रतिबिम्बरूप नहीं होता है। ऐसा समझना चाहिये।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 165 कलश 280

उत्थानिका : निश्चय नय से ज्ञान, दर्शन आत्म प्रकाशी है

गाथा : णाणं अप्पपयासं, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा॥165॥

संस्कृत छाया : ज्ञानमात्मप्रकाशं निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात्।
आत्मा आत्मप्रकाशो निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात्॥165॥

अन्वयार्थ : (निश्चयनयेन) निश्चयनय से (ज्ञानं) ज्ञान (आत्मप्रकाशं) आत्मप्रकाशी है (दर्शनं तस्मात्) दर्शन भी उसी प्रकार आत्मप्रकाशी है। (निश्चयनयेन) निश्चय नय से (आत्मा) आत्मा (आत्मप्रकाशः) आत्मप्रकाशी है (दर्शनं तस्मात्) दर्शन भी वैसा ही है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्धोपयोग अधिकार के अन्तर्गत यह संकेत दिया कि ज्ञान और दर्शन, यह आत्मा के ही गुण हैं। परन्तु विश्व में जितने ज्ञेय हैं, वे ज्ञानाकार नहीं हैं। ज्ञान ज्ञेयाकार नहीं है, फिर भी ज्ञान का विषय ज्ञेय है। विषय के अभाव में विषय का बोध होता नहीं। और परद्रव्य विषय है। आत्मा स्वयं विषय है, स्वयं द्रव्य भी है, स्वयं ही ज्ञेय ज्ञाता है। निश्चयनय से अनंत ज्ञेयों में वह स्वयं एक ज्ञेयभूत द्रव्य है। ज्ञेयों को जानना, ज्ञेयों को ध्याना ही ध्यान है। ज्ञेय जो भी हैं, सब ध्येय हैं। ध्येय जो भी है, वे सब ज्ञेय हैं। निश्चयनय से भी ज्ञेय हैं, व्यवहारनय से भी ज्ञेय हैं।

शुद्धोपयोग में बैठा, शुक्लध्यान में विराजा यति शुद्धात्मा को भी ध्याता है, तो वो भी अभी ज्ञेय है। आत्मा नाम का द्रव्य है कि नहीं? वह ज्ञेय है कि नहीं? किसका? ज्ञान का। स्वयं के ज्ञान का भी है और पर के ज्ञान का भी है। एक मति-श्रुत ज्ञानी भी तुमको जानेगा तो जीवरूप में ही जानेगा। मनःपर्ययज्ञानी भी जानेगा तो जीवरूप ही जानेगा। केवलज्ञानी भी जानेगा तो जीवरूप ही जानेगा और स्वयं को स्वयं जानोगे तो भी जीवरूप ही जानोगे। बताओ, आप ज्ञेय हो कि नहीं? हो। निश्चय से व्यवहार से। जो-जो ध्येय है, वो सब ज्ञेय है और जो-जो ज्ञेय है, वो सब ध्येय है। केवली के भेद करो अरहंत और सिद्ध। केवली भगवान् तीन हैं। अरहंत सयोगी, अरहन्त अयोगी और अशरीरी सिद्ध। आप किसको

स्वीकार करना चाहते हो? परद्रव्य को छोड़ने की अपेक्षा से तो सिद्ध ठीक हैं, फिर अरहंत की अपेक्षा से घटित नहीं होगा। जो कहते हैं परद्रव्य को छोड़ो, अरे ज्ञानी! स्याद् परद्रव्य के आलम्बन से बनोगे भगवान्। शुक्ल ध्यान में भी जो ध्यान किया जाता है, वो द्रव्य-गुण-पर्याय का ही होता है, श्रुत का होता है। जरूरी नहीं कि जीवद्रव्य का ही हो रहा हो। छह द्रव्यों में से किसी का भी हो सकता है। छह द्रव्यों में चेतन मात्र एक है। सर्वकाल जीवद्रव्य का ध्यान नहीं चलता।

विपाकविचय ध्यान, कर्म के विपाक का, कर्म के फल का चिन्तन जीव जब करता है तो कर्म जड़ हैं। सर्वाधिक चिन्तन मिश्र में ही चलता है और मिश्र ही चिन्तन कराता है। अमिश्र अवस्था जीवद्रव्य की सिद्ध अवस्था है जहाँ चिंतक चिंत भाव ही नहीं होता है। अरिहन्त अवस्था भी जीवद्रव्य की मिश्र अवस्था है। जो सिद्ध बनने जा रहे हैं, वे संसार का ही ध्यान करते हैं। ''लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोकः इति'' (द्र. सं.) जिसमें छह द्रव्य देखे जाते हैं, उसका नाम लोक है। "संसरति इति संसारः" जिसमें संसरण हो, उसका नाम संसार है। सिद्धशिला संसार में है कि नहीं है? क्षेत्र अपेक्षा सिद्ध भगवान् संसारी हैं, लेकिन कर्मअपेक्षा संसारी नहीं हैं। अरहन्त भगवान् क्षेत्रअपेक्षा भी संसारी हैं और कर्म अपेक्षा भी संसारी हैं। उनके चार कर्म अवशेष हैं। सिद्ध भगवान् संसारातीत हैं, क्योंकि कर्मातीत हैं, इस अपेक्षा से और संसरण भी नहीं कर रहे हैं, इसलिये वो संसारी नहीं हैं। यदि आप सिद्धशिला को संसार में नहीं मानोगे, तो सिद्धशिला में रहनेवाले निगोदिया जीवों को भी संसारातीत मानना पड़ेगा।

आगम की सिद्धि के लिये जो दिया जाता है, वह तर्क है और जो आगम को तोड़ने के लिये होता है, वह कुतर्क है। "आगम अतर्कगोचरा" आगम तर्क के अगोचर होता है। आगम पर कोई तर्क नहीं चलता है। द्रव्य से पूजा करने में हिंसा मानते हो तो विवेक लगाओ, श्मशान में पंचेंद्रिय का भी घात कर रहे हो। कुछ संप्रदाय के लोगों ने पहले गुरु से दृष्टि हटवाई, आपकी श्रद्धा तुड़वाई, फिर शास्त्रों में मिलावट की, तीसरा जीर्णोद्धार के नाम पर प्रतिमाओं की प्रशस्ति का विलोपन कर दिया। इसीलिये शास्त्र आदि पढ़ने में भी विवेक का उपयोग किया करो। जिनकी जो मान्यता है वह प्राचीन ग्रन्थों में भी अपने मत की पुष्टि के लिये संशोधन कर देता है, तर्क देता है। आगम के पोषण के लिये तर्क व्यवस्था है, आगम को समाप्त करने के लिये तर्क व्यवस्था नहीं है।

भो ज्ञानी! अहिंसा उसे कहते हैं जहाँ परिणामों में कलुषता न आये। नहीं तो अहिंसा के नाम पर मंदिर आदि सब समाप्त हो जायेंगे। पुस्तक छपनी भी बंद हो जायेंगी क्योंकि कागज बनाने में भी हिंसा होती है, स्याही बनाने में भी हिंसा होती है।

भूतप्रज्ञापननय से सिद्ध भगवान संसारी हैं। भावी नय से सभी भव्य सिद्ध भगवान हैं। काल कितने भी लग जायें, उसका विकल्प नहीं करना, परन्तु सिद्ध नियम से बनेंगे। जो भव्य जीव निगोद में बैठे हैं, वे भी भावी भगवान हैं। नयपक्ष का विवाद संसार-अवस्था में है, व्यवहार-अवस्था में है। जो नय के पक्ष से अतिक्रान्त है, रहित है, उसका नाम समयसार है। किसकी विनय, किसकी अविनय, किसकी पूजा, किसका पाठ? सब व्यर्थ है। लेकिन ये शुद्ध उपयोग की दशा है।

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजोऽयमात्मा
प्रकटतरसुदृष्टिः सर्वलोकप्रदर्शी।
विदितसकल मूर्तामूर्ततत्त्वार्थ सार्थः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥280 कलश॥

टीकाकार आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रशंसा करते हुये कलश में कह रहे हैं। व्यवहारनय से जो ज्ञानपुंज मेरी आत्मा है, ये शब्द भी निश्चयनय नहीं है, व्यवहारनय है, क्योंकि कहने में आ रहा है। सम्पूर्ण लोक को दर्शन कराने वाली, देखने वाली दृष्टि, ये भी व्यवहार है। जो संपूर्ण विश्व के मूर्तिक-अमूर्तिक तत्त्वों को जानते हैं, वे परम मुक्तिश्री के कंत यानि वल्लभ हो जाते हैं।

भो ज्ञानी! मुक्तिवल्लभा से राग करो। दीपक जलाने-बुझाने में राग-द्वेष मत करो। निज के भेद-दीप को जलाओ, निज के अज्ञानदीप को बुझाओ, इससे मोक्ष मिलेगा। जड़ दीप को बुझाने में राग कर रहा है, कोई जलाने में राग कर रहा है, पर मुमुक्षु दोनों नहीं हैं। आचार्य योगेन्दुदेव 'परमात्म प्रकाश' में लिखते हैं कि पट्टा, पट्टी, चेला-चेली, चट्ट, पट्ट, कुण्डा अर्थात् वस्त्र, कमंडलु, आदि ये मोक्षमार्ग नहीं हैं। आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि पट्ट भी मिट जाते हैं, पट्टियाँ भी मिट जाती हैं। जितना तुम्हारा विवेक हो, उतना काम करना। आयुकर्म के निषेक अल्प हैं, चुल्लुप्रमाण हैं, चाहे मुख में पी लो चाहे नाली में बहा दो। प्रथमानुयोग में कथायें आती हैं कि इस जीव ने स्वयं के पीछे जितना बंध नहीं किया, उतना पर के पीछे किया। यशोधर चरित्र देखो। कभी-कभी भ्रम के कारण दूसरों को दोष देने

लगता है जबकि दूसरा दोषी नहीं होता। एक मुहूर्त के परिणामों से जीव अनंत मुहूर्तों को बिगाड़ लेता है। आत्मा को जानो, आत्मा को पहचानो, आत्मा का वेदन करो, इससे लाभ ही होगा।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा 165 में कह रहे हैं कि ज्ञान आत्मप्रकाशी है व्यवहार से नहीं, निश्चयनय से। इसलिये दर्शन भी आत्मप्रकाशी है। आत्मा आत्मा का प्रकाशी है, इसलिये निश्चयनय से दर्शन भी आत्मप्रकाशी है। व्यवहारनय से स्व-पर प्रकाशी है, निश्चय नय से आत्मप्रकाशी है। ये ध्रुवसत्य है कि कल्याण आत्मप्रकाश से होगा, परप्रकाशों से नहीं होगा। दीपक किसी को प्रकाशित नहीं करता, अपने स्वभाव में रहता है। उसके स्वभाव से द्रव्य प्रकाशित करने की योग्यता है। दीपक किसी को प्रकाशित कर रहा है, यह व्यवहार की भाषा है। दीपक के समान ही आत्मा स्व-परप्रकाशी है। आत्मा के दो गुण हैं, ज्ञान और दर्शन। भेददृष्टि से ज्ञान ज्ञान है, दर्शन दर्शन है। निश्चयनय से ज्ञान और दर्शन दोनों आत्मप्रकाशी हैं, अतः आत्मा भी आत्मप्रकाशी है, ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि आत्मा से रहित दर्शन नहीं है और दर्शन से रहित आत्मा नहीं है। और आत्मा और दर्शन से रहित ज्ञान भी नहीं है। भेद जरूर है, पर सत्ता एक द्रव्य की है। शुद्ध ज्ञान से युक्त, संपूर्ण कर्मों के आवरण से रहित, शुद्ध दर्शन वह स्वप्रकाशक भी है, पर प्रकाशक भी है। केवलज्ञान और केवलदर्शन निश्चयनय से स्वप्रकाशक है और व्यवहारनय से परप्रकाशक भी है।

जैनदर्शन 'ही' से ही नहीं, 'भी' से 'ही' की ओर चलता है, यही स्याद्वाद है। आत्मा मूर्तिक भी है, आत्मा अमूर्तिक भी है। बंध अपेक्षा मूर्तिक ही है और अबंध अपेक्षा अमूर्तिक ही है। परन्तु बन्धाबन्ध अपेक्षा मूर्तिक-अमूर्तिक ही है। संपूर्ण तत्त्व जानने के बाद तत्त्वज्ञान तभी कहा जायेगा जहाँ स्वतत्त्व का ज्ञान होगा। स्वतत्त्व का ज्ञान नहीं है, स्वदृष्टि नहीं है, उसे जिनवाणी तत्त्वज्ञान नहीं कहेगी। दाल का ज्ञान करोगे तो छिलके का नाम नियम से होगा। छिलके को हटाये बिना दाल मिलेगी नहीं। छिलका ही दाल का ज्ञान कराता है। आवरण का अभाव जबतक नहीं करोगे, तबतक निरावरण पदार्थ मिलेगा कैसे ? पर दृष्टि को छिलके से रहित दाल मात्र पर ही रखना। छिलकेसहित वस्तु को छिलकारहित मत मान लेना। द्रव्यदृष्टि यह नहीं कह रही है कि पुरुषार्थहीन बन जाओ। द्रव्यदृष्टि यह कह रही है कि हमने आपको वस्तु के स्वरूप का ज्ञान करा दिया, अब आप पुरुषार्थ करो।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमदेशना

गाथा 165 कलश 281

मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्धोपयोग अधिकार में यह संकेत दिया कि आत्मा प्रकाश-प्रकाशिक भाव से परे है। न प्रकाश का विकल्प है, न प्रकाशिक का विकल्प है। व्यवहारनय से यह सर्वज्ञदेव की आत्मा लोकालोक को प्रकाशित कर रही है, निश्चयनय से स्वात्मा को प्रकाशित कर रही है और उसी निश्चयनय पर निश्चयनय लगा दो तो किसी का न प्रकाश भाव है, न प्रकाशक भाव है, वो सहज अवस्था है। इन संपूर्ण द्रव्यों को युगपत जो विषय कर रहा है, विषयी बना रहा है, वो केवलज्ञान है। मति-श्रुतज्ञान का प्रवेश सर्वज्ञ को मापने में समर्थ नहीं है। मति-श्रुतज्ञान की जो अवस्था है, सम्पूर्ण द्रव्यों की असर्व पर्यायों में है, संपूर्ण द्रव्यों की संपूर्ण गुण-पर्यायों में नहीं है। यदि कोई जीव यों कहे कि हमने केवली के ज्ञान को जान लिया है, नहीं ज्ञानी! आपने केवली के ज्ञान के अंश को भी नहीं जाना है। केवली के ज्ञान को कौन जानेगा ? केवली ही जानेगा। मति-श्रुतज्ञान के माध्यम से केवलज्ञान को तो जान रहे हो, लेकिन केवली के ज्ञान को नहीं जान रहे हो। केवलज्ञान ऐसा होता है, परिभाषित कर सकते हो। केवली के ज्ञान में क्या-क्या आ रहा है, ये आप जानने लग गये तो केवली हो गये। इतना कह सकते हो कि संपूर्ण द्रव्यों की संपूर्ण गुण-पर्याय केवली के ज्ञान में युगपत झलक रही हैं। इतना तो तुम्हारे ज्ञान का विषय है। कैसे झलक रही हैं, कैसे जान रहे हैं, ये आपके ज्ञान का विषय नहीं है।

यदि कोई जीव, जो छद्मस्थ है वह, अपने आपको केवली के समान कहे, तो उसकी अल्पज्ञता है। जो अनुभूति ध्यान में है, वो स्वाध्याय में नहीं है, किसी अन्य तप में नहीं है। अंतिम तप, अंतिम साधना ध्यान है, शेष सब गौण हैं, उसकी प्राप्ति के उपाय हैं, साधन हैं, साध्य नहीं हैं। कारणसमयसार हो सकते हैं, कार्यसमयसार नहीं हैं। आचार्यभगवन् समझा रहे हैं कि वो चिद्रूप शुद्धोपयोग की दशा का यदि आपने आगम से पृथकीकरण कर दिया तो कुछ नहीं बचेगा। वैराग्य की बातें हर दर्शन में हैं। सदाचार की बातें हर दर्शन में हैं। परन्तु स्वरूप में रमण की बात एकमात्र जैन सिद्धान्त में है। **क्रियाकाण्ड की चर्चा में उलझकर स्वात्म तत्त्व को खो देना, इससे बड़ा कोई मिथ्यात्व नहीं होगा।** क्रियाकाण्ड में लग जाना मिथ्यात्व नहीं है, पर उसमें लगकर स्व-पर की शांति को भंग कर देना मिथ्यात्व है। क्रिया करने में रोष नहीं है, क्रिया करने में विवाद नहीं है। उपवास कैसे करना चाहिये, चार

व्यक्तियों से पूछोगे तो चार राय होंगी। कुछ शाम को पानी लेते होंगे, कुछ फलादि लेते होंगे, पर उनकी मान्यता में उपवास बैठा है। कुछ शुद्ध आगम की बात करेंगे। जो जिसके पास नहीं है, वो उसमें विकल्प खड़े करेगा। वो व्यक्ति चाहेगा कि कहीं-न-कहीं मार्ग मिल जाये।

कुछ व्यक्ति अपने अनुसार ग्रन्थ लिख देते हैं, कुछ समय के बाद ये ही आगम बन जायेंगे। इसीलिये आगम की भी परीक्षा आवश्यक है। आगम की परीक्षा का एक सूत्र है "पूर्वाचार्यानुक्रमेण"। जो ग्रन्थ है, वो अन्य पूर्व के आचार्यों के अनुसार है कि नहीं ? उसमें घटित हो रहा है तो सत्य है। आगम की परिभाषा है "आप्त वचनादि निबंधनमागमः" आप्त के वचन से जो निबन्ध है, उसका नाम आगम है। आज बहुतों ने अपने को आप्त कहना शुरू कर दिया है। अतः सच्चे आप्त की खोज करो।

क्षुत्पिपासा-जरातङ्क-जन्मान्तक-भय-स्मयाः
न रागद्वेष-मोहाश्च सस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥6॥र. क. श्रा.॥
आप्तोपक्षमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम्
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥9॥र. क. श्रा.॥

जो 18 दोषों से रहित है, वही आप्त है और ऐसे आप्त के जो वचन हैं, वो आगम है। प्रश्न उठेगा कि कुन्दकुन्द स्वामी तो आप्त नहीं थे? आप्त के प्रधान शिष्य गणधर परमेष्ठी थे। गणधर परमेष्ठी ने आप्त से जो प्राप्त किया, वह आचार्यों को मिला और आचार्यों को जो प्राप्त हुआ, वह उन्होंने लिखा, वो आप्त की ही वाणी है, परम्परा है। जो विषय दिव्यध्वनि का नहीं है, वो हमारे यहाँ प्रमाण नहीं है। गणधर परमेष्ठी के अलावा जो अन्य मुनिराज समवसरण में रहते हैं, वे प्रतिगणधर हैं। आचार्य-परम्परा से जो प्राप्त हुआ, क्रम से चला आ रहा है, वो श्रुत है, वो प्रमाण है, द्वादशांग है।

संकलित ग्रन्थ जो भी होते हैं, प्रायः उसमें अपनी मान्यताओं का संकलन किया जाता है। जो आपको स्वीकार था, उतना आपने सब ग्रन्थों से छाँट लिया और जो मन का नहीं लगा, उसको छोड़ दिया। नया ग्रन्थ तैयार हो गया। संकलन का तात्पर्य ही है कि जो निज की पुष्टि कर रहा हो।

जितना विकल्प है, चरणानुयोग में है, सिद्धान्त में कोई विकल्प नहीं है। चरणानुयोग की व्यवस्थायें कालदोष से बदलती रहीं। ज्ञानीजन चरणानुयोग के विकल्पों में कभी विवाद नहीं करते, क्योंकि चरणानुयोग का क्षरण तीर्थंकर शासन में भी हुआ है। आदिनाथ स्वामी

और महावीर स्वामी के शिष्यों को पूरा प्रतिक्रमण करने का आदेश है, लेकिन 22 तीर्थंकरों के शिष्यों को पूरा प्रतिक्रमण करने का कोई आदेश नहीं है; क्योंकि 22 तीर्थंकरों के जो शिष्य थे वो सरलपरिणामी थे। सरलता में और वक्रता में दोष ज्यादा लगते हैं। तीर्थंकर महावीर के शिष्य आप सामने देख रहे हो, सामने जिनवाणी है फिर भी नहीं मानते। वक्रपरिणामी हैं। इसलिये दोनों के शिष्यों को पूरा प्रतिक्रमण का आदेश दिया गया। छेदोपस्थापना चारित्र की विधि विशेष रूप से तीर्थंकर महावीर ने प्रारंभ की। 22 तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना चारित्र की चर्चा नहीं की, क्योंकि उनके काल में सामायिकचारित्र का क्षय नहीं हुआ।

बारह व्रत, अट्ठाइस मूलगुण आदि सामान्य कथन सभी तीर्थंकरों के काल में होगा। जब विषमता आती है तो आदेश दिया जाता है। जिसने दोष नहीं किया, तो उसका छेद (प्रायश्चित्त) क्यों होगा? छेदोपस्थापना चारित्र का अर्थ है कि जो संयम से गिर जाये, पुनः उसमें स्थापित करना। जो गिरा ही नहीं है, तो उपस्थित होने की क्या जरूरत है?

जब यहाँ तीसरा काल था, तो कोई विकलत्रय जीव नहीं थे। भोगभूमि में विकलत्रय नहीं होते, जलचर जीव नहीं होते, तो उनकी हिंसा-अहिंसा का कोई प्रसंग ही नहीं होता। चरणानुयोग कहता है कि तत्काल में क्या विषमता है, उसका विवेक रखो। द्रव्य, क्षेत्र, काल की स्थिति को देखकर ही आचरण करना। विषमकाल में संपूर्ण नियम स्थगित कर दिये जाते हैं और विषमता टलने पर तुरन्त लागू कर दिये जाते हैं। आगम में आपातकालीन व्यवस्था है। अन्यथा सामायिक के काल में समाधिस्थ क्षपक की वैयावृत्ति करने कोई नहीं जायेगा, जबकि सामायिक के काल में क्षपक की वैय्यावृत्ति की जा सकती है।

पंचमकाल स्वदीक्षा का काल नहीं है। यदि कोई गुरु नहीं है तो स्वदीक्षा ले सकते हो। आचार्य शांतिसागर, आचार्य आदिसागर ने स्वदीक्षा ली, क्योंकि कोई गुरु सामने नहीं थे। गुरु मौजूद हैं, तो उचित नहीं है। प्रतिष्ठाग्रन्थ में लिखा है कि इतने किलोमीटर तक कोई मुनि न हो तो विद्वान सूरिमंत्र दे सकता है, परन्तु चारों तरफ मुनिराज हैं तो विद्वान सूरिमंत्र नहीं दे सकता है। प्रतिष्ठाग्रन्थ में लिखा है कि यजमान विधि-विधान करने के पूर्व चतुर्विध संघ का पहले निमंत्रण करे, फिर प्रतिष्ठाचार्य का निमंत्रण करे, इसके बाद आरंभ करे। जयसेन आचार्य, वसुनंदि स्वामी, अकंलक देव आदि के प्रतिष्ठाग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों को पढ़कर ज्ञानी मध्यस्थ रहता है और अज्ञानी खींचतान करता है।

भो ज्ञानी! जितने शब्दों का आप उपयोग करते हो, सब शब्द आगम में नहीं हैं। जैसे

'क्रमबद्ध' शब्द आगम में नहीं है। पर्याय के लिये दिगम्बराचार्यों ने क्रमनियत, क्रमभावी शब्द का उपयोग किया है। जहाँ नया शब्द आता है, वहाँ विवाद खड़ा हो जाता है। जब भगवान महावीर के अनुसार चल रहे हो, तो भेद कैसा दिख रहा है? ये अपने-अपने अहंकार हैं। लोग टीका के नाम पर अपने मन की बात लिख रहे हैं। भविष्य में लोग इससे भ्रमित होंगे। कुछ विद्वान आचार्य विमलसागर जी के पास आये और कहा कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार ग्रन्थ में व्याकरण की कुछ अशुद्धियाँ हैं। उन्होंने कहा, जो है सो ठीक है। आप लोग एक नया ग्रन्थ लिख लो लेकिन उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा।

अंतो णत्थि सुईणं, कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं, जं जरमरणं खई कुणई॥

जयसेन स्वामी कह रहे हैं कि काल थोड़ा है, बुद्धि दुर्बुद्धि हो चुकी है, अतः वह करो जिससे जन्म-मरण का क्षय हो जाय। ज्यादा चक्कर में मत पड़ो कि कहाँ क्या है। तुम निर्णय नहीं कर पाओगे और तुम्हारी आयु पूर्ण हो जायेगी। केवली के ज्ञान में कोई अंतर नहीं होता, बराबर ही होता है, परन्तु छद्मस्थों के ज्ञान में अन्तर होता ही है।

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या
दृष्टिः साक्षात् प्रहतबहिरालंबना सापि चैषः।
एकाकारस्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि॥281 कलश॥

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि निश्चय से आत्मा ज्ञान है और ज्ञान निश्चय से स्वप्रकाशी है। जो दर्शन है, वह भी बाह्य आलम्बन को नष्ट कर चुका है। यह आत्मा दर्शनरूप भी है। ऐसा यह आत्मा एकाकार रूप निजरस के विस्तार से परिपूर्ण है, पवित्र है और पुराण है, सनातन है। अनादि-अनंत है, नित्य है, अपने निजस्वरूप में निवास करता है। पंथ से रहित है, निर्विकल्प है। ये संपूर्ण विशेषण आत्मा के हैं। आत्मा में आये तो ज्ञान में स्वयमेव आ गये, सिद्धों में आ गये। शक्ति की अपेक्षा से सर्वजीवों में आ गये। आत्मा ही पुण्य है, आत्मा ही पुराण है, आत्मा ही सनातन है, आत्मा ही निर्विकल्प है। जो कुछ अवस्थायें घटित होंगी, वो आत्मा में ही होंगी। आत्मा के बाह्य कुछ नहीं है। पर्याय बदल जायेगी, परन्तु पुराण नहीं बदलेगा। जो ज्ञान है, वो ही आत्मा है। आत्मा है, वो स्व-पर प्रकाशी है, ज्ञान-दर्शनस्वभावी है, ऐसा जानना चाहिये।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

गाथा 166

नियमसार

उत्थानिका : केवली भगवान लोकालोक को नहीं, आत्मस्वरूप को देखते हैं।

गाथा : अप्पसरूवं पेच्छदि, लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोई भणदि एवं, तस्स य किं दूसणं होदि॥166॥

संस्कृत छाया : आत्मस्वरूपं पश्यति लोकालोकौ न केवली भगवान्।
यदि कोऽपि भणत्येवं् तस्य च किं दूषणं भवति॥166॥

अन्वयार्थ : (केवली भगवान्) केवली भगवान् (आत्मस्वरूपं पश्यति) आत्मा के स्वरूप को देखते हैं (न लोकालोकौ) किन्तु लोकालोक को नहीं (एवं यदि कः अपि भणति) ऐसा यदि कोई भी कहता है तो (तस्य च किं दूषणं भवति) उसके लिये क्या दूषण है ?

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार जी में शुद्धोपयोग के अंतर्गत शुद्ध दर्शन की चर्चा की। केवलज्ञान और केवलदर्शन, यही शुद्ध है, यही शुद्धोपयोग है। इस अपेक्षा से 12वें गुणस्थान तक अशुद्धोपयोग है। क्षायिक ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से 12वें गुणस्थान तक अशुद्ध उपयोग है और 13वें गुणस्थान से शुद्धोपयोग होता है। ये आगमदृष्टि और अध्यात्म दृष्टि है। जैनागम में दो प्रकार के नयों का कथन है, अध्यात्मनय और आगमनय। आगमनय आगम की विवक्षा से युक्त होता है और अध्यात्मनय अध्यात्म की विवक्षा से युक्त होता है। आगमनय का विषय अध्यात्मनय और अध्यात्मनय का विषय आगम नय है, परन्तु विषयवस्तु वही है। एक ही विषयवस्तु में एक ओर आगमनय और दूसरी ओर अध्यात्मनय लगता है।

आचार्य महाराज ने 12वें गुणस्थान तक अशुद्धोपयोग इसलिये कहा कि छद्मस्थ अवस्था है। इस अपेक्षा से वीतराग सत्ता 13वें गुणस्थान से प्रारंभ होती है। यथाख्यात चारित्र 11वें गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है, इस अपेक्षा से 11वें गुणस्थान से वीतराग संज्ञा है। जब अध्यात्म से चर्चा करेंगे तो 7वें गुणस्थान से वीतराग संज्ञा प्रारंभ हो जाती है। चौथे गुणस्थान में एकदेशजिन संज्ञा तो है, परन्तु वीतराग संज्ञा नहीं है। 'राजवार्तिक' के अनुसार चतुर्थ गुणस्थान में वीतराग सम्यक्त्व होता है। लेकिन ध्यान रखना, वह वीतराग सम्यक्त्व दर्शन-

चारित्र वाला नहीं है। यहाँ क्षायिक सम्यग्दर्शन को वीतराग संज्ञा दी है। दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों का क्षय हो चुका है, इसलिये चतुर्थ गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दर्शन को वीतराग संज्ञा है; परन्तु वास्तव में चारित्र अपेक्षा से सप्तम गुणस्थान से ही वीतराग सम्यक्त्व प्रारंभ होता है, इसके पहले वीतराग संज्ञा नहीं है। आचार्य जयसेन स्वामी ने, ब्रह्मदेव सूरि ने, 'परमार्थप्रकाश' ग्रन्थ में और वृहद् द्रव्यसंग्रह में, प्रवचनसार की टीका में, पंचास्तिकाय की टीका में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को देशजिन तो कहा है, परन्तु वो जिन नहीं है, जिनवर नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में देशजिन, 6वें से 12वें गुणस्थान तक जिन, 13वें गुणस्थान में जिनवर और तीर्थंकर भगवान् जिनवृषभ, ये सभी समीचीन हैं।

चौथा गुणस्थानवर्ती जीव चिल्ला-चिल्लाकर अपने आप कह रहा है।

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥ 29 गो. जी.॥

मैं इंद्रियों से विरक्त नहीं हूँ। मैं त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरक्त नहीं हूँ। मेरे पास तो वीतराग देव के दर्शन पर श्रद्धाभाव मात्र है, इसलिये मेरा नाम अविरत सम्यग्दृष्टि है। मैं अभी व्रती नहीं हूँ। व्रती सत्ता देशव्रती प्रतिमाधारी से प्रारंभ होती है। जबतक प्रतिमाधारी नहीं है, पंचमगुणस्थान नहीं बनता, व्रती संज्ञा प्रारंभ नहीं होती। व्रत धारण कर सकते हो, पर व्रती नहीं कहला सकते। आप पयुर्षण में उपवास कर सकते हो, पर व्रती नहीं कहला सकते, क्योंकि जब तक बुद्धिपूर्वक व्रत धारण नहीं करोगे, व्रती संज्ञा नहीं होगी। आप 10 साल से रात्रिभोजन नहीं कर रहे हो, पर गुरु के सामने त्याग नहीं किया है तो जिनवाणी व्रत को व्रत नहीं मानेगी। आप जीवनभर 12व्रतों का पालन करते रहो, लेकिन नियम नहीं है, तो व्रती नहीं कहलाओगे। प्रतिज्ञा क्यों नहीं लेना चाह रहा है? अंदर में कषाय काम कर रही है। अंदर में कषाय बैठी है कि नियम ले लेंगे तो टूटेगा। फिर कभी आवश्यकता पड़ गई तो? यानि ये अंतरंग की कमजोरी है। जहाँ अंतरंग की कमजोरी समाप्त हो जाती है, वहाँ तुरन्त निर्णय करता है। ये जो निर्णय है, यही वास्तव में तत्त्व का निर्णय है। पढ़ने का नाम तत्त्वनिर्णय नहीं है। जिसने हेय को हेय जान लिया है, समझ लिया है और फिर भी हेय पर दृष्टि डाले हो, ये कैसा तत्त्वनिर्णय ? तत्त्वनिर्णय है तो एक झटके में छोड़ा जा रहा है।

केवली भगवान् निश्चय से स्वयं को ही जानते हैं, स्वयं को ही देखते हैं और व्यवहार नय से स्व-पर को जानते-देखते हैं। इस बात को आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा

संख्या 166 में कह रहे हैं। यह गाथा प्रश्नवाचक है। केवली भगवान अपने स्वरूप को देखते हैं, निश्चयनय से लोकालोक को नहीं देखते हैं। जिस दिन केवली भगवान लोकालोक को देखने-जानने लगेंगे, उस दिन रागी-द्वेषी हो जायेंगे। जो जानने की इच्छा रखता है, जो देखने की इच्छा रखता है, वो कभी सर्वज्ञ नहीं होता, भगवान नहीं होता है। जानने-देखने की इच्छा मुझे होती है, क्योंकि मेरे पास मन है। जिसके पास मन है, वो केवली नहीं हो सकता। जिसके पास मन नहीं, वो असंज्ञी सम्यक्त्व का पात्र नहीं है, केवली कैसे बन सकता है ? सम्यग्दृष्टि वही होता है जो संज्ञी, पर्याप्तक, पंचेद्रिय, जाग्रत, कर्मभूमिया होता है। क्षायिक सम्यक्त्व के लिये कर्मभूमिया होना आवश्यक है। भोगभूमि में क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता है। प्रारंभ कर्मभूमि से ही होगा, प्रतिष्ठापन कहीं भी हो सकता है।

'धवला' जी में कहा है कि केवली भगवान न संज्ञी हैं न असंज्ञी हैं। सिद्ध भगवान यदि असंज्ञी हो जायेंगे, तो सम्मूर्च्छन हो जायेंगे, तो रागी-द्वेषी हो जायेंगे। इसलिये संज्ञी या असंज्ञी नहीं हैं। केवली भगवान के द्रव्य मन होता है, भाव मन का उपयोग नहीं होता है। छद्मस्थ अवस्था में ही भावमन काम करता है। केवली अवस्था में भावमन का उपयोग नहीं होता है। इसलिये यहाँ कह रहे हैं कि निश्चयनय से किसी को जानते नहीं हैं, किसी को देखते नहीं हैं। वास्तव में दर्पण के समान जनता है, दिखता है, झलकता है। वे बुद्धिपूर्वक किसी को जानते-देखते नहीं हैं। पर व्यवहारनय से यही कहा जाता है कि जानते हैं, देखते हैं। अन्यथा जो द्रव्यमन है, वो द्रव्य भी है, उसमें गुण भी हैं, पर्याय भी है। वो चेतन नहीं है, पौद्गलिक है। और पुद्गल का गुण (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण) उसमें मौजूद है। जो द्रव्यमन है, वो चेतन नहीं है। वो उत्पत्ति का, क्षयोपशम का, प्रकटीकरण का स्थान है। द्रव्यमन से चिंतन नहीं बनता, द्रव्यमन में ही चिन्तन बनता है। आँखों से नहीं दिखता, आँखें नहीं देखती, आँखों के द्वारा देखा जाता है। बल्व कभी प्रकाश नहीं देता, बल्व को बिजली द्वारा प्रकाशित किया जाता है। प्रकाश तो विद्युत् में होता है। ऐसे-ही ज्ञाता-दृष्टा इंद्रियाँ नहीं होती है, मन नहीं होता है। ज्ञाता-दृष्टा धर्म तो चेतन का गुण होता है।

यदि इस पुद्गल मन में जानने-देखने की सामर्थ्य मान लेंगे, तो सिद्ध भगवान को अज्ञानी कहना पड़ेगा। उनके पास कोई शरीर ही नहीं है, मन ही नहीं है, लेकिन ज्ञाता-दृष्टा विश्व के हैं। आत्मा का धर्म चेतना है, पुद्गल का धर्म चेतना नहीं है। देह भोक्ता है, उपभोक्ता है, पर देह उपयोगमयी नहीं है। देह भोग्या तो है, देह भोगी जा रही है। देह के द्वारा भोगा जा

रहा है, देह का उपयोग किया जा रहा है, परन्तु देह उपयोगमयी नहीं है। उपयोग देह का धर्म नहीं है। "उपयोगो लक्षणम्" ये जीव का लक्षण है। इससे यह भी स्पष्ट हो रहा है कि मैं भिन्न हूँ, देह भिन्न है।

जीव शरीर नहीं है और शरीर के माध्यम से जीव कर्त्ता भी है, भोक्ता भी है, सबकुछ है। जीव शरीर में है, शरीर में जीव है, परन्तु जीव शरीर नहीं है और शरीर जीव नहीं हैं। संयोगी धर्म है, मिश्र अवस्था है, परन्तु स्वभाव अवस्था नहीं है। यदि कोई व्यक्ति यों कहता है कि केवली भगवान लोकालोक को नहीं जानते, तो उसको क्या दोष होता है ? उसमें क्या दोष है ? आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने विषय को बड़े स्पष्ट शब्दों में ग्रन्थ में वर्णित किया है, फिर भी आश्चर्य है कि लोग भटक रहे हैं। आचार्यभगवन् ने भटकने को स्थान ही नहीं रखा है, एक-एक गाथा के माध्यम से स्पष्ट किया है। यहाँ तक कि प्रथमानुयोग के उदाहरण दिये हैं। 'अष्टपाहुड' में मानकषाय पर बाहुवली स्वामी का नाम दिया है। ज्ञानी! ज्ञान पर अहंकार मत करो। आचार्यमहाराज ग्रन्थ लिखते समय पांच, छह बातों का ध्यान रखते हैं।

मंगल निमित्त हेतु ग्रन्थकर्त्ता इन छह बातों का ध्यान रखे। यदि इन बातों का ज्ञान नहीं है, तो कलम चलाने की आवश्यकता नहीं है। पांच बातें और ध्यान रखे। मंगल, शब्दागम, अर्थागम, परमागम, आगमार्थ, भावार्थ, नयार्थ, मतार्थ इन सबका ध्यान रखे। 'नमः श्री वर्द्धमानाय' कहने में नयार्थ भी आ गया, मतार्थ भी आ गया, शब्दार्थ व भावार्थ भी आ गया, सब कुछ है। ग्रन्थ लिखना कठिन नहीं होता है, पर ग्रन्थ की विषयवस्तु को संभालना और समझना बहुत कठिन होता है। शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा से पर के अन्य पदार्थों के देखने का यह निराकरण है।

व्यवहारनय की अपेक्षा से, तीनों काल संबंधी पुद्गल आदि द्रव्यों को जानने में जो समर्थ है, वो ही सर्वज्ञ है। वे चराचर सकल पदार्थों के गुण और पर्याय को एकसाथ जानते हैं। जिसने सर्वज्ञ का निषेध कर दिया, उससे ही सर्वज्ञ की सिद्धि होगी। आगमानुसार सर्वज्ञ की परिभाषा यह है कि त्रिकालवर्ती नाम की कोई वस्तु नहीं होती है तो उससे पूछना कि तीनों कालों की बात का निषेध कैसे कर दिया है ? तीनों कालों की वस्तु को जाननेवाला ही निषेध कर सकता था, वो ही ज्ञान है, क्योंकि जानना काम ज्ञान का ही है, देखना काम दर्शन का है और जानने-देखने के माध्यम से कार्य चलते हैं। सुख-दु:ख का वेदन जानने-देखने से ही हो रहा है। आठों कर्म स्वतंत्र होते हुये भी ज्ञान-दर्शन के अभाव में कुछ नहीं कर सकते हैं।

आठ कर्मवर्गणायें इस लोक में हैं, कुछ कर पा रही हैं क्या ? कुछ नहीं कर पा रही। ये आत्मा ज्ञानदर्शन के माध्यम से वीतरागता को प्राप्त कर ले तो वही आठ कर्म लब्धियों के रूप में आ जाते हैं। यदि जीव सरागता में चला जाये तो दु:ख देने के लिये क्षयोपशम में परिवर्तित हो जाते हैं आठ कर्म। शरीर, ये नोकर्म है। इस माध्यम से आप चार संज्ञाओं का सेवन करो तो चार गतियों में भटको। इसी नोकर्म के द्वारा आपने संयम धारण कर लिया तो आत्मा भी पुज रही है और साथ में नोकर्म भी पुज रहा है।

देखो आत्मा की महिमा कि सड़े-गले पुद्गल को भी पुजवा देती है, अर्घ्य चढ़वा देती है और इस सड़े-गले पुद्गल की महिमा है कि आत्मा को निगोद से निकालकर सिद्ध बनवा देता है। पुद्गल नहीं हो तो तपस्या कैसे करेंगे ? जो हम सुना रहे हैं, आप सुन रहे हो, ये पुद्गल की महिमा है। पूरा कथन नैमित्तिक भाव है, लेकिन द्रव्य की स्वतंत्रता का अभाव नहीं है।

छद्मस्थ का ज्ञान क्रमभावी होता है और केवली का ज्ञान अक्रमभावी होता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 'आप्तमीमांसा' में इसको स्पष्ट किया है।

'क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्।'

जो स्याद्वाद नय से संस्कृत है, उसका नाम क्रमभावी है। छदमस्थों का ज्ञान क्रम-क्रम से होता है और सर्वज्ञ का ज्ञान अक्रमभावी होता है। वे भगवान केवलदर्शन तथा केवलज्ञान रूपी तृतीय लोचन से युक्त हैं। 'त्रिलोयपण्णत्ति' में आचार्य यतिवृषभ ने भगवान् आदिनाथ को त्रिनेत्री कहकर नमस्कार किया है।

हे नाथ! आपका केवलज्ञान रूपी तीसरा नेत्र खुल चुका है, इसलिये आप ही त्रिनेत्री महाशंकर हो। त्रिनेत्री प्रतिमा पन्ना जिले के श्रेयांसगिरि में थी, वो वर्तमान में पन्ना जिले के सलेहा में है। जो तिलक जैसा है, वही तीसरा खुला नेत्र है। अष्ट प्रातिहार्य आदि अतिशय से संपन्न, नाभिराय के पुत्र, ऐसे नाभिजिन को मेरा नमस्कार हो। इस बात को आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं। जो केवलदर्शन रूपी तीसरे लोचन से युक्त होकर संपूर्ण रूप से पर से तो निरपेक्ष हैं और स्वयं में अंतर्मुख हैं, ऐसे केवलीस्वरूप के प्रति प्रत्यक्ष मात्र के व्यापार में लीन हुये निरंजन निज सहज दर्शन के द्वारा सच्चिदानंदमय आत्मा को देखते हैं। शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा से जो कोई भी शुद्ध चैतन्य तत्त्व के ज्ञाता परमजिन योगीश्वर कहते हैं, उस कथन में कोई दूषण नहीं है। केवलज्ञान के पहले कोई शुद्धात्मा का ज्ञाता नहीं है। केवलज्ञान के पूर्व शुद्धात्मा को कोई प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानता।

जो भी शुद्धोपयोग सप्तम से बारहवें गुणस्थान तक बनता है, वो भी परोक्ष ही है, प्रत्यक्ष नहीं है। जो शुद्धोपयोग है, आत्मानुभूति है, आत्मप्रतीति है, वह परोक्ष होती है। जो आप 'श्रद्धा' शब्द कह रहे हो, वो भी परोक्ष है। "आद्ये परोक्षम्" आपका जो मति-श्रुतज्ञान है, वो परोक्ष ज्ञान है। वर्तमान में संसार में तुम जो भी वेदन कर रहे हो, वो परोक्ष ज्ञान से कर रहे हो। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं। अवधि, मन:पर्यय और कैवल्य। मति-श्रुत ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। वर्तमान में जो भी आप वेदन कर रहे हो, वह सब परोक्षानुभूति है, प्रत्यक्षानुभूति नहीं है। इंद्रिय-मन के सहयोग से कर रहे हो, वे परद्रव्य हैं और परद्रव्य के संयोग से जो है, वो सब परोक्ष है। मति-श्रुत भी आत्मा का गुण है, इसलिये ये सभी प्रत्यक्ष कह दिया जाता है। सिद्धान्त उसे परोक्ष ही कहेगा।

निश्चयनय से केवली भगवान निज को ही जानते हैं निज को ही देखते हैं, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है। इतना ध्यान रखना कि श्रद्धा का विषय श्रद्धा मानके चलना, विश्वास को विश्वास मानके चलना, अनुभूति को अनुभूति मानके चलना। जहाँ जैसी व्यवस्था हो, वहाँ वैसा लगाना। ऋण का तार धन में, धन का ऋण में लगा दिया तो बल्व जलेगा नहीं, फ्यूज हो जायेगा। ऋणात्मक और धनात्मक दो धारायें हैं, दोनों की आवश्यकता है। ऐसे-ही निश्चय और व्यवहार दो धारायें हैं। यदि आपने निश्चय में व्यवहार का करंट वायर लगा दिया और व्यवहार में निश्चय का, तो आत्मतत्त्व का बल्व जलेगा नहीं, फ्यूज हो जायेगा। निश्चय और व्यवहार, ये दोनों ही धारायें मोक्षमार्ग पर ले जाने का उपाय है, मार्ग नहीं है। मार्ग तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग: है, ऐसा समझना।

॥भगवान् महावीर स्वामी जय॥

नियमसार

गाथा 167 **कलश 22**

उत्थानिका : केवलज्ञान के स्वरूप का कथन

गाथा : मुत्तममुत्तं दव्वं, चेदणमिदरं संग च सव्वं च।
पेच्छंतस्स दु णाणं, पच्चक्खमणिंदियं होदि॥167॥

संस्कृत छाया : मूर्तममूर्तं द्रव्यं चेतनमितरत् स्वकं च सर्वं च।
पश्यतस्तु ज्ञानं प्रत्यक्षमतीन्द्रियं भवति॥167॥

अन्वयार्थ : (मूर्तं अमूर्तं) मूर्तिक अमूर्तिक (चेतनं इतरत्) चेतन और अचेतन (द्रव्यं) द्रव्यों को (स्वकं च सर्वं) अपने को तथा समस्त को (पश्यतः तु) देखने वाले का (ज्ञानं) ज्ञान (अतीन्द्रियं प्रत्यक्षं भवति) अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने ग्रंथराज नियमसार जी के शुद्धोपयोग अधिकार में यह संकेत दिया कि केवलदर्शन और केवलज्ञान से शुद्ध जो आत्मा है, वही परम अरहन्त अवस्था है, परमसिद्ध अवस्था है। जो दर्शनरूपी तीसरे नेत्र के द्वारा विश्व के चराचर द्रव्यों को देख रहे हैं और जो केवलज्ञानरूपी तीसरे नेत्र से विश्व के सकल द्रव्यों को देख रहे हैं, निश्चयनय से वे न किसी को देखते हैं, न किसी को जानते हैं। सर्वज्ञ स्वयं को ही देखते हैं स्वयं को ही जानते हैं, यह परम शुद्ध निश्चयनय की व्यवस्था है। टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव इस बात को कलश में कह रहे हैं-

पश्यत्यात्मा सहजपरमात्मानमेकं विशुद्धं
स्वान्तःशुद्धथवसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम्।
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं
तस्मिन्नैव प्रकृतिमहति व्यावहारप्रपञ्चः॥282 कलश॥

यह आत्मा एक विशुद्ध परमार्थतत्त्व है, उसी को देखते हैं। निश्चय से वे केवली भगवान सहजरूप परमात्मा तत्त्व हैं, उसी को देखते हैं। वो कैसा है ? जो विशुद्ध है, जो शांत है, शुद्ध अवस्था से युक्त है। अत्यन्त धीर महिमा से युक्त और स्वात्मा में

अतिशयतया अविचल रूप से सर्वथा आभ्यंतर में निमग्न, ऐसे एक विशुद्ध सहज परमात्मा को देखता है। वह आत्मा स्वभाव से महान् है। उस आत्मा में व्यवहारिक प्रपंच नहीं है। वह स्वयं में लीन है। जबतक व्यवहार प्रपंच है, तबतक स्वात्मानुभूति संभव नहीं है। व्यवहार प्रपंच से तात्पर्य विभाव रत्नत्रय का अभाव नहीं कर देना। बाह्य प्रपंच से हटने के लिये व्यवहार रत्नत्रय उपादेय है। जब व्यवहार रत्नत्रय में लीन हो जाओ, तब आपसे कहा जायेगा कि यहीं मत रुकना, संतुष्ट मत हो जाना, अब निश्चय की ओर जाओ। यहाँ जो कथन चल रहा है, यह सामान्य जीवों का नहीं है, यह सर्वज्ञ केवली का है। ये केवली भगवान व्यवहार प्रपंच से परे हैं।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 167 में केवलज्ञान के स्वरूप का कथन कर रहे हैं। यदि कोई छद्मस्थ जीव अपने आपको सर्वज्ञ मान कर बैठ जाये तो प्रश्न खड़ा होता है। पंचमकाल का मनुष्य अपने को सिद्ध भगवान तो मान लेता है, लेकिन केवली नहीं मानता। मैं सिद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ कहता है। भैया! पहले सर्वज्ञ होते हैं, केवली होते हैं। सर्वज्ञ की सिद्धि तेरे पास नहीं है तो सिद्ध की सिद्धि कैसे कर रहा है? अशुद्ध में तू सिद्ध को देख रहा है। पहले अशुद्ध में केवली को देख, क्योंकि वह अशुद्ध है। वर्तमान में तेरी सर्वज्ञ पर्याय नहीं झलक रही है। ऐसे ही वर्तमान में तेरी सिद्ध पर्याय भी नहीं है। सर्वज्ञ की जो अवस्था है, ये पर्याय से नहीं नापी जाती है, ये गुणों से सप्त धातु से रहित होने पर औदारिक शरीर ही परम औदारिक बनता है। जब परम औदारिक शरीर तेरे पास नहीं है, फिर तू अशरीरी कैसे बन गया ? पंचमकाल में परम औदारिक संभव नहीं है तो पंचमकाल में अशरीरी भी संभव नहीं है।

भो ज्ञानी! द्रव्यदृष्टि आपको वस्तुस्वरूप में भ्रमित करनेवाली नहीं है। द्रव्यदृष्टि वस्तुस्वरूप की यथार्थता को बतानेवाली है। द्रव्यदृष्टि को समझकर कहीं जीव वस्तु में विपर्यास न कर बैठे। जैन सिद्धान्त में तीन विपर्यास हैं। भेदाभेद विपर्यास, स्वरूप विपर्यास, कारण-कार्य विपर्यास। इनका उल्लेख आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में किया है।

सराग अवस्था में वीतराग ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। वीतरागता के आने पर ही ध्यान की सिद्धि होती है। विधि, निषेध युगपत हो गया। सराग अवस्था में तात्पर्य

सराग भेष नहीं लेना, सराग संयम लेना। सराग संयम यानि कि छठवां गुणस्थान। सराग संयम वीतराग संयम का हेतु है। मात्र सराग शब्द कहने से अनर्थ हो जायेगा। चौथा मील भी मील है, चौदहवां मील भी मील है, परन्तु उस पर अंकों का अंतर है। यदि पहले मील को पकड़कर बैठ गया, तो चौदहवें मील को प्राप्त नहीं कर पायेगा। तेरह मील और चलके ही चौदहवें पर पहुँच पाओगे। यदि आपने कहा कि मील तो मील है, तो आप मंजिल नहीं पा पाओगे। शब्द सहज है। सहजस्वरूप लीनता तो सहज है और सहजस्वरूप की प्राप्ति पुरुषार्थ आधीन है। पुरुषार्थ के अभाव में सहजस्वरूप मिलता नहीं है।

धर्मपुरुषार्थ अंतरंग में सिद्ध है, ये भूतार्थ है, लेकिन उस अंतरंग में तभी होगा जब बाहर के व्यापार उतर जायेंगे। जबतक बाह्य व्यापार नहीं छूटेगा, तब तक अंदर का धर्म प्रारंभ नहीं होगा। लोगों ने 'सहज' शब्द का दुरुपयोग कर लिया है। भोगों में लिप्त है, राग-द्वेष में लिप्त है, कुछ करना नहीं चाह रहा है, पर सहज कह करके अपने आपको सहज दशा में नरक भेज देता है। स्वच्छंदता बढ़ रही है। जबकि वास्तव में धर्म सहज है। अंदर तत्त्वों का श्रद्धान चल रहा है, इसमें कुछ भी नहीं करना पड़ रहा है, सहज धर्म सहज है। कोई गाली दे गया, मैंने उसे स्वीकार नहीं किया, मेरा धर्म सहज है। घर में कोई अच्छी वस्तु बनी, माँ से कहता है मैं सुबह खाऊँगा, आप मेरे हिस्से का रख दो। ये रागदृष्टि है कि तूने रखवा लिया, अब सहज धर्म कहाँ बचा? जबकि सहज धर्म यह होता कि ठीक है, मेरा आज त्याग है अतः इससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है।

जो चौथे गुणस्थान का जीव होगा, वो संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होगा, तब तेरी दृष्टि सम्यक् होगी। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये गुण निश्चित रूप से उसके पास होंगे। वह प्रतिक्षण यही सोचेगा कि रोग से कैसे मुक्त होऊँ। अज्ञानी भोगों के लिये भोग भोगता है। ज्ञानी रोग की वेदना को सहन नहीं कर पा रहा है, इसलिये भोग रहा है। अंतर सिर्फ इतना है। सम्यग्दृष्टि वेदना का प्रतिकार नहीं कर रहा है, पर अज्ञानी मिथ्यादृष्टि भोगों की वृद्धि हेतु औषधि खा रहा है, ताकत की गोलियाँ खा रहा है जिससे कि शरीर की ताकत क्षीण न हो जाय।

भो ज्ञानी! असंयम को कभी महान नहीं कहा गया। तीर्थंकर गृहस्थ अवस्था में

भी इस बात को समझते थे, परन्तु चारित्रमोहनीय की दशा प्रबल होने के कारण पूर्वों तक, वर्षों तक भोग-विलास में लिप्त रहे। वो लिप्तता मुक्ति का हेतु नहीं थी। यदि लिप्तता मुक्ति का हेतु होती, तो फिर तीर्थंकरों ने क्यों त्याग किया? आचरण, सदाचरण, संयमाचरण की वृद्धि हो। यदि आप मछली मारने वाले के पास पहुँचो और कहो 'भैया' तू कुछ नहीं कर रहा। ये तो होनहार, काललब्धि इस जीव के द्वारा ऐसी घटित होनी थी।' तो-फिर दुनियाँ में अहिंसा की बात क्यों ? कत्लखानों का विषय क्यों ?

भो ज्ञानी! आगम का तुम्हारा ज्ञान क्रमबद्ध नहीं है, क्रमवर्ती है। जैसे आपने कहा कि सर्वज्ञ के ज्ञान में जो झलक रहा वो होगा, तो उसमें आपके अनुभव का ज्ञान भी शामिल होगा। आपके उपदेशों से ही "धम्मस्य मूलं दया" सूत्र नष्ट होगा। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जितने मूर्तिक-अमूर्तिक, चेतन और अचेतन द्रव्य हैं, अपने को स्वयं के लिये और सम्पूर्ण लोकवर्ती को जो देखते हैं जानते हैं, प्रत्यक्ष रूप से, वे अतीन्द्रिय होते हैं। आप अपने ज्ञान में देखलो कि लोकालोक के संपूर्ण द्रव्यों को हम जान रहे हैं, देख रहे हैं कि नहीं ? यदि देख-जान नहीं रहे हो, तो अभी आप सर्वज्ञ नहीं हो। और सर्वज्ञ नहीं हो तो सिद्ध भी नहीं हो। ऐसा जानना चाहिये।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 168 **कलश 283**

उत्थानिका : केवलदर्शन के अभाव में सर्वज्ञता नहीं।

गाथा : पुव्वुत्तसयलदव्वं, णाणागुणपज्जएण संजुत्तं।
जो ण य पेच्छदि सम्मं, परोक्खदिट्ठी हवे तस्स॥168॥

संस्कृत छाया : पूर्वोक्तसकलद्रव्यं नानागुणपर्यायेण संयुक्तम्।
यो न च पश्यति सम्यक् परोक्षदृष्टिर्भवेत्तस्य॥168॥

अन्वयार्थ : (नाना गुण-पर्यायेण) नानागुण-पर्यायों से (संयुक्तं पूर्वोक्त सकल द्रव्यं) संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को (यः च) जो (सम्यक् न पश्यति) सम्यक् प्रकार से नहीं देखता है (तस्य) उसके (परोक्षदृष्टिः भवेत्) परोक्ष दर्शन होता है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने ग्रन्थराज नियमसार के शुद्धोपयोग अधिकार में संकेत दिया है कि अगर सिद्ध नहीं, तो सिद्ध सिद्धी भी नहीं है। पुष्प के अभाव में फल उत्पन्न नहीं होता है। कैवल्य, यह पुष्प है और सिद्ध पर्याय, यह फल है। अरहंत पर्याय के अभाव में सिद्ध पर्याय का सद्भाव नहीं होता है। अरहंत अवस्था हो लेकिन गंधकुटी न लगे, तीर्थंकर बने लेकिन समवसरण न लगे, यह संभव नहीं है, यह तो नियत है।

भो ज्ञानी! पंचमकाल में महापुरुष नहीं होते, वैमानिक देव नहीं आते, विद्याधर नहीं होते, ऋद्धिधारी मुनिराज नहीं होते, केवली भी नहीं होते, मनःपर्ययज्ञानी और अवधिज्ञानी भी नहीं हैं।

आचार्य पद्मप्रभमलधारी देव कहते हैं कि सर्वज्ञ का ज्ञान क्रम और करण इन दो हेतुओं से रहित होता है। इंद्रियों से रहित होता है और क्रम से रहित होता है। सर्वज्ञ का ज्ञान अक्रम होता है और छद्मस्थों का ज्ञान क्रमभावी होता है, क्रमनियत होता है, क्रमवर्ती होता है। 'प्रवचनसार' जी में कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं–

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं॥प्र.सार.54॥

जो अमूर्तिक को देखते हैं और मूर्तिक को भी देखते हैं। अतीन्द्रिय को भी और प्रच्छन (ढका हुआ) को भी, स्व को भी और पर को भी देखते हैं, वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। वह संपूर्ण परद्रव्यों को जानने के साथ-साथ स्वयं को भी जानते हैं। सर्वज्ञ का ज्ञान स्व-पर प्रकाशी है। इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। अपनी दृष्टि में राम, कृष्ण, महावीर आदि सब प्रच्छन्न अर्थात् ढके हुये हैं, अपने सामने नहीं दिखते हैं, परन्तु केवल प्रच्छन्न को भी देखता है। 'आप्त मीमांसा' की दृष्टि में अंतरवर्ती, दूरवर्ती, सूक्ष्म आदि इन सबको जानते हैं।

भो ज्ञानी! जहाँ जीव ने परभावों पर दृष्टि डाली कि कर्मों से भिड़न्त हुई और निज स्वभाव निज साम्राज्य पर दृष्टि डाली तो कोई युद्ध नहीं है।

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई॥स.सार. 3॥

एकत्व-विभक्त स्वभाव संपूर्ण लोक में सुंदर है। जहाँ बंध की कथा प्रारम्भ हुई, युद्ध हुआ। द्वैत अर्थात् दो में भक्ति अद्वैत है। 'तत्त्वसार' ग्रन्थ की भाषा में स्वगत तत्त्व है। जहाँ परमेष्ठी भी आ गये, तो परगत तत्त्व हो गया। विसंवाद का हेतु द्वैत भाव है। चाहे अकेले ही क्यों न बैठे हो, जहाँ द्वैत भाव हुये, वहाँ तुम विसंवाद को प्राप्त हुये। अकेले बैठे थे, चिन्तन में दो आ गये, वहीं परिणाम बिगड़े। जहाँ चिन्तन में एकत्व भाव है, वहाँ विशुद्धि भाव है। जहाँ चर्म का पुरुष आया, वहाँ चेतन पुरुष गया।

भो ज्ञानी! बिना अरहंत अवस्था के सिद्ध अवस्था नहीं है और बिना निर्ग्रन्थ अवस्था के अरहन्त अवस्था नहीं है। जब मुनि बन गये, तो संयम आ ही गया। आगम में असंयत की वंदना नहीं है, संयत की वंदना है। टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव कलश में कह रहे हैं।

सम्यग्वर्ती त्रिभुवनगुरुः शाश्वतानन्तधामा।
लोकालोकौ स्वपरमखिलं चेतनाचेतनं च।
तार्तीयं यन्नयनमपरं केवलज्ञानसंज्ञं
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्रः॥कलश 283॥

जो तीर्थनाथ हैं, ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव की महिमा को जानो। वे सम्यग्वर्ती, तीन लोक के गुरु हैं, जो शाश्वत अनन्तधाम, लोक और अलोक, स्व के लिये और पर

के लिये, ऐसे संपूर्ण चेतन और अचेतन जो परोक्ष पदार्थ हैं या प्रत्यक्ष पदार्थ हैं, केवलज्ञान के द्वारा सम्यक् प्रकार से जानते हैं।

प्रत्यक्ष में सबसे सूक्ष्म क्या है? परमाणु, जो दृष्टिगोचर नहीं है। जिसे आप परमाणु कहते हो, वो वास्तव में स्कन्ध है। परमाणु की पकड़ छद्मस्थ के ज्ञान का विषय नहीं है। छद्मस्थों में जो परम अवधिज्ञानी हैं, वे परमाणु को विषय करते हैं। जिसमें इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि भेद चल रहे हैं, वो परमाणु कैसा? जब-तक विखंडन होता रहेगा, तब-तक परमाणु नहीं बनेगा। पुद्गल की जो अविभाज्य अवस्था है, वो ही परमाणु है। वह परमाणु सामान्य जीवों के ज्ञान का विषय नहीं है। अत्यन्त सूक्ष्म को जानना, अत्यन्त सूक्ष्म का विषय है। आप जो जान रहे हो, वो श्रुतज्ञान के द्वारा जान रहे हो। आज जो खोजें हो रही हैं, स्कन्ध की हैं, परमाणु की नहीं हैं।

जो भूत को जाने, परोक्ष हो गया। जो भविष्य को जाने, परोक्ष हो गया। जो वर्तमान को जाने, प्रत्यक्ष हो गया। अपन अपने ज्ञान से कथन कर रहे हैं। ये जो कथन चल रहा है, वो सर्वज्ञ के ज्ञान से नहीं चल रहा है। ये कथन छद्मस्थ कर रहा है, इसलिए यहाँ प्रत्यक्ष, परोक्ष कहा।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा 168 में प्रत्यक्ष का कथन करने के पश्चात् अब परोक्ष का कथन कर रहे हैं। ऐसे संपूर्ण द्रव्य नाना गुण-पर्यायों से युक्त को जो एकसाथ नहीं देखता, उसकी परोक्षदृष्टि है। जो नाना द्रव्यों को युगपत् देखता-जानता है, वह प्रत्यक्षदृष्टि है। जो युगपत् नहीं देख पा रहा है, वो परोक्षदृष्टि है। अपनी कौन-सी दृष्टि है? परोक्षदृष्टि है। केवलदर्शन के अभाव में सर्वज्ञता नहीं होती है। पूर्वसूत्र में कथित मूर्तादि द्रव्य समस्त गुण और पर्यायों से सहित हैं। मूर्त द्रव्य के मूर्तगुण हैं, अमूर्तिक में अमूर्तिक गुण ही होगा। गुणों में विषमता नहीं डाल देना। नहीं तो संकर व्रतिकर आदि आठ दोष आ जायेंगे। केवली के ज्ञान में संपूर्ण द्रव्य झलकते हैं, फिर भी संकर नहीं। जो द्रव्य जैसा है, वैसा झलक रहा है। दूध पानी मिला हुआ है, संक्रमित है, मिश्र है, लेकिन केवली भगवान् तीन पर्याय देख रहे हैं दूध, पानी और दूध पानी मिश्र। सब एकसाथ देख रहे हैं। सब झलक रहा है। संकर भी देख रहे हैं, असंकर भी देख रहे हैं। ऐसा जानना चाहिये।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 169 **कलश 284**

उत्थानिका : व्यवहारनय के प्रादुर्भाव का कथन

गाथा : लोयालोयं जाणदि, अप्पाणं नेव केवली भगवं।
जइ कोदि भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होदि॥169॥

संस्कृत छाया : लोकालोकौ जानात्यात्मानं नैव केवली भगवान्।
यदि कोऽपि भणति एवं तस्य च किं दूषणं भवति॥169॥

अन्वयार्थ : (केवली भगवान्) केवली भगवान् (लोकालोकौ) लोकालोक (जानति) जानते हैं। (आत्मानं नैव) किन्तु आत्मा को नहीं (यदि एवं कः अपि भणति) यदि ऐसा कोई भी कहता है तो (तस्य च किं दूषणं भवति) उसको क्या दूषण होता है?

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने ग्रन्थराज नियमसार के शुद्धोपयोग अधिकार में संकेत दिया कि केवलदर्शन के अभाव से सर्वज्ञता नहीं है। पुद्‌गलों के स्थूल-स्थूल आदि स्कन्ध पर्यायें हैं और धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन चार द्रव्यों की शुद्ध पर्यायें ही होती हैं। इन गुण-पर्यायों से सहित उन द्रव्यसमूहों को जो वास्तव में नहीं देखते हैं, उनके संसारी जीव के समान परोक्षरूप दर्शन होता है। जो बाह्य पदार्थों को नहीं देखता, उसका दर्शन परोक्ष ही है, अतः उनको सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता है। टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव इसी बात को कलश के माध्यम से कह रहे हैं कि पूर्ण दर्शन के बिना सर्वज्ञता नहीं है।

यो नैव पश्यति जगत्त्रयमेकदैव।
कालत्रयं च तरसा सकलज्ञमानी॥
प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं
सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः स्यात्॥कलश 284॥

जो जीव एक ही समय में तीनों लोकों को और तीनों कालों को युगपत् नहीं देखता है, वह सर्वज्ञ नहीं है। उसे हमेशा प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है। जो जड़बुद्धि अपने आपको

सर्वज्ञता के अभाव में सर्वज्ञ मान रहे हैं, वे अभिमान से दग्ध होकर संसार में ही भटकेंगे। वे कमी सर्वज्ञता की सिद्धि को प्राप्त नहीं होंगे।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी पुनः गाथा संख्या 169 में कह रहे हैं कि सर्वज्ञ आत्मज्ञ हैं। सर्वज्ञ सर्वज्ञाता हैं। वो आत्मज्ञ हैं तो सबको नहीं जानते क्यों? वो सर्वज्ञ हैं, तो आत्मा को नहीं जानते क्या? नय अपेक्षा से ये बात भी स्वीकार है, परन्तु नय के अभाव में बात स्वीकार नहीं है। वे केवली भगवान् लोकालोक को जानते हैं, परन्तु आत्मा को केवली भगवान् नहीं जानते, यदि कोई इस प्रकार से कहता है तो इसमें क्या दोष है? ध्यान रखना, एक कथनशैली है कि जो लोकालोक को जानता है वह स्वयं को जानता है। परन्तु व्यवहार पराश्रित है तो पराश्रित की प्रधानता से कथन करेंगे। जो पर को जान रहे हैं, उसमें निज को नहीं जान रहे हैं, व्यवहार कथन समझना। व्यवहार गौण है, पर को जानना प्रधान है, ये कथनशैली मात्र है। वे तो केवली हैं, छद्मस्थ नहीं हैं। छद्मस्थ की बात स्वीकार कर सकते हैं कि जिस समय उपयोग पेन को समझने में है, उस समय ग्रन्थ में नहीं है। एक समय में एक उपयोग होगा। लेकिन सर्वज्ञ का उपयोग युगपत् होता है। उनके ज्ञान में कोई प्रश्न नहीं है।

आचार्यमहाराज इस शैली में समझा रहे हैं कि यदि कोई ऐसा भी कहे तो उसमें कोई दोष नहीं देना। क्यों? क्योंकि व्यवहार पराश्रित है। जो पराश्रित होता है, उसमें स्व से आश्रय समाप्त हो जाता है। इस दृष्टि से कथन कर रहे हैं और समझा रहे हैं कि पराश्रित का अर्थ गौणपन है, दूसरे का आश्रय ले लिया है। जैसे भगवान् महावीर स्वामी की जय बोली तो भगवान् महावीर स्वामी के आश्रय में हो, उस समय पार्श्वनाथ स्वामी की जय नहीं बोल रहे हो तो वहाँ पार्श्वनाथ स्वामी गौण हो गये। पराश्रित भाव गया नहीं, जयकारा समाप्त नहीं हुआ। ऐसे-ही केवली भगवान् का निज का जानना समाप्त नहीं हुआ। वो तो कथनशैली है। व्यवहार में प्रादुर्भाव का कथन है।

सकल विमल केवलज्ञान रूपी तृतीय नेत्र से अपुनर्भव रूपी कमनीय कामिनी के नाथ, छहों द्रव्यों से व्याप्त तीनों लोक को जानते हैं। जहाँ से पुनः उत्पन्न नहीं होते, वह अपुनर्भव है। आप लोग कामिनी की आकांक्षा में लीन हो, पर आपकी कामिनी पुनर्भव में आने वाली है। केवली भगवान् तीनों लोक एवं शुद्ध आकाश अर्थात् अलोक को जानते हैं। व्यवहारनय की प्रधानता से कथन कर रहे हैं, इसलिये ऐसा कह रहे हैं।

क्योंकि व्यवहार पराश्रित है, ऐसा माना जाता है। किन्तु वे रागरहित जो वीतराग दशा है शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं जानते हैं, क्योंकि व्यवहार में लोकालोक को जान रहे हैं। यद्यपि लोकालोक में स्वयं का भी द्रव्य आ जाता है। उत्तर में आचार्यमहाराज स्वयं कह रहे हैं कि यदि कोई ऐसा कहता है तो क्या दोष? इसको कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ गई कि कहीं कोई व्यक्ति व्यवहारनय का लोप न कर दे। व्यवहारनय से मिट्टी के मटके को घी का मटका कह दिया जाता है, लेकिन फिर भी घी का नहीं होता। मात्र आधार-आधेय संबंध है। पर केवली नहीं जान रहे हैं, वहाँ पर तो झलक रहा है और स्वयं निज में विराजते हैं। निज को जानने का कोई विकल्प वहाँ नहीं चल रहा है। ये सब कथन व्यवहारनय से हो रहा है, पर निश्चयनय से वे स्वयं को ही जानते हैं। यदि मात्र निश्चयनय से कथन होगा कि केवली भगवान् निज आत्मा को जानते हैं पर को नहीं जानते, तो प्रश्न उठेगा कि फिर लोकालोक को नहीं जानते क्या? सर्वज्ञता में दोष आयेगा। ये कथन संपूर्ण नहीं है, नय से कथन है। यदि मध्य दृष्टि से कहा जाये तो स्वयं को भी जानते हैं और पर को भी जानते हैं क्योंकि उनका नाम सर्वज्ञ है।

केवली भगवान् परप्रकाशी हैं, स्वप्रकाशी नहीं, ऐसी मान्यता में क्या दूषण है? इसको आगे की दो गाथाओं में स्पष्ट करेंगे। यदि कोई व्यवहारनय से यह कहता है कि पर को जानते हैं, स्वयं को नहीं जानते, तो इसमें कोई दोष नहीं निकालना, क्योंकि व्यवहारनय से कहा है। जैसे कोई कहता है कि ये कपड़ा है, तू चैतन्य है। फिर भी व्यवहार से अचेतन द्रव्य को भी अत्यन्त अपना कह देते हैं। ये मकान किसका है? ये पंडित जी का है। यही व्यवहार में कहा जाता है। ईंट गारे का कोई नहीं कहता है, क्योंकि उनका कोई स्वामित्व नहीं है। अब नय लगा दो। ईंटगारे में स्वाश्रितपना है और भवन में पराश्रितपना है। ईंट अपने आप में किसी की नहीं है, ईंट मकान भी नहीं है। यदि ईंट का मकान कहोगे तो ईंट जहाँ रखी हैं सभी मकान हो जायेंगे। व्यवहार में, जिसने मकान बनवाया है, उसका है। ऐसे-ही केवली भगवान् व्यवहार में पर को जान रहे हैं।

व्यवहारनय की भाषा ऐसी ही है। व्यवहारनय ने यह नहीं कहा कि वे अपने आप को नहीं जानते हैं। वो तो ये कह रहा है कि लोकालोक को जानते हैं। परन्तु वे निज

को जान रहे हैं कि नहीं, ये मेरा विषय नहीं है। इसलिए मैं कहूँगा नहीं। आगम वही होता है जो एक नय का कथन करने के बाद द्वितीय नय का स्पष्टीकरण करता है; अन्यथा एक नय का लोप हो जायेगा। यदि निश्चयनय मात्र का आलम्बन करेगा तो व्यवहार शून्य हो जायेगा या व्यवहार मात्र का कथन करेगा तो निश्चय शून्य हो जायेगा। इसलिए एक नय से कथन नहीं करें। यदि एक नय की प्रधानता से कथन करें तो अर्पित-अनर्पित दृष्टि को ध्यान में रखें। एक बात का ध्यान रखना कि आपने एक घंटा निश्चय का कथन किया तो दस मिनट व्यवहार का कथन अवश्य करना जिससे कि लोग भ्रम में न पड़ें कि व्यवहार नाम की वस्तु होती नहीं है।

आचार्य-भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व में निश्चय की गाथा कह दी, अब व्यवहार की कह रहे हैं। क्योंकि उनको लगा कि कहीं ऐसा न हो कि मेरी वाणी से कोई जीव विपरीतपने को प्राप्त कर ले। जब भी कथन करें तो कहें कि मैं निश्चयनय से कह रहा हूँ, इसका तात्पर्य है कि व्यवहारनय से भी कुछ है। एकान्त से कभी कथन नहीं करना। एकान्त से कथन कर दोगे तो वो मिथ्या हो जायेगा। ''एकान्तनया मिथ्या'' सूत्र का हमेशा ध्यान रखना। जहाँ एकान्त नय है, वहाँ मिथ्या ही है, चाहे आप जिनवाणी का ही कथन क्यों न करो। क्योंकि एकान्त नय में जो चला गया, वो सम्यक् होता ही नहीं है। सम्यक् नय सापेक्ष ही होता है।

यदि व्यवहार-निश्चय की बात करते हुये भी किसी एक को एकान्त से खींच रहे हो और परस्पर सामन्जस्य नहीं बिठालते हो, तो तुम्हारा निश्चय-व्यवहार का ज्ञान भी मिथ्या ही है। जैसे मथानी दो रस्सी से चलेगी। दोनों को भी खींचोगे तो काम नहीं चलेगा। एक को खींचना और दूसरी को ढीला करना पड़ेगा, सामंजस्य बिठालना पड़ेगा, तब मथानी चलेगी। एक बार एक को खींचना और दूसरे को ढीला करना पड़ेगा, दूसरी बार दूसरे को खींचना और पहले को ढीला करना पड़ेगा, तभी बीच में मथानी चलती है।

आचार्य समंतभद्रस्वामी 'स्वयंभूस्तोत्र' में भगवान मुनिसुव्रतनाथ की स्तुति करते हुये कह रहे हैं–

स्थितिजननिरोधलक्षणं, चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम्।
इति जिन! सकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतां वरस्य ते॥स्वयंभू स्तोत्र 114॥

हे भगवान्! आपका जो ज्ञान है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण से युक्त है। आपके ज्ञान में जगत् के चर (जंगम) और अचर (स्थावररूप) झलक रहे हैं, इसलिए हे प्रभु! आप सकल ज्ञान के चिह्न से चिह्नित व सर्वज्ञता से युक्त हो। संपूर्ण वक्ताओं में आपके वचन श्रेष्ठ हैं और समस्त वक्ताओं में आप श्रेष्ठ हो। लोक में यदि कोई श्रेष्ठ वक्ता है तो वह आप ही हो। आचार्यमहाराज कहते हैं कि हमें किसी का खंडन नहीं करना है, हमने तो अपना मंडन कर दिया कि विश्व में आपको ही वक्ता मानता हूँ। यदि अन्य को कहें कि मैं आपको वक्ता नहीं मानता हूँ, तो बुराई होगी।

कभी किसी भी सभा में किसी की आलोचना, निंदा मत करना, लेकिन अपनी बात को कहकर आना। ऐसा नहीं कि जहाँ पहुँचे वहीं की प्रशंसा करने लगे। तो तुम्हारा जाना या न जाना किस काम का? गाँधी जी जब विदेश जा रहे थे तो एक ने कहा कि पेंट-शर्ट पहनकर टाई लगाकर जाना। उन्होंने कहा कि हम तो धोती-दुपट्टे में ही जायेंगे। हर जगह ज्यादा समझदार लोग होते हैं और ज्यादा समझदारों के द्वारा धर्म का पतन ज्यादा होता है। ज्यादा समझदार लोग अपने आपको खोखला कर डालते हैं और दूसरों को इतना प्रभावित करना चाहते हैं कि हम उनके प्रभाव से ढक जायें।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 170 कलश 285, 286

उत्थानिका : **जीव ज्ञानस्वरूप है, ऐसा वितर्क से कहा है**

गाथा : **णाणं जीवसरूवं, तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पादि।**
अप्पाणं ण वि जाणदि, अप्पादो होदि वदिरित्तं॥170॥

संस्कृत छाया : **ज्ञानं जीवस्वरूपं तस्माज्जानात्मकं आत्मा।**
आत्मानं नापि जानात्यात्मनो भवति व्यतिरिक्तम्॥170॥

अन्वयार्थ : (ज्ञानं जीवस्वरूपं) ज्ञान जीव का स्वरूप है (तस्मात्) इसलिए (आत्मा आत्मकं जानाति) आत्मा आत्मा को जानता है (न अपि आत्मानं जानाति) यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है तो (आत्मनः व्यतिरिक्तः भवति) वह आत्मा से भिन्न हो जायेगा।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार के शुद्धोपयोग अधिकार में ज्ञान-दर्शन उपयोग की चर्चा की और प्रश्नवाचक संज्ञा के माध्यम से संकेत दिया कि सर्वज्ञदेव व्यवहारनय से पर को जानते हैं, स्वयं को नहीं जानते। आचार्य महाराज 170वीं गाथा में उस विषय को तार्किक दृष्टि से समझाने वाले हैं कि ऐसा सर्वथा नहीं कहना, अन्यथा जीवतत्त्व का अभाव हो जायेगा, जड़त्व का प्रसंग आ जायेगा। व्यवहारदृष्टि से कहो तो कोई दिक्कत नहीं है, लेकिन दृष्टि यही रखना कि पर को जाने, स्वयं को न जाने, तो जैनदर्शन का सिद्धान्त ही फेल हो जायेगा, कारण कि ज्ञान स्व-पर प्रकाशी होता है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने ज्ञान को परप्रकाशी और दर्शन को स्वप्रकाशी कहा है, परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने यह स्पष्ट कर दिया कि ज्ञान-दर्शन दोनों ही स्व-पर प्रकाशी हैं। टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में व्यवहार की अपेक्षा कथन कर रहे हैं—

जानाति लोकमखिलं खलु तीर्थनाथः
स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम्।

नो वेत्ति सोऽयमिति तं व्यवहारमार्गाद्
वक्तीति कोऽपि मुनिपो न च तस्य दोषः॥कलश 285॥

निश्चय से तीर्थनाथ जो तीर्थंकर भगवान् हैं, संपूर्ण लोक को जानते हैं, पाप से रहित हैं, निर्दोष हैं, निज सुख में निष्ठ हैं। वे संपूर्ण लोक को तो जानते हैं, परन्तु अपनी निर्दोष आत्मा को नहीं जानते, यह कथन व्यवहारमार्ग से है। यदि कोई मुनिराज ऐसा व्यवहारनय से कहते हैं तो उसमें कोई दोष नहीं है। ध्यान रखना कि नय क्या कह रहा है। मैं जो भी कथन करूँगा, एक करूँगा। इस दृष्टि से यहाँ इस समय आत्मा को निश्चय दृष्टि से स्व-परग्राही नहीं कह रहे हैं। यहाँ आत्मा को परग्राही कहा। दर्शनशास्त्र में भी ज्ञान परग्राही है और दर्शन आत्मग्राही है।

भो ज्ञानी! दर्शन निर्विकल्प होता है और ज्ञान सविकल्प होता है। जो परग्राही है, वह ज्ञान है और जो स्वग्राही है, वह दर्शन है। परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी स्पष्ट कर चुके हैं कि जैसे ज्ञान परग्राही है, ऐसे दर्शन भी परग्राही है। जैसे दर्शन स्वग्राही है, ऐसे ज्ञान भी स्वग्राही है। यहाँ व्यवहारदृष्टि से कह रहे हैं कि केवली भगवान् स्वयं की आत्मा को जानते हुए परद्रव्यों को जान रहे हैं।

ये जीव ज्ञानस्वरूप है, इसलिए आत्मा को आत्मा से जानता है। ज्ञेय को जानना उसका स्वरूप है। आत्मा भी एक ज्ञेय है, उसको नहीं जान रहे। निज की आत्मा भी एक ज्ञेय है। इस दृष्टि से व्यवहार सत्य कहता है कि केवली आत्मा को नहीं जानते, वो तो ज्ञेयों को जानते हैं, तो वो भी एक ज्ञेय है। जैसे सभा में पिताजी बैठे हो तो पुत्र पिताजी न कहकर श्री अमुक जी कहकर, जैसे सामान्य को बुलाया जाता है उसी शैली में उनको बुलाता है, कि अमुक जी आयेंगे और अपनी बात रखेंगे। यही सभा की गरिमा है। ऐसे-ही ज्ञेय की प्रधानता से कथन करेंगे तो अलग से आत्मा कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। व्यवहारनय कह रहा है कि अलग से ज्ञेय कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवली भगवान् ज्ञेय अर्थात् आत्मा को जानते हैं। ज्ञेय शब्द एकदम भिन्नता में चला जाता है मानो कोई राग ही न हो। केवली भ्गवान् ज्ञेय को जानते हैं। विश्व में जितने ज्ञेय हैं, सबको जान रहे हैं। स्वयं आत्मा नाम के शब्द का कोई उपयोग नहीं किया, लेकिन उन ज्ञेयों में आत्मा भी एक ज्ञेय है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 170 में कह रहे हैं कि ज्ञान जीव का स्वरूप है, इसलिए आत्मा आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है, तो वह आत्मा से भिन्न हो जायेगा। जीव ज्ञानस्वरूप है, ऐसा यहाँ वितर्कपूर्वक कहा है। वास्तव में ज्ञान तो जीव का स्वरूप है, इस कारण से जो कोई भव्य आत्मा है, वह अखंड, अद्वैत स्वभाव में लीन निज परमात्मा को जानता है। वह अतिशय से रहित, अद्वितीय, परम भावना से युक्त, मुक्तिसुंदरी के स्वामी और बाह्य कौतुहल आदि से रहित, ऐसे निज परमात्मा को जानता है। इस प्रकार का जो कथन है, वह वास्तव में स्वभाववाद है। इसके विपरीत विभिन्न प्रकार के जो विचार हैं, वितर्क हैं, शंकायें हैं, वह वास्तव में सब विभाववाद हैं।

प्रश्न है कि यह वितर्क ऐसा कैसे है? क्योंकि वास्तव में आत्मा पूर्व में कहे गये आत्मा-स्वरूप को नहीं जानता है, किन्तु स्वरूप में अवस्थित रहता है। जैसे अग्नि का स्वरूप उष्ण होता है, परन्तु उस उष्णस्वरूप को अग्नि जानती है क्या? अग्नि स्वयं यह जानती है क्या कि मैं दूसरों को जला रही हूँ? वैसे ही आत्मा दूसरों को जानती है, पर स्वयं को नहीं जानती। ज्ञान और ज्ञेय रूप विकल्प के अभाव में यह आत्मा आत्मा में स्थिर रहता है अर्थात् आत्मा को नहीं जानता, क्योंकि वह उसी में स्थित है अथवा उसी रूप है।

और आचार्यमहाराज उत्तर देते हुये कह रहे हैं कि हे शिष्य! क्या अग्नि के समान यह आत्मा अचेतन है जो स्वयं को नहीं जानती? कुल्हाड़ी से वृक्ष कटता है, कि कुल्हाड़ी वृक्ष को काटती है? इसमें कुल्हाड़ी करण तो है, कटना क्रिया है, कट रहा कर्म है। कुल्हाड़ी वृक्ष को काटती नहीं है। कुल्हाड़ी से वृक्ष को काटा जाता है। ऐसे ही आत्मा पदार्थ को जानती नहीं है, आत्मा से पदार्थ को जाना जाता है अर्थात् आत्मा अलग हो गई, जानना अलग हो गया। आत्मा से जाना जाता है, तो कौन जानेगा? हम दूसरी आत्मा को बुलायेंगे क्या? यदि कुल्हाड़ी देवव्रत से रहित है, तो वह कुल्हाड़ी अर्थ-क्रियाकारी नहीं होती। जब देवव्रत आयेगा, तभी कुल्हाड़ी से वृक्ष कटेगा। जब ज्ञान आयेगा, तभी आत्मा काम करेगी या भिन्न आत्मा आयेगी तो ये ज्ञान काम करेगा? तो गुण-गुणी में भेद हो गया, ये वैशेषिक दर्शन हो गया। यह बात स्वभाववादियों को सम्मत नहीं है। ये तुम्हारा कथनयुक्तियुक्त नहीं है, स्वभाववाद यही कहता है कि आत्मा

स्वग्राही होती है।

भो ज्ञानी! चाहे आत्मा को परग्राही कहो या ज्ञान को परग्राही कहो, एक ही बात है, क्योंकि जैनदर्शन गुण-गुणी को विभक्त रूप से नहीं मानता, अविभक्त रूप से मानता है। पृथकत्व नहीं है, अपृथकत्व है। एकत्व भाव है, विभक्तभाव नहीं है गुण और गुणी में। अग्नि व उष्णता भिन्न-भिन्न नहीं है। अग्नि में उष्णता है, उष्णता में अग्नि है। जल में शीतलता। शीतलता धर्म है, जल धर्मी है। धर्म धर्मी से भिन्न कब होगा? जब अग्नि की ज्वाला में कमल खिलेंगे, आसमान से फूल झड़ेंगे, गाय के सींग से दूध झड़ेगा, कछुआ के पीठ के बालों की रस्सी से हाथी को बांधा जायेगा, तभी ये गुण-गुणी भिन्न होंगे। अर्थात् कभी नहीं होंगे। ज्ञान अपने को नहीं जानेगा तो जाननेरूप अर्थक्रिया से शून्य हो जायेगा, तो वह आत्मा का स्वभाव नहीं ठहरेगा। अतः ज्ञान को परप्रकाशी या स्वप्रकाशी भी मानना चाहिए। इससे स्याद्वाद सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता है।

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥आत्मानु. 174॥

आचार्य गुणभद्रस्वामी 'आत्मानुशासन' में कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है और स्वभाव की प्राप्ति में अच्युत नहीं होती है यानि अपने स्वभाव से चलायमान नहीं होती है। इस जीव को अच्युति अर्थात् मोक्ष की आकांक्षा रखते हुये ज्ञान की भावना भाना चाहिये। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य आत्मा के स्वभाव का भान है। नहीं-तो शब्द को पकड़ कर बैठ जाओ कि मैं स्वाध्याय करके मोक्ष को प्राप्त कर लूँगा। स्वाध्याय इसलिए किया जाता है कि बाह्य द्रव्यों में न जाऊँ। परन्तु स्वरूप में जाने के लिये तो स्वरूप को ही पढ़ना पड़ता है, निज स्वभाव का ही ध्यान करना पड़ता है। बाह्य स्वभाव का चिंतन करके निज स्वभाव में नहीं जा पाओगे। टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव भी आत्मा के ज्ञानस्वभाव को सिद्ध करते हुये कह रहे हैं।

ज्ञानं तावद्भवति सुतरां शुद्धजीवस्वरूपं
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चैकम्।
तच्च ज्ञानं स्फुटितसहजावस्थयात्मानमारात्
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात्॥कलश 286॥

ज्ञान शुद्ध जीव का स्वरूप है। उस शुद्ध आत्मा को नियत रूप से मेरी आत्मा जानती है। यदि वह ज्ञान प्रकट हुई सहज अवस्था के द्वारा सन्निकट से प्रत्यक्ष से आत्मा को नहीं जानता है, तो वह ज्ञान स्पष्ट रूप से अविचल ऐसे आत्मस्वरूप से भिन्न सिद्ध होगा।

भो ज्ञानी! जब जीव शुद्धोपयोग में होगा, तो स्व-स्वरूप को जानेगा और केवली होगा तो पर को भी जानेगा। जब शुद्धोपयोग में होगा तो पर को नहीं जानेगा। जानने का अभाव हो गया क्या? नहीं, ज्ञानगुण में जानने का अभाव नहीं हुआ है। छद्मस्थ का उपयोग एक समय में एक ही होता है। गौणता, मुख्यता रहती है। पेन को देखो, पेन को जानो, इस पर ध्यान केन्द्रित करो। इस समय तुम पेन मात्र को जान रहे हो। जिस समय तुम पेन को जान रहे हो, उस समय ज्ञान को भी जानोगे कि नहीं? ये पेन है, कौन कह रहा है? ज्ञान कह रहा है। ज्ञान पेन है क्या? ज्ञान तो ज्ञान है, पेन तो पेन है। पेन ज्ञान नहीं है, पर ज्ञान में पेन है, फिर भी ज्ञान पेन नहीं है। ज्ञान भी ज्ञेय है, ज्ञेय भी ज्ञान है, फिर भी ज्ञान तो ज्ञान है, ज्ञेय तो ज्ञेय है। ज्ञेय ज्ञान में है, फिर भी ज्ञान ज्ञेय से भिन्न है। ज्ञान आत्मभूत है। ज्ञेय अलग भी है, अनात्मभूत भी है।

भो ज्ञानी! जीव को मोह की विडम्बना ने इतना महान् बना डाला कि उपचार को निज भाव बना लिया। गुण में गुण का उपचार कर डाला, पर्याय में पर्याय का उपचार कर डाला। आप दर्पण में क्या देखते हो? स्वयं का चेहरा देखते हो। आप प्रतिविम्ब देखकर मुस्करा रहे हो कि आज तो चमक रहे हैं। दादाजी को दर्पण दिखाया, गाल पिचक गये हैं, देखकर दु:ख मना रहे हैं, जबकि इसमें तुम्हारा कुछ भी नहीं है, फिर भी पर्याय की पर्याय को देखकर सुख मना रहा है या दु:ख मना रहा है। दर्पण भिन्न है, देह भिन्न है। पुद्गल में पुद्गल दिख रहा है। पुद्गल नेत्रों के माध्यम से देख रहा है, फिर भी राग-द्वेष परिणाम आ रहे हैं। दर्पण में जड़ भी झलक रहा है, चेतन भी झलक रहा है। झलकने से कुछ नहीं होता है। ज्ञाता-दृष्टापन में बंध नहीं है।

भो ज्ञानी! जब तुम मूँगफली में बिना निकाले प्रोटीन देख लेते हो, तो हे शुद्धोपयोगी ज्ञानी! बिना देखे बिना निकाले ज्ञान को देख लेंगे। डाक्टर चेहरे को देखकर रोग देख लेते हैं। ऐसे-ही ऐसी कला है जो तेरे चेहरे को देखकर भगवान् को भी देख लेती है। चेहरे को देखकर गुणस्थान को भी देख लेती है। चेहरे को देखकर विकारों को भी

देख लेती है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि ज्ञान जीव से अभिन्न है, भिन्न नहीं है, इसलिए उसे आत्मा ही जानो। उसे कौन जानता है? आत्मा ही जानता है। यदि वह ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है, तो वह जीव से भिन्न हो जायेगा और यदि ज्ञान जीव से भिन्न हो गया तो जीवत्व नाम का पदार्थ नष्ट हो जायेगा। ये समझना। ज्ञान तो ज्ञान है, ज्ञेय तो ज्ञेय है। भिन्न पदार्थों से भिन्न होकर रहना और जो भिन्न पदार्थों से अभिन्न हो जाता है उसके आनेवाले आत्म-अनुभव समाप्त हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 171 **कलश 287**

उत्थानिका : गुण-गुणी में अभेद कथन

गाथा : **अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।**
तम्हा सपरपयासं, णाणं तह दंसणं होदि ॥171॥

संस्कृत छाया : **आत्मानं विद्धि ज्ञानं ज्ञानं विद्ध्यात्मको न संदेहः।**
तस्मात्स्वपरप्रकाशं ज्ञानं तथा दर्शनं भवति॥171॥

अन्वयार्थ : (आत्मानं ज्ञानं विद्धि) तुम आत्मा को ज्ञान समझो और (ज्ञानं आत्मक : विद्धि) ज्ञान को आत्मा समझो (न संदेहः) इसमें संदेह नहीं है। (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानं तथा दर्शनं) ज्ञान तथा दर्शन (स्वपरप्रकाशं) स्व-पर प्रकाशी (भवति) होते हैं।

नियमदेशना

ज्ञानियों ! आचार्यप्रवर भगवत् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रन्थराज नियमसार जी में ध्रुवज्ञायक-स्वभावी, ज्ञानघन भगवानात्मा के सहजस्वरूप का अलौकिक व्याख्यान कर रहे हैं। चिद्-चैतन्यपिन्ड, ज्ञानानन्द, भगवति-प्रज्ञा से सम्पन्न यह समयसारभूत आत्मद्रव्य सम्पूर्ण अज्ञानभाव से अत्यन्त भिन्न है।

श्रमणपरम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सम्प्रति सर्वोपरि है सर्वमान्य है। कुन्दकुन्द स्वामी ने चौरासी पाहुड ग्रन्थों का सृजन किया है। जो तीर्थंकर भगवंतों का तत्त्वोपदेश अमृत था, उसको कुन्दकुन्द देव ने अपने ग्रंथों में परिपूर्ण उड़ेल दिया है। 'नियमसार' पर आचार्य जयसेन स्वामी, आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने टीका नहीं की, परन्तु 'नियमसार' पर पद्मप्रभमलधारीदेव की टीका है। जो आचार्य अमृतचंद्र स्वामी की शैली है, वही शैली इस टीका की है।

'प्रवचनसार' को प्राप्त करके, नियम में लीन होकर समयसारमय बन जाओ। 'नियमसार' में मोक्षमार्ग एवं मोक्षमार्ग के फल का व्याख्यान है। रत्नत्रय-धर्म मार्ग है और निर्वाण उसका फल है। वस्तुस्वभाव की व्याख्या में प्रपंच को कोई स्थान नहीं है। मोक्षमार्ग में प्रपंचों का क्या काम ? प्रपंचों में धर्म कहाँ ? और धर्म में प्रपंच कहाँ ? धर्म जो है, वह सहज है। समरसी भाव है, वही धर्म है।

प्रपंचरहितं शास्त्रं, प्रपंचरहितो गुरुः।
प्रपंचरहितो मोक्षो, दृश्यते जिनशासने॥24/ज्ञानाङ्कुश॥

ज्ञानियो ! स्वभाव तो स्वभाव ही होता है। जो होता है, वह मिटता नहीं है। पानी का स्वभाव शीतलता है। स्वभाव अर्थात् धर्म। पानी तो पानी ही होता है। सौंफ का पानी, हल्दी का पानी, बूरा पानी, नींबू का पानी। यह सब मिश्र अवस्था है, मिलावट है, कृत्रिम है। वस्तुस्वभाव सहज है। धर्म में आडम्बर नहीं है। सम्प्रदायों, पंथों में आडम्बर है। समरस वहीं होगा, जहाँ समता भाव होगा। साम्यभाव के लिए, समता के लिए आडम्बर की आवश्यकता नहीं है। ऐसे-ही आत्मा के लिए किसी का आलम्बन नहीं लेना पड़ता है, आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वभावी है।

ज्ञानियो! निज के ज्ञान-दर्शन को ज्ञान-दर्शन में लगा दो तो शुद्ध-स्वभाव को प्राप्त कर लोगे। निज से ही निज का ज्ञान होता है। इस भ्रम को भी निकाल दो कि तुम गुरु से ज्ञान प्राप्त करते हो। ज्ञान आत्मा का मूल धर्म है। ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता है, ज्ञान तो अन्दर होता है। जो होता है, वह कहीं से आता नहीं। मुमुक्षु ! आप में ज्ञान था, तभी तो आपने ग्रंथ से पढ़ा। आपमें पढ़ने की क्षमता थी, तो आपने पुस्तक को पढ़ा। पुस्तक किसी को नहीं पढ़ाती है, तुम पुस्तक से पढ़ते हो।

हे मुमुक्षु ! ग्रंथ से ग्रंथ नहीं बने निर्ग्रन्थों की प्रज्ञा से ग्रंथ बने हैं। जगत् के पदार्थों से ज्ञान नहीं होता, वस्तुतः अपने ज्ञान से ही वस्तु का ज्ञान होता है। गुरु और शास्त्र तो मात्र उसमें निमित्त हैं। मेरा गुरु मेरा ज्ञान नहीं है। मेरा ग्रंथ मेरा ज्ञान नहीं है। मेरा ज्ञान ही मेरा ज्ञान है। गुरु के निमित्त से, ग्रन्थ के निमित्त से पढ़ा जाता है, परन्तु हे ज्ञानी ! पढ़ने की योग्यता किसमें है ? योग्यता तो आत्मा में ही है।

ज्ञानियो ! जितनी गुरु की विनय करते हो, जितनी ग्रंथ की विनय करते हो, उतनी ही निजात्मा की विनय करना सीखो, स्वयं की विनय करना सीखो। हे मुमुक्षु! जो स्वयं की विनय करना नहीं जानता, वह न गुरु की विनय कर सकता है, न ग्रंथ की विनय कर सकता है, न श्रुत की विनय कर सकता है। ज्ञानियो! स्वयं की विनय करना सीखो, स्वयं की विनय से ही स्वयंभू बन पाओगे। "अप्पा सो परमप्पा"। आत्मा ही परमात्मा बनता है, इसलिए स्व-आत्मा की विनय करना सीखो। "विणओ मोक्खद्वारो" विनय ही मोक्ष का द्वार है। ध्यान दो, मैं कह रहा हूँ कि निज की विनय करो। पर की विनय से पुण्य मिलेगा, परमेष्ठी की विनय से पुण्य मिलेगा, परन्तु निज की विनय से निरंजन सिद्ध बनेगा। यह अलौकिक व्याख्या है। निज की विनय करेगा, तो निजधाम में स्थित होगा।

हे मुमुक्षु ! स्वयं की विनय करना सीखो। ज्ञानियो ! तुम जिस स्थान पर जिनवाणी रखते हो, क्या वहाँ गंदगी फैलाओगे ? आपको जहाँ गुरु को विराजित करना है, क्या वहाँ गंदगी

फैंकोगे ? नहीं। ऐसे-ही मुमुक्षु! यदि तुमने मानकषाय की, क्रोधकषाय की, मायाचारी के परिणाम किए, लोभरूप प्रवृत्ति की, कालुष्य परिणाम किए, अभक्ष्य/अशुद्ध आहार किया, तब तू पवित्र कहाँ बचा ? जब जिनवाणी को (शास्त्र को) पवित्र स्थान पर विराजित करते हो, तो फिर जब तू ही अशुद्ध है, तब भगवान् तीर्थंकर देव की पवित्र-वाणी को कहाँ और कैसे धारण करेगा ?

हे मुमुक्षु ! जिस आत्मा में ज्ञान है, उस ज्ञानस्वरूपी भगवान-आत्मा की विनय होना चाहिये अथवा नहीं ? ज्ञानस्वरूपी आत्मा की विनय होना ही चाहिये। हे ज्ञानी ! आप जिनेन्द्र भगवान् की मूर्ति पर कचड़ा फेंकोगे क्या ? कभी नहीं। तो फिर जो आत्मा भगवान बनने वाली है, उस भगवानात्मा से कषाय करके उस पर अत्याचार क्यों कर रहे हो? अभक्ष्य, अशुद्ध भोजन करके आत्मा को क्यों दु:खों में डाल रहे हो ? क्रोधादि करके क्यों आत्मा को कष्ट दे रहे हो ? क्यों अपनी आत्मा से अपनी ही आत्मा का हनन कर रहे हो? ज्ञानी ! तेरी आत्मा ही परमात्मा बनेगी, इसलिए इसका अनादर मत करो।

हे मित्र ! पहले घर में जब रोटी बनती थी, तो कितनी दया/करुणा होती थी कि पहली रोटी गाय को और अन्तिम रोटी श्वान को खिलाते थे। पहले घर में खाते थे, बाहर नहीं जाते थे। अब तो सब अशुद्ध हो गया। होटल में (बाहर) खाते हो, घर में अटैच में जाते हो तो फिर भाव शुद्ध कैसे होंगे ? आहारशुद्धि के अभाव में भावशुद्धि कैसे सम्भव है? माताओ! सन्तान को जन्म देकर संस्कार भी दो। संस्कार सुरक्षित रहेंगे, तभी सन्तान सुरक्षित रहेगी और संस्कारवान् संतान ही श्रमणसंस्कृति को सुरक्षित रख पायेगी। ज्ञानियो ! संतान को संस्कार दो, तभी संस्कृति सुरक्षित रहेगी।

हे मुमुक्षु ! ज्ञान जो है, वह आत्मा का धर्म है। ज्ञानी ! पानी की शीतलता पानी से रहित नहीं होती है। पानी स्वयं शीतल होता है और दूसरों को भी शीतल करता है; वैसे ही हे ज्ञानी ! जो ज्ञान है, वह स्व एवं पर को आनन्दित करता है। हे मुमुक्षु ! जिस दिन अपने ज्ञान से अपने को समझ लेगा, उस दिन तू निजानन्द में लवलीन हो जायेगा।

हे मित्र ! मेरे में, आप में और जगत् के प्राणियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। आप भी पैसा कमाते हो और एक टैक्सी वाला भी पैसा कमाता है, परन्तु अन्तर इतना है कि आप घर चलाते हो और साथ में दान करते हो और एक व्यक्ति उस धन से व्यसन करता है। वस्तु तो वस्तु है, उसके प्रयोग भिन्न-भिन्न हैं। एक व्यक्ति धन प्राप्त कर दान कर रहा है और एक व्यक्ति पैसे से व्यसन कर रहा है।

हे ज्ञानी ! एक व्यक्ति कुए से बाल्टी भर पानी लेकर आया। उसने स्वयं पानी पिया,

परिवार को पानी पिलाया, जल से भगवान् का अभिषेक किया, शेष जल से शुद्ध आहार तैयार कर निर्ग्रंथ साधु को दान दिया। वहीं दूसरा व्यक्ति एक बाल्टी पानी लेकर आया और नाली में फेंक दिया। वैसे-ही जो अपने ज्ञान को पर में लगा रहा है, कषाय में लगा रहा है, परनिंदा में लगा रहा है, समाज, परिवार में लगा रहा है, वह ज्ञान का दुरुपयोग कर रहा है। आपनी निज-देह को निहारने में भी ज्ञान को लगाया है तो भी ज्ञान का दुरुपयोग ही किया है।

हे मित्र ! ज्ञान प्रत्येक जीव के पास है। एक व्यक्ति साधु बनता है, एक साहूकार बनता है और एक व्यक्ति व्यसनी बनता है। ज्ञानी ! ज्ञान को सँभाल लो, तो मन भी सँभल जायेगा, काय भी सँभल जायेगी। यदि ज्ञान सँभल गया तो भेदविज्ञान हो जायेगा। ज्ञानी ! पानी को बर्बाद मत करो। जो क्षयोपशम मिला है, उसे व्यर्थ में नष्ट मत करो, अन्यथा समय से पहले ही समझ चली जायेगी। समय से पहले समझ चली गई तो सल्लेखना भंग हो जायेगी। समय पर समझ नहीं पाये तो समत्व चला जायगा। युवाओ! समय पर नहीं सँभले तो शरीर की चमक भी चली जायेगी। चमकते चेहरों पर झुर्रियाँ आने में देर नहीं लगती। इसलिए हे ज्ञानी! शरीर बदले उसके पहले स्वसमय में लीन हो जाओ, यही ज्ञानानंद स्वरूप है।

ज्ञानी ! ज्ञान बाहर से नहीं आता, ज्ञान तो आत्मा में होता है। मुमुक्षु ! आप भी ज्ञाता हो, आप भी वक्ता हो। प्रभुस्तुति किससे होती है ? गाली किससे देते हो ? शब्दों से । ज्ञानी ! प्रशंसा किससे मिलेगी? मुमुक्षुओ! अच्छा जान लेना, अच्छा सुन लेना, अच्छा पहचान लेना, यह अच्छा होने का उपाय नहीं है। अच्छा जान लेने वाले तो कषायी, व्यसनी भी हैं। हत्यारा भी अच्छे को अच्छा जानता है। सप्तव्यसनी भी अच्छे को अच्छा जानता है और अपने पुत्र को व्यसनों से दूर रखना चाहता है।

ज्ञानियो! अच्छा जानना-पहिचानना भिन्न क्षयोपशम है और अच्छा हो जाना भिन्न है। हे मित्र ! किसको मालूम नहीं है कि पाप कैसे किया जाता है ? मायाचारी से तिर्यंच आयु का बंध होता है, पशु बनना पड़ता है। किसको ज्ञान नहीं है कि मुनि बनना अच्छा है ? आपको भी ज्ञान है इस बात का। परन्तु फिर भी मुनि बने क्यों नहीं ? जानना, मानना और उस पर चलना भिन्न-भिन्न ही है। मुमुक्षु ! अच्छा जानो, पहिचानो, स्वीकारो और आचरण करो, तभी जानने की सार्थकता है।

ज्ञानी ! आप बिल्ली को बिल्ली, गाय को गाय जानते हो कि नहीं ? गाय सूखी घास खायेगी और दूध निकालेगी, वहीं बिल्ली चूहा खायेगी और दुर्गन्धित मल निकालेगी। हे मुमुक्षु ! साधु और असाधु में बस इतना ही अन्तर है कि साधु सूखा भोजन खायेगा तब भी हित-मित-

प्रिय वचन बोलेगा, तत्त्वोपदेश देगा, अमृत वचन कहेगा। वहीं असाधु पुरुष अशुभ वचन ही बोलता है, दूसरों की निंदा ही करता है।

णाणं अव्विदिरित्तं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ।
जदि अप्पगं ण जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो॥

ज्ञान जीव से अव्यतिरिक्त है, अभिन्न है, अतः वह आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जानेगा, तो वह उससे भिन्न हो जावेगा।

ज्ञानी ! जो व्यक्ति ज्ञान को परोक्ष ही मानता है, सो कहते हैं कि भावेन्द्रिय आत्मा का ही परिणाम है। अध्यात्म-दृष्टि से ज्ञान आत्मा का ही गुण है। अध्यात्म दृष्टि से जो परोक्ष है, वह भी प्रत्यक्ष है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, परन्तु मति-श्रुत ज्ञान भी आत्मगुण/आत्मधर्म की अपेक्षा प्रत्यक्ष ही है। अध्यात्मदृष्टि से शुद्धात्मानुभूति जो है, वह प्रत्यक्ष ही है। हे मुमुक्षु ! अध्यात्म दृष्टि से, आत्मानुभूति प्रत्यक्ष ही होती है।

आद्ये परोक्षम् ॥(त.सू.)॥

आदि के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष-प्रमाण हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञान ऐसे हैं कि जो यथासम्भव इन्द्रिय, मन तथा प्रकाश और उपदेशादि के बिना नहीं हो सकते, अतः ये दोनों ज्ञान परोक्ष माने गये हैं, परन्तु दार्शनिक ग्रंथों में इन्द्रिय ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप से कहा है।

"णाणं अव्विदिरित्तं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ"

ज्ञानियो ! ज्ञान जीव को छोड़कर अन्य में नहीं होता है। यदि आत्मा स्व-पर को नहीं जानेगा, तो फिर आत्मा से ज्ञान भिन्न हो जायेगा, तब फिर आत्मा जड़ हो जायेगी, आत्मा का विनाश ही हो जायेगा। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, धर्म है। आत्मा को ज्ञान और ज्ञान को आत्मा जानो। जिस प्रकार ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है, उसी प्रकार दर्शन को जानना।

हे मुमुक्षु ! अग्नि से ऊष्णता अलग कर दो, फिर उस पर भोजन पकाना, क्या यह सम्भव है ? जो आत्मा से ज्ञान को सर्वथा भिन्न ही मानते हैं, वह अग्नि से ऊष्णता को भिन्न करके उस पर भोजन पकाना चाहते हैं। ज्ञानियो! आत्मा से ज्ञान भिन्न होता ही नहीं है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है।

हे ज्ञानी ! जितने भी शुभाशुभ भाव हो रहे हैं, यह सब ज्ञान से ही हो रहे हैं। कैसे धन कमाना पड़ता है, यह आप ज्ञान से ही जानते हो। दुकानदार ग्राहक की सीमा जानता है। आप कभी-कभी दयावान होते हैं, फिर भी बुद्धिपूर्वक निर्दय होकर खरीददार से धन

खींचते हो। पच्चीस के पचास करते हो, यह ज्ञानपूर्वक ही करते हो।

हे मित्र ! जब तुम कोई पाप करते हो तब विवेक का घात करके अशुभ कार्य करते हो। जब कोई विपरीत निर्णय लेते हो, तब आपको नींद नहीं आती, आप अच्छी तरह समझते हो कि यह गलत है, फिर भी अपनी करुणा/दया का घात करके अनिष्ट में प्रवृत्ति करते हो।

ओ हो ! ऐसे भी कुलकलंकी बेटे हुए हैं जिन्होंने अपने ही पिता को जेल में डाल दिया अथवा उसके सम्मान का ही घात कर दिया। हे जनक ! हे जननी ! अपनी संतान को इतना ही समझाना कि वह आपके सम्मान का घात न करे, आपका शत्रु न बने। यदि बेटे-बेटी की कुदृष्टि भी हो गई है, तो समझाना, परन्तु शत्रुता नहीं करना।

एक कन्या की दृष्टि विकृत हो गई, वह कामवासना से भर गई। उसका प्रिय उससे मिलने आया, परन्तु घर में कन्या का छोटा भाई था। उस कन्या ने भाई को विघ्न समझ कर, वासना की ज्वाला में झुलस कर एक काँच की बोतल से भाई की हत्या कर दी और वासना की पूर्ति कर ली। वैसे-ही कषाय आपकी दया/करुणा की हत्या करती है, फिर इच्छापूर्ति में व्यक्ति लवलीन हो जाता है। मित्र! कषाय की भट्टी में सब झुलस जाते हैं। क्षणिक सुखाभास के लिए व्यक्ति जीवन भर की कमाई को स्वाहा कर देता है। कषाय की एक कणिका जीवन को स्वाहा कर देती है।

हे मित्र ! बच्चों को बच्चा ही नहीं समझना, बेटे अपनी अनुभूति लेते ही जनक-जननी के जीवन को जान लेते हैं, इसलिए सँभल कर जीवन जीना और अपनों को भी इतनी ही शिक्षा देना कि वह आपके सम्मान का घात न कर पायें। ज्ञानी ! ज्ञान आत्मा का गुण है, स्वाभाविक गुण है। ज्ञान ज्ञाता से भिन्न नहीं है, ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है।

आचार्यप्रवर पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि गुण और गुणी में भेद नहीं है। जो आत्मा सर्वद्रव्यों से पराङ्मुख रहता है, वह अपने सहज ज्ञान के द्वारा आत्मा के स्वरूप को जानने में समर्थ है। भो ज्ञानी ! आत्मा स्व-पर प्रकाशी है, इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये। इसी को पुष्ट करते हुए आचार्यमहाराज कलश कह रहे हैं-

आत्मानं ज्ञानदृग्रूपं विद्धि हिग्ज्ञानमात्मकम्।
स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ॥287 कलश॥

आत्मा ज्ञान-दर्शन रूप है और ज्ञान-दर्शन आत्मारूप है। जो स्व और पर रूप तत्त्व हैं, उनको यह आत्मा स्पष्ट रूप से प्रकाशित करता है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने इन 13 गाथाओं (159 से 171 तक) में आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण की विवेचना की है। केवली भगवान् व्यवहारनय से तीनों लोकों के समस्त

पदार्थों को, उनकी समस्त पर्यायों को जानते और देखते हैं। निश्चयनय से केवली भगवान अपनी आत्मा को ही जानते और देखते हैं। केवलज्ञानी का ज्ञान और दर्शन युगपत् रहता है। जैसे—सूर्य के प्रकाश में प्रकाश और ताप एकसाथ रहता है।

भो ज्ञानी ! यह कहना कि ज्ञान परप्रकाशी है और दर्शन आत्मप्रकाशी है, उचित नहीं है। यदि ज्ञान को परप्रकाशी मानोगे, तो आत्मा से दर्शन भिन्न रहेगा, क्योंकि दर्शन को परद्रव्य का जाननेवाला नहीं मान रहे हो। ज्ञान जीव का स्वरूप है, इसलिये आत्मा आत्मा को जानता है। यदि वह आत्मा को नहीं जानेगा, तो वह ज्ञान आत्मा से भिन्न हो जायेगा। इसलिये ज्ञान ही आत्मा है, आत्मा ही ज्ञान है।

धवलाकार इस विषय को निम्न गाथा के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं–

अंतर्बहिर्मुखयोश्रित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाषो: (ध.1/146)

अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान माना गया है। सामान्य को छोड़कर केवल विशेष या विशेष को छोड़कर सामान्य अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं होता है। अत: यह अवस्तु है, इस कारण केवल विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकेगा और केवल सामान्य को ग्रहण करनेवाला दर्शन भी प्रमाण नहीं हो पायेगा। 'धवला' जी में सामान्य शब्द से आत्मा को ग्रहण किया गया है, क्योंकि आत्मा संपूर्ण बाह्य पदार्थों में सामान्य रूप से पाया जाता है, ऐसा समझना चाहिये।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा 172 **कलश 288**

उत्थानिका : केवलज्ञानी अबंधक क्यों ?

गाथा : **जाणंतो पस्संतो, ईहापुव्वं ण होदि केवलिणो।**
केवलणाणी तम्हा, तेण दु सोऽबंधगो भणिदो॥172॥

संस्कृत छाया : जानन् पश्यन्नीहापूर्वं न भवति केवलिनः।
केवलज्ञानी तस्मात् तेन तु सोऽबन्धको भणितः॥172॥

अन्वयार्थ : (जानन् पश्यन्) जानते और देखते हुए भी (केवलिनः) केवली को (ईहापूर्वं) इच्छापूर्वक (वर्तन) वर्तन (न भवति) नहीं होता; (तस्मात्) इसलिये उन्हें (केवलज्ञानी) केवलज्ञानी कहा है (तेन तु) और इसलिये (सः अबन्धकः भणितः) अबन्धक कहा है।

नियमदेशना

आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी में केवली के विषय में बता रहे हैं और वस्तुव्यवस्था को स्पष्ट कर रहे हैं कि केवली भगवान् का जानना और देखना इच्छापूर्वक नहीं होता है। जीव जब किसी द्रव्य को इच्छापूर्वक जानना चाहता है तो उसमें राग का ही कारण होता है। यदि किसी वस्तु पर दृष्टि अपने आप चली गई तो वह बन्ध का कारण नहीं है, परन्तु रागपूर्वक पुनः जानना-देखना, वह बंध का ही कारण है। यदि जीव को कोई वस्तु रुचिकर नहीं लग रही है, तो द्वेषपूर्वक जानने-देखने का भाव नहीं करना भी बंध का हेतु है। केवली भगवान् को ईहा का अभाव होने पर जानना-देखना बंध का कारण नहीं है। यहाँ तक कि केवली भगवान् का गमन भी ईहापूर्वक नहीं होता है। उनकी समस्त क्रियायें सहजरूप में होती हैं।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि सर्वज्ञ के वांछा का अभाव है, वे वीतरागी हैं। अर्हन्त परमेष्ठी सादि-सांत हैं, अमूर्तिक हैं, शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से केवलज्ञान के द्वारा विश्व के समस्त पदार्थों को जानते हैं। उनका ज्ञान शुद्धज्ञानभूत है। वे अपने ज्ञान में समस्त पदार्थों को निरन्तर जानते हैं। उनके ज्ञान में समस्त पदार्थ दर्पणवत् झलकते हैं, क्योंकि उनके मन की प्रवृत्ति का अभाव है। अतः समस्त द्रव्यों को जानते-देखते हुए भी किसी प्रकार की इच्छा/वान्छा नहीं है, इसी कारण वे अबंधक हैं।

इसको आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 'प्रवचनसार' में स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो॥52 प्र.सार॥

आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उन रूप परिणमन नहीं करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उन पदार्थों में उत्पन्न होता है, इसलिये आत्मा अबंधक कहा गया है।

भो ज्ञानी ! ये साधुसंघ चलाने की व्याख्या नहीं चल रही है, यह गृहस्थी चलाने की व्याख्या नहीं चल रही है; ये कर्मातीत होने की व्याख्या है। साधना के मार्ग में कषाय के कंकड़ किंचित मात्र नहीं आना चाहिये। जो जीव यह निर्णय नहीं कर पा रहा है कि मेरे शक्ति कितनी है, मैं कितनी साधना कर सकता हूँ, तो हमेशा यह विश्वास रखना कि सामान्य जीव ही भगवान बनता है। सुखिया जीव ही भगवान बनता है। जो इंद्रियसुख का अनुभव कर रहा है, वह दुःखिया नहीं है। कोई जीव यह सोचे कि आनंद आ गया, प्रसन्न हो रहा है, हे जीव! तुम जिस सुख को सुख मान रहे हो, वह अधोगति में ले जायेगा, तिर्यंच पर्याय को ही दिलायेगा।

जो तत्त्वमनीषी संज्ञा से लिप्त हो चुका है, वह संज्ञा से भी गया। जो तत्त्वमनीषी चार संज्ञाओं आहार, भय, मैथुन और परिग्रह से अपने को दूर कर लेता है, जिसने शरीर से भी अपने को दूर कर लिया है, जो जगत के परद्रव्यों में ममत्व भावना को प्राप्त नहीं है, जिसके कर्मों का अभाव है, वह संसार में रहते हुए भी सुख का आनंद लूट रहा है। वह निर्मोही सुखिया है, वही मोक्ष जायेगा।

ज्ञानियो! दुःख नहीं है, आप समझ नहीं पा रहे हो। बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी, धुरन्धर भी सुख को दुःख मान लेते हैं, जबकि दुःख तो है ही नहीं। जो मेरे नहीं हैं, उनको अपना मानना ही दुःख है। गैरों में मेरापन मानना ही दुःख है। जो मेरे नहीं हैं, उनको मेरा कहना, यही दुःख है। ये ग्रन्थ मेरा नहीं है, इसको मैं मेरा कह रहा हूँ; यह पिच्छी-कमंडलु मेरा नहीं है, इसको मैं मेरा कह रहा हूँ; यही दुःख है। ज्ञानावरणी कर्म मेरा है क्या? नहीं है। दर्शनावरणी कर्म मेरा है क्या? नहीं है। मोहनीय कर्म मेरा है क्या? नहीं है। आयु कर्म मेरा है क्या? नहीं। वेदनीय कर्म मेरा है क्या? नहीं। अन्तराय, नाम, गोत्र कर्म मेरा है क्या? नहीं। ये आठों कर्म मेरे भी नहीं हैं। फिर भी मेरे हैं, यही दुःख का कारण है। जब ये शरीर गलने लग जाय, सड़ने लग जाय, तब मुझे लगता है कि मेरे शरीर का ही विनाश हो रहा है, जबकि वास्तविकता ये नहीं है।

भो ज्ञानी ! केवलज्ञानी भगवान् सभी पदार्थों को जानते हुए भी उन रूप परिणत नहीं होते हैं, उनको ग्रहण भी नहीं करते हैं और उन रूप उत्पन्न भी नहीं होते हैं। वे पूर्णरूप से वीतरागी होते हैं। सभी प्रकार के राग-द्वेष-मोहादि से रहित होने के कारण कर्मों के बन्ध

को प्राप्त नहीं होते हैं। इसको आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के माध्यम से समझा रहे हैं–

जानन् सर्वं भुवनभुवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं
ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी ॥288 कलश॥

देवााधिदेव जिनेन्द्रदेव इस त्रिभुवनरूपी भवन के भीतर स्थित समस्त पदार्थों को जानते हैं, देखते हैं, फिर भी मोह का अभाव हो जाने के कारण विश्व के समस्त पदार्थों को कभी भी ग्रहण नहीं करते हैं। मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने से वे किसी में राग-द्वेष नहीं करते हैं। वे ज्ञाता-दृष्टा मात्र रहते हैं। वे समस्त लोक के साक्षी मात्र होते हैं। केवल-ज्ञानज्योति के प्रभाव से सभी प्रकार के क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वे संक्लेशरूप सभी प्रकार के मल से रहित होते हैं।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

गाथा 173, 174 **कलश 289, 290, 291**

उत्थानिका : केवलज्ञानी के बंध के अभाव का स्वरूप

गाथा : **परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होदि।**
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो॥173॥
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होदि।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो॥174॥

संस्कृत छाया : **परिणामपूर्ववचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति।**
परिणामरहितवचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः॥173॥
ईहापूर्वं वचनं जीवस्स च बंधकारणं भवति।
ईहारहितं वचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः॥174॥

अन्वयार्थ : (परिणामपूर्ववचनं) परिणामपूर्वक वचन (जीवस्य च) जीव को (बंधकारणं) बंध का कारण (भवति) है (परिणाम-रहित-वचनं) ज्ञानी को परिणाम रहित वचन होता है (तस्मात्) इसलिये (ज्ञानिनः) ज्ञानी को (हि) वास्तव में (बंधन) बन्ध नहीं है। (ईहापूर्वं) इच्छापूर्वक (वचनं) वचन (जीवस्य च) जीव को (बंधकारणं) बन्ध का कारण (भवति) है। (ईहारहितं वचनं) ज्ञानी को इच्छारहित वचन होता है (तस्मात्) इसलिए (ज्ञानिनः) ज्ञानी को (हि) वास्तव में (बंधःन) बन्ध नहीं है।

नियमदेशना

भो बंधुओ! अंतिम तीर्थेश भगवान् वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। तीर्थंकर जिनेन्द्र की पीयूष वाणी मनीषियो! जगतकल्याणी है। यह सर्वज्ञ शासन जयवंत हो, जयवन्त हो श्री जिन नमोऽस्तु शासन। जयवन्त हो वीतराग श्रमणसंस्कृति। ज्ञानियो! वक्ता होने पर भी वक्तत्व के कर्त्तृत्वपने से शून्य है। वक्तत्व का कर्त्तत्वपना ही बंध का कारण है। मैं इस शब्द का कर्त्ता हूँ, ऐसा भाव जिसके अंदर निहित है, वह बंध का ही कारण है। जिसके अन्दर वक्तत्व के कर्तृत्वपने का अभाव को हो चुका है, ऐसा श्रमण अबंधक है। वक्तत्व का कर्तृत्व इच्छामय है, वांछामय है। जहाँ वांछा है, वहाँ मोह है। जहाँ मोह का अभाव हो चुका है, वहाँ वांछा का अभाव है। जहाँ वांछा का अभाव है, वहाँ वक्तत्व के कर्तृत्वपने का भी अभाव है। इसलिए सर्वज्ञ देशनारत होते हुये भी कर्तृत्वपने से युक्त नहीं हैं।

जीव जितना सूक्ष्म हो जायेगा, उतना सूक्ष्म हो जायेगा। सूक्ष्म से तात्पर्य गंभीर ज्ञाता, विशाल का ज्ञात, जगत के सम्पूर्ण द्रव्यों का जाननहार; पर जानने के राग से रहित। जितना तुच्छ प्राणी होगा, अपरिपक्व होगा। गरीब अचानक पैसे वाला हो जाये, तो पैसे की गरीबी का तो अभाव होता है, पर सज्जनता से रहित होता है, वाणी की निर्मलता से अभी भी गरीब है। बहुत से पैसे वाले दिखाई पड़ते हैं, पर उनकी भाषा तो देखो, अकुलीनों की भाषा, गँवारों की भाषा। गरीबी का नाश करने के पूर्व भाषा की वक्रता का नाश करके भाषा की सौष्ठता का विकास करो। जो परम्परागत कुलीन होगा, उसकी भाषा में कभी गरीबी नहीं आयेगी। सज्जनता के अभाव की जो गरीबी है, उसको मिटाना चाहिए। शालीनता के अभाव की जो गरीबी है, उसको मिटाना चाहिए। जो जितना साधुपुरुष होगा, उसके अंग-अंग में शालीनता होगी।

जैसे—चम्पा, चमेली आदि पुष्प हैं, इन पुष्पों के वृक्षों के सामने से गुजरने पर पूरा स्थान महकता है। एकेन्द्रिय जीव कितना पुण्यात्मा है कि बिना इच्छा के सभी को मुदित कर रहा है। उसमें इच्छा नहीं थी और दूसरे में भी इच्छा नहीं थी कि मैं सुगंध लूँ, लेकिन जो जूही, चम्पा, चमेली आदि वृक्षों के सामने से निकलता है उसे सुगन्ध प्रभावित करने लगती है। ऐसे—ही असाधु पुरुष भी साधु के सामने से निकले तो उसको भी साधुपने की सुगंध आने लगती है। यह साधु की पहचान है। इसलिए पर की सुगन्ध मत लो। वृक्ष ने स्वयं ही सुगन्ध के परमाणुओं को अपने अन्दर संग्रहीत किया है। आचार्य मानतुंग स्वामी 'भक्तामर' स्तोत्र में भगवान आदिनाथ स्वामी की स्तुति करते हुए कह रहे हैं, हे नाथ! जितने प्रशस्त परमाणु पृथ्वी पर थे, वे सब आपके शरीर की संरचना के निर्माण में लग गये।

हे मुमुक्षु! जैसे आम्र का वृक्ष भूमि पर अंकुरित हो रहा है, उसी के बगल में नीम का वृक्ष है। भूमि वही है, पृथ्वी वही है। एक आम का मधुर फल दे रहा है, दूसरा कड़वी निम्बोरी दे रहा है। वहीं एक काँटे का झाड़ है जो काँटे ही दे रहा है। उस पृथ्वी में आम था, नीम था, बबूल था क्या? अतः इस मान्यता को दूर कर दो कि उस क्षेत्र में जन्म होगा तो विशिष्ट हो जाऊँगा। हे मित्र! एक ही नगर में, एक ही स्थान से एक असाधु उत्पन्न हो जाता है, दूसरा साधु उत्पन्न हो जाता है। जिस जीव का उपादान जितना पवित्र होता है, वह वैसे परमाणुओं को अपने आप ग्रहण कर लेता है। भाई! आपने दो बेटों को जन्म दिया, एक गृहस्थ रह गया, दूसरा साधु हो गया। दम्पत्ति के शरीर में अलग-अलग रज-वीर्य की व्यवस्था थी क्या? हर जीव अपनी योग्यता लेकर आता है। जैसे पृथ्वी के पानी को प्राप्त करके आम का बीज आम फलों को उत्पन्न कर रहा है, वैसे-ही पुण्यात्माजीव पुण्य लेकर आता है तो

सामान्य माता-पिता के घर में उत्पन्न होकर भी साधु हो जाता है। भारत की भूमि पर ही तीर्थंकर जन्मे हैं। उस अवधपुरी में सामान्य लोग भी जन्म लेते हैं। ये भ्रम निकाल देना कि स्थान विशेष पर ऐसे लोग होते हैं। चंदन के वृक्ष भी इसी भूतल पर होते हैं। उन चंदन के वृक्ष के बगल में भी नीम के वृक्ष उग आते हैं। एक बेटा साधु हो जाये और एक बेटा असाधु जो जाये, तब भी आँसू मत टपकाना, क्योंकि क्या कर सकते हो? चंदन के वृक्ष के नीचे कंटीले झाड़ भी उत्पन्न हो जाते हैं।

अत: किसी को दोष मत देना। नींबू का वृक्ष खाद-पानी को खट्टे रस में परिणत करता है। गन्ने के झाड़ उसी खाद-पानी को मीठे रस में परिणत करते हैं। हे श्रावक साधु को दिया आहार तद्जन्य परिणत हो रहा है। असाधु को दिया गया आहार तद्जन्य परिणत हो रहा है। उपादानों में योग्यता है तो निमित्तों की भी उपादान योग्यता होती है। गुझिया सांचे से बनी, कि आटे से बनी ? जो कहता है उपादान आटे का है, निमित्त सांचे का है, तो यही भूल है। आटे का उपादान गुझियारूप परिणत होने का है, पर सांचे का उपादान आटे को गुझिया आकार देने का है। यदि सांचे में उपादान नहीं होगा, तो तुम्हारे लिये तद्जन्य निमित्त भिन्न बनेगा। आटे में गुझिया बनाने का उपादान है, परन्तु सांचे में आटे को गुझिया का आकार देने की योग्यता है कि नहीं ? है। तो गुझिया आकार देने का उपादान किसमें है ? गुझिया आकार देने का उपादान सांचे में ही है।

यह ऐसा देश है जिसमें नारियों ने मंगलसूत्र बेच दिया और कहा कि जिनसूत्र की रक्षा करो यही मंगलसूत्र है। आज नारियों को यह सोचना चाहिए कि हम अपनी एक संतान को जिनधर्म की प्रभावना में लगायेंगे। जीवन या तो संयम से जियो या संतान को जन्म दो। भ्रूण-हत्या का विचार कभी स्वप्न में मत करना। संतान को जन्म दोगे तो धर्म की प्रभावना होगी, धर्म की रक्षा होगी। माँ की बिक्री नहीं होती। भूखा रह जाना, पर शास्त्र नहीं बेचना। हमारे यहाँ मूर्तियाँ, शास्त्र खरीदे नहीं जाते, न्योछावर राशि प्रदान की जाती है। यदि कोई पंडित हो गया है और वह यह कहता है कि इतनी राशि दोगे तो मैं आपके यहाँ आऊँगा, हे मित्र! अभी तूने पंडिताई का अनुभव नहीं किया है। जिस सरस्वती के प्रसाद से आपके नाम के आगे पंडित लग रहा है, उसको तू पुद्गल के टुकड़ों में बेच रहा है। परिग्रह को जोड़ रहा है, अरिहन्त की वाणी को टुकड़ों में बेच रहा है। पता नहीं क्या हो रहा है ? यदि कोई विद्वान प्रवचन करने आये तो उसे भेंट देना और कहना मैं आपको राशि नहीं दे रहा हूँ क्योंकि जिनवाणी को पैसे से खरीदकर नहीं सुन रहा हूँ। पैसे से खरीदकर सुनाने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

उपादान उपादान है, उपादान का फल उपादान नहीं होता। उपादान का उपादान नहीं होता।

पर निमित्त में उपादान होता है कि नहीं? निमित्त में निमित्त का उपादान नहीं होगा तो जैसे गाय गाय है, गाय को घास नहीं खिलाया जाय, पानी नहीं पिलाया जाय, तो दूध देगी क्या? नहीं देगी। गाय में दूध का उपादान है, घास का निमित्त है। घास में भी दूध बनने पर उपादान है, पर किसी को भी खिलाने से नहीं बनेगा, गाय को ही खिलाना पड़ेगा। गेहूँ के दाने में रोटी, पराठा, पूड़ी, हलुआ, बाटी आदि अनेक वस्तु के बनाने की सामर्थ्य है। लेकिन मात्र गेहूँ की योग्यता ये सबकुछ नहीं बना सकती है। ये गेहूँ के उपादान की योग्यता है, लेकिन बनाने वाले के मस्तिष्क में क्या-क्या बनता है? बनाने वाला क्या सोचता है? अनेक प्रकार के पदार्थ बनाने की योग्यता बनाने वाले में है या नहीं? है। इसलिए जो निमित्त को मात्र उपस्थित मानते हैं, वे घोर अज्ञानी हैं। 'निमित्त तो उपस्थित हो जाता है, काम तो उपादान से ही होता है' ऐसा नहीं बोलकर ऐसा बोलना चाहिए कि कार्यरूप परिणत उपादान होता है, पर निमित्त कार्य परिणत होने से निमित्त 'निमित्त' बनता है। इसलिए जैसे उपादान समर्थ कार्य है स्व में, ऐसे ही निमित्त भी समर्थ कार्य है स्व में।

आटे का उपादान आटे में है, सांचे का उपादान सांचे में है। आटे का उपादान सांचे में नहीं जाता, सांचे का उपादान आटे में नहीं जाता। आटे में गुझिया बनने का उपादान है और सांचे में गुझिया को आकार देने का उपादान है। आकार देने के बाद भी आकार उसमें प्रवेश नहीं कर जाता। संतान का जन्म माता-पिता से होता है। संतान न माता है न पिता है, परन्तु उनके बिना शरीर बनता नहीं है। माता के अंदर उपादान रज का था, पिता के अंदर वीर्य का था, परन्तु दोनों के योग होने से तेरा शरीर निर्मित हुआ है। ये शरीर का उपादान शरीरभूत है; परन्तु जिसने जन्म लिया है, वह सब उपादानों से भिन्न है, वो आत्मा अलग है जिसने जन्म लिया है। जो निमित्त होता है, वो पर के लिये निमित्त है, परन्तु स्व के लिये उपादान ही होता है। जो आप उपदेश सुन रहे हो, मैं आपके लिए निमित्त हूँ, पर स्वयं के लिए उपादानभूत ही हूँ। यदि मुझमें समझने, समझाने की क्षमता न हो, तो मैं आपके लिए निमित्तभूत कैसे बनूँगा? माता बंध्या या पिता नपुंसक होता तो संतान का जन्म होता क्या ? नहीं होता। दोनों निमित्त थे, पर दोनों में स्वयं का उपादान था। निमित्तों का उपादान जब सशक्त होता है, तभी पर कार्यरूप परिणत होता है। जब तक निमित्तों का उपादान सशक्त नहीं होगा, तब तक स्वयं का उपादान कुछ नहीं कर सकेगा।

गेहूँ का बीज बोरे में भरने से फसल नहीं आयेगी! गेहूँ के बीज में उपादान तो है, पर जमीन, खाद, पानी आदि का भी निमित्त चाहिए। गेहूँ की फसल के लिए उर्वरा भूमि निमित्त-भूत है, परन्तु स्वयं के लिए उपादान है। दो प्रकार के निमित्त होते हैं, बहिरंग निमित्त और

अंतरंग निमित्त। जो उपादान की योग्यता है, वह अंतरंग निमित्त है और जो बहिरंग सामग्री मिल रही है, वह बहिरंग निमित्त है।

एक वस्तु में अनेक उपादान होते हैं, अनेक कार्य होते हैं। जितने प्रकार के कार्य होते हैं, उतने प्रकार के उपादन होते हैं; परन्तु एक कार्य की अपेक्षा एक ही उपादान है और अनेक कार्य की अपेक्षा से अनेक उपादान हैं। जैसे एक व्यक्ति पिता है, पुत्रादि भी है, परन्तु एक अपेक्षा से एक है।

द्रव्य से रहित पर्याय, पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता है। द्रव्य का परिणमन ही पर्याय कहलाता है। पर्याय कोई भिन्न वस्तु नहीं है। जब कोई रो रहा होता है, तो उसका चेहरा वही होता है कि दूसरा होता है? वही था क्या? वही था, तो रोया कैसे? वही था, तो हँसा कैसे ? 'एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविन:परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्। (प.मु.सू.)

एक द्रव्य में क्रमभाव से जो परिणाम हो रहा है, उनका नाम पर्याय है। जब कोई हँसता है तो विषाद नहीं था, जब विषाद था तो हँस नहीं रहा था, पर चेहरा वही था। पर्याय बदली है, पर तुच्छाभाव नहीं हुआ है, द्रव्यदृष्टि से वही है। पर्यायरहित द्रव्य, द्रव्यरहित पर्याय मत मान लेना। 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।'

आप पिता पर्याय मात्र से नहीं हो, परिणामों से भी हो। यदि परिणामों से नहीं होते तो शाम को पुत्र से नहीं कहते बेटा! महाराज की वैय्यावृत्ति अच्छे से करो। निमित्त का उपादान निमित्त में है और उपादान का उपादान उपादान में है।

व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि केवली कर्तृत्वपने से शून्य हैं। वक्ता होने पर भी वक्तत्व के कर्तृत्वपने से शून्य हैं। वक्तत्व का कर्त्तापना भी बंध का ही कारण है। मैं वक्ता हूँ, इसका कर्तृत्वपना जिसके अंदर निहित है, वह बंधक ही है, अबंधक नहीं है। जिसके वक्तत्वपने से कर्तृत्वपने का अभाव हो चुका है, वह वक्ता होने पर भी अबंधक है। जहाँ भोग का अभाव हो चुका है, वांछा का अभाव हो चुका है, वहाँ वक्तत्वपने में कर्तृत्वपने का अभाव है। इसलिए सर्वज्ञ दिव्यदेशना देते हुये भी दिव्यदेशना के कर्तृत्वपने से युक्त नहीं हैं।

जीव जितना सूक्ष्म ज्ञाता अर्थात् प्रकांड ज्ञाता होगा, वह सबको जानते हुए भी, जानने के राग से रहित होगा। जितना तुच्छ प्राणी होगा, उतना अहंबुद्धि वाला होगा।

केवलज्ञानी ''अमनस्काः केवलिन:'' मनरहित होते हैं। मन की परिणतिपूर्वक हुए जीव के वचन बंध के कारण होते हैं। मन की परिणतिपूर्वक केवली के वचन नहीं होते हैं, अतः उनके वचन बंध का कारण नहीं हैं। केवली भगवान् के मुखकमल से निर्गत दिव्यध्वनि भी इच्छापूर्वक नहीं होती है, इसलिए वह भी बन्ध का कारण नहीं है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव केवली भगवान् की दिव्यध्वनि की प्रशंसा करते हुए तीन कलश कह रहे हैं–

ईहापूर्वं वचनरचनारूपमस्यास्ति नैव
तस्मादेषः प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता।
अस्मिन् बंधः कथमिव भवेद्द्रव्यभावात्मकोऽयं
मोहाभावान्न खलु निखिलं रागद्वेषादिलाजम्॥ 289॥
एको देवस्त्रिभुवनगुरुर्नष्टकर्माष्टकार्धः
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्गतं वस्तुजालम्।
आरातीये भगवति जिने नैव बंधो न मोक्षः
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च॥ 290॥
न ह्येतस्मिन् भगवति जिने धर्मकर्मप्रपञ्चो
रागाभावादतुलमहिमा राजते वीतरागः।
एषः श्रीमान् स्वसुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो
ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनभोगभागः समन्तात्॥ 291॥

केवली भगवान में इच्छापूर्वक वचनरचना का स्वरूप नहीं है, इसलिए ये महिमाशाली हैं और संसार के अद्वितीय स्वामी हैं। मोह का अभाव हो जाने के कारण द्रव्य और भावरूप बंध नहीं होता है। वे समस्त प्रकार के राग-द्वेष से रहित हैं। अरिहन्त भगवान् ने चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है। वे त्रिभुवन के गुरु कहलाते हैं क्योंकि तीनों लोक के समस्त पदार्थ और त्रिलोक भी उनके ज्ञान में झलकते हैं, स्थित हैं। अतः जिनेन्द्र भगवान में न बंध है और न मोक्ष है। उनमें कोई मूर्च्छादशा, अज्ञान दशा नहीं होती है। उनमें कोई चेतना-ज्ञानदशा नहीं होती है। वे सर्वज्ञ हैं, ज्ञानस्वरूपी हैं।

भो ज्ञानी! जिनेन्द्र भगवान् में धर्म और कर्म का प्रपंच भी नहीं है क्योंकि राग का अभाव हो चुका है। वे अतुल महिमाशाली हैं। वे अपने सुख में लीन रहते हैं। उनकी ज्ञानरूपी ज्योति से समस्त त्रिलोक व्याप्त है। उनके चार घातिया कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय) का पूर्णतया अभाव होने से वे केवलज्ञानी हैं, सर्वदर्शी हैं तथा अनन्त शक्तिशाली हैं। वे अनन्तचतुष्टय के धारक हैं। उनका ज्ञान तीनों लोक और अलोक में सर्वत्र व्याप्त हो, रहा है, ऐसा जानना चाहिए।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

उत्थानिका : कवेली भगवान् मनरहित होते हैं।

गाथा : ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होदि केवलिणो।
तम्हा ण होदि बंधो साकट्ठं मोहणीयस्य॥175॥

संस्कृत छाया : स्थाननिषण्णविहाराः ईहापूर्वं न भवन्ति केवलिनः।
तस्मान्न भवति बंधः साक्षार्थं मोहनीयस्य॥175॥

अन्वयार्थ : (केवलिनः) केवली के (स्थाननिषण्णविहाराः) खड़े रहना, बैठना और विहार (ईहापूर्वं) इच्छापूर्वक (न भवन्ति) नहीं होते (तस्मात्) इसलिये (बंध न भवति) उन्हें बन्ध नहीं है (मोहनीयस्य) मोहनीयवश जीव को (साक्षार्थम्) इंद्रियविषय सहित रूप से बन्ध होता है।

नियमदेशना

भो बन्धुओ ! जयवंत हो सर्वज्ञ शासन! जयवन्त हो नमोऽस्तु शासन, वीतराग श्रमण संस्कृति। हम सभी अंतिम तीर्थेश भगवान वर्द्धमान स्वामी के शासन में विराजते हैं। मनीषियो ! तीर्थंकर जिनेन्द्र की पीयूष वाणी जगत्कल्याणी है।

आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी में केवली भगवान् के गुणों की व्याख्या करते हुए कथन कर रहे हैं कि केवली भगवान इच्छा से रहित होते हैं उनके किसी प्रकार की वांछा भी नहीं होती है। जहाँ-जहाँ इच्छा होती है, वहाँ-वहाँ संक्लेशता होती है, वहाँ-वहाँ बंध होता है। जो इच्छा है, वह भावों की आकुलता है।

इतिहास साक्षी है कि जिस-जिस ने जब-जब किसी वस्तु की प्राप्ति का लक्ष्य बनाया है, तब-तब आकुलता को प्राप्त हुआ है। जहाँ बंध है, वहाँ विषाद है। ज्ञानियो, श्रमणो, श्रावको! शरीर को सुखानेवाली साधना को तुम जितना दीर्घ कर रहे हो, उससे इच्छा का दमन होना चाहिये। जब-तक इच्छाओं के दमन की साधना नहीं हो सकेगी, तब-तक कषायें नहीं सूख पायेंगी, संक्लेशता कम नहीं हो पायेगी। यदि किसी वस्तु के प्रति आकांक्षा है, तो संक्लेशता होगी ही। यह जो बल्व दिख रहा है, प्रकाश दे रहा है, परन्तु इस भवन में बिजली का एक मीटर लगा है, वह निरन्तर चल रहा है। जितना ज्यादा प्रकाश दिखाई दे रहा है, मीटर उतना चल रहा है। हे मित्र! जितने तुम विषयों

के प्रकाश में जाओगे, जितने तुम प्रकाश को प्राप्त हो रहे हो, वहाँ आस्रव का मीटर लगा हुआ है, उतने कर्म का आस्रव होगा। गुणस्थान भी मीटर है। जितनी अशुभ आकांक्षा होगी, उतने नीचे जाओगे।

ज्ञानी ! साधना के मार्ग में चलकर तुम इच्छाओं का दमन नहीं कर पा रहे हो तो अपने आप को अधिकृत मोक्षमार्गी मत मान लेना। एक बार भोजन करके जीवन जी लेना बहुत कठिन नहीं है। जैसे तू उपवास करता है, वैसे तू इच्छाओं का उपवास कर ले, यह कठिन है। आज तक तूने इच्छाओं का उपवास नहीं किया, इसलिये यह खोटा काल देखना पड़ रहा है। यदि इच्छाओं का उपवास कर लिया होता, तो तीर्थंकर भगवान के समवसरण में बैठकर मोक्ष चले जाते। वर्तमान में पंचमकाल में तीर्थंकर नहीं आयेंगे, लेकिन इच्छाओं का उपवास नहीं किया तो छटे काल में पहुँचने में देर नहीं लगेगी।

ज्ञानी ! इच्छा ही आकुलता की जननी है। तेरे अन्दर जो कामना है, वह ही पापों का कारण है। यदि तेरा कोई सबसे बड़ा शत्रु है, तो तेरे अंदर की इच्छायें हैं। बाहर से कह रहा है कि कोई इच्छा नहीं है, पर अंदर में इच्छाओं का समुद्र बैठा है, कामनाओं का पर्वत विराजमान है। यदि कोई किसी से कामना करता है, इच्छा करता है, तो वह शत्रु बन जाता है, क्योंकि जरूरी नहीं है कि उसके द्वारा आपकी इच्छाओं की पूर्ति हो पाये। यदि आपने इच्छा की कि मैंने महाराज जी की बहुत सेवा की है, इतनी दूर से विहार कराके भी लाया हूँ, आज तो महाराज को मैं ही पड़गाकर आहार कराऊँगा। किसी कारणवश महाराज का पड़गाहन अन्य चौके में हो गया, तो कैसे भाव होंगे ? वहीं पड़गाहन का समान फेंककर कहूँगा कि देख लिया महाराज को। हो सकता है कि वो अगले दिन से आयें ही नहीं। यहाँ तक कि शत्रुभाव भी उत्पन्न हो सकता है। यदि महाराज किसी के होते होते, तो माता-पिता परिवार को छोड़कर क्यों आते ? जब वे उनके नहीं हो सके, तो तुम्हारे कहाँ से होंगे ? इसलिये रागदृष्टि से कभी भी महाराज को अपना मत मानना।

हे मित्र ! यदि आपने किसी के प्रति इच्छा कर ली है और वह पूरी नहीं हुई, तो वह तेरा शत्रु नहीं था। आपकी इच्छा ही आपकी शत्रु थी। जब-जब तुम निमित्तों को देखोगे, तब-तब कषाय ही भड़केगी। जब-जब तुम उपादान को देखोगे, तो निर्मलता ही आयेगी। इसलिये उपादान पर ही दृष्टि लाओ।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी केवली भगवान् के विषय में कह रहे हैं कि उनका खड़ा होना, बैठना, विहार करना आदि क्रियायें स्वाभाविक रूप से होती हैं। यहाँ तक कि उनकी दिव्यध्वनि खिरना, धर्मोपदेश देना भी सहज रूप से होता है। जैसे कि स्त्रियों में स्वभावरूप से ही मायाचारी होती है। आचार्यमहाराज 'प्रवचनसार' में कह रहे हैं कि–

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं कालेमायाचारोव्व इत्थीणं॥44 प्र.सार.॥

केवली भगवान् की समस्त क्रियायें खड़े होना, बैठना, चलना आदि इच्छापूर्वक नहीं होते हैं, इसलिए उनको बंध नहीं होता है। उनके मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव होता है। जो जीव मोहनीय कर्म से युक्त होता है, उसको मोह के कारण से इंद्रिय के समस्त विषयों में बंध होता है।

केवली भगवान् के अमनस्कता होती है। ''अनमस्का: केवलिन:''। केवली भगवान् मन से रहित होते हैं, इसलिये उनकी समस्त प्रवृतियाँ इच्छा से रहित होती हैं। उनका विहार, धर्मोपदेश भी इच्छा रहित होता है। इसलिये तीर्थंकर भगवान के किसी भी प्रकार का द्रव्यबंध और भावबंध नहीं होता है। वे सभी प्रकार के (प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश चारों प्रकार के) बन्ध से रहित होते हैं।

बन्ध का कारण क्या है और यह किससे होता है ?

आचार्यमहाराज उत्तर देते हुए कहते हैं कि कर्मबन्ध मोहनीय कर्म के विलास से उत्पन्न होता है। जो जीव मोहनीय कर्म के वशीभूत होता है, वह संसारीजीव इंद्रिय-विषयों में प्रवृति के कारण बंध को प्राप्त होता है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव अर्हंत भगवान् की महिमा को प्रकाशित करते हुए कलश कह रहे हैं।

देवेन्द्रासनकंपकारणमहत्कैवल्यबोधोदये
मुक्तिश्रीललनामुखाम्बुजरवेः सद्धर्मक्षामणेः।
सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वं पुराणस्य तत्
सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः॥292 कलश॥

जब जिनेन्द्रदेव को केवलज्ञान होता है तो सौधर्म इन्द्र का आसन कम्पायमान हो जाता है। उस महान् कैवल्यबोध के उदय होने पर मुक्तिश्री रूपी स्त्री का मुखकमल विकास को प्राप्त होता है, जैसे—कि सूर्योदय होने से कमल विकास को प्राप्त होता है। जिनेन्द्र भगवान् की संपूर्ण प्रवृत्तियाँ सद्धर्म की रक्षा के लिये होती हैं, जबकि उनके मन नहीं होता है। उनकी समस्त क्रियायें अभिप्राय रहित होती हैं। अरहन्त भगवान् अपरिमेय, अप्रतिम, अगम्य महिमा के धारक हैं। वे संसाररूपी वन को नष्ट करने के लिये अग्नि के समान हैं। जिनेन्द्र भगवान् भाव-इंद्रिय और भाव-मन से रहित होते हैं।

हे मित्र ! सदैव ध्यान रखना कि इच्छा ही बंध का कारण है, संक्लेशता का कारण है, संसार का कारण है। इसलिये इच्छाओं से उपवास लेने का प्रयास करना चाहिये।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

गाथा : 176

उत्थानिका : शुद्धजीव की स्वाभाविक गति

गाथा : आउस्स खयेण पुणो, णिण्णासो होदि सेसपयडीणं।
पच्छा पावदि सिग्घं, लोयग्गं समयमेत्तेण॥176॥

संस्कृत छाया : आयुषः क्षयेण पुनः निर्नाशो भवति शेषप्रकृतीनाम्।
पश्चात्प्राप्नोति शीघ्रं लोकाग्रं समयमात्रेण॥176॥

अन्वयार्थ : (पुनः) फिर उन केवली के (आयुषः क्षयेण) आयु के क्षय से (शेष प्रकृतीनां) शेष प्रकृतियों का (निर्नाशः भवति) संपूर्णतया विनाश हो जाता है (पश्चात्) पुनः वे (शीघ्रं समयमात्रेण) शीघ्र ही एक समय मात्र में (लोकाग्रं प्राप्नोति) लोक के अग्रभाव को प्राप्त कर लेते हैं।

नियमदेशना

आचार्यप्रवर भगवत् श्री कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी में सिद्धों की व्याख्या करते हुए यहाँ समझा रहे हैं और वस्तुव्यवस्था को बड़ी दृढ़ता से कह रहे हैं।

ज्ञानियो! वस्तुतत्त्व को समझकर, निहारकर भी सहज रहना अत्यन्त कठिन है। लोग ऐसे होते हैं कि विपत्तियों के काल में बिलखते हैं, रोते हैं। ये तो सरल है। सम्पत्ति को प्राप्त करके मुस्कुराना सरल है। जैनदर्शन का सिद्धान्त है कि चाहे सम्पत्ति हो चाहे विपत्ति हो, सबमें सहज होकर जीना। कष्ट में कूलना नहीं और हर्ष में फूलना नहीं। सभी परिस्थितियों को ज्ञेय बनाओ, उनमें राग-द्वेष मत करो। सुख-दुःख यह सब पुण्य-पाप का खेल है। पुण्यद्रव्य भी पौद्गलिक है और पापद्रव्य भी पौद्गलिक है। पुण्यास्रव-पापास्रव दोनों ही पौद्गलिक हैं।

हे मुमुक्षु ! शरीर से कपड़े उतारने से पहले, शरीर से नग्न होने के पहले कषायों से, वासना से नग्न होना पड़ेगा, तभी जैनदर्शन के मूल तत्त्व को जान पाओगे। वस्तु-तत्त्व को समझना है तो पहले कषायों को मंद करो, चित्त को विशुद्ध करो, क्योंकि कषाय के आवेग में सत्यार्थ का बोध नहीं होता है।

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्धं लोयग्गं समयमेत्तेण॥176/नि.सा॥

ज्ञानियों ! केवली भगवान का आयुकर्म का क्षय होने के उपरांत शेष कर्मप्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है, तदोपरान्त समयमात्र में वह आत्मा लोकाग्र अर्थात् सिद्धालय को प्राप्त हो जाता है।

हे ज्ञानी ! जिनके कल्याणक आप क्या, स्वर्ग के देवतागण भी मनाते हैं, उनका भी पण्डित-पण्डित मरण होता है, जिसे हम निर्वाण कहते हैं। जब तीर्थंकरों का भी मरण होता है, तो फिर हम-तुम कहाँ बच पायेंगे ? इसलिए अहंकार नहीं करना। किसी अन्य जीव को नीची दृष्टि से नहीं निहारना।

"पक्के फलम्मि पढमे"

वृक्ष पर लगा हुआ फल जब पक जाता है तो उसे नीचे गिरने से कौन रोक सकता है? हे मुमुक्षु ! जैसे पका फल नियम से गिरता ही है, वैसे-ही आयु पूर्ण होने पर मरना ही है। मृत्यु को कौन रोक सकता है ? प्रभु को भी जाना ही पड़ता है, अब आप भले ही निर्वाण कल्याणक कहो। प्रभु को भी जाना ही पड़ता है। ज्ञानियो! भावना भाना कि मेरा भी पण्डित-पण्डित मरण हो।

हे मुमुक्षुओ ! जैसे-ही आयुकर्म क्षीण होता है, वैसे-ही अरिहंत परमात्मा का जीव मृत्युलोक से सिद्धालय में विराजमान हो जाता है। कैसे? स्वभाव-गति क्रिया से।

"आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्ड-बीजवदग्निशिखावच्च" ॥त.सू.॥

ज्ञानियो ! मुक्तात्मा, कुम्भकार के द्वारा घुमाये हुए चाक की तरह पूर्व प्रयोग से, ऊर्ध्वगमन करता है। मुक्त जीव, दूर हो गया है लेप जिसका, ऐसी तुम्बी के समान ऊपर को जाता है। मुक्त जीव कर्मबन्ध से मुक्त होने के कारण एरण्ड के बीज के समान ऊर्ध्वगमन करता है। मुक्त जीव, स्वभाव से ही अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्व गमन करता है।

हे ज्ञानी ! जैसे मिट्टी से लेप कर किसी ने तुमड़ी को सरोवर में पटक दिया तो वह पानी में डूब जायेगी; परन्तु जैसे-जैसे तुमड़ी से मिट्टी हटेगी, वैसे-वैसे तुमड़ी

सरोवर के अन्दर से ऊपर की ओर आयेगी। वैसे-ही हे जीव! जैसे-जैसे कर्मों का भार कम होगा, वैसे-वैसे जीव ऊर्ध्व की ओर जायेगा।

मुक्त जीव स्वाभाविक गतिरूप क्रिया में परिणत, षट् अपक्रम अर्थात् चार दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण) और ऊपर-नीचे इस प्रकार छह दिशाओं में गमन से रहित, सहज गमन कर ऊर्ध्व की ओर जाता है। सिद्धालय के सन्मुख जीव के ध्यान-ध्येय, ध्याता और उसकी फल प्राप्ति रूप प्रयोजन के विकल्प से शून्य तथा स्वस्वरूप में अविचल स्थिति रूप, परम शुक्लध्यान के द्वारा जब आयुकर्म का क्षय हो जाता है तब वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म का भी अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब दीप-शिखा के समान ऊर्ध्व की ओर जीव का गमन होता है।

हे मुमुक्षु ! जब तक वस्तु अप्राप्य है, तब तक विकल्प है। प्राप्य की अनुभूति होती है और अप्राप्य को प्राप्त करने का पुरुषार्थ होता है। ज्ञानियो! समझो ध्यान, ध्येय, ध्याता। जो किया जा रहा है, चित्त की एकाग्रता, वह ध्यान है। जिसका किया जा रहा है, वह है ध्येय और जो ध्यान कर रहा है, वह ध्याता है।

हे मुमुक्षु! ध्यान के सम्बन्ध में आचार्यों की विभिन्न अपेक्षा मान्यतायें हैं। चौथे-पाँचवें आदि गुणस्थानों में तो उपचार ध्यान, भद्र ध्यान, पाँचवे में सविकल्प धर्म्यध्यान, किसी अपेक्षा चौथे से छट्टे गुणस्थानों में धर्म्यध्यान। ज्ञानी ! धर्म निर्विकार दशा में होता है। आठ से चौदह तक शुक्लध्यान है गुणस्थान अपेक्षा। किसी ने दशवें तक धर्म्यध्यान तथा ग्यारहवें गुणस्थान से शुक्लध्यान माना है। विवेकपूर्वक, आगमानुसार ही निर्णय करना।

ज्ञानियो! सम्पूर्ण ध्यान का लक्ष्य एकमात्र विषयातीत अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करना है। एक मिनिट को भी मंदिर आते हो तो हृदय में घर बसाकर नहीं आना। श्रद्धा दृढ़ हो तो णमोकार से भी कार्य की सिद्धि होती है। विश्वास अटूट होना चाहिये।

हे मुमुक्षु ! अपनी शक्ति को पहिचानो। घनत्व में शक्ति होती है, इसलिए ध्यान से निर्वाण होता है। ध्यान निर्वाण का साक्षात् कारण है और जिनभक्ति परम्परा से मोक्ष का कारण है, साधन है। ज्ञानी ! भक्ति परम्परा से मुक्ति का साधन है। भक्ति में विरलन है, ध्यान में गूढ़ता है।

अहो ज्ञानी ! ध्यान में योग-उपयोग को सँभाला जाता है। भक्ति में ताली-मजीरा बजाते हैं। भक्ति में चित्त की चंचलता है। चंचलता में घनत्व नहीं है। भक्ति में द्वैत भाव है। ध्यान एकमात्र स्वयं ही करता है। भक्ति भीड़ में होती है और ध्यान एकांत में होता है।

हे ज्ञानी ! शरीर में ही गर्मी होती है। निज की शक्ति को निज में स्थापित करना ही ध्यान है। रेलगाड़ी कैसे चल रही है? ये शक्ति को एकत्रित करके प्रयोग किया गया है।

विद्यार्थियो! चित्त की एकाग्रता ही ध्यान है। चित्त की प्रसन्नता, अन्तरंग की विशुद्धि से ज्ञान स्वयमेव वृद्धिमान होता है। चित्त की दृढ़ता ध्यान से होती है और शरीर की दृढ़ता ब्रह्मचर्य के पालन से होती है। छोटी उम्र में ही चेहरे पिचक गये, चेहरा झुलस गया, आँखों पर लेन्स चढ़ गये, शरीर जर्जर हो गया, यहाँ तक कि संतानोत्पत्ति की शक्ति का भी क्षय हो गया, इसका मुख्य कारण है ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करना।

हे मित्र! आप कहाँ पर स्थित हो ? विश्व में, लोक में, मध्यलोक में, ढाईद्वीप में, जम्बूद्वीप में, भरतक्षेत्र में, आर्य खण्ड में, भारत देश में, राज्य में, शहर में, कालोनी में, घर में, कमरे में, शरीर में? विचार करो, आप कहाँ विराजमान हो ? हे ज्ञानी ! मात्र स्वचतुष्टय में। तू देह नहीं है। जैसे साँचे में गुझिया होती है, वैसे ही शरीर में तू है, शरीर से किंचित् न्यून। यह देह साँचा है और इसमें विराजा आत्मा गुझिया है।

हे मुमुक्षु ! सिद्ध परमेश्वर व्यवहार से सिद्धालय में हैं और शुद्ध निश्चयनय से मात्र स्वआत्मप्रदेश में ही हैं। वे भगवान् एक समय में ही सात राजु ऊपर लोकाग्र में विराजित हो जाते हैं।

णिक्कम्मा अट्ठगुणा, किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, उप्पादवएहि संजुत्ता ॥द्र.सं.॥

हे मुमुक्षुओ! समझो वस्तुस्वभाव को। समीचीन आचार्यप्रणीत ग्रंथों का भी आलोडन करो, श्रुत में भी आनंद है। जब तक सिद्ध न बनो, अरिहंत न बनो, तब-तक श्रुत का आनंद लूटो। ज्ञानियो! जैसे तुम जिनप्रतिमा को श्रद्धापूर्वक स्थापित करते हो,

वैसे-ही घर-घर में, घट-घट में श्रद्धापूर्वक जिनवाणी को स्थापित करो। ज्ञानियो! घर-घर में शास्त्र स्थापित करो, न जाने कौन-सा परिवार का सदस्य शास्त्राध्यन करने से ज्ञानी बन जाये।

षट्कापक्रमयुक्तानां भविनां लक्षणात् पृथक्।
सिद्धानां लक्षणं यस्मादूर्ध्वगास्ते सदा शिवाः ॥293 कलश॥

मनीषियो! इस प्रकार सिद्धों का लक्षण षट् अपक्रम से युक्त, संसारी जीवों के लक्षण से पृथक् जानना, क्योंकि सिद्ध परमात्मा सदा आनंद रूप रहते हैं। सिद्धों का सुख शाश्वत है।

हे मुमुक्षु ! श्रुत-श्रवण का भी अपना एक अलग ही आनंद है। जिनवाणी का पान करते हुए तुम्हें आनन्द किस बात का हो रहा है ? क्षण-क्षण अज्ञान का विनाश हो रहा है, कषायें छूट रही हैं, मंदता आ रही है कषायों में, भोगों में और निज की ओर आकर्षण बढ़ रहा है। यही श्रुत-श्रवण का आनन्द है। सभी विकारों से दूर तत्त्वानुभूति में ही आनंद है।

ज्ञानियो! इंद्रियसुख विनाशीक है और अतीन्द्रिय सुख शाश्वत है। योगी ध्यान में लीन होकर आनंद लूटता है। ज्ञानी ! समझो, विदुर बनना। विदुर बने बिना शान्ति मिल ही नहीं सकती है। विदुर ने दोनों को समझाया, कुल का विनाश न हो इसलिए पुरुषार्थ किया।

कौरवों का नाश होगा अथवा पाण्डवों का नाश होगा, लेकिन होगा तो अपने वंश का नाश। विदुर ने पूछ लिया निर्ग्रंथ अवधिज्ञानी मुनिराज से, वीतरागी तपोधन ने ज्यों-का-त्यों व्याख्यान कर दिया कि कौरवों का नियत नाश होगा। चक्की के पाटे के बीच में जो आयेगा, वह पिसेगा ही, परन्तु कीली का आश्रय लेनेवाला बच जोयगा। विदुर ने तुरन्त निर्णय कर लिया और राजपाट छोड़कर कल्याणमार्ग में लग गये।

ज्ञानियो! सबके दिन एकसे नहीं होते हैं। जहाँ कभी महल खड़े थे, वहाँ सम्प्रति खण्डहर पड़े हैं। जहाँ भवन थे, वहाँ समतल भूमि हो गई। किसी का क्या भरोसा ? कहाँ जन्म हुआ, कहाँ मरण होगा ?

बन्धच्छेदादतुलमहिमा देवविद्याधराणां
प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः।
लोकस्याग्रे व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः
स्वात्मन्युच्चैर विचलतया निश्चयेनैवमास्ते॥294/कलश॥

ज्ञानियो! वंदना कर लो, पर बंध नहीं करना। जिन्होंने कर्मबंधनों को तोड़ दिया है, जिससे उनकी अतुल्य महिमा प्रकट हुई है और जो अब देव और विद्याधरों के प्रत्यक्ष स्तवन के पात्र नहीं रहे हैं, ऐसे सिद्ध परमेश्वर व्यवहार से लोकाग्रभाग अर्थात् सिद्धालय में विराजित हैं तथा निश्चय से मात्र अपने आत्मस्वरूप में ही निश्चलरूप अवस्थित हैं।

हे मुमुक्षुओ ! जब भी कोई निर्ग्रन्थ श्रमण तुम्हारे द्वार पर आये तो उन्हें भक्ति-श्रद्धा पूर्वक वंदना करना, आहारदान देना। अभी तो मुनिराज के हाथ पर ग्रास रख सकते हो, जब वे ही मुनीश्वर सिद्ध परमेश्वर बनकर सिद्धालय में विराजेंगे तब तुम न ग्रास रख पाओगे, न चरण छू पाओगे, मात्र हाथ ही जोड़ पाओगे। ज्ञानी ! मान न रहे मन में तो भगवान् अवश्य मिलेंगे। निर्ग्रन्थ ही तो भगवान् हैं, उनकी वंदना करो, अर्चना करो। निर्ग्रन्थ ही तो भविष्य के सिद्ध परमेश्वर हैं।

पञ्चसंसारनिर्मुक्तान् पञ्चसंसार मुक्तये।
पञ्चसिद्धानहं वन्द्रे पञ्चमोक्षफलप्रदान् ॥295/कलश॥

हे ज्ञानियो! यहाँ पर आचार्यभगवन् श्री पद्मप्रभमलधारीदेव कह रहे हैं कि—मैं पञ्चपरिवर्तन रूप संसार से युक्त और पञ्चपरिवर्तन रूपी संसार से मुक्तिरूपी फल को देने वाले पञ्च सिद्धों को पञ्च प्रकार संसार से मुक्ति पाने के लिये नमस्कार करता हूँ।

हे श्रावको! इस ढाईद्वीप में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ से भूतकाल में कोई जीव सिद्ध नहीं हुआ हो। यहाँ का कण-कण पवित्र है निर्ग्रन्थों की पद-रज से। कर्ममुक्तात्मा सीधे ऊर्ध्वगति को जाते हैं। जो सिद्धशिला है वह ढाईद्वीप के बराबर है, क्षेत्रफल की अपेक्षा।

हे मुमुक्षु ! अनादि से सिद्ध हो रहे हैं। ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ से आत्मायें मुक्त होकर सिद्धालय न गई हों। हम सभी प्रतिक्षण सिद्धों के नीचे बैठे हैं, हमारे शीश के ऊर्ध्वभाग में अनन्तानंत सिद्ध परमेश्वर विद्यमान हैं।

हे ज्ञानियो! द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव-ये संसार के पंच परावर्तन हैं। इन पाँच प्रकार के परावर्तन से सिद्धपरमात्मा मुक्त हो गये हैं, इसलिए मैं उनकी वंदना करता हूँ। क्यों कर रहा हूँ वंदना ? पंच परावर्तन से मुक्त होने के लिए।

तव-सिद्धे णय-सिद्धे संजम-सिद्धे चरित्त-सिद्धे य।

णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि॥

मैं तप से सिद्ध, नय से सिद्ध, संयम से सिद्ध, चारित्र से सिद्ध तथा ज्ञान-दर्शन से सिद्ध सकल-सिद्धों को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता हूँ। णमो सिद्धाणं। सभी सिद्धों को, जो सिद्धालय में विराजमान हैं, उनको मैं सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

वीतरागी-निर्ग्रन्थ मार्ग की आराधना करने वाले सम्पूर्ण सिद्धों की मैं वंदना करता हूँ।

"णमो सिद्धाणं। णमो सिद्धाय॥

आज तक मैंने जितने भव धारण किये हों, उन भवों में जितने भाव किये हों, भविष्य में मैं जितने भव धारण करूँ, उन भवों में जितने भाव करूँ, उतने भाव-प्रमाण मैं मुक्तात्मा सिद्ध परमेश्वर को शीश झुकाकर, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वंदना करता हूँ।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

उत्थानिका : कारणभूत परमतत्त्व का स्वरूप

गाथा : जादिजरमरणरहियं, परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणादिचउसहावं, अक्खमविणासमच्छेयं॥177॥

संस्कृत छाया : जातिजरामरणरहितं परमं कर्माष्टवर्जितं शुद्धम्।
ज्ञानादिचतुःस्वभावं अक्षयमविनाशमच्छेद्यम्॥177॥

अन्वयार्थ : वे सिद्ध भगवान (जातिजरामरणरहितं) जन्म, जरा और मरण से रहित (परमम्) परम (कर्माष्टवर्जितं) आठ कर्मों से रहित, (शुद्धं) शुद्ध (ज्ञानादि चतुः स्वभावं) ज्ञानादि चार स्वभाव वाले (अक्षयं) अक्षय (अविनाशं) अविनाशी और (अच्छेदं) अच्छेद्य हैं।

नियमदेशना

हे ज्ञानियो! आचार्यप्रवर भगवत् कुन्दकुन्द स्वामी 'नियमसार' जी ग्रंथ में कारणभूत परमतत्त्व के स्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं।

ज्ञानियो ! मेरा आत्मद्रव्य ही परमपारिणामिक तत्त्व है। निज को छोड़कर शेष सब परगत-तत्त्व हैं। एकमात्र चेतन द्रव्य को छोड़कर शेष सभी परगततत्त्व हैं। चाहे वह शिष्य-शिष्या हों, भाई हो, अपना कोई-और हो, सभी मुझे परगत तत्त्व हैं। जितने सम्बंध है; उनमें एक भी स्वगतभूत नहीं है। जितनी दृष्टि परगत तत्त्व पर है, उतनी स्वगत तत्त्व पर नहीं है। जो मेरा है, चेतन-द्रव्य, उसे जीव समझ नहीं रहा है और जो मेरा नहीं है, अचेतन द्रव्य, उसे अनादि से अपना समझ रहा है। यही है तत्त्व की भूल।

हे जीव ! त्रैकालिक जो मुझसे भिन्न है, उसे अपना मानकर तू संसार में भटक रहा है। मुमुक्षु ! स्वयं को जानने पर कभी हलचल नहीं होती। स्वयं में प्रीति होती तो स्वयं में प्रतीति होती। ज्ञानियो ! जिसमें प्रीति होती है, उसमें ही प्रतीति होती है। प्रीति के लिए प्रतीति अनिवार्य है। हे ज्ञानी ! तुझे अपने बेटे की माँ में कितनी प्रीति है? विषयानुभूति में जितनी तुझे प्रीति है, वैसी निजात्मरमणी में प्रतीति करले तो नियम से तुझे शाश्वत शान्ति मिल जायेगी।

हे मित्र! संक्लेशता में रहनेवाले जीव कोटि-कोटि हैं, लेकिन असंक्लेशता में जीवन

जीनेवाले अल्प हैं। साधको! संक्लेशता देनेवाले निमित्तों से दूर रहो, क्योंकि संक्लेशता साधक की साधना को स्वाहा कर देती है। हे मुमुक्षु ! कर्तृत्व-दृष्टि किंचित् भी होगी, तो नियम से संक्लेशता होगी। स्व-आलम्बन में आनन्द है और पर-आलम्बन में अशान्ति है। पर-आलम्बन में शोर है, संक्लेशता है और स्व-आलम्बन में शांति है, असंक्लेशिता है, नेत्रपलक-वत्। जैसे नेत्रों में कंकड़ तो छोड़िये, तेज हवा भी प्रवेश कर जाये तो वेदना प्रारम्भ हो जाती है। ज्ञानी ! कंकड़ तो कष्ट देता ही है, परन्तु हवा का झोंका भी कष्ट देता है, फिर पत्थर का टुकड़ा तो कष्ट ही देगा।

हे ज्ञानियो! यह अध्यात्मविद्या है, सँभल करके समझना। जो स्व-समय में लीन होता है योगी, उसे पंचपरमेष्ठी भी कष्ट देते हैं, तो फिर उसे पाँच पाप स्वगत कैसे होंगे? पापों में शांति कहाँ ? पापों में विश्राम कहाँ ? और शांति में पाप कहाँ? संक्लेशता को शांति मानने की जो दृष्टि है, वही कर्मास्रव का कारण है।

ओहो ! संक्लेशता में शांति ? निर्णय करना, पुनः-पुनः विचार करना, बुद्धि का प्रयोग करना यहाँ। संक्लेशता में शांति का वेदन जो कर रहा है, यही संसार-वास है। हे जीव ! इसी से तेरा संसार बढ़ रहा है। संक्लेशता, यही संसार है। संक्लेशता में आनंद ले रहे हो, यही बंध-धारा है।

हे मित्र ! आपने अपने रहने के लिए मकान बनवाया, आपको बनवाते समय आनंद आ रहा था कि नहीं ? उसमें रहने का राग है कि नहीं ? और मन में चल रहा था कि पड़ोसी से ऊँचा बनाऊँगा। अब स्वयं विचार करो कि जब मन में विचार चल रहा था कि पड़ोसी से सुन्दर बनाऊँगा, तो तब मानकषाय चल रही थी कि नहीं ? प्रशंसा सुनने का भाव चल रहा था, यह भी हिंसा ही है। रहने का लोभ चल रहा था, बनाने में अलग हिंसा हुई है। मित्र ! कषाय-परिणाम संक्लेशता ही है। निज घर छोड़कर पर घरों में, जड़ घरों में जा रहा है और कह रहा कि मैं सुखी हूँ। मित्र यह तुम्हारा भ्रम है।

धन्य हैं वे योगीश्वर, जिन्हें घर से प्रयोजन नहीं, मात्र आत्मघर में लवलीन हैं। असंक्लेशता में ही निर्ग्रन्थता है। संक्लेशता में श्रमणत्व कहाँ? जहाँ समत्वभाव नहीं, वहाँ श्रमणत्व कहाँ? संक्लेशता में सुख कहाँ और सुख में संक्लेशता कहाँ ?

ज्ञानियो! जहाँ कुछ करने का भाव है, कर्त्तापन है, वहाँ क्लेश होगा। नगर में मुनिराज आये, आपने आहार दिये, यहाँ तक तो ठीक था; परन्तु यदि आप उनके मुख से प्रशंसा सुनना चाहते हो तो यही तुम्हारा क्लेश है। अपेक्षा ही संक्लेशता है। यदि आप मुनिराज के मुख से अपने घर की प्रशंसा सुनना चाहते हो, तो तुम धर्म के साथ अधर्म में प्रवेश कर रहे हो। यदि मुनिराज ने कह दिया कि आहार अच्छा नहीं हुआ, तो तुम्हें संक्लेश प्रारंभ हो जायगा।

आपने मंदिर बनवाया, किन्तु किसी ने प्रशंसा नहीं की, तो आपने एक रजिस्टर रख दिया द्वार पर, कि इसमें अभिव्यक्ति लिखें। धर्मक्षेत्र में भी प्रशंसा की चाह है। ज्ञानी ! प्रशंसा में प्रसन्न मत होना। झूठे प्रशंसक से तो सच्चा निंदक अच्छा है। पेट तो व्यक्ति का भोजन से भर जाता है, परन्तु प्रशंसा की भूख व्यक्ति की कभी पूर्ण नहीं होती है। उदरपूर्ति तो थोड़े-से भोजन से हो जाती है, परन्तु कर्णों की भूख मिटने वाली नहीं है। पेट भरने के लिए आप रात्रि में भोजन नहीं करते, परन्तु प्रशंसा दिन-रात भी हो तो भी सुनते-सुनते नहीं थकते हो। बड़े-बड़े वैरागी भी प्रशंसा में बहकर आत्मतत्त्व को खो देते हैं।

हे श्रावको! साधकों के पास श्रद्धा से जाना, उनकी भक्ति/सेवा करना, परन्तु उनकी भी झूठी प्रशंसा नहीं करना, क्योंकि तुम्हारी झूठी प्रशंसा से वे फूल गये तो अपने लक्ष्य से भटक जायेंगे। एक कृषक भी अपने खेत के चारों तरफ एक मेड़ बांध देता है कि उसके खेत का पानी और मिट्टी दूसरे खेत में न चली जाये। ऐसे-ही हे योगी! तुम भी निज के विशुद्ध भावों की रक्षा करना सीखो। हे साधक ! मान की पुष्टि में विशुद्धि को मत भगाओ। विशुद्धि का मिलना ऐसा ही है जैसे किसी निर्धन को रत्न मिल गये हों।

हे मुमुक्षु ! एक लाख शिखरबंद जिनमंदिर बनाना और उन पर स्वर्णकलश चढ़ाना सरल है, परन्तु एक मुहूर्त तक विशुद्ध परिणामों की सुरक्षा करना कठिन है। एक लाख जिनमंदिर भी बनवाओगे तो मात्र स्वर्ग ही जाओगे, परन्तु यदि एक मुहूर्त तक विशुद्ध भावों के साथ रह लिया, तो मोक्षमहल मिलेगा। ज्ञानी ! मंदिर भी बनवाओ तो उसमें भी परिणामों का घात नहीं करना। ज्ञानी ! मंदिरों में जा-जा कर भगवान् घिस दिये, भावों को घिसो। भोगों के प्रति लिप्सा कम करो।

हे मुमुक्षु ! जितनी दूसरों के प्रति तुम्हें करुणा है, उतनी से अधिक करुणा निज पर भी करो। पंचमकाल के श्रावकों की भक्ति देखकर हे साधको! इतनी साधना अवश्य करना कि उनकी श्रद्धा में घुन न लगे। ज्ञानियो! यह मुनियों के तन की सेवा नहीं है, मुनिमन की सेवा है। जहाँ मुनिमन है, वहीं भगवत्ता प्रकट होती है।

हे मुमुक्षु ! सिद्ध परमेश्वर सिद्धालय में विराजमान हैं, उन्हें प्रत्यक्ष से स्वर्ग के देव भी नमस्कार नहीं कर पाते हैं, परोक्ष ही कर पाते हैं। हे भावी सिद्ध परमेश्वर! मैं आपको प्रत्यक्ष नमस्कार करता हूँ। कैसा है भावी परमात्मा? बीजांकुर न्यायवत्। जो कृषक को बीज में फसल दिख रही है, ऐसे-ही हे श्रावको! आप वर्तमान के मुनिराजों में भगवान् देखना। क्यों? वर्तमान के भावलिंगी निर्ग्रन्थ योगीश्वर, मुनिराज ही भविष्य के भगवान् हैं।

हे मित्र ! पहले मंदिर बनता है कि नक्शा बनता है ? पहले इंजीनियर मस्तिष्क में नक्शा बनाता है, फिर कागज पर नक्शा बनाता है, पश्चात् मंदिर बनता है। हे ज्ञानी! ऐसे-ही जब पहले निज-आत्मा में भगवत्ता दिखेगी, तभी तो भगवत्ता तेरी प्रकट होगी।

हे ज्ञानी! आगम श्रमणों मात्र के लिए नहीं है, अपितु प्राणिमात्र के लिए है। श्रुताराधना श्रमण एवं श्रावकों को निरन्तर करना चाहिये। पंचमकाल में परम-पुण्यार्जन का कोई हेतु है, तो श्रुताराधना है। तत्त्व को समझने का पुरुषार्थ करो, अवश्य समझ में आयेगा।

एक मंदिर है, उसकी एक ईंट खिसक गई। एक दीवार में शैवाल लग गई, एक दीवार में दरारें पड़ गईं, एक दीवार जर्जर हो गई; परन्तु मंदिर में विराजित प्रतिमा का क्या बिगड़ा ? ऐसे-ही हे मुमुक्षु ! यह देह देवालय है, इसके नव द्वारों से मल निकल रहा है, देह जर्जर हो रही है, लेकिन देह-देवालय में विराजित आत्मदेव का कुछ नहीं हो रहा है। आत्मदेव तो ज्ञायकस्वभावी मात्र है।

हे मित्र ! आयु अपेक्षा देह का जन्म-मरण हो रहा है। आत्मा का न जन्म है, न मरण है। देह-देवालय में विराजित ध्रुव आत्मद्रव्य को निहारिये।

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं॥177॥

हे मुमुक्षु ! जो जन्म, जरा, मृत्यु से रहित है, उत्कृष्ट है, अष्ट कर्मों से रहित है, शुद्ध है, ज्ञानादि चतुर्गुणरूप स्वभाव से युक्त है, अक्षय है, अविनाशी है और अच्छेद्य है, वही कारणपरमतत्त्व है। जो क्षय है, वो पर्याय का परिणमन है।

ज्ञानियो! अपरिचित रहो संसार के लोगों से, ज्ञायकभाव से देखो। अकर्त्ता भाव से संसार की सुनो, तब बड़ा आनन्द आता है। कर्त्ताभाव में कष्ट है, दु:ख है। जहाँ प्रीति होती है, वहाँ अच्छाई दिखती हैं और जहाँ अप्रीति होती है, वहाँ बुराई दिखती है। स्पर्धा आते ही बुराइयाँ दिखती हैं। मुमुक्षु ! स्पर्धा में सुख कहाँ? हे मित्र ! सुख से जीना है, तो पहले अपने पुण्य को निहारना, फिर उसके अनुसार आचरण करना, नहीं-तो दु:ख प्रारम्भ हो जायेगा। जो आत्मधर्म है, वह जन्म-मरण से रहित है, वही कारणपरमतत्त्व है। वह कौन है ? वह आत्मा है। वह मैं स्वयं हूँ। मैं स्वभाव से शुद्ध हूँ और जो अशुद्धि है, वह विभाव से है।

हे ज्ञानी ! पानी गंदा है कि उसमें जो कालिमा है वह गंदी है ? नाली में बहता पानी गंदा होता है, उसे भी फिल्टर से शुद्ध कर लिया जाता है। पानी तो पानी है और उसमें जो कालिमा है, वह उससे भिन्न है। कालिमा की संगति से स्वच्छ पानी भी गंदा हो गया। कर्म की संगति से आत्मा मलिन हो गई है, परन्तु फिर भी कर्म तो कर्म है और आत्मा तो आत्मा है। जैसे फिल्टर से नाली का पानी शुद्ध हो जाता है, वैसे-ही चारित्राराधना रूपी फिल्टर से आत्मा भी शुद्ध हो जाती है। आत्मा को फिल्टर करना प्रारम्भ कर दो, ये भी शुद्ध हो जायेगी। स्वभाव से तो पानी स्वच्छ ही है, परन्तु संयोग से अशुद्ध हो जाता है। वैसे-ही स्वभाव से तो आत्मा भी शुद्ध ही है, परन्तु सम्प्रति कर्मबंध के कारण पर्याय अशुद्ध है। जैसे पानी तो पानी है और कालिमा तो कालिमा है, वैसे-ही देह भिन्न है और आत्मा भिन्न है।

अविचलितमखण्डज्ञानमद्वन्द्वमिष्टं
निखिलदुरितदुर्गव्रात दावग्निरूपम्।
भज भजसि निजोत्थं दिव्यशर्मामृतं त्वं
सकलविमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात्॥296 कलश॥

आचार्यभगवन् श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि हे आत्मन्। तू उस दिव्य

सुख-मोक्षसुखरूपी अमृत का रसपान कर जो कि चञ्चलता रहित है, अखण्ड ज्ञान से रहित है, द्वन्द्व रहित है, दृष्ट है, समस्त पापरूपी वन के समूह को जलाने के लिये दावानल है और अपने ही आत्मा से उत्पन्न है। उस दिव्यसुखरूप अमृत से ही तुझे सम्पूर्ण निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होगी।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

उत्थानिरका : निरुपाधि स्वरूप

गाथा : अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहिदं, णिच्चं अचलं अणालंबं॥178॥

संस्कृत छाया : अव्याबाधमतीन्दियमनुपमं पुण्यपापनिर्मुक्तम्।
पुनरागमन विरहितं नित्यमचलमनालंबम्॥178॥

अन्वयार्थ : ये सिद्ध भगवान (अव्याबाघं) अव्याबाध, (अतीन्द्रियं) अतीन्द्रिय, (अनुपमं) अनुपम (पुण्यपापनिर्मुक्तं) पुण्य-पाप से रहित (पुनरागमनविरहितं) पुनरागमन से रहित, (नित्यं) नित्य, (अचलं) अचल और (निरालंबं) निरालंब हैं।

नियमदेशना

आचार्यप्रवर भगवत् कुन्दकुन्द स्वामी 'नियमसार जी' ग्रंथ में, निरुपाधि स्वरूप ही जिसका लक्षण है ऐसे, परमात्मतत्त्व का व्याख्यान कर रहे हैं।

ज्ञानियो! आत्मा की अशुद्ध दशा का बोध प्रत्येक जीव को है। प्रत्येक जीव अपनी अवस्था का वेदन कर रहा है। सभी जीवों को अपने समान अशुद्ध मानना ठीक है। करुणा, क्षमा-दृष्टि तो समीचीन है, लेकिन विषय-कषाय की अपेक्षा सभी जीवों को कषायी मानना गलत है।

यदि कोई कषाय को, मोह को, क्रोध को, वासना को नहीं छोड़ पा रहा है, तो उसके द्वारा यह कहना कि जगत् में कोई भी निःकषाय नहीं हो सकता है, यह उस जीव का भ्रम है। उस विषय को भी समझने का पुरुषार्थ करो, जिस विषय को हमने आज तक जाना नहीं है। कभी यह भी विचार किया करो कि सिद्धालय में विराजा सिद्ध परमेश्वर वहाँ क्या करता है ?

हे मुमुक्षु ! प्रत्येक जीव की अनुभूति भिन्न-भिन्न ही होती है। सभी मनुष्यों की अनुभूतियाँ एकसी हैं, परन्तु जैसा मैं स्वयं के बारे में जानता हूँ, वैसा अन्य के बारे में मैं नहीं जान सकता हूँ। आप पुरुष हैं, परन्तु जैसा पुरुष का वेदन आप कर रहे हैं, वैसा स्त्रीत्व का वेदन नहीं कर सकते हो। परिवार के साथ आप रहते हो, परन्तु जैसा वेदन आप स्वयं का करते हो, वैसा पर का नहीं करते हो।

यह जीव मोह में इतना लिप्त है कि मोह का भी निर्णय नहीं ले पा रहा है। दाल, नमक, मिर्च का इतना मिश्रण हो गया है कि आप दाल खाते हुए भी दाल का स्वाद नहीं ले पा रहे हो। वैसे-ही यह जीव मोह में इतना लिप्त हो चुका है कि वह अपने विवेक से अपने आप को पहचान नहीं पा रहा है। जैसा तन्मयभूत स्वयं को पहचानता है, वैसा अन्य किसी द्रव्य को नहीं जानता है। मैं आपको बाह्य से ही जान पाऊँगा और निज को निजात्मभूत होकर ही जानूँगा। मैं पर को निजभूत परिणमन नहीं करा सकता हूँ और निज को परभूत परिणत नहीं करा सकता हूँ।

योगी बाहर से व्रत समिति का पालन करता है और भीतर जो कर रहा है निज का निर्णय, वह उसका भेदविज्ञान चल रहा है। ज्ञानी ! पहले अत्यन्त भिन्न में भेद करो। परिवार, घर, परिग्रह मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। बेटे में एकपना, परिवार में ममत्व, यह भेद में अभेद उपचार चल रहा है तो आपका मोक्षमार्ग अभी बहुत दूर है। अभी यथार्थ तत्त्वनिर्णय की आवश्यकता है। तत्त्वनिर्णय के अभाव में, यथार्थ दृष्टि से शून्य होकर, अनेक लोग पर की मानकषाय को ढो रहे हैं। जिस रीति का कोई औचित्य नहीं, समाधान नहीं, आवश्यकता नहीं, ऐसे अंधकारों को अनेक लोग कुलपरम्परा से ढो रहे हैं। हे मुमुक्षु! विवेकपूर्वक निर्णय करने की आवश्यकता है।

हे ज्ञानी ! या तो निजनाथ को देखो या फिर जिननाथ को निहारो। नयनों से निहारो तो निर्ग्रन्थ व अरिहंत को निहारना और आत्मा से देखो तो निजनाथ को निहारना। ज्ञानियो! यह निर्ग्रन्थों का शासन है, यह सर्वज्ञ की वाणी है कि किसी के मानकषाय को ढोना, ढुलवाना घोर हिंसा है। जो परम्परायें हमारे आगम में नहीं हैं, आगमानुसार नहीं हैं, वे हमारे लिए मान्य नहीं हैं।

हे जीव ! तूने मान के वेग में कितने अनर्थ किये हैं ? हे मान के पुतले ! हे अहंकारी ! तूने मान में महान् पुरुषों का भी तिरस्कार किया है—'मैंने कह दिया कि ऐसा ही होना चाहिये।' दो बैल हैं और कांधों पर गाड़ी की ज्वारी है, तो गाड़ी पीछे-पीछे चलेगी। वैसे-ही हे मुमुक्षु ! पंथों, पक्षों की ज्वारी तुम्हारे कंधों पर रखी रहेगी तो आप तत्त्वनिर्णय से शून्य ही रहोगे। निष्पक्ष होकर निर्णय करने की आवश्यकता है।

हे मुमुक्षु ! निर्णय यह करो कि मेरी आत्मा टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावी है। नोकर्म

भी मेरा नहीं है, तो फिर मैं दुनियाँ के उपकारियों की पूजा करने में क्यों लिप्त होंऊँ? कर्म, नोकर्म भी मेरा नहीं है।

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥19 स.सा.॥

हे मुमुक्षु ! मैं तीर्थंकर महावीर को भी अपनी आत्मा नहीं मानता हूँ। मैं उनकी आत्मा से परमात्मा बनने की भावना नहीं रखता हूँ, अपितु मैं उनको निहारकर निज को परमात्मा बनाने की शक्ति रखता हूँ। मैं परमात्मा से मिलने क्यों जाऊँ ? मैं तो उनके जैसा बनने के लिए उनकी वंदना करने जाता हूँ, परन्तु मुझे अच्छे से ज्ञात है कि भगवान् मुझे भगवान् नहीं बनायेंगे। मुझे स्वयं ही रत्नत्रय धारण करके आत्मा से कर्मों को भिन्न करना पड़ेगा।

एक मटके के सहयोग से दूसरा मटका भी बनाया जाता है। जो बन चुका है, बने मटके पर नवीन मटका भी बनाया जाता है। वैसे-ही बने परमात्मा को देखकर हम अपने आत्मा को परमात्मा बना सकते हैं। हे ज्ञानी! कार्यपरमात्मा में हम अपने कारण-परमात्मा को देखने जाते हैं। मैं परमात्मा से भी भिन्न, स्वाधीन हूँ। हे जीव ! परतन्त्रता ही हिंसा है, परतन्त्रता ही पाप है। तत्त्व को जाननेवाला, जाननहारा अपनी स्वतंत्रता को देखता है।

हे जीव ! ध्यान दो, खूँटे से बंधा बैल भी स्वतन्त्र होने का प्रयास करता है। स्वतंत्रता का बोध अत्यावश्यक है। आपके घर में खूँटे से गाय बंधी है, फिर भी गाय तुमसे भिन्न ही है। हे जीव ! मुर्गा और कबूतर ये दो पक्षी मोह से ऐसे बंधे होते हैं कि - राग में आकर राख होते हैं। मुमुक्षु ! तेरे पास भी दो पंख हैं, निश्चय और व्यवहार। तू तत्त्व का निश्चय कर ले। तू क्यों परिवार में काषायिक भावों के मध्य झुलस रहा है? जैसे खूँटे पर बंधे होने पर भी गाय स्वतंत्र ही है, वैसे-ही प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। आप तो आप हो, मैं तो मैं हूँ। ज्ञानियो! स्वतंत्रता का वेदन करो। जब तक स्वतंत्रता का बोध नहीं है, तब-तक पंथ के मोह में भेष तो बना सकते हो, परन्तु यथार्थ सुख प्राप्त नहीं कर पाओगे। हे जीवात्माओ! परतन्त्रता छोड़ो, तभी अव्याबाध सुख को प्राप्त कर पाओगे।

हे मुमुक्षु ! पंथवाद, पक्षवाद, सम्प्रदायवाद, ये सभी परतंत्रतायें हैं। ज्ञानी! मैं और मेरे में भी भेद करो, अभेद की ओर दृष्टिपात करो। अपने विषय-भोगों की अनुभूति में समय निकल जाता है। तुम अपनी संतान को देखकर विषयों का आनंद लेते हो। ओहो! धिक्कार हो मोह को, राग को, कि वृद्धावस्था में निज की चिंता छोड़कर पर के राग में, संतान के राग में कर्मों की संतति को बढ़ा रहे हो।

उत्तमा स्वात्मचिंतास्यात, देहचिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात्, परचिंताऽधमाधमा॥प.स्तोत्र॥

"अनादि सम्बंधे च।" पूर्व में कर्म किया था, तो वर्तमान में मनुष्य बने हो। भूत के परिणामों की संतान हो आप वर्तमान में और वर्तमान के परिणाम भविष्य में उत्पन्न कराने वाले हैं। हे जीव ! जब तक तुम्हारे अशुभ भावों में विघ्न नहीं आयेगा, अशुभ भावों में अन्तर नहीं आयेगा, तब-तक भगवान् नहीं बन पाओगे। परम वीतरागी मुनीश्वर शुभ में, अशुभ में भी अन्तराय डालकर शुद्धोपयोग का पुरुषार्थ करते हैं। हे मुमुक्षु ! जिस दिन शुद्धोपयोग निरन्तर हो जायेगा, उसी दिन मोक्ष हो जायेगा। ज्ञानियो! अशुभ के साथ शुभ में भी अन्तराय डालकर शुद्ध में प्रवेश करो।

हे साधको! किसी के अहंकार की पुष्टि में अपने जीवन को बर्बाद नहीं करना। अहंकारी की क्या पूजा करना ? पूजा करना तो क्षमा, मार्दव, आर्जव से संयुक्त परम वीतरागी, निर्ग्रन्थ अरिहंत, सकल परमात्मा की पूजा करना। अठारह दोषों से रहित जो हैं, वही सर्वज्ञ परमात्मा हैं।

हे जीव! तत्त्व-अभ्यास भी करो तो मात्र इसलिए करना कि कषाय के भट्टे कैसे शांत हों? परद्रव्यों में राग कैसे कम हो? इसी का निरन्तर-निरन्तर अभ्यास करना। सिद्ध परमात्मा, अशरीरी अव्याबाध सुख से संयुक्त अर्थात् जगत् की सम्पूर्ण बाधाओं से मुक्त हैं, पुण्य-पाप से रहित हैं।

हे जीव! घर में रहकर, मोह के वशीभूत होकर तूने कितनी बार अपने ही पुत्र का अपमान सहन किया है, अनादर सहा है। पत्नी की डाँट को सुना है, भ्राता के क्रोध ा को सहन किया है, फिर भी तेरा राग नहीं छूटा है। कितनी कठोर शत्रुता है ? कभी सोचा आपने, कि परिजन शत्रु हैं कि मित्र हैं ?

हे जीव ! कितनी कठोर शत्रुता है ? आज परीक्षा कर लेना। आज अपने बेटे की माँ से पूछना कि—क्या मैं जिनदीक्षा ले लूँ? विश्वास मानना, पड़ौसी तेरी दीक्षा में विघ्न नहीं करेगा, परन्तु तेरे बेटे की माँ तुझे दीक्षा लेने से अवश्य रोकेगी। पड़ौसी तो कह देगा कि दीक्षा ले लो; परन्तु जिसे सबकुछ दिया, वह कभी नहीं कहेगी कि आप दीक्षा ले लो। अहो ! पता नहीं कौन-से भव का वैर है? तू कहता है कि प्रेम है, परन्तु हे जीव! यही तेरी अनादिकाल से तत्त्व के प्रति भूल है।

हे भव्य जीव ! जो संसार छुड़ाये, वही तो मित्र है, हितैषी है। जो संसार में डुबाये, वही शत्रु है। गुरु हमारे प्रतिकूल-मित्र हैं। तुम्हारी पत्नि-परिजन अनुकूल-शत्रु हैं। गुरु संसार से तुझे छुड़ायेंगे और गुरूर संसार में भटकायेगा। हे ज्ञानियो! अनुकूल शत्रुओं में तुम्हें बहुत मिठास है, कभी-कभी प्रतिकूल मित्रों की भी सुन लिया करो। जो प्रशंसा में डुबाये, वह तुम्हारा अनुकूल शत्रु है।

ज्ञानियो! आत्मा का सुख परमात्मतत्त्व है, वह समस्त कर्मशत्रुओं के लिए सहज ज्ञानरूपी तीर से धो चुका है। वह परमात्मतत्त्व समस्त दुष्ट पापरूपी वीर शत्रुओं की सेना के क्षोभ से रहित, सहजज्ञानरूप दुर्ग में अवस्थिति होने से अव्याबाध है, बाधारहित है। ज्ञानी ! जिसका चारित्ररूपी दुर्ग, संयमरूपी दुर्ग मजबूत है, वहाँ कर्म-शत्रु कुछ भी नहीं कर पाते हैं।

हे मुमुक्षु ! वह परमात्मतत्त्व चेतन रसायन स्वरूप, टंकोत्कीर्ण, सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में भरे हुए चिदानन्दमय होने से अतीन्द्रिय है, बहिरात्मादि त्रय-तत्त्वों में श्रेष्ठ होने से अनुपम है, कामवासनारूप सुख-दुःख का अभाव होने के कारण पुण्य-पाप से निर्मुक्त है, पुनर्जन्म में कारणभूत शुभ-अशुभ, मोह, राग, द्वेषादि से शून्य होने के कारण पुनर्जन्म, पुनरागमन से रहित है, नित्यमरण और तद्भवमरण का कारणभूत शरीर सम्बन्ध का अभाव होने से नित्य है, अपने गुण और पर्यायों से च्युत न होने के कारण अचल है और परद्रव्य के आलम्बन का अभाव होने के कारण अनालम्ब है।

ज्ञानियो! निरुपाधि स्वरूप ही जिसका लक्षण है, ऐसा वह परमात्मतत्त्व है, जो सदा अव्याबाध है, अतीन्द्रिय है, अनुपम है, पुण्य-पापादि से निर्मुक्त है, पुनराममन से रहित है, नित्य है, अविचल है, अनालम्ब है।

हे मुमुक्षु ! संसार के सुख 'सुख' नहीं हैं, मात्र सुखाभास है अर्थात् दुःख ही हैं। क्षणिक सुख जो प्रतीत है, वह वास्तव में दुःख ही है और दुःखों का कारण है। संसार का सुख बाधा सहित ही है, इसलिए परमात्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को समझकर उसकी प्राप्ति का हेतु परम रत्नत्रय धर्म की आराधना करो। रत्नत्रय धर्म ही शास्वत-सुख को प्रदान करने वाला है।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

उत्थानिरका : निर्वाण के हेतु

गाथा : णवि दुक्खं णवि सुक्खं, णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं, तत्थेव य होदि णिव्वाणं॥179॥

संस्कृत छाया : नापि दु:खं नापि सौख्यं नापि पीडा नैव विद्यते बाधा।
नापि मरणं नापि जननं तत्रैव च भवति निर्वाणम्॥179॥

अन्वयार्थ : (दु:खं न अपि) जहाँ दु:ख भी नहीं है (सौख्यं न अपि) सुख भी नहीं है (पीड़ा अपि न) पीड़ा भी नहीं है (बाधा न एव विद्यते) बाधा भी नहीं है (मरणं न अपि) मरण भी नहीं है तथा (जननं अपि न) जन्म भी नहीं है (तत्र एव च निर्वाणं भवति) वहीं पर निर्वाण है।

नियमदेशना

आचार्यप्रवर भगवत् कुन्दकुन्ददेव ग्रंथराज नियमसार जी में शास्वतसुखधाम, निर्वाणसुख की प्राप्ति के सहजस्वरूप का व्याख्यान करते हुये समझा रहे हैं।

हे मुमुक्षु ! ध्रुव सत्ता को समझना है, तो निज के सत्य को जानने की आवश्यकता है। जब-तक जगत् से उदासीन वृत्ति नहीं होगी, तब-तक निजानंद प्राप्त नहीं होगा। अपने चैतन्य को चैतन्यरूप अनुभवन करो और जड़त्व को जड़भूत समझो। ज्ञानी ! आत्मा शून्यस्वभावी है। परभाव से शून्य है यह आत्मा। आत्मा चैतन्यशून्य नहीं है। शून्य होना पुरुषार्थ है और जगत् को शून्य करने का प्रयास मूर्खता है।

हे मित्र! सबको तुम संतुष्ट नहीं कर सकते हो, सबको आप प्रसन्न नहीं कर सकते हो। सबको शांतिमय करना चाहते हो, यही आपकी भूल है, यही आपका दु:ख है। ज्ञानी! यह अध्यात्मशास्त्र है, सँभल कर समझना। दया करना भी दु:ख ही है। जो साधक करुणा दिखा रहे हैं, ये भी अभी कहीं-न-कहीं दु:खी हैं। सत्य समझ में आ जायेगा, उस दिन से आनंद आना प्रारम्भ हो जायेगा। अभी मात्र बहिरंग का सुख प्राप्त किया है, तभी तो सभी दु:खी दिख रहे हैं। जिस दिन अंतरंग का सुख प्राप्त हो जायेगा, उस दिन संसार में तुम्हें कोई दु:खी दिखेगा ही नहीं। हे मुमुक्षु ! अभी तुम्हें यथार्थ धर्म को समझना होगा।

हे मुमुक्षु ! समझो मैं क्या कह रहा हूँ ? भगवान् महावीर स्वामी होते तो वो भी यही कहते कि–'दया भी अदया है।' जहाँ दया की रेखायें खिंच रही हैं, वहाँ अभी दया नहीं है। दयाशून्य, दु:खी लोग हैं। दु:खी को सुखी करने का भाव आ रहा है, इसका मतलब तुम अभी दु:खी हो। ज्ञानी! दु:खिया ही दु:ख दूर कर सकता है, सुखिया किसी के दु:ख दूर करने नहीं जाता है। भगवान् तीर्थंकर महावीर स्वामी ने किसी का दु:ख दूर नहीं किया, क्योंकि तीर्थंकर भगवान् का जहाँ विहार होता है, वहाँ स्वयमेव सुभिक्षता होती है।

हे मुमुक्षु ! दु:खिया ही दु:खिया का दु:ख समझ सकता है। भगवान् के चरणों में, समवसरण में प्रत्येक जीव को सुख मिलता है, प्रभु के चरणों में जीवों को आनंद आता है। हे मित्र! जितना आनंद महाराज के समीप, प्रभु के पास आता है, उतना घर में नहीं आता है, क्योंकि प्रभु के पास पवित्र वर्गणायें होती हैं। ज्ञानी ! प्रसन्नचित्त रहो, तो आनंद आता है।

हे भव्य! परिणाम छुई-मुई के पौधे के समान होते हैं। छुई-मुई एक वनस्पति है, संवेदनशील होती है, कोई उसे छू ले तो वह संकुचित हो जाती है। वैसे-ही हे जीव! परिणाम हैं, चित्त है, ज्ञान है, मन है, जो अत्यन्त नाजुक है, इसलिए जैनदर्शन में भगवान् तीर्थंकर देव ने कहा है कि संसर्ग ही चित्त को चलायमान करता है।

बात-बात में रोनेवाला तीव्र हिंसक होता है। रोनेवाला सबके परिणामों को कलुषित करता है, वह परिवार की खुशी को नष्ट कर देता है। रोनेवाले को अशुभ कर्म, (असातावेदनीय कर्म) का आस्रव होता है। गिरगिट तो फिर भी कम रंग बदलता है, परन्तु परिणामों से पूछो, क्या दशा है ? वाण तो तन में लगता है, परन्तु रोना मन को कलुषित करता है।

हे मुमुक्षु ! परिणाम संवेदनशील हैं। कोई प्रसन्न बैठा था, आपने अपना दु:खड़ा दूसरों को सुनाकर आपने अपने दु:ख से सामनेवाले को लिप्त कर दिया। तुम्हारा अशुभ कर्म का उदय था, आपको भोगना पड़ेगा। आपने अपने दु:ख में दूसरों को लपेट लिया, हे जीव! तूने अपना दु:ख सुनाकर दूसरे सुखी को दु:खी कर दिया। आपके अन्दर दया/करुणा है, यदि आप अहिंसक हैं, तो अपना दु:ख दूसरे को नहीं सुनाना, दूसरों

की खुशी को नहीं छीनना। हे श्रावको ! अपने घर के दु:ख/परेशानियाँ साधुओं को नहीं सुनाना।

हे श्रमण! हे साधको! यदि जगत् के कष्ट सुनोगे, तो तुम मुनि बनकर मुनि नहीं रह पाओगे। हम जगत् की समस्याओं को सुलझाने में लग गये, तो अपनी शास्वत समस्या, संसारभ्रमण की समस्या वैसी-की-वैसी ही रहेगी। अत: जिसे सुलझाने के लिए तुम मुनि बने हो, उसे भी सुलझाने का पुरुषार्थ करो।

हे मित्र! जब घर में झगड़ा हो जाये, और तुम्हें कोई पकवान खिलाये, तो वे पकवान भी स्वादरहित प्रतीत होते हैं। वैसे-ही हे योगी ! तुम्हारे पास परमानंद स्वरूप की थाली सजी है और तुम परप्रपंचों से प्रभावित होकर अपनी वंचना कर रहे हो। हे श्रमण! अपनी समरसी भाव की थाली को पहले सँभालो, फिर किसी-और की भूख मिटाने का प्रयास करना।

हे माँ! आज से घर में रोना नहीं! तुम्हारे पास तो फिर भी कोई विपत्ति नहीं है। माता सीता को निहारना आज कि कैसे विपत्ति के क्षणों में अपने को सँभाला था। तुम्हारे नयनों के आँसू लोगों को भ्रमित कर देते हैं और फिर अनर्थ हो जाता है। हे माँ! परिवार को नष्ट करना है तो घर में लड़ना, संक्लेशता करना, नहीं-तो शांति से स्वयं रहना और दूसरों को रहने देना। हे माताओ ! यदि तुम्हारे अन्दर थोड़ी भी करुणा है, दया है, अहिंसा का भाव है, तो आज से घर में किल-किल नहीं करना और न ही पड़ौसी/रिश्तेदारों में कलह करवाना।

हे ज्ञानियो! सम्पूर्ण बलों में बुद्धिबल, पुण्यबल श्रेष्ठ होता है। पुण्यबल के सामने सारे बल व्यर्थ हैं। यदि किसी से आपको लड़ना भी है तो पहले उसका पुण्यबल जान लेना, फिर लड़ने का विचार करना,क्योंकि पुण्यात्मा का कोई बालबांका भी नहीं कर पाता है। हे ज्ञानी ! जिसके पास वक्तत्व कला, पुण्यबल और उत्कृष्ट चिंतनशक्ति हो, कुशल तार्किक हो, उससे भूलकर भी शत्रुता नहीं करना।

एक शक्तिशाली राजा था। उसे युद्ध में जीतना कठिन प्रतीत होता था। दूसरे राजा ने उसे जीतने के लिए एक नर्तकी का सहारा लिया। जगत् में बलवान् को भी निर्बल करने वाली कोई है तो उसका नाम है अबला। नारी अर्थात् जो नर के ब्रह्मधर्म को

आरी की तरह काटकर अलग कर दे। राजा ने सुन्दरी को युद्धभूमि में खड़ा कर दिया, युद्ध प्रारंभ हुआ, तभी सुन्दरी ने हाव-भावपूर्वक काम-कटाक्ष की दृष्टि राजा पर फेंक दी। सम्राट की दृष्टि सुन्दरी पर पड़ी, सबल राजा क्षणभर में निर्बल हो गया, तब-तक दूसरे राजा ने एक नुकीला वाण राजा की गर्दन पर दे मारा, राजा धड़ाम से गिर गया। वैसे-ही हे जीव! जब-तक तुम सुन्दरियों को देखोगे, तब-तक तेरी आत्म-सुन्दरी बिलखती रहेगी।

किसी की सर्वांग-सुन्दर स्त्री हो और वह परनारी को निहारे, तो उसे लोग पागल कहेंगे। वैसे ही हे भव्य! तेरी सर्वसुन्दर आत्मसुन्दरी विलख रही है और तू पर को निहार रहा है। हे जीव ! सुर-सुन्दरी, पर-नारियों का राग छोड़कर अपनी निज सुन्दरी का बोध करो, निज सुन्दरी को निहारो।

हे मित्र ! काँटा चुभकर तन में घाव बनाता है और नारी नयनों से नीर गिराकर घाव बनाती है। ज्ञानी ! कभी विचार किया आपने कि बारिश के मौसम में सबसे अधिक लोग फिसलते हैं और फिर हाथ-पैर टूटते हैं। चिकनी मिट्टी की फिसलन से मात्र हाथ-पैर ही टूटते हैं, लेकिन नारी के नयनों के नीर में बहकर च्युत चित्त, चारित्र के हाथ-पैर टूटते हैं। नारी से संयोग होते ही चारित्र में खोट लगता है। साधको! साधना से सहित रहना है, तो स्त्रियों से दूर रहना।

हे मुमुक्षु ! अनादि संसार में भ्रमण कर, पद-पद पर, पग-पग पर मत्त रहने वाले दुःखी, महा रागी जीव जहाँ रमण कर रहे हैं, वह अपद है, वह भ्रमण के योग्य स्थान नहीं है, छोड़ने योग्य ही है। हे अन्धे प्राणियो! जागो, यथार्थ वस्तुस्वरूप को जानो और इधर आओ, यह तुम्हारा पद है, जिसमें कि अत्यन्त शुद्ध तथा स्वरस से भरा हुआ चैतन्यरूप धातु स्थायीभाव को प्राप्त हो रहा है, निरन्तर निज में निवास कर रहा है।

भावाः पञ्च भवन्ति येषु सततं भावः परः पञ्चमः
स्थायी संसृतिनाशकारणमयः सम्यग्दृशांगोचरः।
तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्वा पुनर्बुद्धिमान्
एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः॥297॥

ज्ञानियो ! जीव के कुल भाव पाँच हैं। औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदायिक तथा पारिणामिक। इन पाँच भावों में हमारा स्वभाव-भाव पारिणामिक भाव है। पाँच भावों में पंचम पारिणामिक भाव श्रेष्ठ है, क्योंकि वही सदा स्थायी रहता है और वस्तुतः वही संसारभ्रमण के नाश का कारण है। औदायिकादि भाव कर्मसापेक्ष हैं। क्षायिकभाव भी कर्मसापेक्ष है।

हे मुमुक्षु ! जिनवाणी की धारा भिन्न है और जगत् की जनवाणी की धारा अत्यन्त भिन्न ही है। जिनेन्द्र सर्वज्ञदेव की जो वाणी है, वही जिनवाणी है, वही कल्याणी है। दिगम्बर गुरुओं से मात्र जिनवाणी ही सुनना, उनसे आत्मधर्म की सिद्धि का मार्ग पूछना। सम्यग्दृष्टि भव्यात्मा सम्यक् मार्ग का ही अनुसरण करते हैं। जो भव्यात्मा, बुद्धिमान् सम्पूर्ण राग-द्वेष के समूह को त्याग करके मात्र पारिणामिक भाव को जानता है, वही एक पापरूप वन को भस्म करने के लिये अग्नि-तुल्य यतीश्वर, धरती के देवता मुनिराज ही इस कलिकाल में शोभा पाते हैं।

हे ज्ञानी ! मेरा जन्म नहीं, मेरा मरण नहीं, मैं तो पुराण हूँ। मैं तो आज तक हुआ ही नहीं। अनन्त चौबीसियाँ हुईं, तब भी मैं था और आगे चौबीसियाँ होंगी, तब भी मैं रहूँगा। मैं था, हूँ और रहूँगा। मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यन्च ये सब पर्याय हैं, कर्म का उदय है। मैं अजन्मा हूँ। मैं अहेतुक हूँ। मैं त्रैकालिक हूँ।

ज्ञानी ! रस्सी अग्नि में जल गई, तो परिवर्तन हुआ है, नष्ट नहीं हुई है। पर्याय बदल गई है, नष्ट नहीं हुई है। वह रस्सी जलकर राख में परिवर्तित हुई है। ज्ञानियो! वस्तु का विनाश नहीं होता है, मात्र परिणमन होता है। 'नैवं असतो सतो विनाशो।' असत् का उत्पाद नहीं होता है और सत् का कभी विनाश नहीं होता है।

हे जननी ! तुमने तन को जन्म दिया है, चैतन्य को जन्म नहीं दिया है। सब संबंध जो हैं, वे तन के सम्बन्ध हैं, चेतन के नहीं हैं। पर्याय का जन्म है, पर्याय का मरण है, मैं तो अजन्मा हूँ। बंध दृष्टि से जन्म भी है, मरण भी है, परन्तु अबंध दृष्टि से न जन्म, न मरण।

हे मुमुक्षु ! धर्म में आडम्बरों को मत लाओ। आडम्बरों को छोड़कर यथार्थ धर्म में प्रवेश करो। धर्म ही निष्कलंक होने का रसायन है। ज्ञानी ! वास्तविक कल्याण तभी

होगा जब तत्त्वार्थ तत्त्व का यथार्थ बोध होगा। बिना तत्त्वनिर्णय के सम्यक्त्व भी नहीं होता है।

हे जीव ! मनुष्य बनना सहेतुक है, पशु बनना मायाचारी का फल है, देव बनना भी सहेतुक है, नारकी बनना भी सहेतुक है, ये सभी पर्यायें हैं, पर्याय तो विनाशीक हैं। उसे जानो जो शास्वत है, सबको देख रहा है, जान रहा है, सुन रहा है। हे जीव ! कल्याण चाहते हो तो सम्पूर्ण लक्ष्य आत्मा की ओर ले जाओ।

आचार्यभगवन् ढाई द्वीप में विराजे निर्ग्रंथ भावलिंगी मुनिराजों से कह रहे हैं कि जंगल को जलाने के लिए मात्र एक काड़ी पर्याप्त है, वैसे-ही हे श्रमणो! इस कलिकाल में पापसमूह को नष्ट करनेवाला कोई उपाय है, तो मात्र दिगम्बर मुद्रा है।

मुनि बनकर मुनि बने रहे, तो भगवान् बनोगे और मुनि बनकर परिग्रह में लिप्त हुये, तो फिर निगोदिया बनना पड़ेगा। मुनिराज अग्नि-तुल्य पापसमूह को जला देते हैं। श्रावको! ऐसे भावलिंगी योगीश्वरों को कोटि-कोटि नमोऽस्तु कर लो। जयवंत हों धरती के देवता, मुनीश्वर। यहाँ नंगों की नहीं, अपितु नग्नत्व की वंदना है। ज्ञानियो! कोटि-कोटि मुद्रायें जायें, प्राण भी जायें तो चले जाने देना, परन्तु अपनी श्रद्धा को अन्यत्र नहीं ले जाना। सर्वज्ञ ही हमारे देव हैं और निर्ग्रन्थ ही हमारे गुरु हैं।

"पिय धम्मो, दिढ़ धम्मो"

हे भव्य ! भूख लगे तो अपनी उदरपूर्ति प्रासुक/शुद्ध भोजन से करना, जैन परम्परानुसार करना, कुछ न मिले तो प्रासुक पानी से जीवन जी लेना, परन्तु कालकूट विष सेवन नहीं करना। वैसे-ही भगवान् मिलें या न मिलें, परन्तु विपरीतमार्गी को शीश नहीं झुकाना।

संसारी, भयभीत पुरुष सत्य नहीं बोलता है। जिसको मरने का डर है, वह सत्य नहीं बोल सकता है। हे मुमुक्षु ! जिनेन्द्र की वाणी को कहने में कभी डरना नहीं। डरना तो मात्र तुम पापार्जन से डरना, संसारभ्रमण से डरना।

णवि दुक्खं णवि सुक्खं, णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥179॥

ज्ञानियो ! आप गरीब हो कि अमीर हो ? आप परिग्रह से अमीर हो, परन्तु धर्म से, वीतरागता से गरीब हो। दिगम्बर-श्रमण धर्म से, श्रामण्य-धर्म से अमीर हैं और परिग्रह से गरीब हैं। 'णवि दुक्खं'। जो व्यक्ति कपड़े पहनता है, उसके ही फटते हैं। परिग्रह के रखने में, सुरक्षा में, अर्जन में दुःख ही है, संक्लेशता ही है। जो पर को ग्रहण करते हैं, वही गरीब हैं। दिगम्बर श्रमण परिग्रह से रहित हैं, इसलिए 'णवि दुक्खं' परिग्रह के दुःख से दूर हैं। जहाँ न इन्द्रियदुःख है, न इन्द्रियसुख है, वे ऐसे अतीन्द्रिय सुख में लवलीन हैं।

हे मुमुक्षु ! 'णवि पीड़ा' शरीर से ही जिसने अपने चित्त को हटा लिया है, उसके लिए फिर पीड़ा कहाँ ? शरीर में ममत्व ही तो पीड़ा देता है। ओ हो ! हे जीव ! परिग्रह के सँभालने में कितनी पीड़ा है, परिग्रह की सुरक्षा में पीड़ा है, भोगों को भोगने में पीड़ा है, भोगों को भोगने के बाद पीड़ा है। संसारी प्राणी, मोह सहित होकर पापसमूह से पीड़ित हो रहा है। वहीं धन्य हैं धरती के देवता, निर्ग्रंथ मुनि, जिन्होंने सकल परिग्रह का त्याग कर दिया है, संसार के समस्त भोगों से निर्मोही हैं, शरीर से भी ममत्व छोड़ चुके हैं, इसलिए वे 'णवि पीड़ा' पीड़ा से रहित हैं।

हे मुमुक्षु! पर से सम्बन्ध स्थापित करोगे, वहीं पीड़ा है, दुःख है। राग को छोड़कर वीतरागता को धारण करो, वही सच्चे सुख का सच्चा मार्ग है। परमात्मा में न पीड़ा है, न जन्म है, न मरण है , न दुःख है। उन्हें तो शास्वत सुख है और वही निर्वाण है। उसका उपाय निर्वाणदीक्षा है।

हे भव्यात्मा ! वस्तुस्वरूप को समझो। सम्बन्ध तो सम्बन्ध है, परन्तु स्वभाव नहीं है। सम्बन्ध क्षणिक है, सम्बन्ध शास्वत नहीं है। अपनी आत्मा के सहजस्वभाव का बोध कर, संसार के समस्त प्रपंचों को छोड़कर, अपनी आत्मा का कल्याण करो। कण-कण स्वतन्त्र है, अणु-अणु स्वतन्त्र है।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमदेशना

तीर्थंकर जिनेन्द्र की पीयूष देशना मनीषियो! जगत्कल्याणी है। यहाँ पर आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द देव 'नियमसार' जी में मुक्तिजनित सुख की प्राप्ति का उपायभूत सहज साधन का व्याख्यान कर रहे हैं।

कुन्दकुन्द स्वामी ने चौरासी पाहुड़ ग्रंथों का सृजन किया, जिसने जैनदर्शन को, वीतराग शासन को विश्वगुरुता प्रदान की है। सम्प्रति कुन्दकुन्द देव ने आत्मप्रवाद पूर्व के गूढ़ रहस्य को उद्घाटित किया। जब लोग वस्तुस्वतन्त्रता को भूलकर, परिग्रह में लिप्त होकर सवस्त्र निर्ग्रन्थता की संज्ञा से मंडित हो रहे थे, उस आंधी में कुन्दकुन्द देव ने निडर होकर निर्ग्रन्थत्व में निर्ग्रन्थता को स्वीकारा और निष्परिग्रह से ही निर्ग्रन्थ पद माना, निर्वाण माना।

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।

णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥123 सुत्त पाहुड॥

हे ज्ञानी! जहाँ इच्छा है, वहाँ परिग्रह होता है और जहाँ अनिच्छा होती है, वहाँ अपरिग्रह होता है। लोग जब वस्तुतत्त्व से विमुख हो गये, तब कुन्दकुन्द देव ने वस्तु-तत्त्व की यथार्थ व्याख्या की। 'अणिच्छो अपरिग्रहो"। इच्छा नहीं, वहाँ अपरिग्रह होगा और जहाँ इच्छा होगी, वहाँ परिग्रह होगा।

हे मुमुक्षु ! तुम जिनवाणी का विपरीत कथन करके स्वयं के साथ ही खिलवाड़ कर रहे हो, क्योंकि तीर्थंकर भगवान् में भी सामर्थ्य नहीं है की वह सत् द्रव्य की सत्ता को बदल दें। विपरीत कथन करके, दुर्गति का बंध करके, तुम दुर्गति में ही जा सकते हो। तत्त्व का विपर्यास निज की दुर्गति का ही संकेत है।

हे जीव! तुम श्वान को शेर कह सकते हो, शेर को बिल्ली कह सकते हो, परन्तु श्वान को शेर और शेर को बिल्ली बना नहीं सकते हो। तुम सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ संज्ञा दे अवश्य सकते हो, परन्तु सग्रंथ को निर्ग्रन्थ कह कर उसे मोक्ष नहीं करा सकते हो। संज्ञान एक हो सकती है। तुम वहाँ मान की पुष्टि, दूसरे का अपमान कर सकते हो, परन्तु सिद्धि की प्राप्ति नहीं कर सकते हो। संज्ञाओं से क्लेश/विसम्वाद होता है, परन्तु संज्ञान में विषमता नहीं है।

हे ज्ञानी ! आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञायें वह कर सकता है। नाम की संज्ञा बहुत खोटी है। शरीर के ढलने पर कामवासना शांत हो जाती है, भय भी चला गया, परिग्रह समाप्त होने लगा, चार संज्ञायें भी कम हो गईं, परन्तु नाम संज्ञा बहुत ही प्रबल है–'मैं भी तो कुछ हूँ।' भैया ! तुम्हें संसार में रुलना है कि संसार से उबरना है? यदि उबरना है, तो यह कहना भी छोड़ दो कि मैं भी तो कुछ हूँ।

हे भव्यजीव ! सबकुछ हटा दो, फिर कहना कि मैं सबकुछ हूँ। मैं भगवत्-सत्ता-सम्पन्न हूँ। स्वयंभू हूँ, भगवान्-आत्मा हूँ। आप अपने आपको वर्तमान के परमात्मा घोषित कर सकते हो, परन्तु अभी अप्रकट परमात्मा है, शक्तिरूप परमात्मा नहीं है, व्यक्तरूप परमात्मा नहीं हो। सभी परिग्रह छोड़ दो, सब परिचय समाप्त कर दो, तो तुम पर्याय में भी परमात्मा प्रकट कर लोगे और सबसे ऊपर मोक्षभवन में पहुँच जाओगे।

हे मुमुक्षु ! आकिंचन्य धर्म में आडम्बर कैसा ? जिसको आडम्बर में ही आनंद आ रहा है, वह अभी आकिंचन्य को नहीं स्वीकार पायेगा। जितने वैर-विरोध हैं, तभी तक हैं जब तक कि पर में अपेक्षा है। अपेक्षा ही दु:ख है। ज्ञानी ! दूसरों से अपेक्षा मत करो और दूसरों की उपेक्षा को सहन करना सीख लो, तो तुम समझ लेना कि समत्व भाव के निकट हो, अन्यथा श्रमणत्व तो दूर, अभी तुम समत्व से भी दूर हो।

हे ज्ञानियो! जितनी बार जिनालय जाते हो, उतनी बार निज में भी जाया करो। स्व की ओर भी कभी-कभी निहार लिया करो, क्योंकि पर को निहारने से प्रभु नहीं बनेगा, स्व को निहारने से ही प्रभु बनेगा। एकाध बार श्मशान भूमि में जाया करो, वहाँ जाकर मृत मनुष्य की राख को निहारना, फिर इस शरीर का यथार्थ समझ में आयेगा आपको। तब आपको बोध होगा कि जिसे मनुष्य सजाता-संवारता है, जिसमें अत्यन्त राग करता है, जिसका जीवनभर रक्षण करता है, वह तो मात्र राख का ढेर है, विनाशीक है, अशुचि है, नि:सार है। ओ हो ! जिसकी राख होना है, उस पर मैं जीवनभर राग करता रहा। हे मुमुक्षु ! जिस शरीर की राख होना है, उस शरीर पर राग कैसा ?

हे मुमुक्षु ! जब पर्याय में राग आये तो अनित्यता पर दृष्टि करना ! विचार करना कि चैतन्य का पुरुषार्थ निज पर, स्वयं पर कितना है और दूसरों पर कितना है। हे चेतन ! तन के लिए कितना किया और चेतन के लिए कितना किया ? ज्ञानी ! तन कुछ ही दिन रहेगा, परन्तु चेतन तो शास्वत है। उस चेतन पर ही पुरुषार्थ करो। सभी

आये राम, गये राम, परन्तु चेतन सदाराम। तन को भी चेतन की सिद्धि में लगा दो, तभी शास्वत सिद्धि होगी।

हे ज्ञानी ! जब-तक प्रसिद्धि पर दृष्टि है, तब-तक सिद्धि नहीं होगी। ऐसा कार्य करो कि सिद्धि हो जाये। सिद्धि होते ही प्रसिद्धि होती है। तीर्थंकर भगवंतों ने सिद्धि का पुरुषार्थ किया, सिद्धि प्राप्त होते ही उनकी प्रसिद्धि हो गई।

हे ज्ञानियो! 'सबके दिन एकसे नहीं होते हैं।' जब पुण्य का सूर्य ढलता है तो सम्राट भी सम्राट नहीं बचता है। समय आने पर स्वामी भी सेवक हो जाता है। जिस पर जीवन भर शासन किया और फिर वृद्धत्व आने पर उसी के अनुशासन में जीवनपर्यन्त रहना पड़ता है। हे ज्ञानी ! किसी के अनुशासन में रहना अत्यन्त कठिन है। ज्ञानी ! एक सच्चा अनुशासक ही आत्मानुशासक बनता है।

हे ज्ञानी ! वृद्ध माँ की सेवा करना, परन्तु उसकी भी पूरी बात बिना सोचे-समझे नहीं मानना। तू सोचता है कि पत्नि बात नहीं मानती है, माँ बात नहीं मानती है, परन्तु तूने यह कभी विचार नहीं किया कि तेरा मन ही तेरी बात नहीं मानता है। हे जीव ! तन भी तुम्हारी बात नहीं मानता है। यदि तन तुम्हारी बात माने तो वह कभी वृद्ध न हो, इसलिए उम्र-वृद्ध, साधना-वृद्धों को मौन रहना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि व्यक्ति करता अपने मन की है।

हे मुमुक्षु ! यदि भगवान् बनना है, तो मौन साधना करो। स्व-पर के परिणाम निर्मल रखना है तो मौन का अभ्यास करो। मौन का मजा लूटना सीखो। मौन में आनंद है। 'मौनं सर्वसाधनं।' मौन रहने से बहुत से विघ्न स्वयमेव शांत हो जाते हैं। हे मुनि ! मौन का अभ्यास करो।

ज्ञानियो! बहुत उपदेश देना जरूरी नहीं है, भवितव्यता निकट होने पर अल्प देशना भी कार्यकारी होती है। एक कृषक भी खेत में सालभर बीज नहीं बोता, बीज तो एक बार ही डालता है, फिर पानी-खाद देकर उसे सँभालता है, उसे हवा-धूप के प्रकोप से बचाता है। वैसे-ही हे भव्य ! जिनवाणी के सूत्रों को अपने अन्दर डाल दो, फिर वैराग्य का पानी डालते रहो, उसी में चारित्र की फसल लहलहायेगी।

हे ज्ञानी ! बीज डालकर छोड़ दो, फिर इन्तजार करो। व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों

में नहीं पड़ना। हे माँ! गर्भस्थ शिशु को आप कैसे प्रयत्नपूर्वक गर्भ में रखती हो। वह गर्भाधान भी मात्र बीजभूत वीर्य-बिन्दु से हुआ है, फिर वह वृद्धिमान हुआ है। वैसे-ही श्रुत का बीजभूत एक शब्द भी यदि श्रद्धा से सुना है, तो नियम से वह कैवल्य के रूप में प्रकट होगा। एक वर्ण के स्मरण से बीजबुद्धि के धारक मुनि को सकल-श्रुत का बोध होता है। ज्ञानियो ! बीज ही वृक्ष के रूप में परिणत होता है।

हे श्रमण ! रत्नत्रय धर्म है। रत्नत्रय की आराधना से विशुद्धि बढ़ती है। विशुद्धि से शुक्लध्यान और शुक्लध्यान से कैवल्य प्रकट होता है। ज्ञानियो! आगमिक वाचनाओं की आवश्यकता है। आप्त के वचन ही आगम है। जिनेन्द्र की वाणी ही, (नव पदार्थ, सप्त तत्त्व, छहद्रव्यों की व्याख्या ही) देशना है। जिनवाणी ही नीर है। जिनागम की शब्दावली ही मंत्र है। जिनागम की भाषा-वर्गणायें ही तंत्र हैं। तंत्र अर्थात् आगम।

हे जीव! अनिच्छापूर्वक परिग्रह नहीं होता है, इच्छा तो परिग्रह ही है। 'अपरिग्गहो अणिच्छो।' जो इच्छा रहित है, वही परिग्रह रहित है। वस्तु धारण की है, तो वहाँ इच्छा ही है और इच्छा है, वही परिग्रह है। हे मुमुक्षु ! आत्मविद्या ही श्रेष्ठ विद्या है।

ज्ञानियो! लोभ ऐसा है कि व्यक्ति लोभ की आसक्ति में मंदिर के द्रव्य को भी खा जाता है। आपको सम्मान चाहिये तो आप दूसरों का सम्मान करते हो। हे साधक ! जिस दिन तुम स्वयं का सम्मान करना सीख जाओगे, उस दिन तुम पर के भाल पर तिलक लगाने नहीं जाओगे। ब्रह्म में रमण करे, वही ब्रह्मचारी है। जो व्यक्ति व्यवस्थित रहे, वही ब्रह्मचारी है। जो भव्य बाह्याचरण में प्रवीण है, वही ब्रह्मचारी है। बाह्य प्रपंचों के लिए ब्रह्मचारी-भेष नहीं है। ज्ञानी! सम्मान भी कष्ट है। सम्मान के चक्कर में अपनी आत्मा का अपमान नहीं करना। रत्नत्रय का तिलक जिसको लग गया है, अब उसके सामने अन्य सम्मान बहुत छोटे हैं।

ज्ञानी ! धर्म में आनंद है। समयसार की महिमा देखो कि समयसार-श्रुत के पारायण से मुख की पट्टी भी उतार कर फेंक दी। ज्ञानी ! अध्यात्मविद्या में आनंद है। श्रुत में शांति है। हे मुमुक्षु ! श्रुत का श्रवण करो, श्रुत का सेवन करो, तो नियम से श्रुतकेवली बनोगे। ज्ञानी ! अध्यात्म निजानन्द देता है। हे जीव! जिस दिन आत्मसुरक्षा पर तुम्हारा लक्ष्य हो जायेगा, उस दिन जगत् के प्रपंचों से तुम स्वयमेव दूर हट जाओगे।

हे मुमुक्षु ! परम समरसी भाव का आनंद लूटना है, तो स्वात्मानुभूति पर लक्ष्य

ले जाना पड़ेगा। जो-जो अनुभूति है, वह स्वात्मानुभूति है, परन्तु सभी स्वात्मानुभूति शुद्धात्मानुभूति नहीं है। जो भी सम्वेदन है, वह स्वसंवेदन है। सप्तम गुणस्थान से शुद्धात्मानुभूति है। स्वात्मानुभूति तो जीव का आत्मगुण है। चेतनत्व भाव, जीवत्व भाव जीव का लक्षण है। वेदन तो स्व से ही होता है। ज्ञानियो! ठंडी-गर्मी की अनुभूति कौन ले रहा है ? आत्मा ही अनुभूति लेता है। चाक्षुष द्रव्य न्यून हैं, परन्तु अचाक्षुष द्रव्य बहुत हैं। आप बहुत द्रव्यों को देख नहीं पाते हो, परन्तु फिर भी उनकी सत्ता है।

हे ज्ञानी! जो निरन्तर अन्तर्मुखाकार परम अध्यात्मस्वरूप में लीन हैं, ऐसे निरूपराग शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप परमात्मा के अशुभ परिणति का अभाव होने से अशुभकर्म नहीं होते और अशुभकर्मों का अभाव होने से दु:ख भी नहीं होता, इसी प्रकार शुभ परिणति का अभाव होने से शुभकर्म नहीं होते और शुभकर्मों का अभाव होने से संसारसुख भी नहीं होता। पीड़ा का स्थान शरीर है, उसका अभाव होने से पीड़ा नहीं होती है। असातावेदनीय कर्म का अभाव होने से बाधा नहीं होती। पञ्च प्रकार के नोकर्म शरीर का अभाव होने से मरण नहीं होता और पञ्च प्रकार के नोकर्मों के कारणभूत कर्मरूप पुद्‌गल का ग्रहण न होने से जन्म नहीं होता। इस प्रकार इन विशेषताओं से सहित अखण्ड एवं विक्षेप रहित जो परमात्मतत्त्व है, उसी का निर्वाण होता है।

भवभवसुखदु:खं विद्यते नैव बाधा
जननमरणपीडा नास्ति यस्येह नित्यम्।
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि
स्मरसुखविमुखस्सन् मुक्तिसौख्याय नित्यम्॥298 कलश॥

हे ज्ञानियो! जिसके भव-भव के सुख-दु:ख नहीं हैं, बाधा नहीं है और जन्म-मरण की पीड़ा भी नहीं है, मैं कामसुख से पराङ्मुख होता हुआ, मुक्तिजनित सुख की प्राप्ति के लिये, निरन्तर उसी को नमस्कार करता हूँ, उसी की स्तुति करता हूँ और उसी की भावना, चिन्तना करता हूँ।

हे मुमुक्षु! पर्याय की पहिचानों के लिए तुम नाम रखते हो, ज्ञानी ! अब ऐसी पहिचान बनाओ कि वह शास्वत पहिचान बन जाये। जिन्हें जन्म-मरण की पीड़ा नहीं है, ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा की वंदना करो, जिससे भव-भव के बंधन से हम मुक्त हो जायें

और निरन्तर कामसुख से मुक्त होकर मोक्षसुख की भावना भाते रहना। हमेशा अपने अंदर मोक्षसुख की ही चाह रखना। शास्वत सुख-शांति प्राप्त हो, यही लक्ष्य रखना। कामवासना, रसना इंद्रिय पर नियंत्रण करने का प्रयास करना यदि समाधि चाहते हो तो। हे जीव! जिसे तू सुख मानकर बैठा है, उसे जिस दिन पीड़ा मान लेगा, उसी दिन से तेरा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा, शास्वत सुख की यात्रा प्रारम्भ हो जायेगी।

आत्माराधनया हीनः सापराध इति स्मृतः।
अहमात्मानमानन्दमन्दिरं नौमि नित्यशः॥299 कलश॥

ज्ञानी ! जो श्री और श्रीमति से दूर रहेगा, वह निडर होगा, क्योंकि परिग्रह का संग्रह करने वाला कभी निडर नहीं रह सकता है, इसलिए हे साधक ! मोक्षश्री चाहते हो तो 'श्री' (धन) और 'श्रीमति (स्त्री) से दूर रहना। जैसे अग्नि घृत को तरल कर देती है, वैसे-ही स्त्रियों के संयोग से पुरुष अधोगमन करता है। हे जीव ! सुन्दरी को देखकर जब तिर्यंच भी मन बिगाड़ लेता है, तो फिर पुरुष की बात क्या कहें ?

हे साधक! कामवासना शील की शत्रु हैं, संयम को भस्म करने में अग्नि के समान है। विपरीत लिंग का राग तपस्वियों की हानि करने वाला तथा उनके यश को अपयश में परिवर्तित करने वाला है और वासना का भूत व्रतियों को दुर्भाग्य का करने वाला है। वासनायें परलोक को ही भ्रष्ट नहीं करतीं, अपितु इहलोक में भी कष्ट देती हैं। वे मोक्षसुख की ही नहीं, साधक-जीवन के आनंद में भी बिघ्नकारी हैं।

थेरस्स वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाणभूदस्स।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि॥333 भ.आ.॥

भगवती-आराधनाकार कह रहे हैं कि हे मुमुक्षु ! वृद्ध, अनशनादि तप में तत्पर तपस्वी, बहुश्रुत और लोकप्रसिद्ध, प्रमाण माना जाने वाला भी साधु आर्यिकादि के (स्त्रियों के) संसर्ग से लोक में अपवाद का भागी होता है। फिर जो तरुण हैं, बहुश्रुतज्ञ भी नहीं हैं और जो उत्कृष्ट तपस्वी और चारित्रवान् भी नहीं हैं, वे स्त्री-संसर्ग से लोकापवाद को प्राप्त क्यों नहीं होंगे ?

'विजयोदया' टीका में भी कहा है कि हे साधुजनो ! आपको प्रमाद रहित होकर आग और विष के तुल्य **आर्याओं** के संसर्ग को छोड़ना चाहिए। आर्याओं के साथ रहने

वाला साधु शीघ्र ही अपयश का भागी होता है। आर्या (आर्यिका) का संसर्ग चित्त को सन्तापकारी होने से आग के समान है और संयमरूपी जीवन का विनाशक होने से विष के समान है। साधु-आचार वाले मिथ्यादृष्टि असंयमी लोग भी प्रायः पाप और अपयश से डरते हैं। फिर जो सबकुछ जानते हैं और समस्त त्यागने योग्य पदार्थों के त्याग में तत्पर रहते हैं, वे साधुजन पाप और अपयश के काम से क्यों नहीं दूर रहेंगे? कहा भी है "शरीर नष्ट होने वाला है, उसकी रक्षा सम्भव नहीं है। यश की रक्षा करने योग्य है, जो नष्ट नहीं होता। शरीर के छूट जाने पर मनुष्य यशरूपी शरीर से जीवित रहता है।"

हे श्रमण ! मुक्तिरूपी प्रिया को चाहते हो तो बाला, कन्या, तरुणी, वृद्धा, सुरूप, कुरूप सभी प्रकार के स्त्रीवर्ग में प्रमादरहित होकर साधना करो। जो स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रमादी और विश्वासी होता है, वह उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर पाता और चारित्र से च्युत होकर मुक्तिकन्या से दूर हो जाता है। और भी कहा कि –

जदि वि सयं थिरबुद्धी तहा वि संसग्गिलद्धपसराए।
अग्गिसमीवे व घदं विलेज्ज चित्तं खु अज्जाए॥

हे मुमुक्षु ! मुनि यद्यपि स्वयं स्थिर चित्तवाला हो, संयम में दृढ़ हो, पापभीरू हो, फिर भी आर्या के संसर्ग से चित्त में उल्लास-मन उसी प्रकार द्रवित होता है जैसे अग्नि के समीप में घृत द्रवित होता है।

आचार्य-भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि–

दंसण-णाण-चरित्ते महिला वग्गम्मि दे दि वोपट्ठो।
पासत्थ विहु णियट्ठो भाव विणट्ठो णसो समणो॥

हे ज्ञानियो! मुक्तिवधू को वरण करना चाहते हो तो संसार के सकल प्रपंचों से रहित होकर रत्नत्रय की आराधना करो। जब निज देह का राग भी परमानंद में बाधक है, तो पर का राग तुम्हें कैसे शास्वत आनन्द दे पायेगा ? शिष्य-शिष्याओं का राग भी मुक्ति में विघ्नकारी है।

भगवत् श्री पद्मप्रभमलधारीदेव कह रहे हैं कि "जो जगत् के सुख-दुःख में लीन है, वह अपराधी है। जो आत्माराधना से शून्य है, वह सापराध है। आत्मा की आराध

ाना नहीं करने वाला साधक परम लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है।"

"अहमात्मानमानन्दमन्दिरं नौमि नित्यश:"

ज्ञानियो! भगवान् के मंदिर में जाना सरल है, परन्तु 'आत्मानंदमंदिर' में जाना कठिन है। मैं आनंद के मंदिर, आत्मानंद मंदिरस्वरूप आत्मा की ही निरन्तर स्तुति करता हूँ। आत्मानंद मंदिर में जाये बिना परमसुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अत: परमपद की प्राप्ति हेतु मैं आत्मानंद मंदिरस्वरूप आत्मा की शरण प्राप्त करता हूँ और उसी की आराधना करता हूँ।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

उत्थानिका : सिद्धों में अवगुण का अभाव

गाथा : णवि इंदिय उवसग्गा, णवि मोहो विम्हयो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होदि णिव्वाणं॥180॥

संस्कृत छाया : नापि इन्द्रियाः उपसर्गाः नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च।
न च तृष्णा नैव क्षुधा तत्रैव च भवति निर्वाणम्॥180॥

अन्वयार्थ : (इन्द्रियाः उपसर्गाः अपि) जहाँ पर इंद्रियाँ नहीं हैं और उपसर्ग भी नहीं हैं (मोहः विस्मयः अपि न) मोह और विस्मय भी नहीं है तथा (क्षुधा न एव) क्षुधा भी नहीं है (तत्र एव च निर्वाणं भवति) वहीं पर निर्वाण है।

नियमदेशना

तीर्थंकर जिनेन्द्र की पीयूष देशना मनीषियो ! जगत्कल्याणी है। आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द देव 'नियमसार' जी में निर्वाण के यथार्थ स्वरूप का व्याख्यान करते हुए समझा रहे हैं कि जहाँ न उपसर्ग है, न मोह है, न विस्मय है, न निद्रा है, न प्यास है, न क्षुधा है, न भय है, वहीं मुक्तावस्था है। शास्वत सुख मोक्ष में है।

हे ज्ञानियो! परम् निर्वाण योग्य आत्मा का जो स्वरूप है, उसका यहाँ व्याख्यान है। हे मुमुक्षु ! सिद्धों के समान ही मेरा स्वरूप है। एक प्रकट परमात्मा है, एक अप्रकट परमात्मा है। सिद्ध परमेश्वर प्रकट परमात्मा हैं और संसारीजीव शक्तिरूप परमात्मा होते हुये भी अभी पर्याय में अप्रकट परमात्मा है। जिस दिन भव्य संसारीजीव को ऐसा यथार्थ बोध हो जायेगा, तो चरणानुयोग, चारित्राचरण स्वयमेव प्रकट हो जायेगा।

हे जीवात्मा ! विवेक को भूले बिना कोई अशुभ कार्य कर नहीं सकता है। अशुभ करने के लिए पहले स्व-विवेक का नाश करना पड़ता है। हे जीव ! प्रथम अवस्था में जो पाप किया था, तब वहाँ झिझक थी, शर्म थी। हे गृहस्थो ! परस्पर में जब आपने प्रथम बार संयोग किया था, तब तुम्हारे अंदर झिझक थी, शर्म थी। लज्जा समाप्त होते ही व्यक्ति पाप में लिप्त हो जाता है। ज्ञानी ! लज्जा सहित, विवेकपूर्वक जीना ही मोक्षमार्ग है।

हे मित्र ! तू पहले शत्रु पर तलवार का वार करेगा कि वार करने के पहले अशुभ परिणाम करेगा ? क्रोध करेगा ? हे जीव ! कषाय को जाग्रत किये बिना आगे की क्रिया नहीं हो सकती है। किसी भी विषय में इच्छा जाग्रत होगी, फिर तद्नुसार क्रिया होगी। भोजन कर रहा है, तो पहले भूख लगी है। लोभकषाय जाग्रत हुई है, तो परिग्रह का, धन का संग्रह कर रहे हो। धन का लोभ धनलोभी को होता है। जिसे कामवासना की कामना नहीं है, उसे कामिनी की कोई कीमत नहीं है। अकषायी पुरुष के लिए परवस्तु अकिंचित्कर है। अकषायी को परवस्तु किंचित् भी कार्यकारी नहीं है। चोर भी परिग्रह संज्ञा, लोभकषाय से प्रेरित होकर चोरी करने आता है। तस्कर परवस्तु को पाने के लिए पहले विवेक छोड़ता है। साधक यदि परपदार्थों में जाता है, तो वह आत्मतत्त्व को छोड़ चुका है। आत्मतत्त्व की उपेक्षा किये बिना पर में दृष्टि जा ही नहीं सकती है।

हे जीव ! वैरागी होकर उन्मत्त नहीं होना, पर के विनाश का चिन्तन नहीं करना। दीक्षा के उन्माद में परिवार भी शत्रु दिखता है। हे वैरागी ! परिवार शत्रु नहीं है, तेरी कषाय ही तेरी शत्रु है। द्वेष में नहीं, वैराग्य में जीना सीखो। वैराग्य में जिओ। यदि वैरागी है, तो उसे परिवार के सदस्य जब रोकते हैं तो यही विचारता है कि यह मेरी परीक्षा की घड़ी है। मोही तो मोह करेंगे ही, परन्तु वैराग्यवान् वीतरागता को प्राप्त करेगा ही।

ज्ञानियो! राग और वैराग्य में विजय किसकी होती है? यदि प्रबल वैराग्य है, तो नियम से वीतरागता प्राप्त होगी। ज्ञानी ! जय के पूर्व विजय होती है। हे वैरागी ! पहले मुनि बनकर विजय करो, फिर परमात्मा बनकर तुम्हारी जय होगी। पहले विजय प्राप्त करो, फिर जय होगी। लौकिक जीवन में भी आपने देखा होगा कि पहले नेता जीतकर विजयी होता है, फिर उसकी जय होती है। ऐसे-ही मोक्षमार्ग है। यहाँ पर पहले विजय प्राप्त करो, फिर तुम्हारी जय-जयकार होगी।

हे ज्ञानी ! नकली मोती, नकली चंदन दिखने में तो सुन्दर हो सकते हैं, परन्तु यथार्थता से शून्य ही होंगे। वैसे-ही हे ज्ञानी ! बाह्य भेष मात्र है, तो उपसर्ग के आने पर भेद खुल जायेगा। यह रत्नत्रय मार्ग है, यहाँ बाह्य भेष के साथ परम वीतरागता, भावलिंग की प्राथमिकता है। योगी स्वानुभूति में लवलीन रहता है। जैसे मछली को

स्थल मात्र ही झुलसाता है, वैसे ही स्वानुभूति में लीन योगी को प्रपंच झुलसाते हैं। योगी का मन निजानन्द से बाह्य जाने का नहीं करता है। जो योगी, जो श्रमण निजानन्द में लीन रहते हैं, वही निर्वाणश्री को प्राप्त करते हैं, इसीलिए दक्षिण भारत में श्रमण-दीक्षा को निर्वाण दीक्षा कहते हैं। ज्ञानियो! जब भी निर्वाण मिलेगा, वह जिन भेष, जिन-दीक्षा से ही प्राप्त होगा।

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हिऊ ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥180॥

हे ज्ञानी ! जहाँ इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, वहाँ दुःख भी नहीं है। हर्ष-विषाद का कारण इन्द्रियाँ हैं। राग-द्वेष को करा रही हैं, तो इन्द्रियाँ। मुक्त आत्मा को इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, तो फिर उन्हें कष्ट कहाँ ? हे जीव ! ज्यों-ज्यों आयु बढ़ी, त्यों-त्यों तुम्हारी कामनायें भी बढ़ती गईं, कष्ट बढ़ता ही गया। इन्द्रियसुख की चाह में निरन्तर कष्ट बढ़ता ही गया। इन्द्रियसुख की चाह में कष्ट प्रारम्भ हो गया।

हे मित्र ! दस वर्ष के बालक से पूछना कि क्या उसे अभी कामवासना सम्बन्धी दुःख है ? अभी कामवासना की उसे चाह नहीं है, अतः वह सम्प्रति तत् सम्बंधी दुःख से दूर है। एक बालक के पास पाँचों इन्द्रियाँ हैं, परन्तु वह इन्द्रियों के भोग के प्रति लालायित नहीं है। हे जीव ! कषाय की उग्रता में, कषाय के वृद्धिमान होने पर इन्द्रियभोगों की चाह होती है, वही दुःख है। कषाय की उग्रता में इन्द्रियाँ ही दुःख देती हैं। जो इन्द्रियों के भोग हैं, वह सुखाभास हैं, वस्तुतः वह दुःख ही हैं।

मुमुक्षु ! बच्चों के चेहरे चमकते हैं, क्योंकि अभी इन्द्रियरूपी नागिन ने उन्हें डसा नहीं है, उन पर अभी इन्द्रियों का जहर चढ़ा नहीं है। संसार में मानसिक पीड़ा देने वाला ब्रह्माण्ड में कोई है तो मात्र स्वयं का इन्द्रियविषय। अभी बच्चों को इन्द्रियजन्य वासनाओं की पीड़ा नहीं है। हे जीव ! सत्यता यही है कि आप इन्द्रियों की पीड़ा को सहन नहीं कर पाते हैं, तब आपको पर से सम्बन्ध बनाना पड़ता है, घर-गृहस्थी बसाना पड़ती है। जो निज को वश कर लेता है, वह घर नहीं बसाता है। हे मुमुक्षु! निज को वश में करो।

हे मुमुक्षु ! यह जैनदर्शन है, वीतराग शासन है। अकषाय भाव ही धर्म है। गाय का बछड़ा गाय की दुग्धरियों से दुग्धपान कर रहा है, उसे आनंद आ रहा है। वहीं एक

बिल्ली के बच्चे को निहारना, वह दुबका हुआ बैठा है पर के घात करने के लिए। जो भी कषाय होती है, वह बिल्ली के बच्चे की तरह होती है। जो जीव कषाय में जीता है, वह प्रसन्नचित्त नहीं रहता है। हे जीव ! कषाय ही कष्ट देती है, कषाय ही कलुषित करती है। हे जीव ! कल्याण चाहते हो, तो कषाय को छोड़ दो।

हे जीव ! चकरी में अग्नि लगा दी, फिर कुछ नहीं करना, क्योंकि वह अपने आप ही घूमेगी। जो विघ्नसंतोषी जीव होते हैं, जो शांति से रह रहे हैं उनके मध्य में आकर चुगली कर दी, परस्पर में कषाय भड़का दी और फिर दूर रहकर मजा लूटते हैं। चकरी में बारूद भरा रहता है, वह चकरी तभी तक घूमती है जब तक उसमें बारूद शेष है। वैसे-ही ब्रह्मधर्म है, शील धर्म है। साधक के चेहरे पर तभी तक चमक है जब तक शीलधर्म है। तभी तक चेहरा चमकता है, आनंद रहता है, जब तक स्वकल्याण का लक्ष्य है। पर की ओर निहारते ही आनंद भंग होता है। हे जीव ! वीर्य/शक्ति का पतन होते ही चेहरा फीका पड़ता है। शक्ति को साधना में लगाओ, शक्ति को ऊर्ध्व की ओर ले जाओ।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द देव परम निर्वाण के योग्य परमतत्त्व के स्वरूप का कथन करते हुये कह रहे हैं कि जहाँ न मोह है, न तृषा है, न निद्रा है, न उपसर्ग है, न आश्चर्य है, न क्षुधा है, न भय है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न हास्य है, न रति है, वहीं निर्वाण है, मोक्षसुख है। जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ भगवत्ता कहाँ ? परमात्मा सर्वदोषों से रहित होते हैं।

हे मित्र ! भूखे को तुम करुणादृष्टि से पानी पिला देना, भोजन करा देना, परन्तु भगवत्ता के नाम पर किसी विपरीतमार्गी को श्रद्धा नहीं देना, उसके आगे माथा नहीं टेकना। श्रद्धा/आस्था हमारी मात्र सच्चे शास्ता पर ही है। देव, शास्त्र, गुरु का लक्षण आगम के अनुसार झलकना चाहिये। हे मित्र! प्लास्टिक के अंगूर में स्वाद नहीं होता है, कृत्रिम पुष्प में सुगंध नहीं होती है, वैसे-ही हे जीव! जिसने मात्र साधुत्व का भेष बनाया है, उसमें भगवत्ता प्रकट नहीं होती है। हे जीव! तुम देव का भेष, देव का आकार बना सकते हो, परन्तु उसमें वीतरागता का आनन्द नहीं दे सकते हो। हे भव्य ! सरागता में वीतरागता का आनंद आ ही नहीं सकता है।

हे मित्र! प्लास्टिक के फूलों से घर तो सजाया जा सकता है, परन्तु प्लास्टिक के

फूलों को सुवासित/सुगन्धित नहीं किया जा सकता है। हे मुनि! द्रव्यभेष से संख्या तो बढ़ाई जा सकती है, परन्तु द्रव्यभेष मात्र से निर्वाण की सिद्धि नहीं की जा सकती है। निर्वाण के लिए भावसहित द्रव्यभेष आवश्यक है। द्रव्यभेष के अभाव में भी निर्वाणश्री की प्राप्ति नहीं होती है। प्लास्टिक के पुष्प घर को शोभायमान तो कर सकते हैं, परन्तु घर को सुगन्धित नहीं कर सकते हैं। वैसे-ही हे जीवात्मा ! तुम द्रव्यसंयम से जगत् के द्वारा वंदना तो करा सकते हो, परन्तु मात्र द्रव्यभेष से बंधरहित नहीं हो सकते हो। प्लास्टिक के पुष्प सुन्दर हो सकते हैं, परन्तु सुगन्धित नहीं हो सकते हैं।

हे मित्र ! जीवन में महान् बनना है, तो कष्टों को सहन करना सीख लेना। ऊँचाइयाँ प्राप्त करना है तो उच्च सोच बनाकर चलना। सम्यक् सोच, सम्यक् चिन्तन ही सम्यक् दिशा देता है। जो शूलों से डरेंगे, वे सुगन्धित फूल नहीं बन पायेंगे। गुलाब का पुष्प काँटों के मध्य ही खिलता है। यदि पुष्प काँटों से डर जायेगा, तो खिलेगा भी नहीं।

हे जीव ! अधिकारों को प्राप्त करके उनका दुरुपयोग नहीं करना। जो दुरुपयोग करते हैं, उनके अधिकार छीन लिए जाते हैं। हे मुमुक्षु ! कर्म तीर्थंकरों को भी नहीं छोड़ते हैं, फिर तुम्हें कहाँ छोड़ेंगे ? हे भव्य ! यदि आप अपने को दु:खी करना चाहते हो, तो इन मेलों को बढ़ाते चलो, आप दु:खी हो जाओगे। दु:खी होना चाहते हो तो कोई व्यवस्था सँभाल लो, बस उसी क्षण से दु:ख प्रारम्भ हो जायेगा, क्लेश प्रारम्भ हो जायेगा, शांति पलायन कर जायेगी, अशांति प्रारम्भ हो जायेगी।

ओ हो ! कैसे-कैसे जीव हैं ? उन्हें व्यवस्था बनाने में ही आनंद आता है। अपने अंतरंग के आनन्द को छोड़कर प्रशंसा की चाह में अपनी शांति को भंग कर रहा है। हे साधक ! हे श्रमण ! पर की व्यवस्थाओं को छोड़कर निज की व्यवस्था को सँभाल। हे ज्ञानी ! जगत् के कर्तृत्व में पड़ते ही प्रमुदित जीवन समाप्त हो जाता है। हे भव्यात्मा! पर की व्यवस्थायें निज की व्यवस्थायें भंग कर देती हैं। ज्ञानी ! निर्वाण के पूर्व यह आचार्यपद भी छोड़ना पड़ेगा।

हे मित्र ! आप शुद्ध-सोले के वस्त्र पहिनकर जिनाभिषेक के लिए जिनमंदिर में प्रवेश कर रहे थे और तभी किसी शूद्र ने आपको छू लिया, तो आप अभिषेक करने से, आहारदान देने से वंचित हो गये। वैसे-ही हे योगीश्वर ! तुम निजानंद मंदिर में प्रवेश कर रहे थे और मध्य में जगत् के प्रपंचों में फँस गये, तो-फिर तुम निजानंद मंदिर में प्रवेश से वंचित रह जाओगे।

आचार्यभगवन् गोवर्धन स्वामी संघ सहित एक नगर में प्रवेश कर रहे थे। उन्होंने वहाँ एक बालक को देखा। वह बालक सिथोलिया खेल रहा था। उसने खेल-खेल में एक के ऊपर एक चौदह गोटी जमा लीं। तब निमित्तज्ञान से जानकर आचार्यभगवन् गोवर्धन स्वामी ने जान लिया था कि यह बालक इसी जीवन में बड़ा होकर दिगम्बराचार्य भद्रबाहु स्वामी होगा और चौदह पूर्व का ज्ञाता श्रुतकेवली होगा। ज्ञानी! कारण को देखकर कार्य का बोध होता है। जो बालक गुलेल से खेल रहा है, तमंचा माँग रहा है, तो समझ लेना कि यह बालक भविष्य में क्या बनेगा? एक वह भी बालक है जो भगवान् की मुद्रा को निहार रहा है, मुनि बनने का खेल-खेल रहा है, तो पूर्वानुमान लगा लेना कि ये भविष्य का क्या है?

पुण्यात्मा जीव की सभी संज्ञायें मंद होती हैं और पापी की संज्ञायें, कामनायें तीव्र होती हैं। सुकुल में जन्म लेने वाला ही सुव्रतों का धारक हो सकता है। प्रबल पुण्यात्मा ही पूर्ण व्रतों का पालन कर पाता है। हे मुमुक्षु ! पुण्यहीन जीव व्रतों का भी पालन नहीं कर सकता है। कुलीन व्यक्ति का भोजन भी शालीन होता है। जो गृद्धता के साथ भोजन कर रहा है, तो समझ लेना कि किसी भिखमँगे परिवार से है।

हे मित्र ! साधु की परीक्षा भी करना है, तो उसके आहार-विहार एवं भाषा से जान लेना। साधु बनना है तो पहले नैतिक बनना, फिर साधुभेष धारण करना। साधु में समत्वभाव, श्रमणत्व होना आवश्यक है।

ज्ञानियो! उस परमब्रह्मरूप परमतत्त्व में अखण्ड एक प्रदेशी ज्ञानस्वरूप होने से स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामक पञ्चेन्द्रियों के व्यापार नहीं हैं तथा देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत उपसर्ग नहीं हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन और यथाख्यात चारित्र से तन्मय होने के कारण दर्शन और चारित्र के भेद से विभक्त दोनों प्रकार का मोह नहीं है। बाह्य प्रपंच से विमुख रहने के कारण विस्मय/आश्चर्य नहीं है। निरन्तर प्रकट रहने वाले शुद्ध ज्ञानस्वरूप होने से निद्रा नहीं है और असातावेदनीय कर्म का क्षय हो जाने से क्षुधा-तृषा भी नहीं है। ऐसे परम सुख के भोक्ता सिद्ध परमात्मा ही निर्वाणसुख के अधिपति हैं।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

उत्थानिरका : निर्मुक्त परमतत्त्व का स्वरूप

गाथा : णवि कम्मं णोकम्मं, णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥181॥

संस्कृत छाया : नापि कर्म नोकर्म नापि चिन्ता नैवार्त्त-रौद्रे।
नापि धर्म्यशुक्लध्याने तत्रैव च भवति निर्वाणम्॥181॥

अन्वयार्थ : (कर्म नोकर्म अपि न) जहाँ पर कर्म और नोकर्म भी नहीं है (चिन्ता अपि न) चिंता भी नहीं है, (आर्त्तरौद्रे एव न) आर्त्त-रौद्रध्यान भी नहीं हैं तथा (धर्मशुक्लध्याने अपि न) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान भी नहीं है (तत्र एव च निर्वाणं भवति) वहीं पर निर्वाण है।

नियमदेशना

मनीषियो! तीर्थंकर जिनेन्द्र की पीयूष देशना जगत्कल्याणी है। आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द देव 'नियमसार' जी ग्रंथ में निर्वाण के यथार्थ स्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं। जहाँ न कर्म-नोकर्म हैं, जहाँ चार ध्यान का भी अभाव हो गया है, वहीं निर्वाण होता है। सिद्धों के शास्वत सुख की यहाँ व्याख्या कर रहे हैं।

ज्ञानियो! आत्मा का परम उत्कर्ष अंतिम दशा निर्वाण दशा है। जैसे गौरस की अंतिम दशा घृत है, दूध की अंतिम पर्याय घृत है। दुग्ध में अनेक रूप परिणमित होने की शक्ति होती है। जब-तक मलिनता है, तब-तक नानारूपता है। मलिनता का विलग होना ही एकत्व है। अनेकत्व ही मलिनता है। कर्ममल है, तो आत्मा नानारूप में है और कर्म अलग होते ही आत्मा एकत्वरूप हो जायेगी। वस्तु की स्वच्छत्व शक्ति/दशा अमिश्र होती है। मिश्र में मलिनता है और अमिश्र में निर्मलता है।

मित्र! वस्त्र गंदे कब होते हैं, मलिनता कब होती है ? पर के संयोग से वस्त्र मलिन होता है, वैसे-ही हे भव्यात्मन् ! जितने मलिन हो रहे हैं, हुये हैं, होयेंगे, मात्र पर के संयोग से। वस्त्र में स्वच्छता थी, लेकिन पर के संयोग से स्वच्छ वस्त्र भी मलिन हो गया। जब वस्त्र खरीदा था, तब वह स्वच्छ था। तेल, धूल के संयोग से वह मलिनता को प्राप्त हो गया। तन में, वस्त्र में तेल के निमित्त से मल के संयोग से मनिलता हुई

है। स्निग्धता से मलिनता हो गई है। वैसे-ही हे जीव ! आत्मा में राग, मोह की स्निग्धता से कर्म का संयोग हो जाता है। हे भव्य-आत्मा ! तू स्वभाव से तो निर्मल ही है, परन्तु परसंयोगों से मलिन हुआ है। परसंयोगों को हटा दे, परसंयोगों से हट जा, फिर तू जो है, सो है।

हे मित्र ! साबुन क्या करता है? क्या वस्त्र को स्वच्छ करता है ? नहीं, मल को वस्त्र से भिन्न कर देता है। भिन्न को ही तो भिन्न करता है। न वह मल का अभाव करता है, न वस्त्र का अभाव करता है। वैसे-ही भेदविज्ञान का कार्य है, निज से पर के संयोग को भिन्न कर देता है। जब भी चेतन मलिन होता है, तो मात्र पर के संयोग से। पर के संयोग से ही मन मलिन होता है।

ज्ञानी ! तू भाई के साथ माँ के पास शांति से रहता था, परन्तु जबसे तेरे बेटे की माँ ने घर में प्रवेश किया तो तू माँ से अलग हो गया, माँ से दूर हो गया। पर के संयोग से तू अपने और अपनों से दूर हो गया। पर के संयोग से तू निज से भी दूर हो गया है। हे ज्ञानी ! पर प्रवेश करता है, तो निज से दूरी हो जाती है। अपनों से दूरी हो जाती है, अपने से भी दूरी हो जाती है। हे मुमुक्षु ! पर प्रवेश होते ही परिणाम विपरीत होने लगते हैं। अपना संबंध दूर हो जाता है, पर का संबंध नजदीक हो जाता है। जहाँ स्वभाव में विभाव प्रवेश किया, वहाँ आनंद चकनाचूर हो जाता है।

हे मुमुक्षु ! मंत्रशास्त्र के अनुसार बीजाक्षर जितना अल्प होगा, वर्ण जितने कम होंगे, वह उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा। जिस वेदी पर एक भगवान् हैं, वहाँ तुम्हें बाँटने का भाव नहीं आयेगा। अल्प बीजाक्षरी मंत्र शक्तिमान होता है। परमाणु स्कंध से भी अधिक शक्तिशाली होता है। एक समय में परमाणु चौदह राजु प्रमाण गमन करता है, जबकी स्कंध नहीं कर सकता है। परमाणु में विशाल शक्ति है।

हे मित्र ! चिड़िया की आँख छोटी होती है, परन्तु आकाश में गमन करते हुए चिड़िया सरोवर में पानी के अन्दर स्थित कीड़े को देख लेती है और फिर नीचे उतर कर शीघ्रता से पकड़ लेती है। जितनी दृष्टि सूक्ष्म होगी, उतनी शक्ति विपुल होगी। ज्ञानी ! तुमने तांगे के घोड़े को देखा, उसकी आँखों की साइड में कपड़े की पट्टी लगा दी जाती है, क्यों? इसलिए कि वह इधर-उधर न देखे, जहाँ गमन करना है, मात्र उसी दिशा में देखे। वैसे-ही यह रत्नत्रय मार्ग है। हे श्रमण ! ये आत्म-रथ है। बाहर

प्रपंचों को मत देखो, मत सुनो। निज को निहारो, निज को जानो। जितना पर को सुनोगे, पर की सलाह लोगे, उतना ही अधिक परेशान होओगे। निज का विवेक निज में प्रयोग करो। यदि जगत् के सभी लोगों की बात मानोगे तो लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाओगे। पर के निर्णय से जियोगे तो शांति से जीवन नहीं जी पाओगे। हमारे यहाँ सोच नहीं, अपितु शौच धर्म स्वीकार है। जिसकी सोच शौच है, वही वीतराग-शासन में, जैनदर्शन में जिनोपदेश देने का पात्र है।

हे मुमुक्षु ! तत्त्वोपदेश भावात्मक, सर्वहितकारक होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में एक मंत्री बनाना चाहिये। हे मित्र ! विवाह भी भोग दृष्टि से नहीं करना, पत्नि भी पति के लिए एक मंत्री है। विवाह हो गया, तो स्वदार-संतोष व्रत हो गया। जैनदर्शन में विवाह भी व्रत है। ज्ञानियो! संतान ही संस्कृति की रक्षा करेगी। संस्कारवान् संतान ही श्रमण बनेगी। हे मुमुक्षु ! अपने अंदर ही राज्यसभा निर्मित करना। सामायिक का समय मंत्रालय का है। निजदेह में विधानसभा, निज आत्मप्रदेशों पर दृष्टि करो, अपने ही आत्मगुणों का विकास करो। जहाँ संविधानसभा नहीं होगी, उस राज्य की उन्नति समाप्त हो जायेगी। वैसे-ही ज्ञानी मुमुक्षु ! आत्मोन्नति के लिए ध्यानसभायें लगाओ निज में।

विधानसभा में सामान्य लोगों का प्रवेश नहीं होता है, वैसे-ही हे श्रमण! जब सामायिक करने बैठो तो निज के आत्मा को केन्द्र बनाना, उसमें पर को प्रवेश नहीं देना। पर से भी ज्यादा नहीं मिलना, जगत् को भी ज्यादा जानने का पुरुषार्थ नहीं करना। अपनी बुद्धि से जिओ। 'स्व-बुद्धि सुखकारणं, गुरुबुद्धि विशेषता।' हे श्रमण! स्व को समय दो, निज को निहारो। किसी ज्योतिषी से पूछने की आवश्यकता नहीं है कि मेरा भविष्य क्या होगा ? जिन-जिनको आत्मकल्याण की इच्छा हो, उनको जनसंपर्क से दूर रहना चाहिये। जनसंपर्क निजात्मकल्याण से दूर कर देता है। सबके साथ रहो, परन्तु फिर भी निज में रहो। ज्ञानी ! जिस दिन तुम दूसरे में मिल जाओगे, उसी दिन तुम्हारी निज की सत्ता समाप्त हो जायेगी। अपने परिणामों को सँभालो, मिश्रधारा से अपनी रक्षा करो। हे जीव! तुम मिश्रधारा के अनुसार चले तो पंचमकाल में आना पड़ गया है। हे जीव! ऐसा समय भी आयेगा, छटवाँ काल, जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को कच्चा खा जायेगा। ज्ञानियो! यदि अभी से वीतराग शासन पर आस्था बनी रही, तो

छट्टे काल में भटकने से बच जाओगे।

हे मित्र ! पटरी पर अनेकानेक ट्रेनें चलती हैं, उनमें से अनेक दुर्घटना से पटरी से च्युत भी हो जाती हैं, फिर उन्हें सुधारकर पुनः पटरी पर दौड़ाया जाता है। वैसे ही हे मुमुक्षु ! यह मोक्षमार्ग है, इस पर तीन कम नौ कोटि भावलिंगी, वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनि विचरण कर रहे हैं, उनमें से यदि कोई किंचित् भी च्युत होता है तो उसे प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्ध कर पुनः मोक्षमार्ग में स्थित कर लिया जाता है। हे मित्र ! किसी की व्यक्तिगत विपरीत प्रवृत्ति को देखकर हम मोक्षमार्ग, रत्नत्रय धर्म को दूषित नहीं कर सकते हैं।

ज्ञानी ! मंत्री को सुरक्षित रखना। जो यथार्थता का सच्चा बोध कराये, वही तो मंत्री है। मंत्री ही विपरीतता से रोकता है। हे आत्मन् ! वीतराग मार्ग में जन्म लेकर विपरीत निर्णय नहीं ले लेना। यदि मति भ्रष्ट हो गई, तो गति भी भ्रष्ट होगी। व्यक्ति पहले अपने विवेक को नष्ट करता है, फिर पाप करता है। विवेक नाश किये बिना अनाचार हो नहीं सकता है। पहले व्यक्ति दूषित चित्र देखता है, फिर चित्त को दूषित करता है, पश्चात् चारित्र से च्युत होता है।

हे मित्र ! पहले माँ का पत्र आता था तो अनेक बार उसे खोलकर पढ़ता था, क्योंकि उसमें प्रीति होती थी। अब तो मोबाइल आ गये हैं, इनके प्रयोग से प्रीति घटी है, वासनायें बढ़ी हैं। ऐसे-ही जिनेन्द्र की जो वाणी है, वह जिनवाणी है। ज्ञानी ! शास्त्रों का अध्ययन करो, यह अरिहंतदेव का भव्यजीवों को पत्र है, उसमें सदोपदेश भरा है, इसलिए उसे भी खोलकर देख लिया करो।

हे मित्र ! जितनी प्रीति तुम यंत्रों में करते हो, उतनी प्रीति यदि तुम जिनेन्द्र की वाणी अर्थात् मंत्रों में करलो तो नियम से निर्वाणमार्ग पर लग जाओगे। ज्ञानी ! पर पदार्थों में तू जितना राग करेगा, उतना-उतना तेरा क्लेश भी बढ़ेगा। संसार में दुःख का मूलकारण देह में आत्मबुद्धि ही है।

हे मुमुक्षु! जिसमें जन्म और जरा रूप पीड़ा नहीं है, मृत्यु जिसका पराभव नहीं कर सकती, जो गति-अगति से रहित है, वह परमतत्त्व, गुणों से श्रेष्ठ निर्ग्रन्थ गुरुओं के प्रसाद से, उनकी सेवा के प्रसाद से प्राप्त किया जा सकता है। 'अमृताशीति' में

भी कहा कि—

ज्वरजनन जराणां वेदना यत्र नास्ति/परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा।

तदतिविशदचित्तैर्लभ्यतेऽङ्गे ऽपि तत्त्वं/गुणगुरुगुरूपादाम्भोजसेवा प्रसादात्॥

आचार्यभगवन् श्री पद्मप्रभमलधारीदेव परमब्रह्म की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालंकृते निर्विकल्पेऽ

क्षाणामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं नैव किंचित्।

नैवान्ये वा भविगुणगणाः संसृतेर्मूलभूताः

तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकम्॥300/कलश॥

हे भव्यात्मा ! अनुपम गुणों से सुशोभित, विकल्पातीत, जिस परमब्रह्म में इन्द्रियों की कुछ भी विविध एवं विषय प्रवृत्ति नहीं है और न संसार के मूलभूत संसारी जनोचित अन्य गुणों के समूह ही विद्यमान हैं, उसी श्रेष्ठ ब्रह्म परमात्मतत्त्व में निरन्तर आत्मसुख से तन्मय निर्वाण सुशोभित होता है।

ज्ञानी ! कपड़े धारण करना ही एक क्लेश है। जितना-जितना परिग्रह उतना-उतना पाप। कपड़े हैं तो चिंता है, कष्ट है। वीतरागी मुनि कपड़े क्यों नहीं पहनते हैं ? इसलिए नहीं पहनते हैं कि—कपड़े-उतारने में, कपड़े धोने, रक्षण करने में जो समय लगता है वह समय निजात्मा के कल्याणार्थ लगायें। मित्र ! कपड़े होंगे तो मलिन भी होंगे, भाव भी बिगड़ेंगे। दिगम्बर मुनि अयाचक वृत्ति के धारक होते हैं। चिन्तारहित होना है, तो निर्ग्रन्थ मार्ग ही सर्वोत्कृष्ट है।

चिन्तया नश्यते ज्ञानं चिन्तया नश्यते बलम्।

चिन्तया नश्यते बुद्धि र्व्याधिर्भवति चिन्तया ॥34 ज्ञानाङ्कुश॥

हे जीव! परपदार्थों की चिन्ता से ज्ञान नष्ट होता है, परपदार्थों की चिन्ता से बल नष्ट होता है, परपदार्थों की चिन्ता से बुद्धि नष्ट होती है और परपदार्थों की चिन्ता से व्याधि (शारीरिक पीड़ा) होती है।

हे माँ! तुम्हें यदि स्वादिष्ट भोजन बनाना नहीं आता है, तो तुम्हारे घर का क्लेश

कभी दूर नहीं हो सकता है। स्वस्थ चित्त रखने के लिए भोजन में उत्साहशक्ति, पौष्टिकता होना चाहिये। भोजन भी करो, तो उत्साहपूर्वक करो। स्वच्छ भोजन करने वाले का ही चित्त स्वस्थ होता है। दूषित आहार दूषित मानसिकता को जन्म देता है। श्रावको! शुद्ध आहार, मात्र शाकाहार। जिसका भोजन शुद्ध होगा, उसी का चारित्र/ आचरण पवित्र होगा।

हे मित्र ! एक नवजात शिशु को निहारना, विलखते हुये अश्रु गिराता है और जननी के स्पर्श से शिशु के अश्रु आना बंद हो जाते हैं। वात्सल्यपूर्ण माँ के आँचल में दुग्ध भर जाता है और दुग्धपान करते हुए शिशु को आनंद आता है। जननी माँ के मिलते ही शिशु का क्लेश समाप्त हो जाता है। वैसे-ही हे श्रावको! इन्द्रियभोग से त्रसित होकर भव-भ्रमण कर संतप्त हो रहे हो, अब तुम जिनेन्द्र की पीयूष देशना का रसपान करो तो भवभव का संताप शांत हो जायेगा। जिनवाणी ही संगीत है। प्रभु की वीतराग वाणी ही मंत्र है। अर्हत् वचन ही औषधिस्वरूप हैं। जो जीव प्रीतिपूर्वक जिनेन्द्र की वाणी सुनता है, वह भव्यात्मा नियम से भगवान् बनता है।

णवि कम्मं णोकम्मं, णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।

णवि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥181॥

आचार्यभगवन् श्री कुन्दकुन्द देव समस्त कर्मों से रहित, शुभ, अशुभ, शुद्ध ध्यान तथा ध्येय के विकल्प से निर्मुक्त, परमतत्त्व, सिद्धों के स्वरूप का व्याख्यान करते हुये कह रहे हैं कि जहाँ न कर्म है, न नोकर्म है, न चिन्ता है, न आर्त्त-रौद्र ध्यान है और न ही धर्म-शुक्ल ध्यान है, वहीं निर्वाण होता है।

हे मुमुक्षु ! सिद्धों की अलौकिक दशा है! शास्वत-सुख में लवलीन हैं वे परम परमेश्वर ! जहाँ सदा निरञ्जन होने से आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं, तीनों काल में उपाधि रहित होने से पाँच नोकर्म नहीं हैं, मनरहित होने से चिन्ता नहीं है, औदायिकादि विभाव भावों का अभाव होने से आर्त्त-रौद्र ध्यान नहीं हैं तथा धर्म-शुक्ल ध्यान के योग्य चरम शरीर का सद्भाव होने से धर्म-शुक्लध्यान भी है, वहाँ महान् आनन्दरूप निर्वाण होता है।

ज्ञानियो ! रत्नत्रय धर्म है और उसका फल मोक्ष है। शास्वत सुख कहीं है तो मात्र

सिद्धालय में विराजे सिद्ध परमेश्वर को है। यदि उस परमसुख को चाहते हो तो रत्नत्रय धर्म को धारण करो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की आराधना ही सम्यक् आराधना है और यही सच्चा मोक्षमार्ग है और इसी आराधना का फल मोक्ष है। जिनलिंग से ही मोक्ष सम्भव हैं, अन्य लिंग से निर्वाण की सिद्धि नहीं होती है।

जो आत्मस्वरूप में लवलीन हैं, निर्वाण में स्थित हैं, जिन्होंने पापरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है, जो अतिशय विशुद्ध हैं और ज्ञान के पुञ्ज-स्वरूप हैं, उन परम-ब्रह्म सिद्धभगवान में न कोई कर्म ही शेष रह जाते हैं और न चार ध्यान ही रहते हैं। उनके तो एक वह अनिर्वचनीय मुक्ति होती है जोकि वचन और मन दोनों से दूर रहती है।

निर्वाणस्थे प्रहतदुरितध्वान्त संघे विशुद्धे
कर्माशेषं न च न च पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कम्।
तस्मिन्सिद्धे भगवति परंब्रह्मणि ज्ञानपुंजे
काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम् ॥301 कलश॥

॥भगवान महावीरस्वामीकी जय॥

नियमसार

उत्थानिका : सिद्धों के स्वाभाविक गुण

गाथा : विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥182॥

संस्कृत छाया : विद्यते केवलज्ञानं केवलसौख्यं न केवलं वीर्यम्।
केवलदृष्टिरमूर्तत्त्वमस्तित्वं सप्रदेशत्वम् ॥182॥

अन्वयार्थ : उन सिद्ध भगवान के (केवलज्ञानं) केवलज्ञान, (केवलदृष्टि:) केवलदर्शन, (केवलसौख्यं च) केवलसौख्य, (केवलंवीर्यं) केवलवीर्य, (अमूर्तत्वं) अमूर्तत्व, (अस्तित्वं) अस्तित्व और (सप्रदेशत्वं) सप्रदेशत्व (विद्यते) होते हैं।

नियमदेशना

कुन्दकुन्द देव नियमसार जी ग्रन्थ में सिद्धों के स्वरूप का व्याख्यान करते हुए कह रहे हैं कि शुद्धात्मा जो है, परमतत्त्व है, निरंजन है, निराकार है, वहाँ धर्म-शुक्लध्यान का भी अभाव होता है। ध्यान अप्राप्य का होता है और अनुभवन प्राप्य का होता है। जब तक ध्यान है, तब तक संसार है। संसारातीत ध्यान नहीं करता है। जो भेदाभेद धर्म है, वह शास्वत धर्म की प्राप्ति के लिए है। श्रावक-श्रमण का क्रियारूप धर्म कषाय उपशमन के लिये है। भेदाभेद-धर्म धर्म की प्राप्ति के लिए है। जो अन्तिम धर्म है, वही वास्तविक धर्म है। जीवद्रव्य का सहजस्वभाव परमपारिणामिक धर्म है।

मुनिधर्म का पालन, श्रावकधर्म का पालन स्वकल्याण मात्र के लिए है। अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवृत्ति है और शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति का उपाय है। कल्याण कौन-सी वस्तु है? बीज को भूमि में डालना, अंकुरित होना, वृक्षरूप परिवर्तित होना, तदोपरांत फल प्राप्ति होती है। अंकुर का आना, पुष्प का आना फल नहीं है। फल का आना फल है। ज्ञानियो! मार्ग और मार्ग का फल भिन्न-भिन्न है। रत्नत्रय मार्ग है और मोक्ष उसका फल है। व्रताचरण मार्ग है, मार्ग का फल नहीं है।

हे जीव ! श्रावक धर्म, श्रमण धर्म यह मार्ग है, इसका फल सिद्धावस्था है। अंकुरण फल नहीं है। डाली, तना, पत्ते, छाल, स्कंध, पुष्प ये फल नहीं है, फल तो फल है। ऐसे-ही महाव्रत, समिति, गुप्ति, चारित्र, रत्नत्रय धर्म महास्कंध है, इनका फल मोक्ष

है। जहाँ फल दिखाई देता है, वहाँ पुष्प दिखाई नहीं देता है। पुष्प जाता है, फल आते हैं। फूल झड़े बिना फल आते नहीं हैं।

हे मुमुक्षु ! समझो, कारणसमयसार, कार्यसमयसार। ज्ञानियो! कारणसमयसार से कार्यसमयसार की प्राप्ति होती है। शिशु युवा हुआ, युवा प्रौढ़ हुआ, प्रौढ़ वृद्ध हुआ। आज तक किसी जीव ने अपनी मृत्यु को नहीं देखा। मरण के बाद मेरा शरीर कैसा होगा, यह किसी ने नहीं देखा है। हाँ, व्यंतर बनकर देख सकते हो, परन्तु उसी पर्याय से अनुभूति नहीं ले सकते हो। उसी प्रकार सिद्ध परमेश्वर संसार का वेदन नहीं कर सकते हैं। सिद्ध परमात्मा जगत् के किसी भी पदार्थ का वेदन नहीं करते हैं। जैसा मैं आत्मभूत होकर अपना वेदन करता हूँ, वैसा सिद्ध परमेश्वर मेरा किंचित् भी वेदन नहीं करते हैं। शुद्धात्मा अशुद्धात्मा का तन्मयभूत होकर वेदन नहीं करता है। हे मुमुक्षु! जैसा मैं मेरे बारे में जानता हूँ तन्मयभूत होकर, वैसा अन्य कोई मुझे जान नहीं सकता है। ज्ञानियो! तुम परवस्तु को ज्ञेय तो बना सकते हो, परन्तु उसे आत्मभूत परिणत नहीं कर सकते हो।

हे मित्र ! उच्च पद पर आसीन व्यक्ति, राजपुत्र भी, यदि अपराध करता है तो वह भी अपराधी ही है। ज्ञानी ! यह वीतरागता का मार्ग है। कषाय की एक कणिका भी विद्यमान है तो अभी कषायी है, अपराधी है। कण-कण स्वतंत्र है। अणु-अणु स्वतंत्र है। परके राग में स्व को मत भूल जाना। पर 'पर' है, स्व 'स्व' है। निज में पर का किंचित् भी प्रवेश नहीं होता है। हे मुमुक्षु ! निज स्वभाव शुद्ध-स्वभाव को निहारो।

हे भव्यात्मा ! धर्म तो धर्म है, फल तो फल है। फल वृक्ष नहीं, फूल फल नहीं है। जो रत्नत्रय धर्म है, वह धर्म नहीं है। मुमुक्षुओ! चाहे निश्चय रत्नत्रय हो चाहे व्यवहार रत्नत्रय, वह भी धर्म नहीं है। पुष्प तो पुष्प है, वह फल नहीं है। रत्नत्रय धर्म नहीं है, परन्तु फिर भी धर्म है। सिद्ध भगवान् के ध्यान नहीं होता है और ध्यान के बिना सिद्ध होते नहीं तथा सिद्धों के ध्यान होता नहीं है। सिद्धदशा फलभूत है। ज्ञानियो! अपनी प्रज्ञा का प्रयोग करो, अपनी प्रज्ञा को विपरीत मार्ग में मत लगाओ। श्रावको! यह अध्यात्मविद्या है, यहाँ परम अध्यात्म की व्याख्या है। तुम अपने अनुसार जीना, हीनभावना नहीं लाना, क्योंकि यहाँ परमतत्त्व की प्ररूपणा है।

हे मित्र ! एक धनिक व्यक्ति परदेश में भ्रमण कर रहा है, उसे कोई नहीं जानता, फिर भी उसका चेहरा चमकता है, क्योंकि उसने अपने घर में धन एकत्रित करके रखा है। वैसे-ही जिसके अन्दर, अन्तरंग में चारित्र लहरा रहा है, उसके मुख पर तेज होता है, ओज होता है। मुमुक्षु ! यह मोक्षमार्ग है, यहाँ मात्र भीड़ देखकर नहीं आ जाना। अन्तरंग में वैराग्य हो, आत्मकल्याण की दृष्टि हो, साधना का लक्ष्य हो, संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति हो तो मोक्षमार्ग में आना। हे ज्ञानी ! राग-द्वेष से परम इष्ट की सिद्धि नहीं होती है।

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं॥182॥

आचार्यभगवन् श्री कुन्दकुन्द देव सिद्धों के गुणों का बखान करते हुए कह रहे हैं कि—केवलज्ञान, केवलसौख्य, केवलवीर्य, केवलदर्शन, अमूर्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व सिद्धों के गुण हैं।

ज्ञानियो! सिद्धालय में विराजित उन सिद्धों के एकसाथ सर्व-पदार्थों को जानने में समर्थ केवलज्ञान रहता है। अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक और भूतकाल, वर्तमान काल, भविष्यत्काल के सभी जीवों के एकत्रित हुए सर्व-सुखों की अपेक्षा अनंत गुणा अधिक सुख सिद्धों में होता है, वही सौख्य है।

ज्ञानियो ! चक्रवर्ती, देवकुरू—उत्तरकुरू की भोगभूमियाँ, धरणेन्द्र, सुरेन्द्र और अहमिंद्र इन सबका तीनकालसंबंधी जो सुख है, उससे भी अनंतगुणा अधिक सुख सिद्धों को एक क्षण में होता है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देवेन्द्र, विद्याधरादि जीवों की एकत्रित हुई शक्ति की अपेक्षा भी अनन्तगुणी शक्तिरूप से उन सर्वशक्तिमान् प्रभु के केवलवीर्य नाम की अनन्त शक्ति होती है और इस तीनलोक सदृश यदि अनन्त-अनन्त लोक भी और-हो जावें, तो उन्हें भी देखने में समर्थ, केवल असहाय सर्वोत्कृष्ट दर्शन उन सिद्धों के केवलदर्शन होता है।

हे मुमुक्षु ! वे परम परमेश्वर अनन्तानंत गुणों के धारक होते हैं। वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श रूप मूर्तिक पुद्गल गुणों से शून्य अमूर्तत्व गुण रहता है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से सदाकाल रहने वाला अस्तित्व गुण है। लोकाकाश-प्रमाण असंख्यात प्रदेशों की

अपेक्षा से सप्रदेशत्व गुण है।

ज्ञानियो! पूर्णरूप से अन्तर्मुखकार स्वात्मा के आश्रय से होने वाले निश्चय परम शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों का क्षय हो जाने से भगवान् सिद्ध परमेष्ठी के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य, केवलसुख, अमूर्तत्व तथा सप्रदेशत्वादि स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं।

ज्ञानियो! अतीतकाल से सम्प्रतिकाल तक अनन्त काल पर्यन्त अनन्तानन्त सिद्ध हुए हैं। वहाँ वे सब अपने-अपने प्रदेशों से परम्परा में एक क्षेत्र में रहते हुए भी अपने-अपने अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अगुरुलघु आदि अनन्त गुणों के साथ अपनी सत्ता से भिन्न-भिन्न हैं।

हे मुमुक्षु ! जो तीर्थंकरदेव गृहस्थ-अवस्था में जनक-जननी को भी प्रणाम नहीं करते हैं, दिगम्बर भावलिंगी मुनियों को भी नमस्कार नहीं करते हैं, ऐसे तीर्थंकर भी उन सिद्ध परमेष्ठी को निरन्तर नमस्कार करते हैं। तीर्थंकर देव भी जैनेश्वरी दीक्षा धारण के पूर्व "नमः सिद्धेभ्यः" ऐसा उच्चारण कर उन निकल (शरीररहित) परमात्मा को नमस्कार करके स्वयं ही दीक्षा ग्रहण करते हैं और मन:पर्ययज्ञानी होकर भी उन सिद्धों का ध्यान करते हुए ही सिद्ध होते हैं।

ज्ञानियो ! ऐसे उन सिद्ध परमात्मा का नामस्मरण भी मंत्र ही है। सिद्धों का नाम-मंत्र-स्मरण सर्वकार्यों की सिद्धि के लिए अमोघशक्ति है। णमो सिद्धाणं, ओम् नमः सिद्धेभ्यः, ओम् सिद्धाय नमः, सिद्धं नमः, सिद्ध, इत्यादि मंत्रों का अपनी आत्मा की सिद्धि के लिए सतत् स्मरण करना चाहिए, मंत्र जपना चाहिए तथा वचनों के द्वारा उच्चारण करना चाहिए।

॥भगवान महावीर की जय॥

नियमसार

उत्थानिका : सिद्ध और सिद्धि में अभेद निरूपण

गाथा : णिव्वाणमेव सिद्धा, सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा, गच्छदि लोयग्गपज्जंतं॥183॥

संस्कृत छाया : निर्वाणमेव सिद्धाः, सिद्धा निर्वाणमिति समुद्दिष्टाः।
कर्मविमुक्त आत्मा गच्छति लोकाग्रपर्यन्तम्॥183॥

अन्वयार्थ : (निर्वाणं एव सिद्धाः) निर्वाण ही सिद्ध हैं और (सिद्धाः निर्वाणं) सिद्ध ही निर्वाण हैं (इति समुद्दिष्टाः) ऐसा कहा गया है क्योंकि (कर्म विमुक्तः आत्मा) कर्म से विमुक्त आत्मा ही (लोकाग्रपर्यंतं) लोक के अग्रभाग पर्यंत (गच्छति) जाता है।

नियमदेशना

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द देव नियमसार जी ग्रन्थ में निर्वाण और सिद्ध परमेश्वर, मोक्ष और मुक्तात्मा का व्याख्यान करते हुए समझा रहे हैं।

ज्ञानी ! यहाँ उस परमतत्त्व की व्याख्या है, जिसके लिए प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है, जिसके लिए सम्पूर्ण श्रावक-साधना और श्रमण-साधना की जाती है, उसका एकमात्र लक्ष्य होता है परमतत्त्व की प्राप्ति। जब तक जगत की प्रसिद्धि का लक्ष्य है, तब-तक सिद्धि से शून्य ही रहोगे। एक समय में एक ही कार्य सम्भव है, सिद्धि या फिर प्रसिद्धि।

हे मित्र ! आत्मसिद्धि के लक्ष्य से जिनालय जाना। यदि जिनालय में भी प्रसिद्धि का लक्ष्य है, तो कारण-कार्य विपर्यास है, मायाचारी है। जिनमंदिर आने का उद्देश्य अशुभ भावों से बचना मात्र है। मुमुक्षु ! छटवें गुणस्थान में सहज ही यशःकीर्ति होती है मुनिराज की, वहाँ अपयश का उदय नहीं रहता है। भावलिंगी श्रमण का अपयश नहीं फैल सकता है। उच्च कुल के अभाव में जिनदीक्षा सम्भव नहीं है। महान् पुरुष ही सुव्रतों को धारण कर सकता है। महाव्रत महान् पुरुषों की पहिचान है। महाव्रतों का पालन करने वाला नियम से महापुरुष ही होगा।

देस-कुल-जाइ-सुद्धा विसुद्ध-मण-वयण-काय-संजुत्ता।
तुम्हं पाय-पयोरूह-मिह मंगल-मत्थु मे णिच्चं॥

ज्ञानियो! सुव्रतों का निरतिचार पालन, महाव्रतों का पालन देश-कुल से शुद्ध व्यक्ति ही कर सकता है। जिसका मन विशुद्ध होगा, वही रत्नत्रय धर्म को धारण कर सकता है। जिसका कुल शुद्ध होगा, वही भगवान् जिनेश्वर के लिंग को धारण कर रत्नत्रय का पालन कर सकता है।

हे युवको ! तुम उस कुल में जन्में हो जिसमें कभी तीर्थंकरों का जन्म हुआ था, जहाँ जिनाभिषेक होता है और जहाँ निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनियों को पड़गाहन कर नवधा-भक्ति-पूर्वक प्रासुक आहार दिया जाता है। अपनी कुलपरम्परा को दूषित नहीं करना। यह तीर्थंकरों का कुल है।

हे मित्र ! द्रव्य (धन) का अभाव दरिद्रीपना नहीं है, नहीं-तो फिर वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनि क्या कहलायेंगे ? जो श्रद्धा-भक्ति से शून्य होता है, वही गरीब है। जो प्रभु और गुरु के करीब नहीं होता है, श्रद्धा से चकनाचूर होता है, वही गरीब होता है। हे मित्र! दासी का दास होना स्वीकार कर लेना, परन्तु जिनदेव के कुल को नहीं छोड़ना।

ज्ञानियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द देव सिद्ध की व्याख्या कर रहे हैं। हे मुमुक्षु! आत्मसिद्धि के लिए प्रसिद्धि एक ज्वाला है। निज के भावों को निज से पहिचानना प्रारंभ कर दो। मित्र! किसी को ताप है तो आप उससे दूर रहते हो, क्यों ? क्योंकि पर के ताप से आपको संताप हो सकता है। उसी प्रकार हे जीव ! पर के परिणामों से, पर संयोगों से निज को संताप होता है। ज्ञानियो! संताप मिटाना है तो श्रमण बनो, श्रामण्य पूर्वक समता, सरलता, सहजता का जीवन जिओ और संयम-साधना करके स्वात्मोपलब्धि-सिद्धि को सिद्ध करो।

हे जीव ! प्रसिद्धि का भाव बंध का कारण है, और सिद्धि का मार्ग निर्बन्ध का मार्ग है। निर्ग्रन्थता ही सर्वसिद्धि का मार्ग है। जब सिद्धि होती है, तो प्रसिद्धि स्वयमेव हो ही जाती है। हे साधको! आत्मसिद्धि सिद्ध करना है तो व्रत-उपवास नीरसाहार के साथ मानकषाय, लोभकषाय की तीव्रता को भी मंद करना होगा। मनुष्य मान का पुतला होता है। मनुष्य के पास प्रबल-शक्ति है मानकषाय । मान के मगरे पर बैठा व्यक्ति पूज्यपुरुषों को भी हीनभावना से देखता है, उनके गुणों में भी अवगुण खोजता है। हे मनुष्य ! मान महाविष के समान है, जो नीचगति में पहुँचा देता है।

हे मुनि ! मोक्ष जाने में समय नहीं लगता है, परन्तु मोह-मान छोड़ने में बहुत समय लगता है। वीतराग भेष बनाने में कम समय लगता है, परन्तु वीतरागभाव में जीना कठिन है। हे माँ! रोटी बनाने में समय लगता है, परन्तु खाने में कम समय लगता है। ओ हो! स्वाद की चाह में पूरा जीवन स्वाहा कर दिया, पूरा जीवन कमाने में लगा दिया।

हे जीव ! कषायों को शमन करने में बहुत समय लगता है, मोक्ष जाने में कम समय लगता है। ज्ञानियो! तीर्थंकरों को भी संस्कार डालने में दस-दस भव लग जाते हैं। मोक्ष जाना इतना सरल नहीं है, उसके लिए प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता है। मोह छोड़ने में दस-दस भव लग जाते हैं। ज्ञानियो! ऐसे भी भव्यजीव हुए जिन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा ली और अन्तर्मुहूर्त में ही मोक्ष हो गया।

हे मुमुक्षु ! तत्त्वचर्चा, स्वाध्याय, तत्त्वरुचि, तत्त्वनिर्णय यह जानने का उपाय है कि मैं शुद्ध स्वभाव से सिद्ध समान हूँ। परन्तु जानने मात्र से कार्य नहीं होगा, आचरण भी करना होगा। जो जीव बंध-अवस्था में, निरपेक्ष भाव से, संसार अवस्था में ही आत्मा को मुक्त मान रहे हैं, उनका कभी मोक्ष नहीं होगा।

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्यशुद्धे प्रसिद्धे
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत्।
दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यन्तिकं च
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणः शुद्धशुद्धश्च नित्यम्॥302/कलश॥

ज्ञानी ! सिद्धों को कर्मबंध का छेद हो जाने से निरन्तर शुद्ध रहने वाले अतिशय प्रसिद्ध-सिद्ध भगवान के केवलज्ञान, समस्त पदार्थों को विषय करने वाला केवलदर्शन, आत्यन्तिक-अविनाशी सुख और निरन्तर शुद्ध रहने वाले वीर्यादि अन्य गुण-मणियों का समूह प्रकट हो जाता है।

ज्ञानियो! धर्म की भाषा प्राकृत है, हमारी मुद्रा भी प्रकृतिमय दिगम्बर है, यथाजात मुद्रा, बालकवत्। कपड़ेधारियों की संख्या अल्प है, यह संदेश सम्पूर्ण जगति/प्रकृति दे रही है। वनस्पति, प्राणी, जन्तु, पशु, वृक्ष, नदी-पहाड़ भी ननत्व का संकेत दे रहे हैं। प्रत्येक जीव, चाहे वह मनुष्य हो या तिर्यञ्च, नग्न ही जन्म लेते हैं और मरण होने पर नग्न करके ही देह विसर्जित की जाती है। मुमुक्षु ! कुभाव भाव का अभाव करना ही

धर्म है। अधर्म के लिए आडम्बर जोड़ना पड़ता है, परन्तु धर्म के लिए कोई भी आडम्बर की आवश्यकता नहीं है।

हे जीव ! जो विषय-कषाय हैं, उन्हें उतार दो, तो वस्त्र भी उतर जायेंगे, धर्म स्वयमेव प्रवेश कर जायेगा। मुमुक्षु ! अनादिकाल से भ्रमण करते आ रहे हो। विभाव में अनेक भव व्यतीत हो गये। मुमुक्षु ! हे भव्यात्मा ! एक बार तो विचार करो कि मुझे कर्म-बंध को छेदना है, वीतराग-अवस्था को प्राप्त करना है। हे मुमुक्षु ! पहले मुनि बनकर कर्मबंध का छेद करना पड़ेगा, तदोपरान्त ही मोक्ष मिलेगा। मोह छोड़े बिना मोक्ष तो क्या, मुनित्वभाव भी नहीं हो सकता है।

हे मुमुक्षु ! मुनिमुद्रा कितनी सुन्दर है? वीतरागी भेष कितना सुन्दर है? निर्ग्रन्थों को निहारने में आनंद आता है। मित्र ! तुम्हें तो वस्त्र धारण करके दर्पण के समीप जाना पड़ता है, परन्तु धन्य हैं धरती के देवता, निर्ग्रन्थ योगीश्वर, तपोधन, जिन्हें दर्पण भी देखना नहीं पड़ता है। वे तपोधन सर्वांग सुन्दर हैं जिनका तन-मन एक-सा है। जहाँ वासनायें हैं, वहीं वसन हैं। परिग्रह ही पाप है। मूर्च्छा ही परिग्रह है।

हे जीव ! किंकर से कूकर भी श्रेष्ठ है। कभी विचार करो कि क्या दशा है आपकी? दिन-रात धन कमाने में लगे हो । धन ने तुम्हें धर्म से दूर कर दिया है। ज्ञानी ! पुण्य से द्रव्य मिलता है कि मायाचारी से द्रव्य मिलता है ? पुण्य होता है, तो जंगल में भी सम्मान मिलता है। पुण्य के संयोग में शत्रु भी सम्मान करता है, पुण्यात्मा का शत्रु भी स्वागत करता है।

भो मुमुक्षु ! यह जैनदर्शन है, वीतराग शासन है। हमारे श्रमण देवों को नहीं भजते हैं, वे तो देवाधिदेव जिनेन्द्र को भजते हैं। देवाधिदेव, सर्वज्ञ अरिहंत ही सच्चे देव हैं। हे ज्ञानी ! जो जिनेन्द्र का सच्चा भक्त होता है, उसकी सुरक्षा के लिए स्वयं ही देव आ जाते हैं। जिन्हें कर्मक्षय करना है, वह स्वयमेव निर्ग्रन्थों की भक्ति करते हैं। हे जीव! जगत से जब भी विरक्ति आये, तब निर्ग्रन्थ गुरु, सर्वज्ञदेव और जिनेन्द्रवाणी की ही शरण में जाना। सभी को ज्ञायकभाव से देखना, जानना और फिर जाने देना।

'चत्तारि सरणं पव्वज्जामि'

युवाओ! जैसे तुम सिनेमाघर में पिक्चर देखते हो, उसमें कर्त्ताभाव नहीं करते,

राग-द्वेष नहीं करते हो, वैसे-ही अपने निजी जीवन में राग-द्वेष करना छोड़ दो। 'कर्त्तव्य करो, परन्तु कर्त्तव्य की गंध मत आने दो।' ज्ञायकभाव से जानो-देखो। विपरीतता भी हो जाय तो अपने आप से कहना 'कुछ नहीं', क्योंकि सबके दिन एकसे नहीं होते, सब दिन एक-से नहीं होते।

हे समय! तू कैसा है? कभी कुछ दिखाता है, कभी कुछ दिखाता है। जो कभी नौकर थे, वे सेठ बन गये और जो राजा थे, वे रंक बन गये। ज्ञानी ! सबके दिन एक-से नहीं होते। ये संसार है, इसमें मित्र भी शत्रु बन जाते हैं और शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। ज्ञानी ! पुण्योदय है तो पापी भी पुजता है और पापोदय है तो गुणवान् को भी कोई नहीं पूछता है। मुमुक्षु ! संसार की वास्तविकता को समझो, यथार्थ का बोध करो। वस्तुस्वभाव को समझो।

हे श्रमण ! तीर्थों से तीर्थ नहीं बनते, अपितु जहाँ निर्ग्रन्थ योगियों के चरण पड़ते हैं वहाँ स्वयमेव ही तीर्थ बन जाते हैं। "जे गुरुचरण जहाँ धरें तहाँ-तहाँ तीरथ होय।" ज्ञानी ! निर्ग्रन्थ गुरु स्वयं ही चेतन-तीर्थ हैं। निर्ग्रंथों के संयोग से अचेतन तीर्थों का निर्माण होता है। निर्ग्रन्थ तीर्थ नहीं बनाते हैं, जहाँ योगियों का वासव्य हो जाता है वहाँ तीर्थ बन जाता है। ज्ञानी ! सत्रह प्रकार के निषीधिकायें हैं। ऐसे-ही हे भव्य ! ग्रंथ से निर्ग्रन्थ नहीं बनते हैं, निर्ग्रंथों से ग्रंथ बनते हैं। निर्ग्रन्थों की वाणी ही सर्वज्ञ वाणी है, वही जिनवाणी है।

मुमुक्षु ! जिसके कर्म छिद गये हैं, वही परमसिद्ध है। वही परमपूज्य है, वही श्रेष्ठ है। जो अशरीरी सिद्धशिला पर विराज़ित हैं, वह परमश्रेष्ठ, मंगलभूत हैं। हे जीव ! वंदना के स्थान पर बंध नहीं करना। जहाँ बँध न हो, वंदना वहीं करना, वही वंदना कर्मबंधन से मुक्त करायेगी।

णिव्वाणमेव सिद्धा, सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा, गच्छइ लोयग्गपज्जंतं॥183॥

आचार्य कुन्दकुन्द देव सिद्ध और सिद्धि में अभेद का निरूपण करते हुए कह रहे हैं कि निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण है, मुक्त और मुक्ति प्राप्त जीवों में अभेद है। जो आत्मा कर्म से मुक्त होता है, वह लोक के अग्रभाग तक जाता है।

सिद्ध सिद्धक्षेत्र में रहते हैं, यह व्यवहारनय की अपेक्षा कथन है, परन्तु निश्चनय से स्व-स्वरूप में ही स्थिति रहते हैं, इसलिये निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण है। जो अतिशय निकट-भव्यात्मा है, वह परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त हुई परमपारिणामिक भाव की भावना के द्वारा, सकल कर्मरूपी कलङ्क-पङ्क से मुक्त होता हुआ, परमात्मा होकर, लोकशीर्ष/अग्रभाग तक जाता है।

निर्वाण ही तो जग में बस सिद्ध कहाते।
जो सिद्ध हैं वे ही तो निर्वाण कहाते॥
जब आत्मा ये कर्मों से मुक्त हो जाता।
उस ही समय लोकाग्र के पर्यन्त में जाता॥

ज्ञानी ! लोकाकाश के मस्तक पर ईषत्प्राग्भार नाम की आठवीं पृथ्वी है। उसके ऊपर अर्धचन्द्राकार, छत्राकार या उत्तान सीधे रखे हुए कटोरे के सदृश मनुष्यलोक-प्रमाण पैंतालीस लाख योजन प्रमाण वाली चौड़ी सिद्धशिला है। इस सिद्धशिला के ऊपर तनुवातवलय के अन्त में सिद्धों का निवास है।

श्री नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती मुनिनाथ ने भी कहा है कि तीनलोक के मस्तक पर स्थित ईषत्प्राग्भार नाम की आठवीं पृथ्वी है। इसकी चौड़ाई एक राजू व लम्बाई उत्तर-दक्षिण सात राजू एवं मोटाई आठ योजन प्रमाण है। इस पृथ्वी के ठीक मध्य में रजतमय छत्राकार और मनुष्यक्षेत्र के व्यास-प्रमाण सिद्धक्षेत्र है, जिसकी मध्य की मोटाई आठ योजन है और अन्यत्र क्रम से हीन होती हुई अन्त में ऊँचे सीधे रखे हुए कटोरे के समान थोड़ी रह गयी है। इस सिद्धक्षेत्र के ऊपरवर्ती तनुवातवलय में सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त और अनन्तसुख से तृप्त सिद्धपरमेष्ठी स्थित हैं। सिद्धशिला के ऊपर जो सिद्धक्षेत्र है, वही निर्वाणक्षेत्र कहा जाता है। उसी प्रकार व्यवहार से जहाँ से जीव सिद्ध होते हैं, उन क्षेत्रों को भी सिद्धक्षेत्र अथवा निर्वाणक्षेत्र कहते हैं।

श्री गौतम गणधर देव ने भी प्रतिक्रमण में कहा कि—"उर्ध्वलोक, मध्यलोक और तिर्यक्लोक में जो सिद्धायतन हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। जो सिद्ध निषीधिकाएँ हैं, इस जीवलोक में अष्टापदपर्वत, सम्मेद पर्वत, ऊर्जयंत पर्वत, चंपा पर्वत, पावा पर्वत हैं, इनसे अन्य भी जो जितनी भी निषीधिकाएँ हैं, उन सबको नमस्कार होवे।

ज्ञानियो ! सर्व कर्म से निर्मुक्त हुए सिद्ध भगवान् उस सिद्धक्षेत्र में जाकर वहीं विराजमान हो जाते हैं। उन सर्वकर्ममुक्त अनंतानंत सिद्धभगवान् को जो अपने हृदयकमल पर विराजमान करते हैं, वे भव्यात्मा शीघ्र ही संसार महासागर को पार कर लेते हैं।

कालेकल्प शतेऽपि च, गते शिवानां न विक्रियालक्ष्या।

उत्पातोऽपि यदि स्यात्, त्रिलोक-सम्भ्रान्ति-करणपटुः ॥र.श्रा.॥

ज्ञानियो! यदि तीनों लोकों में खलबली पैदा करने वाला उपद्रव भी हो, तो-भी सैकड़ों कल्पकालों के बीत जाने पर भी सिद्धों में कोई विकार दृष्टिगोचर नहीं होता है।

ज्ञानियो! मोक्ष को प्राप्त करने वाले जीव किट्ट-कालिमा से रहित, दैदीप्यमान, सुवर्ण के समान निर्मल आत्मा के धारक होते हुए, तीनों लोकों के शिखर में मणि के समान शोभा को धारण करते हैं।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

उत्थानिका : जीव और पुद्गल का गमन

गाथा : जीवाण पुग्गलाणं, गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायदाभावे, तत्तो परदो ण गच्छंति॥184॥

संस्कृत छाया : जीवानां पुद्गलानां गमनं जानीहि यावद्धर्मास्तिकः।
धर्मास्तिकायाभावे तस्मात्परतो न गच्छंति॥184॥

अन्वयार्थ : (जीवानां पुद्गलानां गमनं) जीवों का और पुद्गलों का गमन (जानीहि) वहाँ तक ही जानो कि (यावत् धर्मास्तिकः) जहाँ तक धर्मास्तिकाय है (धर्मास्तिकाया-भावे) क्योंकि धर्मास्तिकाय के अभाव में (तस्मात् परतः) उससे आगे (न गच्छंति) नहीं जाते हैं।

नियमदेशना

ज्ञानियो! हम सभी अंतिम तीर्थेश भगवान वर्द्धमान स्वामी के शासन में विराजते हैं। तीर्थंकर जिनेन्द्र की पीयूष देशना मनीषियो! जगतकल्याणी है। जयवन्त हो सर्वज्ञ शासन। जयवन्त हो नमोऽस्तु शासन। वीतराग श्रमणसंस्कृति जयवन्त हो। आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द देव ग्रन्थराज नियमसार जी में जीव और पुद्गलों के गमनागमन का व्याख्यान कर रहे हैं।

ज्ञानियो! जब तक प्रसिद्धि का भाव है, तब तक आत्मसिद्धि संभव नहीं है। देह में आत्मबुद्धि और कषाय-परिणति, ये हर समय निर्बन्ध में बाधक हैं और बन्ध के लिए सुन्दर-सुलभ साधन हैं। हे जीव ! तेरी दृष्टि अधिकतर देह या कषाय पर ही होती है, यह निर्बन्ध के लिए बाधक ही है। हे जीव ! देह में ममत्व नहीं है, ममत्व में ही ममत्व है। परवस्तु से ममत्व की पूर्ति होती है, इसलिए परवस्तु में तेरा ममत्व है।

हे मुमुक्षु ! लोक में धर्मात्मा के भेष में लोगों को दृष्टिगोचर होना नेत्रों के गोचर है और अंतरंग से निर्ममत्व होना आत्मगोचर है। शरीरजन्य साधना के साथ-साथ आंतरिक साधना हो, यह आवश्यक नहीं है, परन्तु आन्तरिक साधना होगी तो नियम से शारीरिक साधना होगी। देह दृष्टि, संबंधियों पर दृष्टि, कषाय पर दृष्टि ये सभी

बाह्य दृष्टि है, बंध दृष्टि है। हे जीव! तूने अपरिचय में परिचय बढ़ाया है, बंध से बंधन बढ़ाये हैं। ज्ञानियो! समझो, जगत् से परिचय ही निज से अपरिचय है। जितना-जितना आपने जगत् से परिचय बढ़ाया, उतना-उतना आपका दुःख बढ़ गया। जगत् से मिलना ही राग का परिचायक है।

हे श्रमण! यह जैनदर्शन है, यहाँ तत्त्वों का सूक्ष्म व्याख्यान है। बिना राग के आशीर्वाद के लिए हाथ भी नहीं उठता है। राग होगा, तभी आशीष के लिए हाथ उठेगा। भले ही वह प्रशस्त राग है। आशीष के लिए हाथ उठाना भी सकषाय भाव है। वह बात अलग है कि प्रशस्त राग भी परम्परा से निर्बन्ध होने का उपाय है।

हे मुमुक्षु ! प्रशस्त राग भी वात्सल्य का परिचायक है, सम्यक्त्व का अंग है। परस्पर में वात्सल्य, विनय ये सम्यक्त्व की पहिचान है। ज्ञानी ! धर्मात्मा वात्सल्य रहित नहीं होता है। सराग अवस्था में यदि वात्सल्य भाव न झलके तो भावों का धर्मात्मा नहीं है। जगत् से अपरिचित होना ही मोक्षमार्ग है। जग् से परिचित होना ही संसार-भ्रमण है। जगत् में रहकर भी जगत् से अपरिचित होकर आत्मलोक में लीन हो जाओ, तभी केवली भगवन्त बन पाओगे। अज्ञातवास ही विकास का हेतु है।

हे जीव ! जगत् के चराचर पदार्थ नेत्रों से दृष्टव्य नहीं हो सकते हैं। जगत् के चराचर सर्व-पदार्थों के भी तुम ज्ञाता बनना चाहते हो तो तुम्हें पहले निर्ग्रन्थ मुनि बनना पड़ेगा। मुनि बने बिना जगत् के सर्व-पदार्थों की सर्व-पर्यायों का ज्ञान नहीं हो सकता है। सर्व-पदार्थों की सर्व पर्यायों को जानने-देखने वाला कोई है, तो मात्र अरिहंत केवली सर्वज्ञ परमात्मा। मुनि बने बिना कोई अरिहंत सर्वज्ञ बन ही नहीं सकता है।

सम्पूर्ण लोक की सम्पूर्ण पर्यायों को जानने वाला मात्र कैवल्य है। सर्व जगत् को भी जानना चाहते हो, तो हे भव्यात्मा ! केवलज्ञान प्राप्त करो। पुरुषार्थ करो सर्व-ज्ञाता बनने का। कपड़े उतारे बिना संसार-सागर से पार नहीं उतर सकते हो।

ज्ञानियो! जो भीतर छुपकर रहता है, वही तो सुरक्षित बाहर आता है। तुम्हें भी माँ के गर्भ में छुपकर रहना पड़ा है, तभी तो तुम्हारा जन्म हुआ है। ज्ञानी! गूढ़ता का रहस्य समझो। गूढ़ता के अभाव में शिशु का भी जन्म नहीं होता है, वैसे-ही हे योगी ! जब-तक तुम गूढ़ता में रहकर ध्यान नहीं करोगे, ज्ञानाभ्यास नहीं करोगे, आत्मसाधना नहीं करोगे, तब-तक कैवल्यज्योति प्रकट नहीं होगी।

हे श्रमण! गुरु सान्निध्य/सन्निधि में रहकर गूढ़-साधना करो, तभी आत्मसिद्धि होगी, तभी प्रसिद्धि होगी। आन्तरिक साधना के अभाव में कभी भी बाह्य में प्रसिद्धि नहीं होती है। बाह्य प्रसिद्धि की चाह है तो आत्मशुद्धिपूर्वक आन्तरिक साधना करो। आत्मसिद्धि चाहते हो तो जगत् के सम्पूर्ण प्रपंचों से दूर हटना पड़ेगा। मुक्ति-सुन्दरी को चाहते हो तो कषाय का अभाव करो। जगत् से अज्ञात हो जाओ, तो तुम नियम से एक दिन सर्वज्ञाता बन जाओगे, परन्तु पहले तुम्हें दिगम्बर मुनि बनना पड़ेगा।

अथजिनमतमुक्तेर्मुक्तजीवस्य भेदं
क्वचिदपि न च विद्मोयुक्तितश्चागमाच्च।
यदि पुनरिह भव्यः कर्मनिर्मूल्य सर्वं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः॥303 कलश॥

हमें जैनधर्म में कही हुई मुक्ति और मुक्त जीव के मध्य, युक्ति और आगम से, कहीं भी भेद नहीं दिखाई देता है। जो निकटभव्य है, वह समस्त कर्मों का निर्मूलन कर मुक्तिलक्ष्मीरूपी स्त्री का प्रियवल्लभ होता है।

जीवाणपुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायऽभावे तत्तो परदो ण गच्छंति॥184॥
त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं जीव पुद्गलयोर्द्वयोः।
नैवास्ति गमनं नित्यं गतिहेतोरभावतः॥304 कलश॥

जीव और पुद्गल का गमन वहीं तक है जहाँ तक कि धर्मास्तिकाय है। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उसके आगे जीव और पुद्गल का गमन नहीं है।

जीव और पुद्गल में स्वभाव विभाव दोनों प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। सिद्धक्षेत्र तक गमन करना जीवों की स्वभाव क्रिया है और षट्काय के क्रम से युक्त होना जीवों की विभाव क्रिया है। परमाणु में गति होना पुद्गल की स्वभाव क्रिया है और द्वयणुकादि स्कन्धों में गति होना पुद्गल की विभाव क्रिया है। इन जीव और पुद्गलों की गति क्रिया त्रिलोकशिखर के ऊपर नहीं है, क्योंकि उसके आगे गमन में कारणभूत धर्मास्तिकाय का अभाव है। जिस प्रकार कि जल के अभाव में मछली का गमन नहीं

होता, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय का अभाव होने से त्रिलोकशिखर के आगे जीव और पुद्गलों का गमन नहीं होता है।

जहाँ तक धर्मास्तिकाय रहता है, उसी क्षेत्र पर्यन्त स्वभाव एवं विभावगति रूप क्रिया में परिणत जीव तथा पुद्गलों का गमन होता है। छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही गतिक्रियास्वभावी हैं। शुद्ध जीव और शुद्ध पुद्गल परमाणु स्वभाव गति को करते हैं, अशुद्ध जीव और अशुद्ध स्कंध पुद्गल विभावगति क्रिया से परिणत होते हैं। इसलिए शुद्ध, सिद्ध जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करते हुए भी अलोकाकाश में ध र्मास्तिकाय/धर्मद्रव्य के अभाव होने से लोक के शिखर पर ठहर जाते हैं।

यद्यपि सिद्ध भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, स्वाधीन हैं तथापि उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से और भगवत् श्री कुन्दकुन्द देवानुसार वे कथंचित् पर के आश्रित भी कहे जाते हैं। उनमें ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से उनमें गमन की योग्यता तो है, यदि कदाचित् त्रैलोक्य के समान अनंतानंत भी लोक हो जावें, तो इन सिद्धों का वहाँ पर्यन्त भी गमन हो जाये। परन्तु धर्मास्तिकाय के अभाव में उनका आगे-आगे गमन नहीं होता है।

हे मुमुक्षु ! उन सिद्धों के ऊपर गमन की योग्यता का अभाव नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्र, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार आदि में इसका उल्लेख है। उन सिद्धों के ऊपर गमन की योग्यता का अभाव किसी भी आगम ग्रंथ में स्वीकार्य नहीं है। धर्म-अधर्म द्रव्य उदासीन रूप से गमन करते और ठहरते हुए द्रव्यों को सहायक मात्र ही हैं।

ज्ञानियो! धर्मात्मा का गमन वहीं तक है जहाँ तक धर्मायतन हैं। भव्यों के भाग्य से भगवान् का भी गमन उस ओर होता है। हे जीव ! पंचपरावर्तन में सबकुछ घूम लिये, अब मात्र निज में विहार करो। जिनेन्द्र की पद्मासन प्रतिमा भी यही संदेश दे रही है कि हे भव्यात्मन् ! जगत् में बहुतकुछ देखा और बहुत विचरण किया, अब आत्मविश्रांती चाहते हो तो नासाग्र दृष्टि होकर, पद्मासन से बैठकर, निज को निहारो।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

उत्थानिका : प्रवचन भक्ति से नियम और नियमफल का कथन

गाथा : णियमं णियमस्स फलं, णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्णा॥185॥

संस्कृत छाया : नियमो नियमस्य फलं निर्दिष्टं प्रवचनस्य भक्त्या।
पूर्वापरविरोधो यद्यपनीय पूरयंतु समयज्ञाः॥185॥

अन्वयार्थ : (नियमः नियमस्य फलं) नियम और नियम का फल (प्रवचनस्य भक्त्या) प्रवचन की भक्ति से (निर्दिष्टं) कहा गया है। (यदि पूर्वापरविरोधः) यदि इसमें पूर्वापर विरोध हो तो (समयज्ञाः) आगम के ज्ञाता (अपनीय) उसे दूर करके (पूरयंतु) पूर्ण करें।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ ! हम सभी अंतिम तीर्थेश भगवान् वर्द्धमान स्वामी के शासन में विराजते हैं। तीर्थंकर जिनेन्द्र की पीयूष देशना मनीषियो! जगत्कल्याणी है। जयवन्त हो सर्वज्ञ शासन, नमोऽस्तु शासन जयवन्त हो, जयवन्त हो वीतराग श्रमणसंस्कृति। आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी ग्रन्थराज नियमसार जी में मार्ग और मार्ग के फल की व्याख्या का उपसंहार करते हुए अंतिम भावना भा रहे हैं।

ज्ञानियो! आचार्यभगवन् श्री कुन्दकुन्द के साहित्य को देखकर लगता है कि उनके अन्दर श्रुतभक्ति का सरोवर पूर्ण भरा हुआ था। श्रुतभक्ति तीर्थंकरप्रकृति के बंध का कारण है। षोडशकारण भावनाओं में बहुश्रुतभक्ति, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग और प्रवचनभक्ति ये तीन भावनायें श्रुत के लिए हैं। चौरासी ग्रंथों के लेखक आचार्यभगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी ग्रंथ के उपसंहार में लघुता-ऋजुता प्रकट कर रहे हैं। लेखन की विद्या तो क्षयोपशम से होती है।

ज्ञानी ! 'धी' 'श्री' होते हुए भी मान न आये, यही पुरुषार्थ है। अल्पधन, अल्प बुद्धि में भी लोग अहंकार करते हैं। जैसे दीपक ज्योतिर्मान होता है सहज रूप से, परन्तु अन्तिम समय में भभका मारता है और फिर बुझ जाता है। वैसे ही हे मुमुक्षु ! आपके जीवन में जब अंतिम समय में अहंकार आने लग जाये, ममकार जाग्रत हो जाये, परिणति बिगड़ने लगे, कषायें भड़कने लग जायें, तो समझ लेना कि तुम्हारे विनाश का समय आ गया है।

हे जीव ! किसी दिशा से ठंडी-ठंडी वायु आ रही हो, सोंधी-सोंधी सुगंध आ रही हो, तो हम अनुमान लगा लेते हैं कि कहीं पर वर्षा हुई है। हे मुमुक्षु ! आप पर का तो अनुमान

लगा लेते हो, परन्तु निज के परिणामों की गति कहाँ जा रही है इसका भी अनुमान लगाओ।

जब किसी के सिर के बाल असमय में झड़ने लग जायें तो हम समझ लेते हैं कि प्रोटीन की कमी है, चिंता के कारण, शारीरिक कमजोरी के कारण ऐसा हो रहा है। ऐसे-ही हे जीव! जब तुम्हारे अशुभ परिणाम होने लगें तो समझ लेना 'यथा गति तथा मति'। हे जीव ! सँभलो।

हे जीव ! यदि अकारण ही अशुभ भाव आ रहे हैं, अशुभ कार्य करने का विचार कर रहे हो, परिणाम बिगड़ रहे हैं, तो समझना कि आपको अशुभ गति का बंध हो चुका है। एक व्यक्ति ऐसा भी है कि जिसने जीवनभर अशुभ कार्य किये, परन्तु मरणकाल के निकट आने पर शुभ परिणाम हो रहे हैं, शत्रु में समत्व भाव आ रहा है, परिणाम भद्र हो रहे हैं, धर्ममयी परिणति हो रही है, पंचपरमेष्ठी की आराधना के भाव हो रहे हैं, श्रुत श्रवण के भाव आ रहे हैं, तो अनुमान लगा लेना कि उसकी अच्छी गति होने वाली है।

सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइसमिद्धोहं।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसा अमुत्तो य॥तत्त्वसार॥

ज्ञानियो ! ऐसे परिणाम जिसके चल रहे हैं, तो समझना कि इस भव्यात्मा को निकट भविष्य में मुक्तिवल्लभा प्राप्त होगी। प्रत्येक व्यक्ति को भविष्य का बोध होता है। शुभाशुभ क्रिया के पहले ज्ञान में विषय आता है। वैद्य पहले मस्तिष्क में विचार लेता है कि रोगी को कौन-सी औषधि देना है, वैसे-ही हे मुमुक्षु! अपने परिणामों को सँभालो और ऐसा सँभालो कि जन्म-जरा-मृत्युरूपी रोग ठीक हो जाय।

धन्य हैं धरती के देवता, निर्ग्रन्थ मुनिवर जिनकी परिणति मोक्षमार्ग पर है और पग धरती पर हैं। वे मुनीश्वर पग भी निरख-निरखकर रख रहे हैं और प्रतिक्षण अपने परिणामों को सँभाल रहे हैं।

हे वैद्य ! तू रोगी का उपचार करते हुए भी कर्त्ता नहीं बन रहा है। औषधियाँ भी दोगे तो भी सोचोगे कि इसका भाग्य होगा, पुण्य उदय होगा तो औषधि कार्य करेगी, स्वास्थ्य-लाभ होगा। वैसे ही हे ज्ञानी! जीवन में संकट आ जाये, विघ्न आ जाये, तो प्रभु-भक्ति करना, परन्तु अपने प्रभु को कर्त्ता नहीं बनाना। भगवान् किसी का भी अच्छा/बुरा करने नहीं आते। कर्त्ताभाव ही कष्ट है। ज्ञानियो! औषधि निर्मित करते हुए उसमें महामंत्र की भावना भरना चाहिये। ग्रंथ हाथ में नहीं है, परन्तु फिर भी निर्ग्रन्थ योगीश्वर अंदर-ही-अंदर निज में प्रतिक्षण पढ़ रहे हैं। जैसे वैद्य रोगी को पढ़ता है, उसके रोग को समझकर स्वस्थ करता है, वैसे-ही हे जीव ! अपने निज परिणामों को पढ़ो और फिर ऐसा उपचार करो कि तुम मोक्षपुरी को प्राप्त कर शास्वत सुख को प्राप्त कर लो।

हे जीव ! शुभ-अशुभ करने के पूर्व ज्ञेय बनता है। निर्णय ज्ञेय का नहीं, ज्ञाता का है। कौन-से भावों से मेरी शुभ पर्याय होगी ? कौन से भावों से मेरी अशुभ पर्याय होगी ? हे साधक ! साधना के काल में भी पथ्य-अपथ्य के भी बोध की आवश्यकता है। हे जीव ! विवेक नष्ट किये बिना पाप नहीं हो सकता है। विवेक के लिए बहिरंग-अंतरंग साधन भिन्न-भिन्न हैं। बाह्य में मदिरादि सेवन विवेक को नष्ट करते हैं। मैं नहीं मान सकता कि मन ने ऐसा करा दिया। इच्छा के साथ योग्यतानुसार व्यक्ति निर्णय करता है, तो कार्यरूप फल होता है।

हे मुमुक्षु! योग्यतानुसार ही आप पुरुषार्थ कर सकोगे। जिसमें जो योग्यता होती है, वह उसी अनुसार कार्य करता है, तो सफल होता है। आपको किसी ज्योतिषी के पास जाने की आवश्यकता नहीं है कि मेरा भविष्य बता दो। स्वयं ही अपना भविष्य जानने का पुरुषार्थ करो। मित्र ! वर्तमान के भाव भविष्य के निर्माता हैं और पूर्व के भाव वर्तमान बनकर सामने हैं। जैसी तेरी परिणति होगी, वैसी तेरी गति होगी।

हे जीव ! योग्यता सीमित है, इच्छायें अनन्त हैं। यदि अपनी योग्यतानुसार कार्य करें तो सफलता मिल सकती है। तत्त्व का निर्णय इच्छानुसार नहीं, योग्यतानुसार होता है। हे भव्यात्मा! तू चतुर्थ गुणस्थान पर अटक गया, यह योग्यता की कमी है। व्यक्ति के अन्दर इच्छायें तो विपुल हैं, परन्तु योग्यता उसकी पूर्ति होने नहीं देती है।

हे मित्र ! आप कुछ व्यवहार भी समझो। आप भोजन करके आये और शीर्षासन लगाने लगो, यह स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं है। मल-विसर्जन के उपरांत आसन लगाना चाहिये, यह योगशास्त्र का नियम है। वैसे-ही हे श्रमण ! कषाय विसर्जन के बाद ध्यान करना, तब तुझे आत्मलाभ होगा। सामायिक भी करो तो उत्साहपूर्वक, पद्मासन अथवा खडगासन से, रीढ़ की हड्डी सीधी करके करना, तभी तेरी सामायिक समत्वपूर्वक निर्विघ्न पूर्ण होगी।

हे श्रमण ! आप चाहो कि हम सर्वार्थसिद्धि चले जायें, परन्तु आप नहीं जा सकते हैं, क्योंकि अभी तत्-संबंधी योग्यता की कमी है। हे मुमुक्षु ! पंचमकाल की सीमा है। सम्प्रति न कोई तीर्थंकर हैं न केवली। पंचमकाल में योग्यताओं की सीमा है। हे ज्ञानी ! भावलिंगी दिगम्बर श्रमण, भव्यात्मा सल्लेखना के साथ मरण करके सात-आठ भव में निर्वाणश्री को प्राप्त करता है। सम्यक्त्व सहित भव्यात्मा ज्यादा-से-ज्यादा अर्ध-पुद्गल-परावर्तन काल तक ही संसारभ्रमण कर सकता है। चतुर्थ काल में जन्म लेने वाला पंचमकाल में मोक्ष जा सकता है।

हे मुमुक्षु ! सभी को एकसा शुद्धोपयोग नहीं है। एक भावभूत, एक भावनाभूत। विपरीत

निर्णय करके भटक मत जाना। तत्त्वों का पुनः-पुनः विचार करना, फिर समीचीन निर्णय करना। छट्ठे सातवें गुणस्थान की भी नियत क्रियायें हैं, तभी तत्संबंधी गुणस्थान संभव है। भेषमात्र में गुणस्थान नहीं होता है, गुणस्थान तो होता है, परन्तु तत्संबंधि नहीं होता है। भेष नहीं, भावों के अनुसार गुणस्थान होता है। भेष के साथ भावों का भी ध्यान करो। दिगम्बर भेष में सप्तम् गुणस्थान होता है, वस्त्रधारी को ज्यादा-से-ज्यादा पंचम गुणस्थान हो सकता है।

'साधनात् साध्य विज्ञानमनुमानम् ॥प.मु.सू.॥

साधन से साध्य का विशिष्टज्ञान 'अनुमान' होता है। धुआँ दिखाई दे रहा है तो आप अनुमान लगा लेते हो कि यहाँ अग्नि है। कषायें भड़क रहीं हैं, मान झलक रहा है, ईर्ष्या झुलसा रही है, कठोर वचन मुख से निकल रहे हैं, क्रोध से मुख तमतमा रहा है और दूसरों का दुष्प्रचार कर रहे हो, तो तुम्हारा भेष मुनि का हो सकता है, परन्तु श्रमणत्व नहीं है। हे श्रमण ! भाव, भाषा और भेष में समीकरण करो। भेष के अनुसार भावों की सँभाल करो। श्रावक-श्रमण भिन्न-भिन्न हैं, उनकी अपनी-अपनी सीमायें हैं।

षट्काय जीव न हनन तैं, सब विधि दरबहिंसा टरी।
रागादि भाव निवार तैं, हिंसा न भावित अवतरी॥छहढाला।।

हे श्रमण ! आप षट्काय की जीवहिंसा से विरत हो। यदि आप जीवों की हिंसा करते हो, तो आप श्रमणत्व से शून्य हो, आपका भेषमात्र नग्न है, परन्तु भावशून्य हो। मुमुक्षु ! अभी श्रमणत्व को भी समझने की आवश्यकता है। हे भव्यात्मा ! श्रमण बनकर श्रमणों के योग्य कार्य करना। सम्प्रति पंचमकाल में ज्यादा-से-ज्यादा सप्तम् गुणस्थान तक की सीमा है, उसमें भी यथायोग्य साधना से ही प्रवेश होगा, अन्यथा बाह्य भेष मात्र से गुणस्थान नहीं चढ़ सकते हो।

अन्यलिङ्गे कृतं पापं, जिनलिङ्गे विनश्यति।
जिनलिङ्गे कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति॥

हे मित्र ! आरंभी हिंसा, उद्योगी हिंसा, संकल्पी हिंसा, विरोधी हिंसा। ये योग्यतानुसार श्रावकोनुकूल हैं, परन्तु श्रमणों का सकल हिंसा करने का त्याग है। श्रमण महाव्रतों के धारक होते हैं। सुव्रतों का धारण-पालन महान् पुरुष ही कर सकते हैं। श्रमणों को जैनदर्शन में परमेष्ठी कहा है। धरती पर सबसे अधिक भक्ति-पूजा होती है, तो मात्र दिगम्बर मुनि की।

हे मुनि ! यदि तुमने पिच्छि-कमण्डलु, संयमोपकरण, ज्ञानोपकरण के अतिरिक्त कुछ ग्रहण किया तो सीधे निगोद में गिरोगे। हे साधको! अपने परिणामों की सम्हाल करो। एक वैद्य

जब ऑपरेशन करता है तो कितना सावधान रहता है। जब शरीर की सुरक्षा के लिए इतनी सावधानी रखते हो, तब हे श्रमण ! आप परिणामों के ऑपरेशन कर रहे हो, तो आपको कितनी सावधानी की आवश्यकता है? हे श्रमण ! भावों की सँभाल सावधानीपूर्वक करो, क्योंकि एक क्षण में भाव कहाँ से कहाँ हो जाते हैं।

मदि सुदणाण बलेण दु, सच्छंदं बोल्लदे जिणुद्दिट्ठं।
जो सो होदि कुदिट्ठी, ण होदि जिणमग्गलग्गरवो॥रयणसार॥

जो व्यक्ति मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बल से स्वच्छन्द, मनःकल्पित बोलता है, वह व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है। वह जिनेन्द्रदेव के मत में आरूढ़ व्यक्ति का वचन नहीं है।

हे जीव ! मन में जो विचार आये उसे ही कहना, यह स्वच्छंदवृत्ति है। पूर्वापर विरोध सहित बोलना। अज्ञानपूर्वक कुछ का कुछ कहना, यह स्वच्छंदवृत्ति है। ज्ञानी ! जो विषय आगम में नहीं है, उसे नहीं बोलना। इतना धैर्य रखना कि जब केवली भगवान् मिलेंगे तब समझ लेना।

अन्यूनमनतिरक्तिं, याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥42 र.श्रा.॥

मुमुक्षु ! जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित और संदेह रहित, जैसा का तैसा जानता है, उस ज्ञान को आगम के ज्ञाता श्रुतकेवली सम्यक् ज्ञान कहते हैं।

हे मित्र ! जैनदर्शन पानी छानकर पीने का उपदेश देता है, फिर रक्त को दान की संज्ञा देना, यह आगमानुसार नहीं है। जो रक्त है, वह माँस का अंश है, इसलिए रक्त देने को जैन दर्शन किंचित् भी समर्थन नहीं करता है। माँस सेवन, माँस-रक्तादि देने को दान कहना, यह जैनदर्शन में स्वीकार नहीं है। यह अहिंसाधर्म के विपरीत कथन है।

मित्र ! अभी जैनदर्शन को समझने की आवश्यकता है। विश्व के सर्व-दर्शनों में परम अहिंसा का कहीं व्याख्यान है तो मात्र जैनदर्शन में है। कथन तो फिर भी कहीं-और हो सकता है, मात्र शब्द सामान्य, एकार्थक, परन्तु परम अहिंसा का श्रेष्ठ आचरण कहीं दृष्टव्य होता है, तो मात्र वीतराग श्रमणपरम्परा में, वीतराग श्रमणसंस्कृति में, जहाँ जीवमात्र पर करुणा/दया का आचरण होता है। हे मित्र ! लौकिकता में आकर परमागम को नहीं छोड़ देना, आगम को नहीं तोड़ देना। जैनदर्शन में दिगम्बराचार्यों ने निरामिष, निर्जन्तुक, अहिंसक औषधि का उपदेश दिया है। ज्ञानियो! जैनदर्शन में, वीतरागी श्रमणपरम्परा में हिंसक औषधि और हिंसक आहार का किंचित् भी समर्थन नहीं है।

हे जीव ! तन के राग में इस चेतन को भव-भ्रमण नहीं कराना। अन्तरंग में करुणा-दया हो, किसी रोगी को स्वस्थ करना हो, तो निरामिष, निर्जन्तुक औषधि ही देना। जैनदर्शन, जैन आम्नाय, वीतराग-निर्ग्रन्थ शासन में हिंसक आहार, हिंसक औषधि का परिपूर्ण निषेध है। करुणा-दया है तो मात्र निर्जन्तुक औषधि ही देना। हे मुमुक्षु ! दूसरों के राग में स्व की विडम्बना नहीं करना।

"पिय धम्मो, दिढ़ धम्मो"

हे मुमुक्षु ! हमारे आचार्यों ने रोग का निरामिष उपाय न होने पर सल्लेखना को स्वीकार किया है, परन्तु प्राणरक्षा के लिए किसी हिंसक औषधि को स्वीकार नहीं किया। किसी हिंसक रुग्णलय/हास्पीटल की शरण नहीं ली। हमारे लिए मात्र पंचपरमेष्ठी ही शरण हैं और उनकी कल्याणकारी वाणी स्वीकार है। आचार्यभगवन् श्री समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है कि–

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनु-विमोचनमाहुःसल्लेखनामार्याः॥र.श्रा.॥

हे आत्मन्! जिसका प्रतिकार नहीं किया जा सके, ऐसा उपसर्ग आने पर, अकाल पड़ने पर, बुढ़ापा आने पर, रोग होने पर, धर्म के लिए शरीर को छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं। शरीर छूटे तो छूट जाये, परन्तु धर्म को नहीं छोड़ना।

ज्ञानियो! हमारे पूर्वाचार्यों ने विपुल परिश्रम करके श्रुत का सृजन, रक्षण किया है। श्रुत संवर्धन करना है, श्रुत का संरक्षण करना है तो स्वाध्याय की आवश्यकता है। आचार्यप्रणीत ग्रंथों के पठन-पाठन की परम्परा जीवित करो। हे श्रावको! पूजन के साथ-साथ स्वाध्याय भी करो। सम्प्रति (वर्तमान में) आचार्यप्रणीत आगम-शास्त्रों के पारायण की आवश्यकता है। कलिकाल (पंचमकाल) में जिनपूजा, मुनियों को दान और स्वाध्याय श्रावकों के लिए परम विशुद्धि का साधन है।

ज्ञानियो! सर्वज्ञ की वाणी के अभ्यास से भाषा और भाव परिमार्जित होते हैं। स्वाध्याय से कषायें मंद होती हैं। शास्त्र के पारायण से हित-अहित का बोध होता है। परमात्मा की पुण्यवाणी के पारायण से परिणाम विशुद्ध होते हैं।

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्य भत्तीए।
पुव्वावरविरोहो जदि अवणीय पूरयंतु समयग्गा॥185॥

आचार्यभगवन्त श्री कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं कि मैंने मोक्षमार्ग एवं मार्ग के फल 'मोक्ष' का, रत्नत्रय धर्म और उसके फल 'निर्वाण' का प्रतिपादन किया है। मैंने यह सकल व्याख्यान कवित्व के अहंकार से नहीं किया है, अपितु केवल प्रवचन की भक्ति से प्रेरित होकर किया

है। इस व्याख्यान में यदि पूर्वापर दोष हों तो उस दोषात्मक प्रकरण को दूर करके आगम के ज्ञाता इसे उत्तम-उत्कृष्ट निर्दोष करें।

भगवत् श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने दो हजार वर्ष पूर्व यह ग्रंथ-लेखन किया, उसमें लिखा कि यह मैंने अपने ज्ञान के अहंकार में नहीं लिखा, जो भगवान् अरिहंत, सर्वज्ञदेव ने कहा है, उसके प्रकाशन मात्र के लिए किया है। भगवान् अरिहंत के जो प्रवचन हैं, जिनमें पंच व्रतों की पुष्टि है, वही प्रवचन है। देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव ने जो प्रवचन दिया है, उसे भव्यात्माओं के कल्याणार्थ प्रवचनभक्ति से मैंने यह 'नियमसार' नामक ग्रंथ लिखा है। जिनेन्द्र के प्रकृष्ट दिव्यध्वनिरूप वचन की भक्ति से ही यह कहा है।

धन्य हैं आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द देव। बहुश्रुतज्ञ, चौरासी पाहुडों के सृजेता; शब्दागम, तर्कागम, परमागम के ज्ञाता; प्रज्ञासम्पन्न आचार्य भी अपनी लघुता को प्रदर्शित कर रहे हैं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि—उन्होंने विदेह में विराजित साक्षात् तीर्थंकर सीमंधर स्वामी की देशना को श्रवण करके इस भारत की वसुधा पर चौरासी ग्रंथों का लेखन किया, उनमें यह 'नियमसार' ग्रंथ भी सम्मिलित है।

यद्यपि आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द देव ने सम्पूर्ण कथन परम्परा से प्राप्त आगमानुसार, जिनेन्द्र के वचनानुसार किया है, सावधानीपूर्वक लेखन किया है, फिर भी वह कह रहे हैं कि—मैं छद्मस्थ हूँ, इसलिए कदाचित् इसमें पूर्वापर विरोध दोष होवे तो, मुझसे अधिक विद्वान् मुनिजन हों वे ही उस पूर्वापर विरोध को दूर कर पूर्ण करें।

आप्तोपज्ञमनुल्लंध्यमदृष्टेष्ट विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथ घट्टनम्॥9 र.श्रा.॥

ज्ञानियो! सर्वज्ञदेव के वचनों का आश्रय करके जो शास्त्र ग्रंथ है, वही 'जिनागम' इस नाम से कहा है। आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है कि—जो शास्त्र आप्त के द्वारा कथित है, जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकते, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से विरोध रहित है, तत्त्वों के उपदेश को करने वाला है और कुपथ का निवारण करने वाला है, वही शास्त्र सब जीवों का हित करने वाला होने से सच्चा शास्त्र है।

ज्ञानियो! आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव गुरुओं में प्रधान, प्रमाणिक गुरु हैं, गरिमाशाली हैं, उनकी गौरवशाली गुरुपरम्परा है, पापभीरू महान् आचार्य हुए हैं, अतः हमारे लिए उनके वचन प्रमाणिक ही हैं, आगमसम्मत हैं।

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां
हृदयसरसिजाते निर्वृतेः कारणत्वात्।

प्रवचनकृतभक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः
स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ॥305/कलश॥

श्री पद्मप्रभमलधारीदेव कह रहे हैं कि—वह नियमसार और उसका फल जयवन्त रहे जो कि उत्तम मोक्ष का कारण होने से उत्तम मनुष्यों के हृदयकमल में सदा विद्यमान रहता है। प्रवचन की भक्ति से भगवत् श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने जिस नियम का प्रतिपादन किया है, निश्चय से वही समस्त भव्यजीवों के मोक्ष का मार्ग है।

ज्ञानियो ! व्यवहार और निश्चय क्रियाएँ परस्पर सापेक्ष रहती हैं। इसमें साधन-साध्यभाव है, कारण-कार्य भाव है, इसलिए यहाँ पूर्वापर विरोध नहीं है, प्रत्युत जो कोई एकांत से व्यवहारनय को और व्यवहाररत्नत्रय को मिथ्या कहकर निश्चय मात्र को मानते हैं, वह एकांतवादी अपने और पर के वंचक ही हैं। ऐसे एकांतवादी स्व-पर के वैरी हैं।

ज्ञानियो! सम्पूर्ण व्याख्या में यथायोग्य व्यवस्था, मुख्य और उपचार, प्रधान और गौण विवरण को समझें। यह ग्रन्थ 'नियमसार' सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् के मुखकमल से निस्रत हुई जो दिव्यध्वनि है उसके अनुरूप गणधर देव द्वारा गूँथे गये सर्वांग आचारांग सूत्र, उनको पारायण करने वाले पूर्वाचार्यों की परम्परा से अनुस्यूत है और भगवत् श्री कुन्दकुन्द देव रचित निर्दोष है। फिर भी यदि कोई कुन्दकुन्द देव की अपेक्षा भी बहुश्रुत मनीषि विद्वान्, चरण और करण में कुशल मुनिनाथ हों, उन्हें ही इस महाग्रंथ के संशोधन का अधिकार है, अन्य जनों को नहीं। ऐसा मानकर, पूर्वाचार्यों के वचनों को परम्परा से सर्वज्ञप्रणीत समझकर, विश्वास करके, प्रमाण रूप मानकर, पारायण करना चाहिए। दिगम्बर आचार्यों को तीर्थंकर परम्परा से जो श्रुत पूँजी के रूप में मिला है, उसे ही उन्होंने भव्यात्माओं के कल्याणार्थ ग्रंथरूप में गुंथित किया है।

हे जीव ! श्रुतसागर अथाह है, उसका कोई पार नहीं है। कलिकाल है, क्षयोपशम और आयु अल्प है। भव्यों को चाहिये कि इतना जान लें कि मोक्ष और उसका मार्ग क्या है और शक्ति अनुसार व्रत-नियम धारण कर अपना श्रेयमार्ग प्रशस्त करें और रत्नत्रय धारण करें।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

नियमसार

उत्थानिका : भव्यात्मा को शिक्षा

गाथा : **ईसाभावेण पुणो, केई णिंदंति सुंदरं मग्गं।**
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह णिमग्गे॥186॥

संस्कृत छाया : **ईर्ष्याभावेन पुनः केचिन्निन्दन्ति सुन्दरं मार्गम्।**
तेषां वचनं श्रुत्वा अभक्तिं मा कुरुध्वं जिनमार्गे॥186॥

अन्वयार्थ : (पुनः ईर्ष्याभावेन) पुनः ईर्ष्याभाव से (केचित्) कोई लोग (सुन्दरं मार्गं निंदन्ति) सुन्दर मार्ग की निन्दा करते हैं (तेषां वचनं) उनके वचन (श्रुत्वा) सुनकर (जिनमार्गे) जिनेन्द्रदेव के मार्ग में (अभक्तिं मा कुरुध्वं) तुम लोग अभक्ति मत करो।

उत्थानिका : शास्त्र का उपसंहार

गाथा : **णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।**
णच्चा जिणोवदेसं, पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं॥187॥

संस्कृत छाया : **निजभावनानिमित्तं मया कृतं नियमसारनामश्रुतम्।**
ज्ञात्वा जिनोपदेशं पूर्वापरदोषनिर्मुक्तम्॥187॥

अन्वयार्थ : (पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं) पूर्वापर दोष से रहित, ऐसे (जिनोपदेशं ज्ञात्वा) जिनेन्द्रदेव के उपदेश को जानकर (मया) मैंने (निज भावना निमित्तं) अपनी भावना के निमित्त (नियमसार नामश्रुतं) नियमसार नामक शास्त्र को (कृतं) कहा है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! सर्वज्ञशासन जयवंत हो। जयवंत हो नमोऽस्तु शासन, वीतराग श्रमण संस्कृति।

ज्ञानियो! अंतिम तीर्थेश भगवान् वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। तीर्थंकर जिनेन्द्र की पीयूष देशना, मंगल वाणी मनीषियो! जगत्कल्याणी है।

आचार्यप्रवर भगवत् श्री कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथरत्न "नियमसार" में भव्यात्माओं को जिनधर्म के प्रति आस्थावान् बने रहने का व्याख्यान कर रहे हैं।

मुमुक्षु ! जो जननी माँ की तरह सबके हित का उपदेश दे, वही शास्त्र है और जो भोगों को भोगने की, विषय सेवन की प्ररूपणा करे, वह साहित्य शस्त्र के समान है। जो हमारा मोक्षमार्ग प्रशस्त करे, वही सच्चा साहित्य, शास्त्र है।

हे जीव ! एक अपराधी भी यही कहता है कि मैंने कुछ नहीं किया, हो गया। हे जीव! तलवार किसी का घात नहीं करती है, अपितु हाथ में तलवार लेने वाला तलवार से दूसरे का घात करता है। ये यंत्र हैं, इसको प्रयोग करने वाला इसका कहाँ, कैसे, किसलिए, क्यों और क्या प्रयोग करता है, यह प्रयोगकर्त्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है। ध्वनिप्रसारण यंत्र है, वह ध्वनि नहीं है।

हे मुमुक्षु ! इस देह को आप कर्त्ता नहीं बनाना। कर्त्ता तू स्वयं है। आत्मा ही कर्त्ता है, आत्मा ही भोक्ता है। आत्मा ही ज्ञान से आनन्द ले रहा है। इन्द्रियाँ दोषी नहीं हैं, तुम्हारा ज्ञान दोष करा रहा है और वह ज्ञान किसमें है? आत्मा में। आत्मा ही कर्त्ता है, आत्मा ही भोक्ता है। मुमुक्षु ! अपनी भूल को सुधारना। इन्द्रियाँ और शरीर भोक्ता नहीं हैं।

हे मुमुक्षु ! इन्द्रियाँ भोगती नहीं हैं, तू इन्द्रियों से भोगता है। यदि तुम्हारा मन, (ज्ञान) तुम्हें मंदिर की ओर ले जा रहा है, तो समझना कि तेरा पुण्य का उदय चल रहा है, तेरा भविष्य निर्मल है। मुमुक्षु ! बाह्य निमित्तों में कर्त्तापन मत करो, अपने आत्मा के परिणामों को सँभालने का पुरुषार्थ करो।

जीवो उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेह-परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्स-सोड्ढगई॥द्र.सं.॥

हे जीव ! एक चिड़िया को भी इतना विवेक होता है कि उसका घोंसला कहाँ बना है। घर तो चिड़िया भी बना लेती है, एक पशु भी अपनी संतान को पाल-पोसकर बड़ा कर लेता है, फिर तुम तो मनुष्य हो। तो तुमने घर बनाकर, सन्तान पालकर कौन-सा बड़ा कार्य कर लिया है ? जो-जो तुमने जोड़कर रखा है, वह भी छोड़कर जाना ही पड़ेगा। इसलिए हे भव्यात्माओ ! आपको उच्च कुल मिला है, विशेष प्रज्ञा मिली है, तो उसका ऐसा प्रयोग करो जिससे हमारा जिनशासन जयवंत हो।

हे ज्ञानी ! साधु बनने के पहले भोगों को भूलना प्रारंभ कर दो। जब तक भूलोगे नहीं, तब तक भवातीत नहीं हो पाओगे। विषयों को भूले बिना, कषायों को छोड़े बिना तुम कर्मातीत नहीं हो सकते हो। हे जीव ! आपने दुःख को ज्ञानपूर्वक बुलाया है, दुःख के साधन आपने बुद्धिपूर्वक, पुरुषार्थपूर्वक एकत्रित किये हैं। आज बेटा कष्ट दे रहा है, परन्तु हे जीव! बेटे की माँ को घर में कौन लेकर आया था? बारात लेकर कौन गया था बेटे की माँ के घर? तुमने स्वेच्छापूर्वक दुःख के साधन एकत्रित किये हैं। हे जीव ! जैसे दुःख के साधन तूने बुद्धिपूर्वक जोड़े हैं, वैसे-ही सुख के साधन भी तुम्हें बुद्धिपूर्वक एकत्रित करना पड़ेंगे। बुद्धिपूर्वक ही कर्मक्षय करना होगा। बुद्धिपूर्वक ही व्रत-आचरण करना पड़ेगा।

हे जीव ! क्रूरता परभावों में नहीं होती, क्रूरता निज भावों में ही होती है। जब व्यक्ति दूसरे को सहन नहीं कर पाता, तो उसका घात कर देता है। हे जीव ! तेरे विकार तेरे में ही हैं। पर को देखकर तू स्वयं ही विकारी होता है, फिर उस विकार की पूर्ति के लिए वह दूसरे को निहारता है। पर को निहारना पाप है और निज की ओर निहारना धर्म है। वस्तु में विकार नहीं है, व्यक्ति में विकार नहीं है, निज में विकार है। हे जीव ! शरीर भी पर है।

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुंदरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चा अभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥186॥

आचार्यभगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि हे भव्य आत्माओ ! इस जगत् में कुछ ईर्ष्यालु लोग भी हैं जो ईर्ष्याभाव से सच्चे धर्म जिनधर्म का अपमान करते हैं, उसे अहितकर कहते हैं, जैनमत जिनेन्द्रमार्ग की निंदा करते हैं। उनको सुनकर हे जीव ! तुम जैनधर्म, जिनमार्ग में अभक्ति नहीं करना।

मूढ़मति कई लोग, मिथ्यात्व के उदय से कलुषित चित्त हुए, ईर्ष्याभाव से सहित होकर सुन्दर, अनेकांतस्वरूप, सार्वभौम जिनशासन की निंदा करते हैं, उस निर्दोष शासन में भी दोष प्रगट करते हैं, वे अवर्णवाद करने वाले मनुष्य दर्शनमोहनीय कर्म की सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण स्थिति का बंध कर लेते हैं। उन सभी एकांतवादी निंदक जनों के दुर्वचन श्रवण कर हे भव्यवर! आप परमकल्याणकारी स्वर्ग-मोक्ष को देने वाले ऐसे श्रेष्ठ जिनमार्ग, वीतराग शासन में अभक्ति, अविश्वास नहीं करना।

मित्रो ! जिनेंद्रदेव का मार्ग अत्यन्त श्रेष्ठ और उनका उपदेश जीवमात्र के कल्याणार्थ है, परन्तु फिर भी इस जगत में विभिन्न बुद्धि के धारक मनुष्य हैं। कुछ जीवों को विपरीत धर्म ही श्रेष्ठ लगता है, क्योंकि उनका पापोदय है, अभी उनका दीर्घ संसार शेष है। जो भव्य जीव हैं और जिनका संसार-भ्रमण अल्प रह गया है, वही जिनदेव के उपदेश को ग्रहण करता है।

हे जीव ! कितने ही जुगुनू एकत्रित हो जायें और वह कुप्रयास करें कि आज हम आदित्य का उदय नहीं होने देंगे, परन्तु सूर्य तो उदय होगा-ही-होगा, वैसे-ही इस धरती पर अनेकानेक जीव हुये जिन्होंने हमारे जैनदर्शन के विरुद्ध प्रचार किया, परन्तु फिर भी यह सर्वज्ञशासन निर्बाध जयवंत हो रहा है, पूर्व में हुआ था और भविष्य में भी जयवंत होता रहेगा।

हे जैनियो ! कभी अपना पूर्व इतिहास भी निहार लिया करो कि हमारे दिगम्बर मुनियों को घानी में पेल दिया। आदेश दे दिया गया कि जो छन्ने से पानी छानकर पीते मिल जाय उसका सिर धड़ से अलग कर दो। छह-छह माह तक हमारे ग्रंथों की होलियाँ जलाई गईं।

सैंकड़ों जिनमंदिर धराशायी कर दिये गये। हमारे मंदिरों को, मूर्तियों को विकृत कर लिया गया। लाखों जैनों को धर्मपरिवर्तणार्थ बाध्य किया गया। जैनियों पर विधर्मियों ने क्या-क्या अत्याचार नहीं किये हैं, परन्तु फिरभी यह जिनशासन विनाश को प्राप्त नहीं हुआ। श्री जिनशासन, नमोऽस्तु शासन, वीतराग शासन, सर्वज्ञ शासन अनादि से वसुधा पर है और अनंतकाल तक रहेगा। ईर्ष्यालु ईर्ष्या ही कर पायेंगे, कर कुछ नहीं पायेंगे। जब तक अम्बर रहेगा, तब तक धरती पर दिगम्बर रहेगा।

ज्ञानियो ! तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के उपरांत इस पंचमकाल में भी गौतम स्वामी से लेकर आचारांग ज्ञान के धारी मुनियों के होने तक छह सौ तिरासी वर्ष हुए। उसके बाद से लेकर पंचमकाल के अंतपर्यंत यह जैनमत अविच्छिन्न प्रवाहरूप से रहेगा। पंचमकाल के अंत तक श्रुततीर्थ चलेगा। मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ रहेगा। इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण पंचमकाल जानना।

हे मुमुक्षु ! सम्प्रति से ढाई हजार वर्ष पूर्व सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान् तीर्थंकर महावीर स्वामी ने सर्व जीवों की इन आगति-गति आदि को तथा तीन सौ तैतालीस घन राजु प्रमाण इन तीनों लोकों को स्पष्ट जानते-देखते हुए तथा इस पृथ्वीतल पर श्रीविहार करते हुए उन्होंने मुनियों के लिए पाँच महाव्रतादि रूप और गृहस्थों के लिए पाँच अणुव्रतादि रूप समीचीन धर्म का उपदेश दिया है। वही जिनधर्म आज भी जयवंत है और इस काल के अंत तक जयशील रहेगा। अन्य धर्मद्रोही, गुरुद्रोहियों के वचन सुनकर इस धर्म से मन नहीं हटाना चाहिये, अपितु महापुण्य योग से प्राप्त हुए इस धर्म के आसरे से अपना कल्याण करना चाहिये।

हे जीव ! मनुष्यपर्याय, आर्यखण्ड, भारत वसुधा, उत्तम कुल और जिनधर्म, दिगम्बर गुरु का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्यभव प्राप्त कर महाव्रत धारण करना और फिर उनका सम्यक्रूप पालन उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

देहव्यूहमहीजराजिभयदे दुःखावलीश्वापदे
विश्वाशान्तिकरालकालदहने शुष्यन्मनीषावने।
नानादुर्णयमार्ग दुर्गमतमे दृङ्मोहिनां देहिनां
जैनं दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे॥306/कलश॥

हे भव्यात्माओ ! जो शरीर-समूह रूपी वृक्षों की पंक्ति से भय को देने वाला है, जिसमें दुःखसमूह ही हिंसक जन्तु हैं, जिसमें सर्वप्रकार की अशान्ति रूपी भयंकर कालाग्नि जल रही है, जिसमें बुद्धि रूपी वन सूख रहा है और जो अनेक प्रकार के मिथ्यानय रूपी मार्गों से दुर्गम

हो रहा है, ऐसे संसाररूपी अटवी के संकट में दृष्टिभ्रान्त जीवों को यदि कोई शरण है तो मात्र एक जैनदर्शन, वीतराग शासन है।

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो जानं च यस्य प्रभो-
स्तं शंखध्वनिकम्पिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम्।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः
मन्ये तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्ममेऽत्युत्सुका ॥307/कलश॥

भगवत् श्री पद्मप्रभमलधारीदेव नियमसार जी ग्रंथ पर कलश-काव्यों का उपसंहार करते हुये अंतिम मंगलाचरण करते हुये तेइसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ स्वामी की स्तुति करते हुए कह रहे हैं कि लोक और अलोक में फैला हुआ यह केवलज्ञान ही जिनका शरीर है एवं शङ्ख ध्वनि के द्वारा जिन्होंने समस्त भूमि को कम्पित कर दिया है, ऐसे श्री नेमिनाथ स्वामी की स्तुति करने के लिये लोकत्रय में कौन मनुष्य अथवा देव समर्थ हैं ? मैं तो मानता हूँ कि उत्सुकता से भरी हुई मेरी भक्ति ही उनके स्तवन का कारण है।

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥187॥

यहाँ आचार्यभगवन् श्री कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं कि सैकड़ों परमाध्यात्म शास्त्रों में कुशलता रखने वाला, निज-शुद्ध-बुद्ध, नित्य-निरंजन, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य स्वरूप अपने आत्मतत्त्व की भावना, पुनः पुनः चिंतन, अभ्यास, आराधना, उपासना इसके निमित्त अर्थात् इस आत्मा की भावना के लिए, अशुभ से बचने के लिए यह ग्रंथरत्न 'नियमसार' जी नाम का शास्त्र रचा है।

मैंने प्रामाणिक परमगुरु के प्रसाद से, वीतराग देव के मुखारविन्द से निकले हुए परमोपदेश रूप जिनोपदेश को जानकर, जो पूर्वापर दोष से रहित है अर्थात् पूर्वापर दोषों के कारणभूत समस्त मोह, राग-द्वेष के अभाव से युक्त श्री अरहंत भगवान् के मुख से निर्गत होने के कारण निर्दोष है। जो समस्त आगम के अर्थ-समूह का प्रतिपादन करने में समर्थ है, जिसमें 'नियम' शब्द के द्वारा विशुद्ध मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है। जो सुशोभित पञ्चास्तिकाय से सहित है, जिसमें षड्द्रव्यों का व्याख्यान है, जिसमें सप्त तत्त्व और नौ पदार्थों का वर्णन किया गया है, जिसमें पंचाचार का विशद् वर्णन है, जो औपशमिकादि पाँचभावों के प्रपञ्च के प्रतिपादन करने में तत्पर है, जो निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, परमालोचना, नियम और व्युत्सर्ग आदि समस्त परमार्थभूत क्रियाकाण्ड के आडम्बर से समृद्ध है तथा शुभोपयोग आदि तीन उपयोग से विशाल है।

यह भगवत्प्ररूपित शास्त्र मुक्तिरूपी सुन्दरी से होने वाले परम वीतरागात्मक, अव्याबाध एवं अनन्त एवं उत्कृष्ट अनङ्ग सुख को देने वाला है, नित्य-शुद्ध निरञ्जन निज कारण- परमात्मा की भावना का कारण है, समस्त नयों से सुशोभित है, मोक्ष का कारण है।

सुकविजनपयोजनन्दिमित्रेण शस्तं
ललितपदनिकायैर्निर्मित्तं शास्त्रमेतत्।
निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकांक्षी
स भवति परम श्री कामिनीकामरूपः॥ 308॥
पद्मप्रभाभिधानोद्धसिन्धुनाथ समुद्भवा।
उपन्यासोर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम्॥ 309॥
अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत्।
लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम्॥ 310॥

टीकाकार कह रहे हैं कि—यह उत्तम शास्त्र सुकविजन रूपी कमलों को आनन्दित करने के लिए सूर्य तुल्य श्री कुन्दकुन्ददेव के द्वारा सुन्दर-सुन्दर पदों के समूह से रचा गया है, विशुद्धात्मा की इच्छा करने वाला जो पुरुष इसे अपने हृदय में धारण करता है, वह मुक्ति लक्ष्मी रूपी स्त्री का इष्टवर होता है। 'प्रद्मप्रभ' नामक श्रेष्ठ समुद्र से उत्पन्न हुई यह व्याख्या रूपी तरङ्गों की माला सज्जनों के चित्त में सदा विद्यमान रहे। इस ग्रन्थ में यदि व्याकरणशास्त्र के विरुद्ध कोई पद हो तो उसे उत्तम कविजन दूर कर उसके स्थान पर उत्तम निर्दोष पद की स्थापना करें।

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे तारागणैः परिवृत्तं सकलेन्दुबिम्बम्।
तात्पर्यवृत्तिरपहस्तितहेयवृत्तिः स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव॥ 311॥

जब-तक सुन्दर आकाश में तारागणों से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा का मण्डल सुशोभित है, तब-तक हेय-पदार्थों की सत्ता को दूर करने वाली यह तात्पर्यवृत्ति सत्पुरुषों के विशाल हृदय में विद्यमान रहे।

ज्ञानियो! इस प्रकार भगवत् कुन्दकुन्द देव द्वारा रचित ग्रन्थरत्न 'नियमसार' एवं श्री पद्मप्रभमलधारीदेव द्वारा विरचित 'तात्पर्य वृत्ति' की व्याख्या में शुद्धोपयोगाधिकार नाम का बारहवाँ श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ।

हे मुमुक्षुओ! जो निश्चय मात्र को मानता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है और जो व्यवहार मात्र को मानता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है, अतः निश्चय और व्यवहार से युक्त अवस्था सम्यक्त्व

है। जैसे जब गोपिका मक्खन निकालती है, मट्ठे को बिलोती है, तब वह रस्सी के एक छोर को खींचती है तब दूसरे छोर को शिथिल कर देती हैं, तभी मक्खन निकलता है। वैसे-ही ज्ञानियो! वस्तु-तत्त्व के कथन करने की शैली होती है।

निश्चयनय का कथन हो तब व्यवहार को शिथिल कर दिया जाता है और जब व्यवहार का कथन होता है तो निश्चय को शिथिल कर दिया जाता है, लेकिन अभाव किसी का नहीं किया जाता है। मुख्यता-गौणता को समझना चाहिए। जिसने एक का भी अभाव कर दिया तो वह वीतराग शुद्धात्मस्वरूप के मक्खन को प्राप्त नहीं कर पायेगा। ऐसा निर्द्वन्द्व अकर्तृत्त्व भाव प्राणिमात्र में प्रवेश कर जाये तो फिर संसार में कोई विवाद ही न हो, सब भेद समाप्त हो जाये और मात्र एक अखण्ड जैनसमाज दिखे। संविधान तोड़ा तो विघ्न होना ही है, संसार भ्रमण होना ही है। वस्तु के यथार्थभाव को समझना, जहाँ जिस नय का कथन है तदनुसार समझना।

ज्ञानियो! नाना प्रकार के वर्णों से शब्द, पद बने हैं, पदों से वाक्य बने हैं, वाक्यों के द्वारा यह पवित्र शास्त्र बना है। यद्यपि श्रुत अगाध है, परन्तु फिर भी श्रुतभक्ति से प्रेरित होकर मैंने इस 'नियमसार' ग्रंथरत्न पर प्रवचनरूप व्याख्या की है जो ''नियमदेशना'' के रूप में मुझ रत्नत्रयधारी द्वारा परमविशुद्धि प्राप्त करने की चाह से तीन खण्डों में भव्य प्राणियों को अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति एवं सम्यक् बोधनार्थ प्रस्तुत है।

ज्ञानियो! तीर्थंकर परमकेवली देवाधिदेव सीमंधर भगवान् की साक्षात् वाणी श्रवण करने वाले, मूलसंघ के आद्यनेता, गुरुओं के गुरु आद्याचार्य गुरुवर्य श्री कुंदकुंद देव ने 'नियमसार' ग्रंथ की रचना प्राकृत भाषा में दो हजार वर्ष पूर्व की और इस पर गद्य-पद्य रचना में सिद्धहस्त सरस्वती-सुत श्री पद्मप्रभमलधारीदेव ने संस्कृत टीका की और उनके ही शास्त्रों का ज्ञान मुझे दीक्षा-शिक्षा गुरु गणाचार्य श्री विरागसागर जी से प्राप्त हुआ है। मुझ अल्पज्ञ द्वारा अपनी आत्मतत्त्व की भावना के लिए, श्रुतभक्ति से भरकर 'नियम देशना' के रूप में की गई है।

इस निजतत्त्व की भावना से जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, इष्ट वियोग, अनिष्ट-संयोग और निन्दा-प्रशंसादि में भाया गया समभाव स्थिरता को प्राप्त होवे और अनादि अविद्या वासना से उत्पन्न हुए आर्त्त-रौद्र दुर्ध्यान जड़मूल से निर्मूल हो जावें, ऐसी भावना से ही, सम्प्रति बहु प्रचलित हिन्दी भाषा में यह देशना की है जिससे भव्यों, श्रुतार्थियों को सम्यक् श्रुत का बोध हो सके।

प्रस्तुत 'नियमदेशना' इसमें मेरे द्वारा अक्षरों की हानि हुई हो, पदों की या वाक्यों की हानि हुई हो तो, हे श्रुत देवता ! आप मुझे क्षमा कर सम्यक् बोध प्रदान करें।

ज्ञानियो ! यह वाचना तीर्थंकर श्री शीतलनाथ स्वामी की त्रयकल्याणक भूमि, आचार्य श्री समन्तभद्र, आचार्य श्री लोहाचार्य महाराज की तपस्थली भेलसा (विदिशा) मध्य-प्रदेश में सन् 2004 में प्रारंभ हुई थी और विपुल अंतराल के बाद भव्यों के भाग्य से सन् 2014, वीर निर्वाण संवत् 2540, पौषवदी अमावस्या, मूलनक्षत्र, ध्रुवयोग, बुधवार को तीर्थंकर भगवान् श्री पार्श्वनाथ स्वामी के पादमूल में श्रीपार्श्वधाम, भिलाई (दुर्ग) छत्तीसगढ़ में प्रभात की बेला में पूर्ण हुई। इसमें व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय और उसके फल का व्याख्यान है। पाठक पारायण करके आचरण करने का पुरुषार्थ करें, यही मंगल भावना है।

माँ भारती, श्रुतदेवी, जो जिनोपदिष्ट है, जयवंत हो। जयवंत हो वीतराग नमोऽस्तु शासन। सर्वज्ञवाणी जयवंत हो। जयवंत हों वर्तमान शासननायक भगवान् वर्द्धमान महावीर स्वामी। जयवंत हों भगवत् कुन्दकुन्द देव। जयवंत हों आचार्यभगवंत और जयवंत हो वीतराग श्रमण संस्कृति।

यह 'नियम देशना' महामोहरूपी अंधकार से अथवा अज्ञान-अंधकार से पथभ्रष्ट हुए मनुष्यों को हित का मार्ग प्रकाशित करेगी, और जो भव्यवर इसका श्रद्धापूर्वक पारायण करेंगे वे भेदविज्ञान को प्राप्त करके, चारित्र धारण करके, निर्मल विशुद्धिपूर्वक, परम विशुद्ध आत्म-सिद्धि को प्राप्त करेंगे। भव्यात्मायें विशुद्ध मन से परम विशुद्धि अवश्य ही प्राप्त करेंगे। ओम् नमः सिद्धेभ्यः।

॥भगवान् महावीर स्वामी की जय॥

इत्यलं। शुभम् भूयात्।

वर्धताम् जिनशासनम् । वर्धताम् नमोऽस्तुशासनम्॥

अखिल भारतीय श्रमण संस्कृति सेवा समिति ट्रस्टीगण एवं सदस्य

शिरोमणि संरक्षक

श्री सुन्दरलालजी जैन (बीड़ीवाले), इंदौर, श्री महावीरजी पाटनी, भिलाई
श्री आजादकुमारजी जैन (बीड़ीवाले), इंदौर, श्री माँगीलालजी किशोरजी पहाड़िया, हैदराबाद

परम संरक्षक

श्री नेमीचंदजी बड़कुल, इंदौर,
श्री राजेशजी जैन, (लॉरेल), इंदौर
श्री कमलकुमारजी अग्रवाल, इंदौर,
श्री संतोषकुमारजी जैन, (पटनावाले), सागर
श्री टी.के. वेद जी, इंदौर
श्री विजयकुमारजी रामनारायण जी, नागपुर
श्री हेमचंद मीना जैन (सिरमोर), इंदौर

संरक्षक

श्री सचिनकुमारजी जैन, (उद्योगरत्न), इंदौर
श्री अनिलकुमारजी जैन, (जैनको), इंदौर
श्री चक्रेशकुमार जी जैन, (बड़कुल) इंदौर,
श्री शैलेन्द्रकुमारजी सोनी, इंदौर
डॉ. जैनेन्द्रजी जैन, इंदौर
श्री मानिकचंदजी नायक परिवार, इंदौर,
श्री पी.सी. जैन सा. (बैंकवाले), इंदौर
श्री प्रमोदकुमार जी जैन, (बारदाना) सागर
श्री भागचंदजी कंछेदीलालजी जैन, सागर
श्री संतोषकुमारजी सोनू मोना जैन, सिहोरा
श्री जैन राजेशजी कानूगो, इंदौर
श्री पंकलकुमारजी कमलाकर, भोपाल
श्रीमती कुसुमजी प्रकाशजी, सुखलिया, इदौर
श्री कमलेशकुमारजी पहाड़िया, इंदौर
इंजी. श्री पंकजकुमारजी जैन, भोपाल
श्री राकेशकुमारजी पाटनी, नागपुर
श्री निर्मलकुमारजी जैन, गोंदिया
श्री राकेशजी सिंघई (पत्रकार), भोपाल
श्री मनोजजी प्रधान, भोपाल
श्री अजयजी (ज्योतिषी), भोपाल
श्री राजेन्द्रजी आम्रपाली, भोपाल
श्री संदीपजी (हर्ष सेनीटेशन), भोपाल
श्री मनोहरलालजी टोंग्या, भोपाल
श्री हरीशकुमार प्रियंकजी अजमेरा, भोपाल
श्री संजीवजी संदीपजी (गेहूँ वाले), भोपाल
श्री जितेन्द्रजी जैन, भोपाल
डॉ. सुभाषजी जैन (लखारिया), भोपाल
श्री प्रमोद नील चौधरी, लालघाटी, भोपाल
श्री शैलेन्द्रजी बांझल, विदिशा
श्री शैलेन्द्रजी जैन (शिल्पा), अजीराजपुर
श्री स्वप्निलजी मेघाजी (बड़जात्या मार्बल), इंदौर
श्री वीरेन्द्रकुमारजी जैन (पारस विद्या विहार), सागर

श्री केतनकुमारजी राजेन्द्रकुमारजी जैन, झाँसी
श्री राजकुमारजी स्नेहलताजी चंदौरिया, भिलाई
श्री सनतकुमारजी अरविन्द सतभैया परिवार
श्री कजोडमलजी राजकुमारजी लुहाड़िया, भिलाई
श्री अरुण मीनुजी जैन, दिल्ली
श्री पवन-अल्काजी, अपूर्व भावीनजी कोठारी, भीलवाड़ा
श्री शशिकान्त धीरजकुमारजी अजमेरा, भीलवाड़ा
श्री प्रदीपजी मनोजजी वेद, भीलवाड़ा
श्री सुगनचंदजी विजयजी झांझरी, भीलवाड़ा
श्री सोहनलालजी गंगवाल, भीलवाड़ा
श्री पी.के. जैन कावाखेड़ा, भीलवाड़ा
श्री संजय राजू जैन, राजिम, छत्तीसगढ़
श्री किशोर अमित जैन, राजिम, छत्तीसगढ़
श्री वेदप्रकाश भाईजी, मरोरमागंज, सागर
श्री धनकुमार संजय गंगवाल, वैशाली नगर, भिलाई

ग्रंथ प्रकाशन विशेष सहयोगी

श्री रिषभ जैन शाहगढ़ (भोपाल)
श्री वीरेन्द्र कुमार जी चंदादेवी रावत, इंदौर
श्रीमती राजलताजी धरणेन्द्रजी जैन, भोपाल
श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन (बीड़ी वाले), इंदौर
श्री अशोकजी कन्हैयालालजी खासगीवाला, इंदौर
श्री देवेन्द्रकुमारजी जैन (हीरू), इंदौर
श्री स्वतंत्रकुमारजी बाबूलालजी जैन, बालसमुद
श्री विजयकुमारजी, छतरपुर
श्री कैलाशचंदजी जैन (नेताजी), इंदौर
श्रीमती पुष्पाजी निर्मलजीकाला, रायपुर
श्री रतनचंदजी अशोककुमारजी, दुर्ग
श्री अनिलजी कासलीवाल, भिलाई
श्री वीरेन्द्र कुमारजी जैन (पारस विद्या विहार), सागर
श्री रज्जीलाल मोदी (सुपारी वाले), सागर
श्री प्रवीणकुमारजी जैन (वर्द्धमान), दिल्ली
श्री पन्नालाल जी जैन, कलकत्ता
श्री अरुणजी जैन, दिल्ली
श्री शैलेन्द्र कुमारजी जैन, बुंदी
श्री दिनेश-सीमा जैन, कोटा
श्री विशाल-नीतू जैन, मुलतान वाले, जयपुर
मुनि विश्वनाथसागर चातुर्मास समिति, भीलवाड़ा
दिगम्बर जैन समाज, नवापारा राजिम (छत्तीसगढ़)

अखिल भारतीय श्रमण संस्कृति सेवा समिति सदस्य

इन्दौर
श्री सुनीलकुमारजी गोधा
प्रो.श्री शांतिलालजी बड़जात्या
श्री महेशकुमारजी जैन (फूफा)
श्री जयकुमार जी जैन (रिंकू)
श्री विपुलजी बांझल (बंटी)
श्री संतोष गरुजी (परवार ग्रुप)
श्री कोमलचंदजी जैन (दद्दा)
श्री राकेशकुमारजी रसिया
श्री अरूणकुमारजी (मऊरानीपुर)
श्री विजयकुमारजी जैन (हवलदार)
श्री एन.के. जैन (रोडवेज)
श्री प्रकाशकुमारजी तरूणकुमारजी (आरौन वाले)
श्री जयकुमारजी निलेशकुमारजी जैन
श्री नवीनकुमारजी सुनीलकुमारजी जैन
श्री राकेशकुमार राजकुमारजी जैन
श्री संतोषकुमारजी जैन
श्री महावीरप्रसादजी चाँदमलजी गोधा
श्री संजयजी मोदी (अनंतपुरा)
श्रीमती गुणमालाजी ए.के. बड़जात्या, इन्दौर
श्री प्रदीप कुमारजी नेमीचन्दजी जैन, इन्दौर
स्व. श्री महेन्द्र कुमारजी बड़जात्या, इन्दौर

श्री सनत कुमारजी, अरविन्दजी (सतभैया), इन्दौर
श्रीमती इंदिराजी सेठी, इन्दौर
श्री विकासजी राजीवजी जैन, इन्दौर
श्रीमती सीमा एस.सी. जैन, इन्दौर
श्री डॉ. राजेशजी जैन, इन्दौर
श्री अरविन्द जैन, इन्दौर
श्री राकेश कुमार, इन्दौर
श्री संतोष जैन गुरुजी, इन्दौर
श्री जे.के. चौधरी, सुदामा नगर, इन्दौर
श्री संजीव जैन, मेगनम टॉवर, इन्दौर
श्री मनोजजी जैन, तिलकनगर, इन्दौर
श्री प्रसन्नकुमारजी जैन, तिलकनगर, इन्दौर
श्री अरविन्दजी जैन, सुदामानगर, इन्दौर

उज्जैन...
श्री जीवनलालजी जैन
श्री विजेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन
श्री राकेश कुमारजी किशनचंदजी जैन, उज्जैन
श्री विद्युतजी करणमलजी डोसी, उज्जैन
श्री वीरेन्द्रकुमारजी जैन (कुनिया), उज्जैन
श्री कैलाशचंद रवीन्द्रकुमारजी जैन, उज्जैन
श्री शंभूकुमारजी अजयकुमारजी सेठी, उज्जैन
श्री महावीरप्रसादजी जैन, उज्जैन
श्री सुधीरजी नंदाजी जैन, उज्जैन
श्रीमती वीणाजी जैन, उज्जैन
श्री विमल कुमारजी राजमलजी जैन, उज्जैन
श्री सुनीलकुमारजी हीरालालजी सोगानी
श्री मोतीलालजी जैन छाबड़ा
श्री कमलकुमारजी सुरेशचंदजी जैन
श्री देवेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन (तलाटी)
श्री रुपेन्द्रकुमारजी विजेन्द्रकुमारजी जैन
श्री विद्युतकुमारजी करणमलजी डोसी
श्री वीरेन्द्रकुमारजी जैन (कुनिया)
श्री कैलाशचंदजी रवीन्द्रकुमारजी जैन
श्री शंभूकुमारजी अजयकुमारजी सेठी
श्री महावीरप्रसादजी जैन
श्री सुधीरजी नंदाजी जैन
श्रीमती सुधादेवी इंदरचंदजी जैन
श्रीमती वीणाजी जैन
श्री विमलकुमारजी राजमलजी जैन

ललितपुर...
श्री रामप्रकाशजी जैन
श्री शीलचंदजी नन्हेलालजी जैन
श्री शिखरचंदजी जैन सर्राफ
श्री अखिलेशजी राजमलजी जैन
श्री सिंघई धन्यकुमार जी जैन
श्री सुंदरलालजी मथुराप्रसाद जी जैन
श्री नरेन्द्र कुमारजी राजीवकुमारजी जैन
श्री जयकुमारजी मोतीलालजी जैन
श्री कमलकुमारजी खेमचंदजी जैन

सागर...
श्री सुरेशकुमार हुकुमचंदजी जैन
श्रीमती पुष्पादेवी संतोषकुमारजी जैन
डॉ. सुनीलकुमार राजेशकुमारजी जैन
श्री नेमीचंदजी जैन (सुरखी वाले)
श्री भरतकुमारजी ताराचंदजी पटोदी
श्री ऋषभकुमारजी लखमीचंदजी गोयल
श्री वेदप्रकाशजी ताराचंदजी भाईजी
श्री कन्छेदीलालजी जैन (दाऊ)
श्री कोमलचंदजी ऋषभकुमार जैन (लालू साड़ी)
श्री ज्ञानचंदजी सुरेन्द्रकुमार जैन
श्री वैभवजी बाबुलालजी जैन
श्री ऋषभकुमारजी स्वरूपचंदजी सिंघई
श्री राजेन्द्रकुमारजी गुलाबचंदजी जैन
श्री सिंघई ऋषभकुमारजी मंडावरा वाले
श्री सेठ इंदरचंदजी दीपककुमारजी जैन (सन्मति)
श्री मुकेशकुमारजी भागचंदजी जैन
श्री राजेशकुमारजी जैन (जैन रोड लाईन्स)

श्रीमती सुगंधीजी जैन (निहारिका)
श्री नितिनकुमारजी कोमलचंदजी सर्राफ
श्री सुनीलकुमारजी के.सी. जैन
श्री हेमचंदजी जिनेन्द्रकुमारजी निलेशकुमार जी जैन

छतरपुर...
चौधरी श्री ज्ञानचंदजी जैन (दादा)
श्री ओलियाजी कोमलचंदजी, छतरपुर
श्री राजेन्द्रकुमारजी जैन सेठ
श्री राजकुमारजी जैन
श्री आनंदकुमारजी जैन (लोहेवाले)
श्रीमती श्रीबहनजी
श्री चक्रेशकुमारजी जैन (बड़कुल)
श्री मुकेशजी जैन (ग्रेनाईटइंडिया)
आचार्य श्री तारणतरण लोकन्यास
डॉ. सुरेशचंद बजाज
श्री श्रीपालजी बड़कुल
श्री प्रमोदजी बिजावर

भीलवाड़ा...
श्री सुरेन्द्र कुमारजी वीरोमलजी
श्री पवन अल्काजी, अपूर्व भावीन कोठारी
श्री शशिकान्तजी धीरज कुमारजी (अजमेरा)
श्री प्रदीपजी (वेद परिवार)
श्री सुगनचंदजी विजयकुमारजी झांझरी
श्री सोहनलालजी गंगवाल (पाटीदार)
श्री पी.के. जी जैन (कावाखेड़)

अन्य शहर....
श्री संजयकुमारजी निर्मलकुमारजी जैन
(नवापारा राजिम), रायपुर
श्री पन्नालालजी धन्नालालजी जैन, कलकत्ता
श्रीमती अलका अशोककुमारजी जैन, दिल्ली
श्रीमती उर्मिलाजी शीलकुमारजी जैन, हिसार (हरि.)
श्री निर्मल कुमारजी जैन, दिल्ली
श्री अनुरागजी मोदी (मोदी टेडर्स), तेंदूखेड़ा
श्रीमती विमलाजी सिंघई, लालघाटी, भोपाल
श्री पीयूषजी जैन, सोनीपत (हरियाणा)
डॉ. त्रिशलादेवी जैन, कानपुर
श्रीमती सुमनजी जैन (अरोरा), बरेली
श्रीमती सुनीता भरतकुमार जैन, चौक, भोपाल
श्रीमती अर्मलशीलकुमार, हरियाणा
श्री मनोज कुमार, हरियाणा
श्री मनोज जैन, भोपाल
श्री गोतम जैन, इन्दौर
श्री निर्मलकुमार जैन, नोयडा
श्रीमती देवी राजकुमार जैन, दुर्ग
श्री संजय जैन, दिल्ली
श्री बाबूलालजी ईश्वरलालजी पाटोदी, छिन्दवाड़ा
श्री भूपेन्द्रकुमारजी इन्द्रमलजी जैन, गाजियाबाद
श्री सुशील कुमार जी शोमितजी जैन, ग्यासपुर
श्रीमती सुनीताजी भरतकुमारजी जैन, भोपाल
श्रीमती स्नेहलताजी एस.के. जैन, सोनीपत
श्रीमती ममताजी जैन, पानीपत
श्रीमती मालादेवीजी जैन, करोली
श्री जेठालालजी कुबेरदासजी शाह, मुंबई
श्री प्रदीप प्रभाकरजी जैन, मुंबई
श्री विशालजी नीतूजी जैन, जयपुर
श्री कजोडमलजी राजकुमारजी (लुहाडिया) भिलाई
श्री अरुणजी मीनुजी जैन, दिल्ली
श्री रतनलाल जी जैन, अलवर (राज.)
श्री जेठालाल कुबेरदास शाह, मुंबई
श्री आकाश जैन, शांतिविहार, दिल्ली
श्री सुनीलकुमार दिलीपकुमार जैन, भोपाल
श्री वीरेन्द्र शशि जैन, हिसार
श्री व्ही.एस. जैन द्वारा आर.के. जैन, मुजफ्फर नगर
श्री बाबूलालजी पाटोदी परिवार, छिन्दवाड़ा